ला.द. भारतीय संस्कृति विद्यामंदिर ग्रंथमाला – १६६

उपाध्याय विनयविजय विरचित

'लोकप्रकाश' का समीक्षात्मक अध्ययन

हेमलता जैन

प्रधान संपादक

जितेन्द्र बी. शाह

ला. द. भारतीय संस्कृति विद्यामंदिर

अहमदाबाद ३८० ००९

ला. द. भारतीय संस्कृति विद्यामंदिर ग्रंथमाला - १६६

उपाध्याय विनयविजय विरचित

'लोकप्रकाश'

का

समीक्षात्मक अध्ययन

डॉ. हेमलता जैन

प्रधान संपादक
जितेन्द्र बी. शाह

ला. द. भारतीय संस्कृति विद्यामंदिर,
अहमदाबाद ३८० ००९
२०१४

Upādhayaya Vinayavijaya Viracita
Lokaprakāśa kā Samikśātmaka Adhyanana

Dr.Hemlata Jain

General Editor

Jitendra B. Shah

Published by
Dr. Jitendra B. Shah
Director
L. D. Institute of Indology
Ahmedabad 380 009 (India)
Phone : (079) 26302463 Fax : 26307326
l.dindologyorg@gmail.com

© L. D. Institute of Indology

Copies : 300

Price : Rs. 500/-

ISBN 81-85857-50-4

Printed by
Sarvoday Offset
13-A, Gajanand Estate,
Old Manek Chowk Mill Compound,
Nr. Idgah Police Chowky,
Ahmedabad 380 016

प्रकाशकीय

उपाध्याय श्री विनयविजयजी विरचित लोकप्रकाश का समीक्षात्मक अध्ययन ग्रंथ प्रकाशित करते हुए हमें अत्यंत आनन्द हो रहा है। प्रस्तुत ग्रंथ पू.विनयविजयजी की एक यशस्वी कृति है। इसमें द्रव्यलोक, क्षेत्रलोक, काललोक एवं भावलोक के रूप में जैनधर्म के प्रायः सभी पदार्थों का समावेश किया है। इस ग्रंथ को आधार बनाकर डो.हेमलता जैन ने समीक्षात्मक अध्ययन किया था। इसमें डो.हेमलता जैन ने श्वेताम्बर एवं दिगम्बर दोनों परम्पराओं के ग्रंथों का उपयोग करके तुलनात्मक एवं समीक्षात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया है अतः लोकप्रकाश के अध्येताओं को यह ग्रंथ अत्यंत उपयोगी सिद्ध होगा। इस अवसर पर हम डो.हेमलता जैन को धन्यवाद देते है। हमें आशा है कि प्रस्तुत ग्रंथ जिज्ञासुओं को लाभकर्त्ता होगा।

प्रस्तुत ग्रंथ के प्रकाशन कार्य में सहयोग करने वाले सभी सहकर्मी का मैं आभारी हूँ।

२०१४, अहमदाबाद

जितेन्द्र बी. शाह

विषयानुक्रमणिका

प्रकाशकीय
पुरोवाक्
लेखकीय
पारिभाषिक शब्दावली
ग्रन्थ में प्रदर्शित चार्ट एवं चित्रों का अनुक्रम

प्रथम अध्याय : उपाध्याय विनयविजय : व्यक्तित्व एवं कृतित्व

जन्म एवं दीक्षा 1
गुरु-परम्परा 2
उपाध्याय यशोविजय एवं उपाध्याय विनयविजय का पारस्परिक सम्बन्ध 3
व्यक्तित्व 8
विचरण विहार 15
उपाध्याय पदवी 15
कृतित्व परिचय 15
आगम–व्याख्या एवं सज्झाय साहित्य (15) इतिहास– विषयक साहित्य (19) आध्यात्मिक साहित्य (19) स्तोत्र एवं स्तवन साहित्य (22) व्याकरण विषयक साहित्य (24) रास एवं फागु काव्य (26) पूजा विषयक साहित्य (27) संस्कृत दूत काव्य, गीति काव्य एवं विज्ञप्ति लेख (28) दार्शनिक साहित्य (32)
लोकप्रकाश 33
लोकप्रकाश का परिचयात्मक चार्ट 34
स्वर्गवास 41
विनयविजय कृत रचनाओं का परिचयात्मक चार्ट 42

द्वितीय अध्याय : लोक स्वरूप एवं जीव विवेचन (1)

द्रव्यलोक, क्षेत्रलोक, काललोक एवं भावलोक 46
द्रव्यलोक 47
षड्द्रव्य विवेचन 47
जीवों का भेद विचार 54
एकेन्द्रिय जीवों के भेद (56) द्वीन्द्रिय के भेद (63) त्रीन्द्रिय के भेद (63) चतुरिन्द्रिय के भेद (64) पंचेन्द्रिय के भेद (64)
स्थावर जीवों में चेतना की सिद्धि 71
जीवों के स्थान 75

पर्याप्ति विमर्श 78
पर्याप्ति और प्राण में तुलना (81) विग्रहगति में जीव अपर्याप्त संज्ञावान (82)
जीवों की योनि, योनिसंख्या एवं कुल संख्या का निरूपण 83
गुण दृष्टि से योनि भेद (83) आकार दृष्टि से योनि भेद (84)
योनि संख्या प्ररूपणा 86
कुल संख्या प्ररूपणा 86
भवस्थिति और कायस्थिति 87
भवस्थिति के भेद (87)
शरीर विवेचन 90
शरीर के भेद (90) शरीरों का स्वामित्व (95)
संस्थान निरूपण 95
समीक्षण 98

तृतीय अध्याय : जीव विवेचन (2)

अवगाहन अथवा अंगमान का प्रख्यापन 117
समुद्घात विमर्श 120
गति-आगति निरूपण 124
अनन्तराप्ति और समयसिद्धि निरूपण 127
अनन्तराप्ति और समयसिद्ध होने वाले जीव (127)
लेश्या विमर्श 129
कर्मवर्गणा निष्पन्न लेश्या (131) कर्मनिष्यन्द लेश्या (131) योग परिणाम लेश्या (131) लेश्या के प्रकार : द्रव्य लेश्या एवं भाव लेश्या (132) लेश्या का विभिन्न द्वारों से कथन (134) लेश्या एवं आभामण्डल (141)
दिगाहार-निरूपण 142
संहनन-विचार 144
कषाय विवेचन 149
समीक्षण 155

चतुर्थ अध्याय : जीव विवेचन (3)

संज्ञा विवेचन 169
ज्ञान संज्ञा एवं अनुभव संज्ञा (170) अनुभव संज्ञा के भेद (171) दीर्घकालिकी संज्ञा (173) हेतुवाद (173) दृष्टिवाद (173) संज्ञी विषयक विचार (174)
इन्द्रिय-विवेचन 175

वेदविषयक अवधारणा 181
दृष्टि-विमर्श 182
ज्ञान-विवेचन 184
दर्शन निरूपण 192
उपयोग विचार 193
आहार विचार 194
गुणस्थान-विवेचन 198
समीक्षण 225

पंचम् अध्याय् : जीव विवेचन (4)

योग-विमर्श 240
योग के भेद (241) योग के उपभेद (242) योग सम्बन्धित शंका–समाधान (246)
मान द्वार : जीवों का मापन 247
जीवों में परस्पर एवं दिशा की अपेक्षा अल्पबहुत्व विधान 249
सजातीय एवं दिशा की अपेक्षा अल्पबहुत्व (249)
महा-अल्पबहुत्व 252
अन्तर द्वार : उसी गति आदि की पुनः प्राप्ति का निरूपण 259
भवसंवेध द्वार : नरकादि में भवों की संख्या 260
समीक्षण 273

षष्ठ अध्याय् : क्षेत्रलोक

लोक में 14 रज्जुओं का विभाग 283
त्रसनाली स्वरूप 286
खंडुक प्रमाण से लोक का प्रमाण 287
ऊर्ध्वलोकादि का नामकरण 287
तीनों लोकों का मध्यभाग 289
वातवलय 289
दिशा और विदिशाओं का स्वरूप 289
अधोलोक का स्वरूप 293
मध्यलोक का स्वरूप 294
जम्बूद्वीप (298) मेरुपर्वत (305) धातकी खण्ड (306) अर्द्धपुष्कर द्वीप (307) मनुष्य क्षेत्र (307) ज्योतिष चक्र (307)
ऊर्ध्वलोक 308
समीक्षण 310

सप्तम् अध्याय : काललोक

काल स्वतंत्र द्रव्य नहीं 318
काल की स्वतंत्र द्रव्यता 319
काल का पृथक् द्रव्य के रूप में नामोल्लेख 320
कालस्वरूप 323
कालद्रव्य का अनस्तिकायत्व 325
कालद्रव्य के कार्य 326
क्रिया का अनुग्रह कर्ता 'काल' 328
काल के प्रकार 329
नामकाल (330) स्थापनाकाल (330) द्रव्यकाल (330) अद्धाकाल (331) यथायुष्ककाल (331) उपक्रमकाल (331) देशकाल (333) कालकाल (334) प्रमाणकाल (334) वर्णकाल (334) भावकाल (334)
प्रमाणकाल का विशेष स्वरूप 334
प्रमाणकाल के प्रकार 335
अष्टपुद्गलवर्गणाएँ 344
समीक्षण331 348

अष्टम् अध्याय : भावलोक

औपशमिक भाव 358
क्षायिक भाव 360
क्षायोपशमिक भाव 361
औदयिक भाव 364
पारिणामिक भाव 366
सान्निपातिक भाव 367
कर्मों से सम्बद्ध विभिन्न भाव 369
भावों में कर्म निरूपण 370
गति आश्रित भाव 371
गुणस्थानों में भाव 371
भावों की स्थिति 376
छद्मस्थिक ज्ञान 377
षड्द्रव्यों में भाव 378
समीक्षण 379

सहायक ग्रन्थ सूची 385

पुरोवाक्

आगमवेत्ता उपाध्याय विनयविजय (वि.सं. १६६१-१७३८) विरचित 'लोकप्रकाश' एक विशिष्ट आगमिक ग्रन्थ है। विभिन्न आगमों एवं व्याख्याग्रन्थों के आधार पर ३७ सर्गों तथा १८००० श्लोकों में रचित यह संस्कृत ग्रन्थ जैन धर्म की विविध आगमीय अवधारणाओं को व्यवस्थित रीति से प्रस्तुत करता है। डॉ. हेमलता जैन ने इस ग्रन्थ को आधार बनाकर जयनारायण व्यास विश्वविद्यालय, जोधपुर से पी-एच.डी. उपाधि हेतु सन् २००६ में जो शोधकार्य सम्पन्न किया था, वही अब पुस्तक के रूप में जिज्ञासुओं के कर-कमलों में पहुँच रहा है, इसका मुझे प्रमोद है।

उपाध्याय विनयविजय प्रखर मेधा के धनी थे। वे उत्कृष्ट कवि, वैयाकरण, व्याख्याकार एवं दार्शनिक भी थे। श्वेताम्बर परम्परा के अन्तर्गत १३वीं शती में मुनि जगच्चन्द्रसूरि से प्रारम्भ हुए तपागच्छ में अनेक विद्वान् एवं प्रभावशाली संत हुए हैं। ऐसे संतों में आचार्य हीरविजयसूरि (वि.सं. १५८३-१६५२) का नाम प्रसिद्ध है, जिन्होंने सम्राट् अकबर को प्रतिबोध देकर देश मे अहिंसा की विजयपताका फहरायी थी। आचार्य हीरविजयसूरि के पौत्र शिष्य तथा कीर्तिविजयगणी के साक्षात् शिष्य के रूप में उपाध्याय विनयविजय ने गुजरात एवं राजस्थान के कुछ भाग को अपनी कर्मस्थली बनाया। उन्होंने जैन परम्परा के यशस्वी सन्त उपाध्याय यशोविजय के साथ वाराणसी में लगभग तीन वर्षों तक न्याय, व्याकरण आदि का गहन अध्ययन किया था। वे दोनों एक ही गुरु परम्परा के प्रभावी सन्त थे। उपाध्याय विनयविजय द्वारा 'श्रीपाल राजानो रास' रचना करते समय उनका रांदेर में देहावसान हो गया तो उस अपूर्ण कृति को उपाध्याय यशोविजय ने ही पूर्ण किया था। उनमें परस्पर अन्तरंग स्नेह एवं आदर का भाव था। 'शान्त सुधारस' की रचना उपाध्याय विनयविजय को आध्यात्मिक कवि के रूप में प्रस्तुत करती है तो 'हैमलघुप्रक्रिया' उन्हें वैयाकरण के रूप में प्रतिष्ठित करती है, वहीं 'लोकप्रकाश' उन्हें आगममर्मज्ञ दार्शनिक कवि की छवि से शोभित करता है।

'लोकप्रकाश' शब्द से ऐसी प्रतीति होती है कि इसमें सम्भवतः त्रिविध लोकों का विवेचन हुआ होगा, किन्तु यह प्रतीति तब भ्रम में परिवर्तित हो जाती है जब इस ग्रन्थ का अध्ययन किया जाता है। उपाध्याय श्री ने ग्रन्थ में द्रव्यलोक, क्षेत्रलोक, काललोक एवं भावलोक के रूप में जैन धर्म-दर्शन की महती विषयवस्तु का समावेश कर लिया है। यद्यपि लोकप्रकाश में तत्त्वमीमांसीय विवेचन प्रमुख रूप से हुआ है, किन्तु प्रसंगवश ज्ञानमीमांसीय एवं आचारमीमांसीय चर्चा भी प्राप्त होती है। अनुयोगों की दृष्टि से विचार किया जाए तो इसमें द्रव्यानुयोग एवं गणितानुयोग की प्रधानता है, किन्तु चरणानुयोग एवं धर्मकथानुयोग भी किसी अंश में गुम्फित है। जैनागमों में विषयवस्तु का

प्रतिपादन अनेक स्थानों पर द्रव्य, क्षेत्र, काल एवं भाव की दृष्टि से किया गया है। आवश्यकनिर्युक्ति (गाथा ६८२) में लोक का निक्षेप- नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव, भाव एवं पर्याय के भेद से आठ प्रकार का निगदित है। आचार्य हरिभद्रसूरि (७००-७७० ई.) ने सर्वप्रथम 'लोकविंशिका' कृति में द्रव्यलोक, क्षेत्रलोक, काललोक एवं भावलोक इन चार प्रकारों का कथन किया है, किन्तु इन प्रकारों को आधार बनाकर विशाल ग्रन्थ की रचना करने का अद्भुत कार्य उपाध्याय विनयविजय की सुतीक्ष्ण लेखनी से प्रसूत हुआ है। ग्रन्थ के प्रथम ११ सर्गों में द्रव्यलोक का, १२ से २७ सर्गों में क्षेत्रलोक का, २८ से ३५ सर्गों में काललोक का तथा ३६ वें सर्ग में भावलोक का विवेचन हुआ है। अन्तिम ३७वें सर्ग में ३६ सर्गों की विषयवस्तु का उपसंहार है।

द्रव्यलोक में धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय, पुद्गलास्तिकाय एवं जीवास्तिकाय नामक पांच अस्तिकाय द्रव्यों का विशिष्ट निरूपण हुआ है। विशेषतः इसके अन्तर्गत जीव के दो से लेकर २२ भेद किए गए हैं तथा उनका ३७ द्वारों से विवेचन किया गया है। इन द्वारों के आधार पर जीवों का विवेचन भगवतीसूत्र, प्रज्ञापना सूत्र आदि आगमों एवं उत्तरवर्ती जैन वाङ्मय की मर्मज्ञता में लेखक की दक्षता का बोध कराता है। जैन परम्परा में आगमों के तात्त्विक बोध हेतु अभी स्तोकों (थोकड़ों) का विशेष महत्त्व है, उनसे भी कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण लोकप्रकाश ग्रन्थ प्रतीत होता है। प्रस्तुत ग्रन्थ की लेखिका डॉ. हेमलता जैन ने लोकप्रकाश का हार्द समझ कर भेद, स्थान, पर्याप्ति, योनि, कुल संख्या, भवस्थिति, कायस्थिति आदि ३७ द्वारों का स्वरूप समझाते हुए उनमें जीव के विभिन्न प्रकारों को घटित किया है। यह शैली लोकप्रकाशकार की शैली से भिन्न है, क्योंकि लोकप्रकाशकार ने जीव के भेदों में ३७ द्वार घटित किए हैं तथा डॉ. जैन ने ३७ द्वारों में जीव के भेद घटित किए हैं। इससे विषय का बोध सुगम हो गया है तथा कुछ पुनरावृत्ति भी कम हुई है। इस विवेचन में योनि, भवस्थिति, कायस्थिति, शरीर, संस्थान, समुद्घात, लेश्या, कषाय, संज्ञा, संज्ञी, दृष्टि, ज्ञान, दर्शन, गुणस्थान, योग, भवसंवेध आदि द्वार विशेष महत्त्व रखते हैं। डॉ. जैन ने पारम्परिक मान्यताओं के साथ लोकप्रकाशकार उपाध्याय विनयविजय जी के चिन्तन को भी प्रस्तुत किया है। उदाहरण के लिए 'लेश्या' द्वार में लेखिका ने हरिभद्र, अकलंक, मलयगिरि, नवांगी टीकाकार अभयदेवसूरि, नेमिचन्द्र, सिद्धान्तचक्रवर्ती, पंचसंग्रहकार, कर्मग्रन्थकार आदि के मतों का उल्लेख कर विनयविजय जी का भी मन्तव्य दिया है कि लेश्या के बिना कर्म-पुद्गलों का आत्म-प्रदेशों से संयोग नहीं होता है, इनका कर्मसंयोग में अन्वय-व्यतिरेक सम्बन्ध है, अतः लेश्या भी द्रव्य है, जिनका समावेश योग वर्गणा में होता है। इसी प्रकार संज्ञा, संज्ञी आदि द्वारों में भी लोकप्रकाशकार का चिन्तन अभिव्यक्त हुआ है। संज्ञा के अन्तर्गत ज्ञानसंज्ञा, अनुभवसंज्ञा के विवेचन के अनन्तर दीर्घकालिकी, हेतुवाद एवं दृष्टिवाद संज्ञा को समझाया गया है। संज्ञी शब्द का प्रयोग प्रायः समनस्क जीवों के लिए होता है, किन्तु उपाध्याय विनयविजयजी के अनुसार दीर्घकालिकी संज्ञायुक्त जीव संज्ञी

होते हैं, क्योंकि हेय-उपादेय की विवेक शक्ति समनस्क जीवो में होती है।

लोकप्रकाश में क्षेत्रलोक का विस्तृत विवेचन है, किन्तु डॉ. हेमलता ने क्षेत्रलोक का अपने ग्रन्थ में संक्षेप में ही निरूपण किया है, जिससे जैन परम्परा में मान्य खगोल-भूगोल सम्बन्धी ज्ञान का संकेत प्राप्त होता है। आधुनिक विज्ञान के युग में जैन परम्परा में प्रतिपादित लोक का चित्र मेल नहीं खाता है, किन्तु इस विषय में अभी-अभी डॉ. जीवराज जैन ने जैन लोकचित्र को सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड के पदार्थों एवं जीवों के प्रतीकात्मक चित्र के रूप में स्वीकार कर एक समाधान प्रस्तुत किया है। उनकी पुस्तक 'लोकाकाश : एक वैज्ञानिक अनुशीलन' सम्यग्ज्ञान प्रचारक मण्डल, जयपुर से इसी वर्ष प्रकाशित हुई है।

काललोक में उपाध्याय विनयविजय ने यह प्रश्न उठाया है कि क्या काल स्वतंत्र द्रव्य है? उन्होंने काल को स्वतंत्र द्रव्य न मानने एवं मानने दोनों के सम्बन्ध में प्रचलित तर्क उपस्थापित किए हैं तथा अन्त में उसे युक्तियों के द्वारा स्वतंत्र द्रव्य के रूप में प्रतिष्ठित किया है। काललोक पर प्रस्तुत पुस्तक में एक पृथक् अध्याय है, जिसमें समय, आवलिका आदि से लेकर पल्योपम, सागरोपम एवं पुद्गल परावर्तन के स्वरूप की भी चर्चा की गई है।

भावलोक के अन्तर्गत क्षायिक, औपशमिक, क्षायोपशमिक, औदयिक, पारिणामिक एवं सान्निपातिक इन छह भावों का सारगर्भित एवं व्यापक निरूपण करते हुए उपाध्याय विनयविजय जी ने ज्ञानावरणादि अष्टविध कर्मों तथा मिथ्यात्वादि १४ गुणस्थानों के साथ उनका सम्बन्ध बताया है, जिसकी चर्चा शोधकर्त्री ने व्यवस्थित रूप से की है।

प्रस्तुत पुस्तक का वैशिष्ट्य है कि इसमें 'लोकप्रकाश' के अतिरिक्त दिगम्बर एवं श्वेताम्बर दोनों परम्पराओं के मान्य आगमों एवं आगमेतर ग्रन्थों का उपयोग किया गया है। अध्यायों के लेखन में व्यवस्थित निरूपण के साथ यथावश्यक विश्लेषणात्मक एवं तुलनात्मक दृष्टिकोण को अपनाया गया है। अध्यायों के अन्त में सारगर्भित निष्कर्ष दिए गए हैं। पारिभाषिक शब्दों के अर्थों एवं प्रयुक्त चित्रों की सूची पृथक् से दी गई है। आशा है यह पुस्तक जैन आगमों के अध्येताओं एवं विशेषतः लोकप्रकाश के जिज्ञासुओं के लिए उपयोगी सिद्ध होगी।

मेरे श्रद्धेय सुहृद् डॉ. जितेन्द्र बी.शाह निदेशक, एल.डी. इन्स्टीट्यूट, अहमदाबाद का मैं हृदय से साधुवाद देता हूँ कि उन्होंने डॉ. हेमलता जैन के शोधग्रन्थ को प्रकाशन योग्य समझा एवं शीघ्र प्रकाशन की समुचित व्यवस्था की।

धर्मचन्द जैन
आचार्य, संस्कृत-विभाग
जयनारायण व्यास विश्वविद्यालय, जोधपुर

लेखकीय

उपाध्याय विनयविजय जी ने लोक के चार प्रकार द्रव्यलोक, क्षेत्रलोक, काललोक और भावलोक का 'लोकप्रकाश' में विशद् एवं व्यापक विवेचन किया है। प्रस्तुत ग्रन्थ के **प्रथम अध्याय** में उपाध्याय विनयविजय के व्यक्तित्व एवं कृतित्व का विशद परिचय दिया गया है। उपाध्याय विनयविजय का जन्म विक्रम संवत् १६६१ में गुजरात की धरा पर हुआ। उनके साक्षात् गुरु उपाध्याय कीर्तिविजय थे तथा सतरहवीं शती के महान् जैन दार्शनिक उपाध्याय यशोविजयगणी उनके समकालीन थे। प्रथम अध्याय में ही उपाध्याय विनयविजय की गुरु परम्परा में सम्राट् अकबर के प्रतिबोधक आचार्य हीरविजयसूरि, श्रीविजयसेनसूरि, श्री विजयदेवसूरि, श्री विजयसिंहसूरि, श्री विजयप्रभसूरि, श्री कीर्तिविजयगणी का समुचित उल्लेख किया गया है।

उपाध्याय विनयविजय उत्कृष्ट कवि, महान् वैयाकरण, दार्शनिक, आगमवेत्ता, आगमेतर ग्रन्थों के गहन अध्येता, टीकाकार, भूगोल-खगोल एवं गणित के ज्ञाता तथा जैन दर्शन के कुशल प्रस्तोता थे। चारित्रिक दृष्टि से उनमें विनयशीलता, कृतज्ञता, सरलता, अध्यवसायशीलता आदि अनेक गुण विद्यमान थे। उपाध्याय विनयविजय का साहित्यिक कृतित्व वैविध्यपूर्ण है। उनके द्वारा रचित ४० कृतियों के साहित्य को हमने नौ विभागों में रखकर परिचय दिया है। ये नौ विभाग इस प्रकार हैं-

१. आगम व्याख्या एवं सज्झाय साहित्य
२. इतिहास विषयक साहित्य
३. आध्यात्मिक रचनाएँ
४. स्तोत्र एवं स्तवन
५. व्याकरण विषयक रचनाएँ
६. रास एवं फागु काव्य
७. पूजा पद्धति-विषयक साहित्य
८. दूत काव्य, गीति काव्य एवं विज्ञप्ति लेख
९. दार्शनिक साहित्य

विक्रम संवत् १७३८ में उपाध्याय विनयविजय जी का रांदेर चातुर्मास के दौरान 'श्रीपाल राजानो रास' की रचना करते हुए स्वर्गगमन हुआ।

द्वितीय अध्याय में द्रव्यलोक का निरूपण किया गया है। द्रव्यलोक से आशय जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल इन षड् द्रव्यों का समूह है। द्रव्यलोक में इन षड् द्रव्यों का विवेचन भी द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव और गुण इन पाँच अपेक्षाओं से किया गया है। धर्मास्तिकाय जीव एवं पुद्गल की गति में निमित्त बनता है, अधर्मास्तिकाय स्थिति में निमित्त बनता है, आकाशास्तिकाय सभी द्रव्यों को स्थान देता है, काल से सभी द्रव्यों का परिणमन होता है, पुद्गल में वर्ण, गंध, रस और स्पर्श होते हैं तथा जीव ज्ञानोपयोग एवं दर्शनोपयोग से युक्त होता है।

लोकप्रकाश में जीवद्रव्य का जितना विस्तृत विवेचन है उतना अन्य द्रव्यों का नहीं। जीव द्रव्य का अग्रांकित ३७ द्वारों से व्यवस्थित निरूपण हुआ है- भेद, स्थान, पर्याप्ति, योनि, योनिसंख्या, कुलसंख्या, भवस्थिति, कायस्थिति, देह, संस्थान, अंगमान, समुद्घात, गति, आगति, अनन्तराप्ति, समयसिद्धि, लेश्या, दिगाहार, संहनन, कषाय, संज्ञा, इन्द्रिय, संज्ञित, वेद, दृष्टि, ज्ञान, दर्शन, उपयोग, आहार, गुणस्थान, योग, मान, लघु अल्पबहुत्व, दिगाश्रित अल्पबहुत्व, अन्तर, भवसंवेध और महा अल्पबहुत्व। इस द्वितीय अध्याय में इनमें से १ से १० द्वारों को आधार बनाकर जीव का विवेचन किया गया है।

जैन दर्शन में जीवों की संख्या अनन्त स्वीकार की गई है तथा सभी जीवों को स्वतंत्र सत्तावान् माना गया है। जीव के मुख्यतः दो प्रकार हैं- संसारी और सिद्ध। संसारी जीवों के विभिन्न अपेक्षाओं से दो, तीन, चार यावत् बाईस भेद निरूपित किए गए हैं। उपाध्याय विनयविजय ने जीवों की विभिन्न अवस्थाओं का विवेचन मुख्यतः जीव के नौ भेदों के आधार पर किया है- १. सूक्ष्म एकेन्द्रिय २. बादर एकेन्द्रिय ३. द्वीन्द्रिय ४. त्रीन्द्रिय ५. चतुरिन्द्रिय ६. तिर्यंच पंचेन्द्रिय ७. मनुष्य ८. देव और ९. नारक। इनका पर्याप्त और अपर्याप्त अवस्थाओं के आधार पर भी विवेचन किया है। वनस्पति में चेतना का अस्तित्व आधुनिक विश्व को सर्वमान्य है, किन्तु पृथ्वीकाय, अप्काय, तेजस्काय और वायुकाय में चेतना की सिद्धि हेतु वैज्ञानिक स्तर पर अभी और प्रयोग अपेक्षित हैं। आगम प्रमाण एवं तर्क के आधार पर इनमें जीवत्व की सिद्धि हेतु कुछ प्रयत्न हुए हैं।

इस अध्याय में जीव की विभिन्न विशेषताएँ अभिव्यक्त हुई हैं। उदाहरण के लिए निज स्थिति, समुद्घात और उपपात के द्वारा जीव लोक के किस स्थान को अवगाहित करता है, इसका निरूपण स्थान द्वार में किया गया है। पर्याप्ति किसे कहते हैं, किन-किन जीवों में कौन-कौनसी

पर्याप्ति होती है, जीव कब पर्याप्त अथवा अपर्याप्त कहलाता है तथा पर्याप्ति एवं प्राण में क्या सम्बन्ध है, इन सभी विषयों का विवेचन पर्याप्ति द्वार के अन्तर्गत किया गया है। जीवों के जन्म ग्रहण करने के स्थान को योनि कहते हैं। एक योनि में नाना प्रकार की जाति के जीवों के अनेक कुल होते हैं। एक ही भव या आयुष्य में जीव की स्थिति भवस्थिति कहलाती है तथा एक ही प्रकार की काय में स्थिति कायस्थिति कहलाती है। भवस्थिति दो प्रकार की होती है- सोपक्रम और निरूपक्रम तथा कायस्थिति अनन्तकाल तक भी सम्भव है। जैन दर्शन में पाँच प्रकार के शरीरों का निरूपण हुआ है- औदारिक, वैक्रिय, आहारक, तैजस और कार्मण। तैजस और कार्मण शरीर संसारी जीवों के साथ सदैव रहते हैं, मुक्त होने पर ही छूटते हैं। शरीर के आकार को जैन दर्शन में संस्थान कहा गया है। समचतुरस्र, न्यग्रोध परिमण्डल, सादि, वामन, कुब्जक और हुण्डक संस्थानों के स्वरूप आदि का निरूपण संस्थान द्वार में हुआ है।

तृतीय अध्याय में अवगाहना, समुद्घात, गति, आगति से लेकर कषाय पर्यन्त दस द्वारों (११ से २०) के आधार पर चार गतियों के जीवों की विभिन्न विशेषताओं पर प्रकाश डाला गया है। एक जीव आकाश के जितने प्रदेशों को अवगाहित करके रहता है वह उस जीव की अवगाहना कहलाती है। अवगाहना का दो प्रकार से निरूपण किया गया है-जघन्य एवं उत्कृष्ट। समुद्घात जैन दर्शन का पारिभाषिक शब्द है, जो वेदना, कषाय, मारणान्तिक, वैक्रिय, तैजस, आहारक एवं केवली के भेद से सात प्रकार का निरूपित है। इन सातों स्थितियों में जीव के कुछ आत्मप्रदेश शरीर से बाहर निकलते हैं, यही समुद्घात है। संसार में जीव एक गति से दूसरी गति में भ्रमण करता रहता है। जीव का मृत्यु को प्राप्त कर नरक आदि गतियों में जन्म लेने को गति तथा जहाँ से आकर जीव जन्म लेता है उसे आगति कहते हैं। जैन दर्शन का यह गणितीय विधान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। दूसरे भव में कौनसा जीव समकित प्राप्त कर सकता है तथा मोक्ष में जा सकता है, इसका निरूपण अनन्तराप्ति और समयसिद्धि द्वारों में किया गया है। लेश्या जैन दर्शन का पारिभाषिक शब्द है। उपाध्याय विनयविजय स्पष्ट करते हैं कि लेश्या के बिना कर्म पुद्गलों का आत्मप्रदेशों से संयोग नहीं होता। लेश्या भी एक द्रव्य है जिसका समावेश योगवर्गणा में होता है। लेश्या का सम्बन्ध व्यक्ति के आभामण्डल से भी जोड़ा गया है। लेश्या एक प्रकार से व्यक्ति के व्यवहार की नियामक होती है। जीव भिन्न-भिन्न दिशाओं से पुद्गलों का आहार ग्रहण करते हैं। वे पूर्व, पश्चिम आदि छह दिशाओं से आहार ग्रहण करते हैं, किन्तु व्याघात होने पर वे तीन, चार अथवा पाँच दिशाओं से भी आहार ग्रहण करते हैं। जीवों के अस्थि संयोजन को संहनन कहा गया है। वज्रऋषभनाराच आदि संहननों में

से किस जीव में कौनसा संहनन उपलब्ध होता है, संहनन द्वार का यह निरूपण जीवों की शारीरिक संरचना पर प्रकाश डालता है। जैन दर्शन में मान्य क्रोध, मान, माया और लोभ इन चार कषायों से युक्त होकर जीव संसार में भ्रमण करता रहता है।

चतुर्थ अध्याय में संज्ञा, संज्ञित, इन्द्रिय, वेद, दृष्टि, ज्ञान, दर्शन, उपयोग, आहार और गुणस्थान इन दस (२१ से ३०) द्वारों के आधार पर जीव का विशेष निरूपण किया गया है। जैन दर्शन में संज्ञा शब्द का प्रयोग आहार, भय, मैथुन एवं परिग्रह की अभिलाषा के लिए हुआ है। उपाध्याय विनयविजय ने ज्ञानसंज्ञा और अनुभवसंज्ञा दोनों का विवेचन करने के साथ संज्ञा के तीन भेद भी प्रतिपादित किए हैं- १. दीर्घकालिकी संज्ञा २. हेतुवाद संज्ञा ३. दृष्टिवाद संज्ञा। जैन दर्शन में समनस्क को संज्ञी और अमनस्क को असंज्ञी कहा गया है। जैन दर्शन में द्रव्येन्द्रिय और भावेन्द्रिय के रूप में इन्द्रिय के दो प्रकार प्रतिपादित हैं। श्रोत्र, चक्षु आदि पाँच इन्द्रियों का निर्माण नामकर्म से सम्बद्ध है, जबकि उसमें जानने का कार्य मतिज्ञानावरण के क्षयोपशम से होता है। वेद शब्द का प्रयोग जैन दर्शन में स्त्री, पुरुष एवं नपुंसक को उत्पन्न होने वाली मैथुन अभिलाषा के अर्थ में हुआ है। यह भी इन्द्रिय की भांति द्रव्य और भाव दो प्रकार का है। जीवों की आभ्यन्तर दृष्टि भिन्न-भिन्न होती है। जो वस्तु जैसी है उसे ठीक उसी रूप में समझना सम्यग्दृष्टि है और उसके विपरीत समझना मिथ्यादृष्टि है। मिश्रदृष्टि में दोनों का मिश्रित रूप रहता है। जैन दर्शन में ज्ञान के पाँच प्रकार मान्य हैं- मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्यवज्ञान और केवलज्ञान। विनयविजय ने भी इनकी विस्तृत चर्चा लोकप्रकाश में की है। जब मिथ्यादृष्टि से कोई जीव युक्त होता है तो उसका समस्त ज्ञान अज्ञान में परिणत हो जाता है। अज्ञान के तीन प्रकार बताए हैं- मतिअज्ञान, श्रुतअज्ञान और विभंग ज्ञान। विनयविजय ने जीवों का वर्णन दर्शन के आधार पर भी किया है। दृष्टि द्वार में जहाँ सम्यग्दृष्टि, मिथ्यादृष्टि, मिश्रदृष्टि की चर्चा की गई है वहाँ दर्शन द्वार में ज्ञान के पूर्व होने वाले दर्शन का भी निरूपण किया गया है। यह दर्शन चार प्रकार का है- चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन, अवधिदर्शन और केवलदर्शन। जीव का लक्षण उपयोग है। ज्ञान एवं दर्शन के व्यापार को उपयोग कहा गया है। जीव के लिए आहार अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। आहार से ही औदारिक, वैक्रिय और आहारक शरीर, पर्याप्तियों और इन्द्रियों का निर्माण होता है। विधि के आधार पर आहार के तीन प्रकार हैं- लोमाहार, प्रक्षेपाहार (कवलाहार) और ओजाहार। गुणस्थान सिद्धान्त जीवों के आत्मिक विकास की अवस्थाओं का द्योतक है। इन अवस्थाओं की भिन्नता के आधार पर मिथ्यात्व, सास्वादन, मिश्र आदि चौदह गुणस्थान प्रतिपादित हैं।

पंचम अध्याय में योग, मान, लघु एवं दिगाश्रित अल्पबहुत्व, अन्तर, भवसंवेध और महाअल्पबहुत्व इन सात द्वारों से जीव का निरूपण किया गया है। अन्य भारतीय दर्शनों की तरह जैन दर्शन भी मोक्ष से जोड़ने वाली समस्त साधना को योग कहता है। किन्तु जैन दर्शन में मन, वचन एवं काया की प्रवृत्ति को भी योग कहा गया है। योग के मुख्यतः तीन भेद हैं- काययोग, वचनयोग और मनोयोग। इनमें मन के चार, वचन के चार एवं काय के सात भेद होने से योग के पन्द्रह प्रकार भी निरूपित हैं। जैन आगमों में 'मान' शब्द मापन अर्थ में भी प्रयुक्त है। उपाध्याय विनयविजय ने लोक में जीवों की संख्या का निरूपण दो दृष्टियों से किया है- १. जीवों की परस्पर न्यूनाधिकता के आधार पर २. पूर्व आदि दिशाओं के आधार पर। एक जीव मृत्यु को प्राप्त होकर पुनः उस गति में कितने काल के पश्चात् जन्म ग्रहण करता है, इस काल व्यवधान को जैन पारिभाषिक शब्दावली में अन्तर कहा गया है। विनयविजय ने अन्तर द्वार के अन्तर्गत गति, जाति, काय और पर्याय के आधार पर इस काल व्यवधान का विचार किया है। किसी जीव के वर्तमान जन्म और परवर्ती जन्म अथवा पूर्ववर्ती जन्म के आधार पर उसके जघन्य एवं उत्कृष्ट जन्मों की गणना करना भवसंवेध कहलाता है। यह भवसंवेध तीन आधारों पर निरूपित किया गया है- १. औदारिक शरीरी जीवों द्वारा वैक्रिय शरीर प्राप्त करने पर। २. वैक्रिय शरीरी जीवों द्वारा औदारिक शरीर प्राप्त करने पर और ३. औदारिक शरीरी जीवों द्वारा औदारिक शरीर प्राप्त करने पर।

षष्ठ अध्याय 'क्षेत्रलोक' में जैन दर्शन के खगोल और भूगोल का निरूपण किया गया है। जैन दर्शन में लोक षड्द्रव्यमय है तथा मात्र आकाश द्रव्य के अस्तित्व वाले भाग को अलोक कहा गया है। लोक का आकार दोनों पैर फैलाकर कमर पर हाथ रखे खड़े पुरुष के समान प्रतिपादित है। कटि प्रदेश के नीचे का भाग अधोलोक, ऊपर का भाग ऊर्ध्वलोक और दोनों का मध्यभाग मध्यलोक है। लोक के ये त्रिविध भागों के नाम स्थानपरत्व और शुभता-अशुभता की तीव्रता-मन्दता के आधार पर अभिहित किए गए हैं। चौदह रज्जुओं और खंडुक प्रमाण में लोक का विभागीकरण बताया गया है। सम्पूर्ण लोक के मध्य एक रज्जु चौड़ी, लम्बी और ऊँची त्रसनाली है। सभी त्रस जीव इसी के अन्दर रहते हैं, बाहर नहीं।

जैन दर्शन में दिशा-विदिशा का कथन मध्यलोक में स्थित सुमेरु पर्वत एवं उसके भी मध्यभाग रुचक प्रदेश को केन्द्र मानकर किया जाता है। इसी के आधार पर पूर्व आदि छह मुख्य दिशा और ईशान, आग्नेय, नैऋत्य एवं वायव्य चार विदिशाएँ अंगीकार की गई हैं। विनयविजय ने दिशाओं के सात भेद भी निरूपित किए हैं- नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, ताप, भाव और प्रज्ञापक। यह

सम्पूर्ण लोक घनोदधि, घनवात और तनुवात वलयों से परिवेष्टित रहता है। अधोलोक में रत्नप्रभा आदि सात नरक पृथ्वियाँ हैं। मध्यलोक में जम्बूद्वीप आदि असंख्यात द्वीप और असंख्यात समुद्र हैं। जम्बूद्वीप में भरत, ऐरावत आदि सात क्षेत्र और हिमवान आदि छह वर्षधर पर्वत हैं तथा इसी द्वीप के मध्य सुमेरु पर्वत है। ऊर्ध्वलोक में १२ वैमानिक देवलोक, नौ ग्रैवेयक और पाँच अनुत्तर विमान हैं। पाँचवें अनुत्तर विमान से ऊपर सिद्धशिला का भी वर्णन किया गया हैं।

सप्तम अध्याय 'काललोक' में उपाध्याय विनयविजय की काल-सम्बन्धित सभी मान्यताओं का विवेचन किया गया है। काल को पृथक् द्रव्य मानने के सम्बन्ध में विनयविजय द्वारा उपस्थापित नौ तर्कों का भी निरूपण किया गया है। इसी अध्याय में काल द्रव्य का स्वरूप, उनकी अनस्तिकायता, कार्य और उसके प्रकारों का विस्तृत विवेचन प्रस्तुत है। प्रमाणकाल के अन्तर्गत संख्यात, असंख्यात और अनन्त इन तीन भेदों का विशेष स्वरूप उद्घाटित किया गया है। जैन दर्शन में पल्योपम, सागरोपम, पुद्गल परावर्त आदि काल भेदों का निरूपण अन्य भारतीय दर्शनों से इसे वैशिष्ट्य प्रदान करता है। विनयविजय द्वारा तोल और माप के आधार पर किए गए प्रमाणकाल का निरूपण भी किया गया है।

अष्टम अध्याय 'भावलोक' में आत्मा के स्वरूप के सम्बन्ध में जैनदर्शन का अन्य दर्शनों के साथ मन्तव्य भेद स्पष्ट किया गया है। आत्मा की पर्याय अधिक से अधिक पाँच भाव वाली होती है- (१) औपशमिक (२) क्षायिक (३) क्षायोपशमिक (४) औदयिक और (५) पारिणामिक। कुछ जैनाचार्य छठे भाव के रूप में सान्निपातिक भाव भी स्वीकार करते हैं। औपशमिक आदि छहों भाव जीवों की पर्याय से सम्बद्ध हैं तथा अजीवों में भी औदयिक एवं पारिणामिक भाव स्वीकार किए जाते हैं। भावों का कर्म, गति और गुणस्थान की अपेक्षा से विवेचन किया गया है।

इस प्रकार उपाध्याय विनयविजय विरचित लोकप्रकाश ग्रन्थ मात्र आकाशीय लोक का ही निरूपण नहीं करता है, अपितु इसमें षड्द्रव्यों एवं पाँच भावों की भी चर्चा हुई है। सर्वाधिक चर्चा जीवद्रव्य, क्षेत्रलोक एवं काललोक की प्राप्त होती है। प्रस्तुत ग्रन्थ में क्षेत्र लोक का संक्षेप में ही विवेचन किया गया है तथा द्रव्य, काल एवं भाव लोक का विशेष समीक्षात्मक अध्ययन किया गया है। इस अध्ययन से जैन दर्शन की विभिन्न सूक्ष्म मान्यताओं का बोध हुआ है। यह ग्रन्थ जैन दर्शन की विभिन्न तत्त्वमीमांसीय दार्शनिक मान्यताओं के लिए अत्यन्त उपयोगी है। इस ग्रन्थ का मुख्य प्रतिपाद्य जैन दर्शन की तत्त्व-मीमांसा है किन्तु कहीं कहीं ज्ञानमीमांसा और आचारमीमांसा का भी समायोजन हुआ है। प्रस्तुत ग्रन्थ में लोकप्रकाश के तत्त्वमीमांसीय पक्ष को अध्ययन का विषय बनाया

गया है। इस ग्रन्थ के अध्ययन करने के अनन्तर निम्नांकित बिन्दु स्पष्ट होते हैं- १. लोकप्रकाश ग्रन्थ में तत्त्वमीमांसीय निरूपण की प्रधानता है। आचारमीमांसा एवं ज्ञानमीमांसा का निरूपण गौण रूप से हुआ है। २. तत्त्वमीमांसीय दृष्टि से धर्म, अधर्म, आकाश, काल, पुद्गल एवं जीव द्रव्यों का विवेचन प्रमुख लक्ष्य रहा है। जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा और मोक्ष इन नव तत्त्वों में से अन्तिम सात तत्त्वों का प्रतिपादन लोकप्रकाश ग्रन्थ में स्थान नहीं ले पाया है। ३. जीव के स्वरूप एवं विभिन्न द्वारों से विभिन्न जीवों की अवस्थाओं का निरूपण इस ग्रन्थ में जिस व्यवस्थित रीति से उपलब्ध होता है, वैसा अन्यत्र प्राप्त नहीं होता। लोकप्रकाश एक विद्वत्तापूर्ण प्रौढ़ कृति है, जिसमें आगमिक आधारों पर जीवादि द्रव्यों का तात्त्विक विश्लेषण एवं निरूपण हुआ है।

प्रसतुत ग्रन्थ में कई विषयों की समस्या के समाधान के लिए श्रद्धेय श्री प्रेममुनि जी म.सा., प्रज्ञारत्न श्री जितेशमुनि जी म.सा. एवं श्री सुमतिमुनि जी म.सा. का पूर्ण सहयोग एवं आशीर्वाद रहा।

अच्छा कार्य तभी सम्भव है जब उसका निर्देशक कुशल एवं निपुण हो। मेरे इस शोधकार्य के निर्देशक गुरुवर्य प्रो. धर्मचन्द जी जैन के सहयोग, स्नेह एवं आशीर्वाद के विषय में जितना कहा जाय उतना कम है। आपका पुत्रीवत् प्रेम और स्नेह-सम्बल ने मुझे सदैव प्रेरित एवं उत्साहित किया है।

संस्कृत विभाग के प्रो. श्रीकृष्ण जी शर्मा, प्रो. नरेन्द्र जी अवस्थी, प्रो. प्रभावती जी चौधरी, प्रो. सत्यप्रकाश जी दुबे, डॉ. सरोज जी कौशल एवं अन्य समस्त गुरुजनों का मुझ पर सदैव आशीर्वाद रहा।

इस शोध कार्य के लिए मैंने जोधपुर के जैन विद्वान् श्री सम्पतराज जी डोसी, आध्यात्मिक शिक्षण बोर्ड, जोधपुर के रजिस्ट्रार श्रीमान् धर्मचन्द जी जैन, मुम्बई के उद्योगपति स्वाध्यायी श्रावक श्री विमल जी डागा, जयनारायण व्यास विश्वविद्यालय के दर्शन विभाग के सहायक आचार्य डॉ. राजकुमार जी छाबड़ा, अहमदाबाद के श्री उत्तमचन्द जी मेहता और मेरी अग्रजा डॉ. श्वेता जैन से भिन्न-भिन्न विषयों पर चर्चा की, जिससे मेरा शोध कार्य सरल और सुगम बन सका।

विश्वविद्यालय में संचालित केन्द्रीय पुस्तकालय, सेवा मन्दिर पुस्तकालय-जोधपुर, विजय ज्ञान भण्डार-ब्यावर, श्री कैलाशसागर सूरि ज्ञान मन्दिर-गांधी नगर कोबा एवं श्री वर्द्धमान स्थानकवासी महावीर भवन तथा पावटा पुस्तकालय की पुस्तकों के सहयोग से मेरे शोध प्रबन्ध का कार्य सुचारू रूप से चल सका।

परिवार के सहयोग बिना दीर्घकालिक कार्य पूर्ण होना सम्भव नहीं है। मेरे इस शोधकार्य में

मेरे पतिवर्य श्री विकास जी ललवाणी और मेरी अग्रजा ने मेरे आत्मबल को सदैव प्रेरित किया। मेरे परम आदरणीय पिताजी, वात्सल्यविभूति माताजी, कर्मप्रेरिका सासू मां, श्वसुरजी, जेठ-जेठानी, भ्राता श्री सतीश जैन, भाभी जी और अनुजा डॉ. जयश्री-श्री रोहित सिंघवी इन सभी का कार्य-सम्पादन में पूर्ण सहयोग रहा। मातृ वत्सल भाव से कभी-कभी वंचित रहने वाली मेरी सुपुत्रियां जिगीषा और ऋत्विजा ने भी मेरे इस कार्य में सहयोग किया।

लालभाई दलपतभाई भारतीय संस्कृति विद्या मंदिर, अहमदाबाद के निदेशक श्रद्धेय डॉ. जितेन्द्र बी. शाह की मैं हृदय से कृतज्ञ हूँ कि उन्होंने इस पुस्तक के प्रकाशन हेतु सहज स्वीकृति प्रदान की।

पुस्तक के कम्प्युटरीकरण के कार्य को पूर्ण मनोयोग से श्री कमलेश मेहता, जोधपुर ने सम्पन्न किया। इनका भी मैं हृदय से आभार व्यक्त करती हूँ।

- डॉ. हेमलता जैन (ललवाणी)

पारिभाषिक शब्दावली

(विनयविजयकृत लोकप्रकाश के आधार पर)

(१) **अंगमान**- जीव के शरीर की ऊँचाई, मोटाई और चौड़ाई का प्रमाण अंगमान कहलाता है। (३.२१२)

(२) **अज्ञान**- अज्ञान अर्थात् कुत्सित ज्ञान है, क्योंकि यहाँ प्रयुक्त 'अ' निषेधार्थक है जो कुत्सित अर्थ में लिया जाता है। यह कुत्सित रूप मिथ्यात्व के योग से है। (३.८७०)

(३) **अद्धाकाल**- सूर्यादि की क्रिया से प्रगट हुआ और गोदोहादि क्रिया की अपेक्षा रहित जो काल मनुष्य क्षेत्र में होता है वह अद्धाकाल कहलाता है। (२८.१०५)

(४) **अनन्तकाल**- पुद्गलपरावर्तन काल अनन्त काल कहलाता है। (२८.२०२)

(५) **अनन्तराप्ति**- विवक्षित जन्म से मृत्यु प्राप्त कर और दूसरे जन्म में उत्पन्न होकर प्राणी का समकित आदि को स्पर्श करना अनन्तराप्ति कहलाता है। (३.२८२)

(६) **अबाधाकाल (आयुष्य)** - जितने आयुष्य शेष रहते अगले जन्म का आयुष्य बन्धन करने में आता है उतने काल को आयुष्य का अबाधाकाल कहते हैं और उसके बाद वह उदय में आता है। (३.६३)

(७) **अर्थावग्रह**- 'यह कुछ है' इस प्रकार से शब्द आदि अधिक स्पष्टता से समझ में आता है वह अर्थावग्रह कहलाता है। (३.७०६)

(८) **अवधिज्ञान**-अर्थ का साक्षात् निश्चय रूप अवधान का नाम अवधि है अथवा दूसरे रूप में 'अव' शब्द नीचे के अर्थ में 'अव्यय' रूप में गिना जाए तो नीचे विस्तार पूर्वक वस्तु जिसके द्वारा दिखे उस ज्ञान का नाम अवधि है अथवा तीसरे रूप में 'अव' शब्द मर्यादा के अर्थ में यदि लें तो रूपी पदार्थों के विषय में प्रवृत्ति से उत्पन्न ज्ञान अवधिज्ञान कहलाता है। (३.८३६-८३८)

(९) **अवाय**- ईहा के पश्चात् पदार्थ का निश्चय होना अवाय है। (३.७१२)

(१०) **असंख्यातकाल**-पल्योपम, सागरोपम आदि औपमिक काल असंख्यात काल है। (२८.२०२)

(११) **आगति**- जीवों की अन्य जन्मों से विवक्षित जन्म में आने की योग्यता आगति कहलाती है। (५.२८०)

(१२) **आत्मांगुल**- जिस काल में जो मनुष्य अपनी अंगुल के माप से एक सौ साठ अंगुल ऊँचा हो उसका अंगुल आत्मांगुल कहलाता है। (१.३६) परमाणु, रथरेणु, त्रसरेणु, लीख, जूं और जौ इन्हें अनुक्रम से आठ-आठ गुना करते जाने पर उत्सेधांगुल का माप आयेगा। फिर उत्सेधांगुल को हजार गुना करने से 'प्रमाणांगुल' आयेगा और उसे ही दो गुना करने से 'आत्मांगुल' आयेगा। (१.३६-४१, पेज ७)

(१३) **इन्द्रिय**- इन्द्रिय इन्द् धातु से बना शब्द है। यह धातु ऐश्वर्यवान अर्थक है। आत्मा ऐश्वर्यवान है इसलिए आत्मा भी इन्द्र कहलाती है। शरीरधारी आत्मा के लिंग-चिह्न को इन्द्रिय कहते हैं। (३.४६४-४६५)

(१४) **ईहा**- अवगृहीत पदार्थ के धर्म की खोज करना ईहा है। (३.७११)

(१५) **उत्सेधांगुल**- अनन्त व्यावहारिक परमाणुओं की एक 'उत्श्लक्ष्ण-श्लक्ष्णिका' होती है। आठ उत्श्लक्ष्णश्लक्ष्णिकाओं की एक 'श्लक्ष्णश्लक्ष्णिका' होती है। आठ श्लक्ष्ण-श्लक्ष्णिकाओं का एक ऊर्ध्वरेणु होता है। आठ ऊर्ध्वरेणु का एक त्रसरेणु होता है। आठ त्रसरेणु का एक रथरेणु होता है। आठ रथरेणु का कुरुक्षेत्र के युगलियों का एक केशाग्र होता है। भरत क्षेत्र और ऐरवत क्षेत्र के मनुष्यों के आठ केशाग्रों के द्वारा एक लीख का मान होता है। आठ लीख का मान एक जूं है और आठ जूं प्रमाण से जौ का मध्यभाग होता है। इस तरह आठ जौ माप प्रमाण एक उत्सेध अंगुल होता है। (१.२१-३०)

(१६) **उपयोग**- पाँच ज्ञान, तीन अज्ञान और चार दर्शन ये बारह उपयोग कहलाते हैं यह जीव का लक्षण है। (३.१०७४)

(१७) **उपसर्ग**- जिससे प्राणी को उपसर्ग प्राप्त हो और जो धर्म से विमुख कर दे, उस पीड़ा विशेष को उपसर्ग कहते हैं। ये उपसर्ग देव, मनुष्य, तिर्यंच और स्वसंवेद्य से सम्बन्धित होते हैं। (३०.३६७ एवं ३६८)

(१८) **एक समयसिद्ध**- मनुष्यत्व प्राप्त कर मुक्त होने की योग्यता वाले जितने जीव एक समय में सिद्ध होते हैं, उन्हें एक समयसिद्ध कहते हैं। (३.२८३)

(१९) **कषाय**- जिसके कारण मनुष्य को संसार रूपी अटवी में आवागमन करना पड़े, परिभ्रमण करना पड़े, जन्म-मृत्यु के चक्कर करना पड़े, वह कषाय है। (३.४०६)

(२०) **कायस्थिति**- पृथ्वीकाय आदि जीव मृत्यु प्राप्त करके जब पुनः पुनः वहीं उत्पन्न होता है

अर्थात् वही काया प्राप्त करता है तो उसे कायस्थिति कहा जाता है। (३.६४)

(२१) **काल**- द्रव्य से अभेद रूप में रहे हुए वर्तना, परिणाम, क्रिया, परत्व-अपरत्व मुख्य विवक्षा से वर्तनादि पर्याय रूप काल जीव और अजीव रूप है।

(२२) **क्रिया**- देशान्तर की प्राप्ति रूप एक स्थान से दूसरे स्थान में जाना क्रिया है। (२८.६६)

(२३) **कुल**- जिस योनि में जीव उत्पन्न हो वह कुल कहलाता है। (३.६६)

(२४) **केवलज्ञान**- मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यव इन चार ज्ञानों की जिसमें अल्पमात्र भी अपेक्षा न हो, जो अकेला जीव है, अनन्त पदार्थ जिसमें ज्ञेय हैं इससे वह अनन्त है, आवरणों का क्षय हो जाने से जो विशुद्ध है, सम्पूर्ण है, इसके समान कोई न होने से जो असाधारण है और भूत, भविष्य एवं वर्तमान पदार्थों के स्वरूप को जो स्वतः प्रदीप्त करने वाला है, ऐसा ज्ञान केवलज्ञान है। (३.८६७-८६६)

(२५) **खंडुक प्रमाण**- रज्जु का चतुर्थ अंश जिसकी लम्बाई, चौड़ाई और ऊँचाई समचौरस हाथ के समान बराबर-बराबर होती है। (१२.१५)

(२६) **गति**- जीवों की प्राप्त जन्म से अन्य जन्म में जाने की योग्यता गति कहलाती है। (५.२७६)

(२७) **गुणस्थान**- जीव के ज्ञान आदि गुणों का स्थान गुणस्थान है। इन गुणों के स्वरूप में शुद्धि, अशुद्धि, प्रकर्ष एवं अपकर्ष इन चार की अपेक्षा से चौदह भेद हैं। (३.११३३)

(२८) **घनांगुल**- प्रतरांगुल को सूच्यंगुल द्वारा गुणा करने से घनांगुल माप आता है। (१.५१)

(२६) **दर्शन**- सामान्य रूप से वस्तु का बोध होना दर्शन है। (३.१०४६) दर्शन का यह लक्षण उपचार नय से है। विशुद्ध नय से दर्शन का लक्षण अनाकार का ज्ञान है। (३.१०५१)

(३०) **देश**- दो प्रदेश से लेकर अन्तिम प्रदेश तक का स्कन्धबद्ध विभाग देश कहलाता है। (११.८)

(३१) **ध्यान**- मन की स्थिरता, जो अन्तर्मुहूर्त्त तक रहती है। ध्यान चार प्रकार का है- आर्त्तध्यान, रौद्रध्यान, धर्मध्यान और शुक्लध्यान। (३०.४११)

(३२) **धारणा**- निश्चित किए पदार्थ को अन्तःकरण में धारण करना धारणा है। (३.७१३)

(३३) **निगोद**- सूक्ष्म वनस्पतिकाय वाले अनन्त जीवों का साधारण शरीर निगोद कहलाता है। (४.३२)

(३४) **परमाणु**-सूक्ष्म और व्यावहारिक दो प्रकार के परमाणु होते हैं। अनन्त सूक्ष्म परमाणुओं का एक व्यावहारिक परमाणु होता है। यह भी इतना सूक्ष्म होता है कि तीव्र शस्त्र द्वारा भी इसके टुकड़े नहीं हो सकते हैं। माप करने का सर्वप्रथम माप परमाणु कहा जाता है। परमाणु का

यह स्वरूप व्यवहार नय से कहा जाता है।(१.२१, २२ एवं २३) निश्चय नय से अनन्त सूक्ष्म परमाणुओं वाला एक स्कन्ध कहलाता है। परमाणु द्रव्य से अनन्त द्रव्यरूप है, क्षेत्र से लोक प्रमाण रूप है। काल से शाश्वत है। भाव से वर्ण आदि भाव से युक्त है। गुण से यह ग्रहण गुण वाला है क्योंकि छह द्रव्यों में इसके द्वारा ही ग्रहण किया जाता है, अन्य किसी से नहीं। (११.२, ३ एवं ४)

परमाणु अप्रदेशी और केवलज्ञान का ही गोचर है। यह कार्य द्वारा अनुमेय है, स्वयं किसी का कार्य नहीं है, किसी न किसी का कारण है। (११.११)

(३५) **पर्याप्ति**- जीवों के आहारादि पुद्गलों को ग्रहण करके उन्हें पुनः शरीर, इन्द्रिय आदि में परिणमित करने की शक्ति का नाम पर्याप्ति है। (३.१५)

(३६) **परिणाम**- पदार्थ की विविध प्रकार की परिणति या रूपान्तरण परिणाम कहलाता है। यथा मिट्टी आदि पदार्थ का कुम्भ आदि में रूपान्तर होना कुम्भादि परिणाम कहलाता है। (२८.५६)

(३७) **परीषह**- अरति मोहनीय कर्म के उदय से अरति परीषह होता है। जुगुप्सा मोहनीय कर्म के उदय से लज्जा देने वाला अचेल (वस्त्र रहित) होना भी परीषह होता है। (३०.३६६) परीषह २२ प्रकार के होते हैं- क्षुधा, पिपासा, शीत, उष्ण, दंश, अचेल, अरति, स्त्री, चर्या, नैषेधिकी, शय्या, आक्रोश, वध, याचना, रोग, अलाभ, तृण, स्पर्श, सत्कार, मलिनांगता, प्रज्ञा, अज्ञान और सम्यक्त्व। (३०.३६४ एवं ३६५)

(३८) **प्रतरांगुल**- सूच्यंगुल को सूच्यंगुल से गुणा करने से प्रतरांगुल माप आता है। (१.५०)

(३९) **प्रदेश**- अविभाज्य और केवल स्कन्धबद्ध जो परमाणु प्रमाण विभाग है वह प्रदेश है। (११.९)

(४०) **प्रमाणांगुल**- एक उत्सेध अंगुल से चार सौ गुणा लम्बा ओर अढ़ाई गुना चौड़ा एक प्रमाण अंगुल होता है। (१.३१)

(४१) **पूर्व**- ८४ लाख पूर्वांग का एक पूर्व होता है। एक पूर्व में ७० लाख ५६ हजार करोड़ वर्ष होते हैं। (२९.४ एवं ५)

(४२) **पूर्वांग**- ८४ लाख वर्ष का पूर्वांग कहलाता है। (२९.४)

(४३) **बादर**- बादर नामकर्म के उदय से स्थूल रूप प्राप्त किया हो एवं चर्मचक्षु से दिखता हो उसका नाम बादर है। (५.३)

(४४) **भवस्थिति**- भवस्थिति अर्थात् एक भव या जन्म का आयुष्य। (३.६९)

(४५) **मनःपर्यवज्ञान**- मनस्त्व के द्वारा परिणत हुआ द्रव्यों का पर्यव मनःपर्यव है उसका ज्ञान मनःपर्यव ज्ञान है अथवा नाना प्रकार की अवस्था वाले मनोद्रव्य के पर्याय का जो ज्ञान है वह मनःपर्यवज्ञान कहलाता है। (३.८५०-८५१)

(४६) **योनि**- तैजस और कार्मण शरीर वाला जीव औदारिक शरीर के योग्य स्कन्ध द्वारा जल ग्रहण हेतु जहाँ जुड़ता है, उस स्थान को योनि कहते हैं। (३.४३)

(४७) **रज्जु**- असंख्यात कोटाकोटि योजन का एक रज्जु होता है। स्वयंभूरमण समुद्र के पूर्व और पश्चिम दोनों वेदिकाओं के बीच जितना अन्तर है वह एक रज्जु का माप होता है। (१.६४-६५)

(४८) **लेश्या**- कृष्ण आदि द्रव्य के संयोग से स्फटिक रत्न का जिस प्रकार अन्य नया परिणाम होता है वैसे ही कर्मों के संयोग से आत्मा का परिणाम लेश्या कहलाता है। (५.२८५)

(४९) **व्यंजनावग्रह**- व्यंजनावग्रहोऽस्पष्टतरावबोधलक्षणः अर्थात् अत्यन्त अस्फुट ज्ञान व्यंजनावग्रह का लक्षण है। (३.७०६)

(५०) **वर्तना**- द्रव्य और परमाणु आदि की परमाणु रूप में रहने की स्थिति अथवा परमाणु का नया तथा पुराने रूप में रहना दोनों ही वर्तना है। (२८.५८)

(५१) **वर्गणा**- समान गुण वाले सजातीय पुद्गलों का समूह वर्गणा कहलाती है। (३५.४)

(५२) **समय**- काल की सूक्ष्मतम इकाई जिसका विभाग नहीं किया जा सकता है वह समय कहलाता है। (२८.२०३)

(५३) **समुद्घात**- सम अर्थात् एकीभाव या समान भाव के योग से वेदना आदि भोगकर आत्मा द्वारा सम्बद्ध कर्मों का उद्घात-अर्थात् नाश करना समुद्घात कहलाता है। (३.२१२)

(५४) **साधारण वनस्पति**- जिस अनन्तकायिक जीव का उच्छ्वास, निःश्वास और आहार साधारण होता है, वह साधारण वनस्पति कहलाती है। (५.७५)

(५५) **सूच्यंगुल**- एक प्रदेश मोटी, चौड़ी तथा एक अंगुल लम्बी इस तरह आकाश प्रदेश की श्रेणि को सूच्यंगुल कहते हैं। (१.४८)

(५६) **सूक्ष्म एकेन्द्रिय**- सूक्ष्म नामकर्म के योग से जो सूक्ष्म रूप प्राप्त करते हैं और चर्मचक्षु के लिए अगम्य हैं, वे सूक्ष्म एकेन्द्रिय कहलाते हैं। (४.३०)

(५७) **संख्यातकाल**- एक समय से लेकर शीर्षप्रहेलिका तक का काल संख्यातकाल कहलाता है। (२८.२०२)

(५८) **संज्ञित**- जिसको संज्ञा होती है वह संज्ञित कहलाता है। (३.५८०)

(५९) **संहनन**- अस्थियों के सम्बन्ध से संयुक्त अंगों का स्वरूप संहनन कहलाता है। यह संहनन दृढ़ता की कमी अधिकता आदि की विशिष्टता वाला होता है। (३.३९८)

(६०) **श्रुतज्ञान**- श्रूयते तत् श्रुतम्- ऐसी श्रुत की व्युत्पत्ति है। श्रुत अर्थात् शब्द। यह शब्द ही श्रुतज्ञान है अथवा यह श्रुतज्ञान भावश्रुत का हेतु है। इससे यदि हेतु के विषय का उपचार करें तो 'श्रुतात् शब्दात् ज्ञानम् श्रुतज्ञानम्' यह अर्थ भी किया जा सकता है। (३.७६५-७६६)

ग्रन्थ में प्रदर्शित चार्ट एवं चित्रों का अनुक्रम

१.	आचार्य हीरविजयसूरि की शिष्य परम्परा	३
२.	लोकप्रकाश का परिचयात्मक चार्ट	३५
३.	विनयविजय कृत रचनाओं का परिचयात्मक चार्ट	४२
४.	पुद्गल के परिणाम	५०
५.	संसारी जीवों के भेद	५५
६.	एकेन्द्रिय भेद	५७
७.	जलचर	६५
८.	स्थलचर	६६
९.	परिसर्पक	६६
१०.	खेचर तिर्यंच पंचेन्द्रिय	६६
११.	कर्मभूमि में उत्पन्न मनुष्य	६९
१२.	व्यन्तर देव	७०
१३.	बादर एकेन्द्रिय जीवों के स्थान	७६
१४.	सात पृथ्वियाँ	७७
१५.	योनियों का स्वामित्व	८५
१६.	तिर्यंच पंचेन्द्रिय जीवों की भवस्थिति और कायस्थिति	८९
१७.	मारणान्तिक समुद्घात समयवर्ती जीवों की तैजस एवं कार्मण शरीर की उत्कृष्ट अवगाहना	९३
१८.	जीवों की अवगाहना	११७
१९.	समुद्घात यन्त्र	१२३
२०.	लेश्या विवरण : विभिन्न गतियों में	१३६
२१.	लेश्या स्थिति (एक भव की अपेक्षा से)	१३७
२२.	जीवों में लेश्याओं का स्वामित्व	१४०
२३.	कषाय-भेद	१५०
२४.	क्रोधादि कषायों की शक्ति के स्तर	१५५
२५.	इन्द्रिय-भेद	१७७
२६.	मतिज्ञान के भेद-प्रभेद	१८६
२७.	औदारिक से वैक्रिय शरीर प्राप्त जीवों का भवसंवेध	२६१

२८.	वैक्रिय शरीरी जीवों से औदारिक शरीर प्राप्त जीवों का भवसंवेध	२६२
२९.	औदारिक से औदारिक शरीर प्राप्त जीवों का भवसंवेध	२६३
३०.	नारकी जीवों की स्थिति	२७०
३१.	देवगति के जीवों की स्थिति	२७१
३२.	पांच स्थावर जीवों की स्थिति	२७२
३३.	विकलेन्द्रिय, असन्नी एवं सन्नी तिर्यंच पंचेन्द्रिय जीवों की स्थिति	२७२
३४.	मनुष्य गति के जीव की स्थिति	२७३
३५.	जैन दर्शन के अनुसार लोक के स्वरूप का चित्र	२८४
३६.	लोक के आयाम का चित्र	२८५
३७.	१४ रज्जु लोक प्रमाण में खंडुक का चार्ट	२८७
३८.	१४ रज्जु लोक प्रमाण में खंडुक का चित्र	२८८
३९.	वातवलय में परिवेष्टित लोक का चित्र	२९०
४०.	तेरह परमाणु वाला आकाश प्रदेश का चित्र	२९२
४१.	अधोलोक के स्वरूप का चित्र	२९५
४२.	रामायण के अनुसार लोक का चित्र	२९६
४३.	पुराणों में जम्बूद्वीप का चित्र	२९७
४४.	महाभारत में लोक के स्वरूप का चित्र	२९७
४५.	श्रीमद् भागवत में सप्तद्वीप का चित्र	२९७
४६.	जैन दर्शन में सप्तद्वीप का चित्र	२९९
४७.	सात महाक्षेत्र	३०५
४८.	काल के मापक शब्द	३३८
४९.	अवसर्पिणी-उत्सर्पिणी कालचक्र का चित्र	३४२
५०.	क्षायोपशमिक भाव के अठारह भेद	३६२
५१.	औदयिक भाव के २१ प्रकार	३६४
५२.	सान्निपातिक भाव के २६ प्रकार	३६७
५३.	कर्मों से सम्बद्ध भाव	३६९
५४.	भावों में कर्म निरूपण	३७१
५५.	गुणस्थानों में भाव	३७२
५६.	गुणस्थान व भाव के उत्तर भेदों की सारणी	३७६

प्रथम अध्याय

उपाध्याय विनयविजय : व्यक्तित्व एवं कृतित्व

सम्राट् अकबर के प्रतिबोधक के रूप में जैनाचार्य श्री हीरविजयसूरि का नाम इतिहास विश्रुत है। श्री हीरविजयसूरि के सम्पर्क में आकर सम्राट् अकबर जैनधर्म की तप-साधना, समता एवं क्षमा भाव से अत्यन्त प्रभावित हुए। आचार्य हीरविजयसूरि का समय विक्रम संवत् १५८३ से संवत् १६५२ तक रहा। ये श्वेताम्बर परम्परा में तपोगच्छ सम्प्रदाय के महान् प्रभावशाली आचार्य थे। इन्हीं की शिष्य परम्परा में उपाध्याय श्री विनयविजय जी जैन धर्म-दर्शन के विशेषज्ञ विद्वान हुए।

उपाध्याय विनयविजय का एक स्थान पर सम्पूर्ण जीवन परिचय प्राप्त नहीं होता है। गुजराती भाषा में 'विनय सौरभ' नामक कृति में प्रो. हीरालाल रसिक दास कापडिया ने उपाध्याय विनयविजय जी के जीवन एवं कृतित्व के सम्बन्ध में प्रकाश डाला है। लोकप्रकाश ग्रन्थ की भूमिका में भी विवेचकों ने कुछ परिचय दिया है। इन दोनों स्रोतों के अतिरिक्त शान्तसुधारस, हैमलघुप्रक्रिया, नयकर्णिका एवं इन्दुदूत आदि कृतियों के भूमिका पृष्ठ भी उपाध्याय विनयविजय जी के परिचय के आधार बने हैं।

जन्म एवं दीक्षा

उपाध्याय विनयविजय का जन्म विक्रम संवत् १६६१ में गुजरात की धरा पर हुआ। विनयविजय जी ने स्वयं लोकप्रकाश ग्रन्थ के प्रत्येक सर्ग के अन्त में अपने गुरु वाचकश्रेष्ठ कीर्तिविजय एवं अपने माता-पिता का नामोल्लेख किया है। यथा-

विश्वाश्चर्यदकीर्ति–कीर्तिविजयश्रीवाचकेन्द्रान्तिष।
द्राजश्रीतनयोऽतनिष्ट विनयः श्रीतेजपालात्मजः।।[1]

अर्थ– विश्व को आश्चर्य चकित कर देने वाली कीर्ति है जिनकी, उन 'कीर्तिविजय' जी के उपाध्याय के शिष्य और माता 'राजश्री' तथा पिता श्री 'तेजपाल' के पुत्र विनयविजय ने यह रचना की है। हेमलघुप्रक्रिया की बृहद्वृत्ति में कहा गया है –

यां शिष्योद्भूतकीर्तिकीर्तिविजयश्रीवाचकाहर्म्मणे।
राजश्रीतनयो व्यधत्त विनयः श्रीतेजपालात्मजः।।[2]

इस श्लोक से भी स्पष्ट है कि विनयविजयजी के गुरु कीर्तिविजय जी थे एवं माता-पिता के नाम क्रमशः राजश्री एवं श्री तेजपाल थे। इन उल्लेखों से यह भी ज्ञात होता है कि विनयविजयजी

पहले अपने गुरु का नामोल्लेख करते हैं, तदन्तर माता का एवं फिर पिता का। गुरु के उपकारों को उन्होंने सर्वोच्च स्थान दिया है। गुरु ही एक शिष्य का सच्चा मार्गदर्शक होता है।

विनयविजय गणी जी का जन्म कहां हुआ इसका उल्लेख प्राप्त नहीं होता,किन्तु गुजरात की धरा उनके जन्म से सुशोभित हुई, ऐसा उनकी रचनाओं से एवं परम्परा से अनुमान होता है। उनकी गुजराती कृतियाँ भी इसकी साक्षी हैं कि गुजराती उनकी मातृभाषा रही है। गुजरात में जन्म का स्थान अभी तक अन्वेषणीय बना हुआ है। इनके पारिवारिक परिचय में भी माता-पिता के अतिरिक्त किसी का नामोल्लेख प्राप्त नहीं होता।

विनयविजयजी के साक्षात् गुरु उपाध्याय कीर्तिविजयजी रहे, ऐसा उनके द्वारा लोकप्रकाश में किए गए उपर्युक्त उल्लेख से एवं अन्य उल्लेखों से स्पष्टतः सिद्ध होता है। उन्होंने किस वय में एवं किस स्थान पर दीक्षा ग्रहण की, इसका भी विवरण प्राप्त नहीं होता। यह उल्लेख अवश्य प्राप्त होता है कि वे सतरहवीं शती के महान् जैनदार्शनिक उपाध्याय यशोविजयगणी के समकालीन थे तथा दोनों की मूल गुरु परम्परा एक ही रही है।

गुरुपरम्परा

उपाध्याय विनयविजय एवं उपाध्याय यशोविजय दोनों आचार्य हीरविजय सूरि की शिष्य परम्परा के मनीषी विद्वान् सन्त थे तथा दोनों ही उपाध्याय की उपाधि से अलंकृत रहे। अपनी गुरु परम्परा का उल्लेख उपाध्याय विनयविजयजी ने हैमलघुप्रक्रिया की प्रशस्ति में इस प्रकार किया है-

श्रीहीरविजयसूरेःपट्टे श्रीविजयसेनसूरीशाः।
तेषा' पट्टे संप्रति विजयन्ते विजयदेवसूरीन्द्राः।।
श्रीविजयसिंहसूरीर्जीयाज्जयवति गुरौ गते स्वर्गम्।
श्रीविजयप्रभसूरिर्युवराजो राजतेऽधुना विजयी।।
खेन्दुमुनीन्दुमितेऽब्दे विक्रमतो राजधन्यपुरनगरे।
श्रीहीरविजयसूरेः प्रभावतो गुरुगुरोर्विपुलात्।।
श्रीकीर्तिविजयवाचक–शिष्योपाध्यायविनयविजयेन।
हैमव्याकरणस्य प्रथितेयं प्रक्रिया जीयात्।।[1]

उपर्युक्त श्लोकों से विनयविजयजी की गुरुपरम्परा का स्पष्ट बोध होता है कि अकबर प्रतिबोधक आचार्य हीरविजयसूरि के पाट पर श्री विजयसेनसूरि ने आचार्य पद ग्रहण किया। उनके अनन्तर श्रीविजयदेवसूरि आचार्य बने। विजयदेवसूरि के दिवंगत होने के पश्चात् श्रीविजयसिंहसूरि को आचार्य पद संप्राप्त हुआ। इनके आचार्य काल में श्री विजयप्रभसूरि को युवाचार्य घोषित कर दिया गया था।

उपाध्याय विनयविजय के गुरु वाचकवर श्री कीर्तिविजयजी आचार्य नहीं थे। वे उपाध्याय पद से सुशाभित रहे। विनयविजयजी के द्वारा लिखित उपर्युक्त श्लोकों से यह भी तथ्य स्पष्ट होता है कि उनके समय आचार्य विजयदेवसूरि विद्यमान थे। उनके दिवंगत होने पर विजयसिंहसूरि ही आचार्य बने। श्री विजयप्रभसूरि उस समय युवाचार्य थे जो आगे चलकर आचार्य पद से सुशोभित हुए।उपाध्याय यशोविजय एवं उपाध्याय विनयविजय दोनों की गुरुपरम्परा को संक्षेप में इस प्रकार दर्शाया जा सकता है-

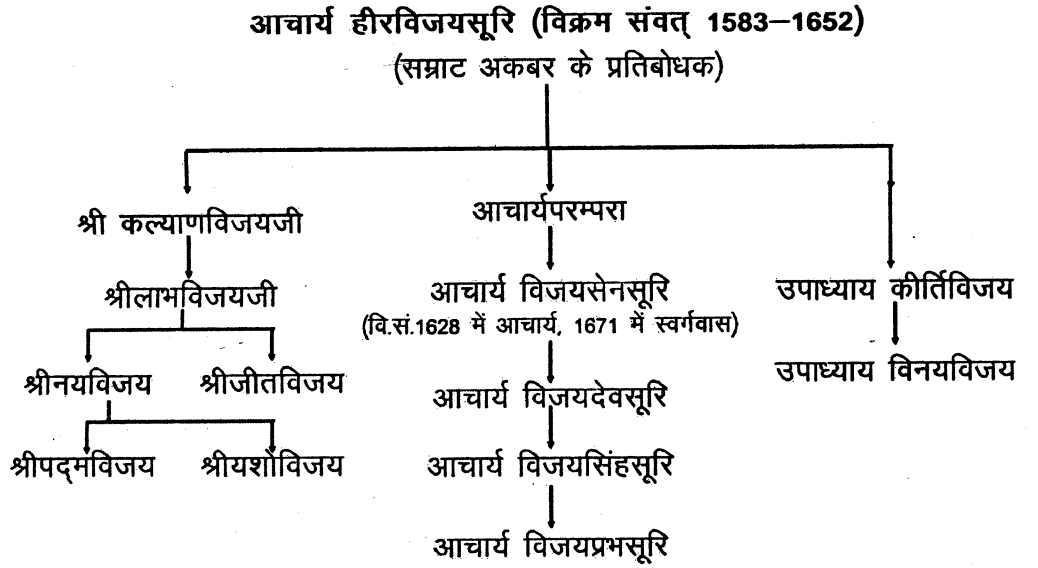

श्रीहीरविजयसूरि

सम्राट् अकबर प्रतिबोधक हीरविजयसूरि का जन्म विक्रम संवत् १५८३ की मार्गशीर्ष शुक्ला नवमीं को पालनपुर में हुआ था। इनके पिता का नाम कुरांशाह एवं माता का नाम नाथीदेवी था। विक्रम कार्तिक कृष्णा द्वितीया सोमवार विक्रम संवत् १५९६ में अण्हिलपुर पाटन नगर में तपागच्छ के आचार्य श्री विजयदानसूरि के सानिध्य में जैनमुनि की दीक्षा अंगीकार की। इनका बचपन का नाम हीरजी था और दीक्षोपरान्त इन्हें 'हीरहर्ष नाम दिया गया। शास्त्राभ्यास स्वदर्शन एवं परदर्शन में पारंगत होकर हीरहर्ष मुनि ने ख्याति अर्जित की। इन्हें सवंत् १६०७ में नारदीपुर में 'पंन्यास' पद तथा संवत् १६०८ में वाचक (उपाध्याय) पद प्रदान किया गया । विक्रम संवत् १६१० में सिरोही में आपको सूरि (आचार्य) पद पर अधिष्ठित किया गया। तब से आप 'हीरविजयसूरि के नाम से पहचाने गए। फतेहपुर सीकरी में उन्होंने तत्कालीन सम्राट् अकबर को जैनधर्म की शिक्षाओं से

अवगत कराया। सम्राट् अकबर जैनमुनि के फकीरी आचरण से एवं अंहिसा की उत्कृष्ट भावना से अत्यन्त प्रभावित हुआ। सम्राट् अकबर ने फलस्वरुप जैन पर्व पर्युषण के आठ दिनों में कत्लखाने बंद करने का आदेश दिया। उन्होंने इन आठ दिनों में चार दिन अपनी ओर से मिलाकर बारह दिनों तक पशुवध एवं कत्लखानों के पूर्ण निषेध का फरमान जारी किया। यहीं नहीं स्वयं अकवर ने वर्ष में छःमाह का मांसाहार सेवन का पूर्ण त्याग कर दिया। कहते हैं कि हीरविजयसूरि ने मेवाड़ में राणा प्रताप को भी प्रतिबोध दिया तथा महाराणा प्रताप जैन धर्म के प्रति पूर्ण आदरभाव रखते थे। जैनाचार्य हीरविजयसूरि एवं उनके शिष्यों के प्रति महाराणा प्रताप की अत्यन्त श्रद्धा थी। उन्होंने विनति पत्र लिख कर हीरविजयसूरि को मेवाड़ पधारने का निवेदन किया था। श्री हीरविजयसूरि ने जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति वृत्ति आदि की रचना की थी। ये आकर्षक व्यक्तित्व के धनी थे। इनमें वाणी की चमत्कारिक शक्ति थी तथा विद्वता का ओज था। साधु जीवन की मर्यादाओं का दृढ़ता से पालन करते थे। सम्राट् अकबर से इनका निकट सम्पर्क लगभग तीन वर्षों तक रहा। अकबर के मंत्री अबुल फजल ने इनके बारे में कहा था - "जहाँपनाह मैंने बड़े-बड़े विद्वान् देखे हैं। परन्तु सूरि जी जैसा विद्वान् एवं सरल नहीं देखा।[४] सूरिजी की सुदीर्घ शिष्य परम्परा रही है। जिनमें विजयसेनसूरि 'सूरि' पद पर आसीन हुए तथा कीर्तिविजय जी वाचक की उपाधि से अंलकृत हुए। विक्रमं संवत् १६५२ में सिद्धाचल की यात्रा के पश्चात् उनका स्वर्गगमन हो गया। हीरविजयसूरि जी को 'जगतगुरु' विशेषण से विभूषित किया जाता है।

श्री हीरविजयसूरि को लक्ष्य कर अनेक रचनाओं का ग्रथन हुआ है, जिनमें श्री हेमविजय गणि विरचित एवं श्री जिनशासन आराधना ट्रस्ट मुम्बई से विक्रम संवत् २०४५ में प्रकाशित 'श्री विजयप्रशस्तिमहाकाव्यम्' विशेष उल्लेखनीय है। हीर सौभाग्य, जगद्गुरु काव्य एवं हीरविजयसूरि रास से भी हीरविजयसूरि के सम्बन्ध में विशेष जानकारी प्राप्त होती है। आधुनिक युग में हीरविजयसूरि पर बालचित्र कथा का प्रकाशन प्राकृत भारती अकादमी जयपुर एवं दिवाकर प्रकाशन आगरा से संयुक्त रुप से हुआ है।

श्री विजयसेनसूरि

श्री हीरविजयसूरि के पश्चात् आचार्य बने। इनका जन्म फाल्गुनी पूर्णिमा विक्रम संवत् १६०४ को नारदपुर (मेवाड़) में हुआ। इनके पिता का नाम कमा सेठ और कोडीमदेवी था। इन्होंने विक्रमसंवत् १६१३ में ज्येष्ठ शुक्ला एकादशी को सूरत नगर में दीक्षा अंगीकार की। इनके भी दीक्षा प्रदाता विजयदानसूरी थे। विक्रम संवत् १६२६ की फाल्गुन शुक्ला दशमी को स्तम्भन तीर्थ में इन्हें पण्डित (उपाध्याय) पद से सुशोभित किया गया। इसके दो वर्ष पश्चात् अहमदाबाद में फाल्गुन शुक्ला

सप्तमी विक्रम संवत् १६२८ में इन्हें 'सूरि' पद से अंलकृत किया गया। इनका भी प्रभाव हीरविजयसूरि की भांति सम्राट् अकबर पर पड़ा। इसलिए अकबर ने इनको काली सरस्वती विरुद से सुशोभित किया एवं इन्हें षट् जल्प प्रदान किए। इन्होंने नमोदुर्वाररागादि की रचना की। प्रवचन परीक्षा वादियों को इन्होंने चौदह दिनों में पराजित किया। अहमदाबाद में भी अनेक परम्पराओं के वादियों को पराजित किया।लाभनगर में ईश्वर कृतित्ववाद की चर्चा में विजय प्राप्ति की। इनको सवाई हीरविजयसूरि विशेषण से भी सम्मानित किया गया। इनके आठ उपाध्याय एवं दो हजार शिष्य थे। ऋषभदास आदि कवि इनकी कृपा से प्रसन्न थे। विद्वता एवं वाक्पटुता से इनकी तपागच्छ में अच्छी प्रतिष्ठा रही।

श्री हेमविजयगणी रचित 'विजयप्रशस्तिमहाकाव्य' में श्री हीरविजयसूरि का चरित विस्तार से उपलब्ध है।

श्री विजयसेन सूरि का स्वर्गवास ज्येष्ठ कृष्णा एकादशी विक्रम संवत् १६७१ को हुआ। इनके स्वर्गगमन के अनन्तर तपागच्छ में दो संघ हो गए। एक श्री विजयदेवसूरि का संघ जिसे देवसूर गच्छ के नाम से जाना गया तथा दूसरा विजयतिलक सूरि का गच्छ जिसे आनन्दसूर के नाम से पहचाना गया। उपाध्याय विनयविजय ने दोनों ही संघो में रह कर साहित्य साधना की ।

श्री विजयदेवसूरि

ये श्री हीरविजयसूरि के शिष्य थे। इनका जन्म पौष शुक्ला त्रयोदशी रविवार को विक्रम संवत् १६३४ में इलादुर्ग (इडर) में हुआ। इन्होंने अपनी माता के साथ माघ शुक्ला दशमी विक्रम संवत् १६४३ में राजनगर में श्री हीरविजयसूरि के मुख से दीक्षा अंगीकार की। इनकी योग्यता के आधार पर इन्हें विक्रम संवत् १६५५ में सिकन्दरपुर में श्री शान्ति जिन प्रतिष्ठा के समय पंन्यास पद से सुशोभित किया गया। इन्हें एक वर्ष पश्चात् वैशाख शुक्ला चतुर्थी विक्रम संवत् १६५६ में सूरि पद पर अधिष्ठित किया गया। बादशाह जहाँगीर ने इनको बहुमान देते हुए जहाँगीर महातपा विरुद से अंलकृत किया। इन्होंने अनेक शास्त्र चर्चाओं में जयपताका को ऊँचा उठाया। आरासण एवं स्वर्णगिरि पर इन्होंने तीर्थ में प्रतिमा की प्रतिष्ठा की। इन्हें चार जल्प प्रदान किए गए। विजयदेवसूरि के सम्बन्ध में विशेष जानकारी विजयदीपिका, देवानन्दाभ्युदय, महात्म्यवृत्ति आदि ग्रन्थों से जाना जा सकता है। इनका स्वर्गगमन आषाढ़ शुक्ला एकादशी विक्रम संवत् १७१३ को उन्नतनगर में हुआ।

श्री विजयसिंहसूरि

विक्रम संवत् १६४४ में मेदिनीपुर नगर में इनका जन्म हुआ। इनके पिता का नाम नत्थुमल और माता का नाम नाथकदे था। विक्रम संवत् १६५४ में जब ये दस वर्ष के थे तभी इनकी दीक्षा हो

गई। विक्रम संवत् १६७३ में इनको वाचक पद प्रदान किया गया तथा माघ शुक्ला षष्ठी विक्रम संवत् १६८२ को इलादुर्ग में ये सूरि पद पर अधिष्ठित किए गए। विक्रम संवत् १७०६ में इनका देहावसान हो गया।

श्री विजयप्रभसूरि

उपाध्याय विनयविजय के काल में तपागच्छ के तीन आचार्य हुए- विजयदेवसूरि, विजयसिंहसूरि एवं विजयप्रभसूरि। विजयप्रभसूरि के सम्बन्ध में विशेष जानकारी प्राप्त नहीं होती है, किन्तु इतना निश्चित है कि उपाध्याय विनयविजय ने इन्दुदूत काव्य के माध्यम से सूरत में विराजमान श्री विजयप्रभसूरी जी को सन्देश भिजवाया था। इन्दुदूत की रचना जोधपुर में वर्षावास करते समय विक्रम संवत् १७१८ में की गई थी। अतः यह स्पष्ट होता है कि उस समय श्री विजयप्रभसूरि ही आचार्य पद को सुशोभित कर रहे थे।

श्री कीर्तिविजयगणी

उपाध्याय विनयविजय के साक्षात् गुरु श्री कीर्तिविजयगणी का नामोल्लेख तो विनयविजय जी की कृतियों में यत्र तत्र हुआ है।[५] वे उनका स्मरण अपने माता-पिता से पूर्व श्रद्धापूर्वक करते हैं, किन्तु उनके सम्बन्ध में कहीं कोई विशेष जानकारी नहीं दी गई है। श्री कीर्तिविजयगणी साक्षात् रूप से अकबर प्रतिबोधक श्री हीरविजयसूरी के शिष्य थे। इनके भ्राता सोमविजय ने भी श्री हीरविजयसूरी से कीर्तिविजय के साथ ही दीक्षा अंगीकार की थी। इसका स्पष्ट उल्लेख उपाध्याय विनयविजय ने लोकप्रकाश की प्रशस्ति में किया है-

इतश्चश्रीहीरविजयसूरीश्वरशिष्यौ सौदरावभूतां द्वौ।
श्रीसोमविजयवाचकवाचकवरकीर्त्तिविजयाख्यौ।[६]

अर्थात् श्री हीरविजयसूरी के दो सहोदर भ्राता शिष्य हुए वाचक श्री सोमविजय एवं वाचक श्री कीर्तिविजय। नामोल्लेख के क्रम से यह स्पष्ट होता है कि सोमविजय बड़े भ्राता थे एवं कीर्तिविजय इनके लघु भ्राता थे।

कीर्तिविजयगणी ने विनयविजय को असीम स्नेह एवं अनुशासन प्रदान किया था। इसीलिए वे विनयशील बनकर विद्या प्राप्ति एवं साहित्य रचना के प्रति सन्नद्ध रहे।

उपाध्याय यशोविजय एवं उपाध्याय विनयविजय का पारस्परिक सम्बन्ध-

यद्यपि इन दोनों विद्वान सन्तों की परम्परा के पारस्परिक सम्बन्ध का उल्लेख ऊपर किया जा चुका है तथापि जीवनकाल में इन दोनों के घनिष्ठ सम्बन्धों के उल्लेख प्राप्त होते हैं। सबसे प्रथम उल्लेख इन दोनों के सहाध्यायी होने का है। ये दोनों सन्त काशी के ब्राह्मण पंड़ितों से न्याय,

व्याकरण आदि ग्रन्थों का अध्ययन करने के लिए गए। दोनों की विलक्षण प्रतिभा एवं कंठस्थ करने की क्षमता से ब्राह्मण पंडित गुरु अत्यधिक प्रभावित हुए। इन्होनें विनयभाव के साथ विद्या गुरूओं का मन जीता तथा अनेक दुरुह ग्रन्थों का अभ्यास किया। उपाध्याय यशोविजय के गुरू नयविजयजी भी उस समय उनके साथ काशी में रहे। सुजसवेली नामक कांतिविजयजी के ग्रन्थ से यह ज्ञात होता है कि यशोविजय जी और विनयविजय जी ने लगभग ३ वर्षों तक काशी में भट्टाचार्य आदि गुरूओं से न्याय, नव्यन्याय आदि के ग्रन्थों का अध्ययन किया था।

एक रोचक प्रसंग यह उपलब्ध होता है कि न्याय विषयक एक ग्रन्थ का अध्यापन अपने कुल के व्यक्तियों को ही करवाया जा सकता था, किन्तु यशोविजयजी एवं विनयविजयजी के विनयभाव एवं जन्मजात प्रतिभा के समक्ष विद्या गुरुओं का मन नतमस्तक हो गया। १२००श्लोक के न्याय विषयक ग्रन्थ के ७०० श्लोकों को यशोविजय जी ने और ५००श्लोकों को विनयविजयजी ने कंठस्थ कर अपनी अद्भुत स्मरण शक्ति का परिचय दिया।

उपाध्याय यशोविजयजी के समय ही उपाध्याय विनयविजय का स्वर्गगमन हो गया था। उनका परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध था। अतःउपाध्याय विनयविजय का विक्रम संवत् १७३८ में स्वर्गवास होने पर नयायविशारद उपाध्याय यशोविजय जी ने 'श्रीपालराजानो रास' नामक ग्रन्थ के अन्त में गौरवपूर्ण उल्लेख किया है-

शिष्य तास श्रीविनयविजय वरवाचक सुगुण सोहाया जी
विद्या विनय विवेक विचक्षण लक्षण लक्षित देहा जी
सोभागी गीतारथ सारथ संगत सखर सनेहा जी

इस उल्लेख से विनयविजय की अनेक विशेषताएँ स्पष्ट होती हैं।

१. वे श्रेष्ठ वाचक अर्थात् उपाध्याय के गुणों से सुशोभित थे।
२. विद्या, विनय एवं विवेक से समन्वित थे।
३. उनका शरीर विलक्षण लक्षणों से लक्षित था।
४. वे गीतार्थ सन्त थे अर्थात् आगम के मूल सूत्र और उनके अर्थ के विज्ञाता थे।
५. वे स्नेहशील थे।

उपाध्याय यशोविजय ने 'धर्मपरीक्षा' नामक ग्रन्थ की स्वोपज्ञ टीका की प्रशस्ति में उल्लेख किया है कि श्री विनयविजयगणी ने इनकी इस कृति में सहयोग किया है साथ ही उन्होंने विनयविजय जी को न्यायाचार्य, महोपाध्याय तथा चारूमति उपाधियों से भी सम्बोधित किया है। इससे विनयविजय जी के व्यक्तित्व की विद्वता का पक्ष उद्घाटित होता है कि वे यशोविजयजी के साथ ग्रन्थ रचना में भी जुड़े रहे। 'चारूमति' विशेषण से स्पष्ट होता है कि उनकी बुद्धि तीक्ष्ण एवं निर्मल थी। उनकी प्रसिद्धि

यद्यपि 'उपाध्याय' के रूप में अधिक रही है, किन्तु यशोविजय जी उन्हें महोपाध्याय एवं न्यायाचार्य विशेषणों से सुशोभित कर रहे हैं। इससे ऐसा भासित होता है कि वे तपोगच्छ में उपाध्याय के पद से अलंकृत हुए और विद्या के क्षेत्र में उन्होंने महोपाध्याय एवं न्यायाचार्य की परीक्षा उत्तीर्ण कर तत्सम्बन्ध उपाधियाँ प्राप्त की।

व्यक्तित्व

उपाध्याय विनयविजयगणी तपोगच्छ की परम्परा के महान् विद्वान् सन्त थे। वे उत्कृष्ट कवि, महान् वैयाकरण, दार्शनिक, आगमवेत्ता, आगमेतर ग्रन्थों के गहन अध्येता, टीकाकार, भूगोल-खगोल एवं गणित के ज्ञाता, तथा जैनदर्शन के कुशल प्रस्तोता थे। चारित्रिक दृष्टि से उनमें विनयशीलता, कृतज्ञता, सरलता, अध्यवसायशीलता आदि अनेक गुण विद्यमान थे। उनके व्यक्तित्व की इन विशेषताओं पर संक्षिप्त में प्रकाश डाला जा रहा है -

1. उत्कृष्ट कवि

उपाध्याय विनयविजय संस्कृत, प्राकृत, गुजराती एवं हिन्दी भाषा में काव्य रचना करने में निपुण थे। संस्कृत भाषा में इन्दुदूत, उनकी प्रसिद्ध रचना है। जो कालिदास के मेघदूत की भांति संदेश काव्य की शैली में मन्दाक्रान्ता छन्द में विरचित है। इस काव्य में १३१ श्लोकों में विनयविजय ने जोधपुर में वर्षावास करते समय सूरत में विराजमान अपने आचार्य श्रीविजयप्रभसूरिजी को चन्द्रमा के माध्यम से भावपूर्ण सन्देश प्रेषित किया है। इस काव्य में जोधपुर का वर्णन करते हुए विनयविजय कहते हैं -

यत्रेभ्यानां भवनततयः काश्चिदद्रेस्तयग्रं,
प्राप्ताः काश्चित् पुनरनुपदं सन्ति वासामधस्तात्।
काश्चिदभूमा–वपि भृशवल–त्केतवः कान्तिदृप्ता,
निर्जेतुंद्या–मिव रुचिमदात् प्रस्थिता निर्व्यवस्थम्।।[७]

इस श्लोक में जोधपुर के मेहरानगढ़ से सटे हुए भवनों का एवं अधोभाग में स्थित भवनों का उत्प्रेक्षा अलंकार में सुन्दर वर्णन किया गया है।

मार्ग का निरूपण करते हुए कवि ने कितनी सुन्दर पदावली का प्रयोग किया है-

मार्ग तस्य प्रचुरकदली–काननैः कान्तदेशं,
स्थाने स्थाने जलधिदयिता–सन्ततिध्वस्तखेदम्।
आकर्ण्यान्तः–करणविषये स्थापयोक्तं मयेन्दो,
ऽभीष्टं स्थानं व्रजति हि जनःप्राञ्जलेनाध्वना द्राक्।।[८]

कवि ने इन्दुदूत सन्देशकाव्य में उपमा, उत्प्रेक्षा, अर्थान्तरन्यास, श्लेष आदि विविध

अंलकारों का सुन्दर प्रयोग किया है।

संस्कृत गीतिकाव्य की दृष्टि से विनयविजयजी की कृति शान्तसुधारस उनके कवित्व का उत्कृष्ट निदर्शन है। इसमें अनित्य,अशरण, संसार आदि १६ भावनाओं को २३४ पद्यों में निरूपित किया गया है। इसमें अनुष्टुप, इन्द्रवज्रा, द्रुतविलम्बित, प्रहर्षिणी, मन्दाक्रान्ता, मालिनी, शिखरिणी आदि २० छन्दों का प्रयोग किया गया है। अनित्य भावना को भैरव राग में गाते हुए इस प्रकार प्रस्तुत किया गया है।

सुखमनुत्तरसुरावधि सदतिमेदुरं,
कालतस्तदपि कलयति विरामम्।
कतरदितरत्तदा वस्तु सांसारिकं,
स्थिरतरं भवति चिन्तय निकामम्।।[९]

इसी प्रकार अशरण भावना का वर्णन शार्दूलविक्रीडित छन्द में इस प्रकार किया है-

ये षट्खण्डमहीमहीनतरसा निर्जित्य बभ्राजिरे,
ये च स्वर्गभुजो भुजोर्जितमदा मेदुर्मुदा मेदुराः।
तेऽपि क्रूरकृतान्तवक्त्ररदनैर्निर्दल्यमानाहठा,
दत्राणाः शरणाय हा दशदिशः प्रैक्षन्त दीनाननाः।।[१०]

इस श्लोक में वर्णन की विलक्षणता तथा अलंकारों का सुन्दर प्रयोग है। महीमही, भुजोभुजो, मेदुमेदु में यमक अंलकार की छटा दर्शनीय है। अनुप्रास अलंकार भी कवर्ण,दवर्ण आदि के प्रयोग में स्पष्ट दृग्गोचर हो रहा है। चक्रवर्ती सम्राट् की दीनता का कथन चमत्कृत करने वाला है।

स्तोत्र साहित्य की दृष्टि से भी विनयविजयजी का कवित्व उल्लेखनीय है। उन्होंने अर्हन्नमस्कारस्तोत्र, जिनसहस्रनाम स्तोत्र, आदि की भी रचना की है। ये कृतियाँ भी अपने आप में उच्च कोटि की हैं।

'लोकप्रकाश' विनयविजयजी की एक अद्भुत कृति है जो मूलतः जैन दर्शन का समग्र दृष्टि से ३७ सर्गों में प्रतिपादन करता है तथापि इसमें यथावसर उपमा आदि अलंकारों का प्रयोग किया गया है।

गुजराती भाषा में उपाध्याय विनयविजय की अनेक कृतियाँ हैं। जो उनके कवित्व की निदर्शन हैं। अध्यात्मगीता, आदिजिनविनति, उपाधान स्तवन, गुणस्थानकगर्भितवीर स्तवन, जिनचौवीसी, श्रीपालराजानो रास, पंच समवाय स्तवन, पुण्यप्रकाश स्तवन, विहरमाण जिनवीसी, षडावश्यक स्तवन आदि अनेक कृतियाँ इसकी साक्षी हैं।

प्राकृत एवं हिन्दी भाषा में भी इन्होंने काव्य रचना की थी। 'जिणचेइयथवण' प्राकृत भाषा में

२७ पद्यों में रचित स्तवन है जो उनके प्राकृत कवित्व की प्रतिभा को इंगित करता है। हिन्दी भाषा में उनकी स्वतंत्र रचना तो नहीं है किन्तु मिश्रित हिन्दी भाषा में विनयविलास उनकी आध्यात्मिक कृति है जो उनकी हिन्दी काव्य रचना की योग्यता का संकेत करती है।

2. महान् वैयाकरण

कलिकालसर्वज्ञ श्री हेमचन्द्रसूरि कृत 'सिद्धहेमशब्दानु- शासन' के अध्याय क्रम को प्रक्रिया क्रम में करने का उपाध्याय विनयविजय ने प्रयास किया है। उपाध्याय विनयविजय ने इस प्रक्रिया क्रम में सूत्र की लघुवृत्ति रूप 'हैमलघुप्रक्रिया' ग्रन्थ और बृहद वृत्ति स्वरूप 'हैमप्रकाश' ग्रन्थ की रचना की। २५०० श्लोक प्रमाण का यह हैमलघुप्रक्रिया ग्रन्थ व्याकरण रूप रत्नकोश के अर्गला की छोटी सी कुंजी है, जिससे व्याकरण अभ्यास का सरल मार्ग प्रशस्त होता है। ३४००० श्लोक परिमाण महाकाय ग्रन्थ हैमप्रकाश में उपाध्याय विनयविजय ने उन्हीं सूत्रों पर विस्तृत टीका लिखी है। इसमें हैमलघुप्रक्रिया के दुर्गम सूत्रों का अधिक स्पष्टता से बोध करवाया गया है। अतःइन दो ग्रन्थों में उनकी व्याकरण विषयक इस प्रतिभा से उन्हें महान् वैयाकरण स्वीकार करना उचित है। उन्होनें यह कार्य उसी प्रकार किया है, जिस प्रकार पाणिनि की अष्टाध्यायी पर भट्टोजिदीक्षित ने सिद्धान्तकौमुदी एवं लघुसिद्धान्तकौमुदी की रचना की।

3. दार्शनिक

उपाध्याय विनयविजय रचित 'अध्यात्मगीता, नयकर्णिका, विनयविलास, शान्तसुधारस, लोकप्रकाश, पंच समवाय स्तवन आदि ग्रन्थों में तत्त्वज्ञान, अध्यात्म, न्याय, नय आदि विषयों के समावेश से उनकी दार्शनिकता का बोध होता है। नयकर्णिका में नैगम, संग्रह आदि जैनाभिमत नयों की चर्चा है। अध्यात्मगीता में धर्म का स्वरूप, संसारी जीव की धर्म बिना दुर्दशा, संसारी जीव का नरकादि गतियों में परिभ्रमण, मिथ्यात्वी को आत्मज्ञान की आवश्यकता आदि का निरूपण है। शान्तसुधारस में अनित्यता, अशरणता, संसार, एकत्व, अन्यत्व, अशौच, आश्रव, संवर, निर्जरा, लोकस्वरूप, बोधिदुर्लभता, मैत्री, प्रमोद, करुणा और माध्यस्थ्य इन सोलह भावनाओं का विस्तार से कथन हुआ है। किसी भी कार्य में होने वाले पांच कारणों -काल, स्वभाव, नियति, कर्म और उद्यम का विस्तृत उल्लेख 'पंच समवाय स्तवन' नामक ग्रन्थ में हुआ है। 'लोकप्रकाश' में द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव चतुर्विभाग में लोक का विभाजन, षड्द्रव्य, पुद्गलपरावर्तन, अष्टकर्म, चौदह गुणस्थान, औदयिक आदि पांच भाव आदि विषयों का निरूपण है।

उपाध्याय विनयविजय ने काशी में उपाध्याय यशोविजय के साथ नव्य न्याय एवं अन्य दर्शन प्रस्थानों का अध्ययन किया था। अतः उन्हें जैनदर्शन के साथ अन्य दर्शनों का भी ज्ञान था। लेखन

की दृष्टि से उन्होंने जैन दर्शन को ही अपनी लेखनी का विषय बनाया। उन्हें जैनदर्शन का तलस्पर्शी एवं समग्र बोध था। इसका प्रमाणभूत ग्रन्थ लोकप्रकाश है। लोकप्रकाश में द्रव्यलोक, क्षेत्रलोक, काललोक एवं भावलोक इन चार विभागों में जैन दर्शन की आगमानुसारी समग्र प्रस्तुति करने के साथ उन्होंने यथावसर अपनी ओर से भी तर्कों का प्रयोग किया है। उदाहरण के लिए काल को द्रव्य स्वीकार करने और नहीं करने के मतों का उल्लेख करते हुए उन्होनें पुरातन तर्कों का संग्रह करने के साथ अपनी ओर से नए तर्क भी प्रस्तुत किए हैं।

4. आगम वेत्ता

'लोकप्रकाश' और 'भगवती सूत्र नी सज्झाय', इरियावहिय सज्झाय' आदि कृतियाँ उपाध्याय विनयविजय को श्रेष्ठ आगमवेत्ता सिद्ध करती हैं। लोकप्रकाश में पदे पदे भगवतीसूत्र, अनुयोगद्वार सूत्र, नन्दी सूत्र, दशवैकालिक सूत्र, प्रज्ञापना सूत्र, स्थानांग सूत्र, जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति सूत्र, उत्तराध्ययन सूत्र, आचारांग सूत्र, समवायांग सूत्र, जीवाजीवाभिगम सूत्र, सूर्यप्रज्ञप्ति, चन्द्रप्रज्ञप्ति आदि जैन आगमों का अनुसरण किया गया है।

वे कहीं इन आगमों की गाथाओं या सूत्रों का भी उल्लेख करते हैं तो कहीं बिना उल्लेख किए हुए ही आगम की मान्यताओं के आधार पर जैन धर्म-दर्शन को प्रस्तुत करते हैं। लोकप्रकाश एक ऐसा ग्रन्थ है जिसको पढ़कर कोई भी जिज्ञासु आगमानुसारी जैन धर्म दर्शन की मान्यताओं का परिचय प्राप्त कर सकता है। रचनाकार ने यद्यपि लोकप्रकाश का निर्माण श्लोकों में किया है किन्तु वे यथावश्यक मान्यता भेद एवं टिप्पणों का प्रयोग गद्य में भी कर देते हैं। विनयविजय का यह ग्रन्थ उनके आगम पाण्डित्य एवं कवित्व की उच्च क्षमता दोनों का समन्वय स्थापित करता है।

'भगवती सूत्र नी सज्झाय' नामक कृति में पांचवें अंग की विशिष्टता, इसके वक्ता, श्रोता एवं श्रवण की महिमा का विस्तार से कथन किया गया है।

'इरियावहिय सज्झाय' आवश्यक सूत्र के इच्छाकारेणं पाठ से सम्बद्ध है। इसमें अभिहया आदि दस प्रकार की विराधनाओं, ५६३ तरह के जीवों, १८२४१२० प्रकार के मिच्छामि दुक्कडं का निरूपण किया गया है।

'पुण्यप्रकाश स्तवन' और षडावश्यक स्तवन उनके गहन आगमज्ञान को अभिव्यक्त करते हैं। गुजराती भाषा में निर्मित पुण्यप्रकाश स्तवन में अतिचारों की आलोचना, महाव्रत, अणुव्रत, क्षमायाचना, अठारह पापस्थान आदि प्रसंगों का वर्णन किया गया है। 'षडावश्यक स्तवन' आवश्यक सूत्र पर आधारित है। जिसमें सामायिक, चउवीसत्थव, वन्दना, प्रतिक्रमण, कायोत्सर्ग एवं प्रत्याख्यान आवश्यकों का निरूपण किया गया है।

5. आगमेतर ग्रन्थों के ज्ञाता

जिस प्रकार उपाध्याय विनयविजय को आगमों का गहन ज्ञान था उसी प्रकार अनेक आगमेतर जैन ग्रन्थों का भी तलस्पर्शी बोध था। लोकप्रकाश में जीवसमास सूत्र, वृत्ति, संग्रहणी बृहदवृत्ति, प्रवचनसारोद्धार वृत्ति, प्रज्ञापना वृत्ति, अनुयोगद्वार चूर्णि, आचारांग निर्युक्ति, लीलावती, अंगुल सप्ततिका, लघुक्षेत्र समास, क्षेत्र समास की बृहद्वृत्ति, स्थानांग सूत्र वृत्ति, सिद्धहैम सूत्र, नवतत्व अवचूरी, तत्त्वार्थ सूत्र, तत्त्वार्थ भाष्य, तत्त्वार्थ वृति, सर्वार्थसिद्धि, नवतत्त्व प्रकरण, गुणस्थान क्रमारोह, विशेषावश्यक भाष्य, औपपातिक सूत्रवृत्ति, सिद्ध प्राभृत टीका, कर्मग्रन्थ, शिवशर्माचार्य कृत शतक ग्रन्थ, रत्नाकरावतारिका, पंचसंग्रह, राजप्रश्नीय वृत्ति, शक्रस्तव, महाभाष्य, महानिशीथसूत्र, हेमचन्द्राचार्य कृत अभिधान चिन्तामणि, वनस्पतिसप्ततिका आदि अनेक ग्रन्थों का उल्लेख यह सिद्ध करता है कि उपाध्याय विनयविजय बहुमुखी प्रतिभा के धनी थे एवं उन्होंने अनेकानेक जैन ग्रन्थों का अध्ययन किया था। यहां जिन ग्रन्थों का उल्लेख किया गया है, उनमें आगम का व्याख्या साहित्य प्रमुख है। आगमिक व्याख्या साहित्य के पांच अंग माने गए हैं- १. निर्युक्ति २.भाष्य ३.टीका ४. चूर्णि ५. टिप्पण, अवचूरि। विभिन्न आगमों पर यह व्याख्या साहित्य आज भी उपलब्ध है। उपाध्याय विनयविजय जी आचारांग निर्युक्ति, आवश्यक निर्युक्ति, दशवैकालिक निर्युक्ति आदि निर्युक्तियों के अधीत विद्वान् थे।इसी प्रकार विशेषावश्यक भाष्य, व्यवहार भाष्य आदि का भी उन्हें अध्ययन था। विभिन्न चूर्णियों, अवचूरीयों और टीकाओं का भी उन्होंने अध्ययन किया था। आगमिक व्याख्या साहित्य के अतिक्ति स्वतन्त्र रूप से निर्मित आगम परम्परा के साहित्य तथा तत्त्वार्थ सूत्र एवं उनके टीकाओं का भी उन्हें आवश्यक बोध था। वे मूलतः श्वेताम्बर परम्परा के विद्वान् थे तथापि सर्वार्थसिद्धि आदि कुछ दिगम्बर परम्परा के ग्रन्थों का भी उन्होंने अध्ययन किया था।

6. टीकाकार

कल्पसूत्र जैन परम्परा का एक प्रमुख आगम है जिसमें तीर्थंकर परम्परा के साथ भगवान महावीर का जीवन दर्शन वर्णित है। उपाध्याय विनयविजय ने कल्पसूत्र पर सुबोधिका टीका का संस्कृत में लेखन किया जो विक्रम संवत् १६६६ में पूर्णता को प्राप्त हुआ। ४१५० श्लोक परिमाण इस टीका से उनकी व्याख्या पद्धति का बोध होता है।

अपने व्याकरण ग्रन्थ हैमलघुप्रक्रिया पर संस्कृत में ३४००० श्लोक परिमाण टीका हैमप्रकाश का लेखन किया, जो संवत् १७३७ में रतलाम में पूर्णता को प्राप्त हुआ।

7. भूगोलज्ञ,खगोलज्ञ एवं गणितज्ञ

लोकप्रकाश ग्रन्थ में क्षेत्रलोक का विवेचन भूगोल, खगोल एवं गणित से सम्बद्ध है। इसमें

सम्पूर्ण लोक का चौदह रज्जुओं में विस्तृत विवेचन किया गया है। वह अधोलोक, मध्यलोक और ऊर्ध्वलोक में स्थित स्थलों का गणितीय विवेचन करता है। जैन दर्शन में निरूपित क्षेत्र लोक का विवेचन बिना गणित के हदयगंम नहीं होता। इसमें अंगुल उत्सेधांगुल, आत्मांगुल, प्रमाणांगुल, धनुष, योजन, रज्जु, खंडुक आदि के गणितीय नाप की आवश्यकता होती है। लोकप्रकाश के सोलहवें सर्ग में भरतक्षेत्र का विष्कम्भ, शर, जीवा,धनुःपृष्ट, वाहा एवं क्षेत्रफल से वर्णन किया गया है।

काललोक के विवेचन में भी विनयविजय के गणितीय ज्ञान की अभिव्यक्ति हुई है। समय, आवलिका, मुहूर्त्त, अहोरात्र, पक्ष, मास, वर्ष,युग, बीसी, संख्यात, असंख्यात, पल्योपम, सागरोपम, अनन्त, अर्धपुद्गलपरावर्तन आदि का निरूपण उनके गणितीय ज्ञान का बोध कराता है।

क्षेत्रलोक एवं काललोक का विवेचन गणित के साथ उनकी खगोलज्ञता एवं भूगोलज्ञता को भी पुष्ट करता है।

'इन्दुदूत' नामक संदेशकाव्य में उपाध्याय विनयविजय ने जोधपुर से सूरत तक के मार्ग का रमणीय वर्णन किया है जो उनके आधुनिक भूगोल ज्ञान का परिचय करवाता है। इन्दुदूत के श्लोक संख्या ३१ से १०० तक के श्लोकों में उपाध्याय विनयविजय जी ने जोधपुर से सूरत जाने के मार्ग को बताया है इस मार्ग के प्रमुख स्थल हैं- सुवर्णगिरि, जलंधर (जालोर), श्रीरोहिणी (सिरोही), अर्बुदाचल (आबू), अचलगढ़, सरस्वती तीर पर आया सिद्धपुर, साबरमती, राजनगर (अहमदाबाद), वटपद्र (वडोदरा), नर्मदानदी पर भृगुपुर (भरूच) और तरणिनगर (सूरत)। आश्चर्य है कि लगभग यही मार्ग आज हमारा रेलमार्ग है।

8. जैन दर्शन के कुशल प्रस्तोता

विनयविजयगणी ने लोकप्रकाश के माध्यम से जैन दर्शन की अद्भुत प्रस्तुति की है। द्रव्यलोक में उन्होनें ३७ द्वारों के माध्यम से जीव तत्त्व मीमांसा का सूक्ष्म प्रतिपादन किया है। षड्द्रव्यों की भी उन्होनें प्रारम्भिक दूसरे सर्ग में चर्चा की है। पुद्गल द्रव्य का विशेष विवेचन किया है। काल द्रव्य का विवेचन करते हुए उन्होनें इसके द्रव्य होने के पक्ष में अनेक तर्क उपस्थापित किये हैं। काल का द्रव्यत्व स्वीकार न करने का पक्ष भी युक्तियुक्त रीति से प्रस्तुत किया है। भावलोक के अन्तर्गत जीव के औपशमिक आदि छह भावों का सुन्दर निरूपण किया है।

आगमिक परम्परा के जैन दर्शन को प्रस्तुत करने में लोकप्रकाश की महती भूमिका रही है। इसके अतिरिक्त नयकर्णिका में आपने नैगम आदि नयों का २३ पद्यों में निरूपण किया है। अध्यात्म, इतिहास, स्तवन एवं तत्त्वज्ञान के माध्यम से आपने जैन दर्शन की प्रामाणिक प्रस्तुति की है। आगम एवं दर्शन के गहन ज्ञान के आधार पर जैन धर्म-दर्शन के तात्त्विक विवेचन में आप सिद्धहस्त रहें हैं।

9. चारित्रिक विशेषताएँ

उपाध्याय विनयविजय जी पंच महाव्रत, पांच समिति, तीन गुप्ति आदि आवश्यक साध्वाचार का पालन करने के साथ विनयशीलता, कृतज्ञता, सरलता, अध्यवसायशीलता आदि अनेक चारित्रिक गुणों से समन्वित थे।

उनकी विनयशीलता का परिचय उनकी कृतियों में श्रद्धापूर्वक अपने गुरू कीर्तिविजय जी एवं आचार्य परम्परा के उल्लेख से प्राप्त होता है। उनकी कृतियों में स्तवन भी उनकी विनयशीलता एवं सद्गुणों के प्रति भक्ति की परिचायक है। विनयविलास, वृषभतीर्थपति स्तवन, पट्टावली सज्झाय, नेमिनाथ बार मासी, जिनचौबीसी आदि कृतियाँ उनकी विनयशीलता को चारित्रिक गुण के रूप में अभिव्यक्त करती है। जिस साधु समुदाय के साथ में रहे उसमें भी आपने विनयपूर्वक आचरण कर अपने नाम को चरितार्थ किया। इसीलिए उनके गुरुभ्राता उपाध्याय यशोविजयजी ने उनकी प्रशंसा में कहा था-

विद्या विनय विवेक विचक्षण लक्षण लक्षित देहा जी।
सोभागी गीतारथ सारथ संगत सखर सनेहा जी।।

विनयशीलता के साथ आपमें कृतज्ञता का स्वाभाविक गुण था। एक बार आप खंभात चातुर्मास में व्याख्यान फरमा रहे थे। तभी एक वृद्ध ब्राह्मण का वहां प्रवेश हुआ उन्हें देखकर उपाध्याय श्री जी अपने पाट पीठ से नीचे उतरे तथा वृद्ध ब्राह्मण का स्वागत कर उन्हें आगे लाए। इस घटना से सभी लोग अचम्भित थे। वह वृद्ध ब्राह्मण काशी में उनके विद्यादाता गुरु रहे थे। विनयविजय जी के विद्यागुरु के प्रति इस व्यवहार से उनकी विनयशीलता और कृतज्ञता अभिव्यक्त होती है।

विनयविजय जी में सरलता का विशेष गुण था। वे अपने द्वारा की हुई भूल को स्वीकार करने के लिए तत्पर रहते थे। ऐसा उल्लेख मिलता है कि वे तपोगच्छ के उपगच्छ देवसूरगच्छ को छोडकर किन्हीं परिस्थितियों में आणसूरगच्छ में चले गए। वहां कुछ वर्षों तक रहने के पश्चात् आपको अपनी की हुई भूल का अनुभव हुआ तथा जोधपुर चातुर्मास वि.सं.१७१८ के समय उस भूल का परिमार्जन करने के लिए आपने देवसूरगच्छ के तत्कालीन आचार्य विजयप्रभसूरि जी को 'इन्दुदूत' काव्य की रचना कर अपना संदेश प्रेषित किया कि वे अपने त्रुटि को स्वीकार कर पुनः देवसूरगच्छ में आना चाहते हैं। इन्दुदूत काव्य के माध्यम से जब उनकी विज्ञप्ति तत्कालीन आचार्य विजयप्रभसूरि के पास पहुँची तब उन्होंने विनयविजय जी को पुनः अपने गच्छ में सम्मिलित होने की स्वीकृति दी एवं उनकी इस सरलता पर प्रमोद की अभिव्यक्ति की।

उनकी चारित्रिक विशेषताओं में उनकी एक प्रमुख विशेषता थी अध्यवसायशीलता। वे

निरन्तर स्वाध्याय, पठन-पाठन एवं लेखन में संलग्न रहते थे। इसी का सुफल है के वे ४० कृतियों का निर्माण कर सके।

विचरण विहार

जैन श्रमणाचार के अनुसार जैन साधु चातुर्मास के अतिरिक्त काल में एक स्थान से दूसरे स्थान पर विचरण करते रहते हैं। उपाध्याय विनयविजय ने भी तत्कालीन भारत के अनेक भूभागों को विचरण विहार एवं वर्षावासों से पावन किया। मुख्यतः गुजरात, मारवाड़, एवं मालवा में उनका विचरण रहा। उनके चातुर्मास कहाँ कहाँ पर हुए इसका सम्पूर्ण विवरण तो प्राप्त नहीं होता है, किन्तु उनके द्वारा अपनी कृतियों की पूर्णता के सन्दर्भ में चातुर्मासिक स्थलों की जानकारी उपलब्ध होती है। वे प्रमुख चातुर्मास इस प्रकार हैं- १७२८, १७२९ एवं १७३८ में रांदेर, १७२३ एवं १७३१ में गांधार, १६८९ एवं १७१६ में सूरत, १७०६ में भादर, १७०८ में जूनागढ़, १७१० में राघनपुर (राजधन्यपुर), १७१८ में जोधपुर और १७३७ में रतलाम।

उपाध्याय पदवी

विनयविजय जी आगमों के पारदृश्वा विद्वान् थे, अतः वे उपाध्याय अथवा वाचक पदवी से अलंकृत हुए। इसमें कोई संदेह नहीं, किन्तु उन्हें उपाध्याय पद पर कब आरुढ़ किया गया इसकी जानकारी प्राप्त नहीं होती है। उपाध्याय यशोविजय जी ने उनको वाचकवर उपाधि से सम्बोधित किया है -

शिष्य श्री विनयविजय वर वाचक सुगुण सोहाया जी।"

स्वयं विनयविजय ने अपनी हस्तलिखित प्रति में इस प्रकार उल्लेख किया है-

श्री कीर्तिविजयवाचकशिष्योपाध्यायविनयविजयेन।
निजजननीश्रेयोऽथ चित्कोशे प्रतिरियं मुक्ता।।"

इस श्लोक में विनयविजय के पूर्व उपाध्याय विशेषण यह स्पष्ट करता है कि विनयविजय जी उपाध्याय पदवी से अलंकृत थे। उन्होंने चित्कोश अर्थात् ज्ञानकोश नामक पुस्तकालय में अपनी माता के श्रेय के लिए कुछ प्रतियाँ रखी थी। उनकी दो हस्तलिखित प्रतियाँ पाटन के भण्डार में विद्यमान हैं। उन्ही में से एक प्रति में उपर्युक्त श्लोक उल्लिखित है। इस श्लोक का उद्धरण 'जैन गुर्जर कवियों' नामक पुस्तक के पृष्ठ ७ पर भी प्राप्त है।

कृतित्व परिचय

1. आगम व्याख्या एवं सज्झाय साहित्य

उपाध्याय विनयविजय को आगम का अच्छा अभ्यास था। वे उसके मर्म को जानते थे।

इसीलिए उन्होनें सज्झाय के रूप में आगमों के कतिपय विषयों का प्रतिपादन किया तथा कल्पसूत्र सदृश लोकप्रिय आगम पर संस्कृत में टीका लिखने का सफल प्रयत्न किया। प्रमुख रूप से उनके द्वारा रचित सज्झाय साहित्य में अग्रांकित कृतियों की गणना होती है -

१. भगवती सूत्र नी सज्झाय
२. इरियावहिय सज्झाय
३. आयम्बिल सज्झाय
४. मरुदेवी माता सज्झाय

आगम से सम्बद्ध इन सज्झायों के अतिरिक्त १. प्रत्याख्यान विचार एवं २. षडावश्यक स्तवन नामक कृतियों को भी आगम व्याख्या साहित्य के अन्तर्गत वर्गीकृत किया जा सकता है।

यहाँ पर क्रमशः कल्पसूत्र सुबोधिका टीका, सज्झाय साहित्य, प्रत्याख्यान विचार एवं षडावश्यक स्तवन का संक्षेप में परिचय दिया जा रहा है। -

(1) कल्पसूत्र सुबोधिका टीका– उपाध्याय विनयविजय की संस्कृत कृतियों में इसकी रचना सबसे पहले हुई। दशाश्रुतस्कन्ध नामक छेद सूत्र के अष्टम अध्ययन 'पज्जोसवणा कल्प' को कल्पसूत्र के नाम से जाना जाता है।उपाध्याय विनयविजय ने इसी कल्पसूत्र पर संस्कृत विवृति "सुबोधिका" की रचना की। उनकी यह विवृति अथवा टीका विक्रम संवत् १६९६ की ज्येष्ठ शुक्ला द्वितीय गुरुवार को पुष्य नक्षत्र में पूर्ण हुई। इस विवृति का परिमाण ४१५० श्लोक जितना आंका गया है। इस कल्पसूत्र में तीन विषयों का प्रतिपादन हुआ है।

१. महावीर स्वामी एवं अन्य तीर्थंकरों का जीवन संक्षेप
२. स्थविरावली
३. समाचारी

इसमें २४वें तीर्थंकर महावीर स्वामी का जीवन वृतान्त विस्तार से दिया गया है। फिर पश्चानुपूर्वी क्रम से पार्श्वनाथ, नेमिनाथ आदि तीर्थंकर का परिचय देते हुए प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव का जीवन चरित्त दिया गया है। सुबोधिका टीका में कल्पसूत्र का आशय भलीभातिं स्पष्ट किया गया है। विविध विषयों का पल्लवन कर उनकी चर्चा की गई है। उनके द्वारा वर्णित प्रमुख विषय हैं -

आचेलक्य आदि दस कल्प, पर्युषण कल्प का महत्व, पर्युषण के पांच कृत्य, कल्याणकों की संख्या, नागकेतु की कथा, ३२ लक्षण, १४ स्वप्न विचार, कार्तिक श्रेष्ठी एवं मेघकुमार की कथा, दस आश्चर्य, महावीर स्वामी के २७ भव, स्वप्न के प्रकार एवं फल, त्रिशला का विलाप, जन्मोत्सव, ऐन्द्र व्याकरण की उत्पत्ति, महावीर स्वामी को हुए उपसर्ग, गणधरवाद, ८८ ग्रह, गौतम स्वामी का विलाप, कमठ का उत्सर्ग, नेमिनाथ की जल क्रीड़ा, एवं विवाह यात्रा, राजीमति द्वारा प्रव्रज्या, इक्ष्वाकु वंश की स्थापना, ऋषभदेव के १०० पुत्र एवं २ पुत्रियों का नामोल्लेख, हाकार आदि तीन नीतियाँ, ५ शिल्प,

पुरुष की ७२ कलाएँ, स्त्री की ६४ कलाएँ, श्रेयांस द्वारा ऋषभदेव का पारणा, माता मरूदेवी की मुक्ति, भरत एवं बाहुबलि का युद्ध आदि।

टीका के प्रारम्भ में पांच श्लोकों में तथा अन्त में १८ श्लोकों में प्रशस्ति की गई है। टीका प्रायः गद्यात्मक है कहीं कहीं पद्यों का प्रयोग किया है। इस टीका का प्रथम प्रकाशन विक्रम संवत् १९६७ में देवचन्द लालभाई जैन पुस्तकोद्धार संस्था से श्री आनन्द सागर सूरि के सम्पादन में हुआ था तथा द्वितीय प्रकाशन इसी संस्था से विक्रम संवत् १९७९ में हुआ।

कल्पसुबोधिका की रचना विनयविजयगणी ने अपनी अन्य कृति आनन्दलेख से पूर्व कर दी थी क्योंकि उन्होनें आनन्द लेख के श्लोक संख्या १४५ में इसका उल्लेख इस प्रकार किया है-

क्षणैःक्षणाढ्यैश्च निधानसंख्यैरर्थापनं कल्पसुबोधिकायाः।
विचित्रदित्रपवित्रनृत्योत्सवेन तत्पुस्तकपूजनं च ।।

(2) भगवती सूत्र नी सज्झाय– पंचम अंग आगम भगवती सूत्र की विशेषता, उसके वक्ता एवं श्रोता की योग्यता आदि का निरूपण करते हुए २१ पद्यों की इस गुजराती कृति 'भगवती सूत्र नी सज्झाय ' का निर्माण विक्रम संवत् १७३१ अथवा विक्रम संवत् १७३८ में रांदेर चातुर्मास में किया गया था। कृति का प्रारम्भ गौतम स्वामी द्वारा प्रभु महावीर स्वामी से पूछे गए ३६००० प्रश्नों के उल्लेख से किया गया है। यह भी बताया गया है कि भगवती सूत्र में एक श्रुतस्कन्ध, ४१ शतक एवं अनेक उद्देशक हैं।इसे 'व्याख्या प्रज्ञप्ति सूत्र' भी कहा गया है। भगवती सूत्र की श्रोता की योग्यता का निरूपण ५वें से ९वें पद्य में किया गया है। सज्झायकार विनयविजय गणी पाठकों को इस सूत्र के अध्ययन की ओर आकर्षित करना चाहते हैं। उन्होनें यह भी सूचना दी है कि भगवती सूत्र की स्वर्णक्षरी हस्तलिखित प्रतियाँ अनेक ग्रन्थ भण्डारों में विद्यमान है।

(3) इरियावहिय सज्झाय– जैन दर्शन में साधु-साध्वी को गमनागमन में लगने वाले दोषों का 'मिच्छामि दुक्कडं' इरियावहिय (इच्छाकारेणं) के पाठ से दिया जाता है। यह सामायिक पाठ का भी अंग है एवं प्रतिक्रमण के पाठ का भी। इरियावहिय सज्झाय गुजराती भाषा में रचित है जिसमें दो ढालें हैं। प्रथम ढाल में १४ कडियाँ एवं दूसरी ढाल में १२ कडियाँ है। इस प्रकार इसमें कुल २६ कडियाँ हैं। इस कृति का प्रारम्भ श्रुतदेवी को प्रणाम करके किया गया है। इसमें नारक के १४, एकेन्द्रिय के २२, विकलेन्द्रिय के ६, पंचेन्द्रिय तिर्यंच के २०, मनुष्य के ३०३ और देवों के १९८ इस प्रकार जीवों के ५६३ भेदों का प्रथम ढाल में निरूपण किया गया है। इरियावहिय सूत्र में १८८ अक्षर कहे गए हैं। जिनमें २४ संयुक्ताक्षर, एवं शेष असंयुक्त अक्षर हैं। द्वितीय ढाल में अभिहया, वत्तिया, लेसिया आदि दस प्रकार की जीव विराधनाओं की चर्चा की गई है। ५६३ प्रकार के जीवों की विराधना, राग-द्वेष, मन-वचन एवं काया इन तीन योगों,कृत-कारित एवं अनुमोदित इन तीन प्रकार

के करणों, वर्तमान आदि तीन कालों तथा पंचपरमेष्ठि और आत्मा (स्वयं जीव) इन छह की साक्षी से विचार करने पर १८,२४,१२० (५६३ x १० x २ x ३ x ३ x ३ x ६= १८,२४,१२०) प्रकार से मिच्छामि दुक्कडं दिया जाता है। ईयापथ का प्रतिक्रमण किए बिना आत्म विशुद्धि नहीं होती इसलिए साधु गमनागमन के पश्चात् ईयापथ प्रतिक्रमण अवश्य करता है। इस कृति का काल विक्रम संवत् १७३०,१७३३ अथवा १७३४ रहा है।

(4) आयम्बिल सज्झाय– गुजराती भाषा में ११ पद्यों में निर्मित इस आयम्बिल सज्झाय नामक कृति में आयम्बिल तप का स्वरूप, प्रकार एवं महत्त्व प्रतिपादित है। यह एक प्रकार का बाह्य तप है जिसमें विकार उत्पन्न करने वाले दूध, दही, घृत, तेल एवं मीठे का त्याग होता है। इस तप की महिमा कर्मक्षय एवं स्वादजय की दृष्टि से अंगीकार की गई है। इस आयम्बिल तप का उत्कृष्ट एवं जघन्य प्रकार इस आयम्बिल सज्झाय में निरूपित किया गया है।

(5) मरुदेवी माता सज्झाय– सात कड़ियों में रचित यह गुजराती कृति प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव की माता मरुदेवी के जीवन से सम्बद्ध है। यह विनीता नगरी में तीर्थंकर ऋषभदेव के दर्शन करने के लिए जाती है एवं उत्कृष्ट विचारों के आने से सर्वज्ञता को प्राप्त कर लेती है। इस कृति में विनयविजयगणी ने माता मरुदेवी के जीवन चरित्र को भलीभांति उत्कंटित किया है।

(6) प्रत्याख्यान विचार– इसमें दो ढालों के अन्तर्गत कुल २६ पद्य हैं। अनागत आदि दस प्रत्याख्यानों का निरूपण करते हुए दसवें अद्धाप्रत्याख्यान के अन्तर्गत नवकारसी आदि प्रत्याख्यानों का निरूपण किया गया है। प्रत्येक प्रत्याख्यान के आगार भी दिए गए हैं। प्रसंगतः अशन-पान-खादिम एवं स्वादिम इन चार प्रकार के आहारों का स्वरूप समझाया गया है। द्वितीय ढाल में अनाहार का विवेचन किया गया है। यह प्रत्याख्यान विचार कृति 'प्रत्याख्यान सज्झाय' नाम से भी जानी जाती है।

(7) षडावश्यक स्तवन– दिन के अन्त में एवं रात्रि के अन्त में साधु-साध्वी एवं श्रावक-श्राविका द्वारा अवश्यकरणीय क्रिया को आवश्यक कहते हैं। आवश्यक छह हैं १. सामायिक २. चतुर्विंशतिस्तव ३. वन्दना ४. प्रतिक्रमण ५. कायोत्सर्ग ६. प्रत्याख्यान। विनयविजयगणी ने प्रत्येक आवश्यक का स्वरूप एवं उसके प्रभाव का निरूपण एक-एक ढाल में किया है। इस प्रकार इस कृति में छह ढाल हैं तथा उनमें क्रमशः ५,७,७,६,५ और ७ पद्य हैं। कृति का प्रारम्भ पांच कड़ियों से हुआ है तथा अन्त में १ कड़ी का कलश है। इस कृति में वन्दना के द्वादश आवर्त; ३२ दोषों का उल्लेख हुआ है।

2. इतिहास विषयक साहित्य

उपाध्याय विनयविजय ने इतिहास विषयक कृतियों का भी निर्माण किया है। इनमें पट्टावली सज्झाय एवं सूरति चैत्य परिपाटी को उल्लेखित किया जा सकता है।

(1) पट्टावली सज्झाय– इस कृति में तीर्थंकर महावीर के पश्चात् सुधर्मा स्वामी से लेकर विजयप्रभसूरि तक की पट्ट परम्परा का वर्णन किया गया है। कृति का प्रारम्भ पाँच दोहों से किया गया है। इन दोहों के अनन्तर ढाल, दोहा, फिर ढाल एवं दोहा का क्रम चला है। ७२ पद्यों में निर्मित इस कृति में विनयविजय जी ने अपनी आचार्य परम्परा एवं गुरुजनों का विशेष वर्णन किया है। इसमें आचार्य हीरविजयसूरि द्वारा की गई धार्मिक प्रवृत्तियों का विस्तार से उल्लेख है। आचार्य विजयदेवसूरि को इन्होंने युगप्रधान एवं गौतमावतार विशेषणों से विशेषित किया है। अपने गुरु कीर्तिविजयगणी का इसमें विशेष परिचय दिया गया है। इस कृति का रचना काल विक्रम संवत् १७१८ होने की सम्भावना की गई है। इस कृति में आणसूरगच्छ के आचार्य विजयानन्दसूरि के सम्बन्ध में कोई उल्लेख नहीं किया गया है।

(2) सूरति चैत्य परिपाटी– विनयविजयगणी की उपलब्ध समस्त कृतियों में यह सबसे अधिक प्राचीन कृति है। विक्रम संवत् १६७६ में रचित इस गुजराती रचना की १४ कड़ियों में सूरत शहर के तत्कालीन ११ जिनालयों एवं उनमें सम्पादित भाव पूजन का उल्लेख किया गया है। वे ११ जिनालय हैं- आदिनाथ, शांतिनाथ, धर्मनाथ, सूरति मण्डण, पार्श्वनाथ, सम्भवनाथ, अभिनन्दननाथ, कुम्बर पार्श्वनाथ, कुन्थुनाथ, अजितनाथ और चिन्तामणि पार्श्वनाथ।

इन तीर्थंकरों का परिचय भी संक्षेप में कृतिकार ने दिया है। इसी तरह रांदेर के तीन जिनमन्दिरों, बलसाढ, धणदीवी, नवसार, हांसोठ आदि स्थानों के जिनालयों का भी उल्लेख किया गया है, किन्तु सूरत के जिनालयों की प्रधानता के कारण इस कृति का नाम 'सूरति चैत्य परिपाटी' रखा गया है। इसमें जिनालयों का ऐतिहासिक वर्णन होने से यह इतिहास सम्बद्ध है।

3. आध्यात्मिक साहित्य

आध्यात्मिक साहित्य की रचनाकार की दृष्टि से भी उपाध्याय विनयविजय जी का नाम स्मरणीय है। उन्होंने आत्मगुणों की अभिवृद्धि एवं दोषों के परिहार के लिए वैराग्य का पोषण किया है। आत्म विशुद्धि हेतु उनकी आध्यात्मिक कृतियों का स्वाध्याय आज भी किया जाता है। उनकी प्रमुख आध्यात्मिक कृतियाँ हैं- शान्तसुधारस, अध्यात्मगीता, विनयविलास।

(1) शान्तसुधारस– उपाध्याय विनयविजय जी की यह संस्कृत भाषा में रचित ऐसी कृति है जो आध्यात्मिक दृष्टि से अनेक जैन परम्पराओं में आदृत है। तेरापन्थ परम्परा में पूज्य कालूगणी,

आचार्य तुलसी एवं उनकी परम्परा के अनेक सन्तों ने इसे अपनाया और सैंकड़ों साधु-साध्वियों ने इसे याद कर लिया। आचार्य तुलसी का मन्तव्य है कि शान्तसुधारस संगान में जितना मधुर है उतना ही भावपूर्ण है।[13] संगायक और श्रोता तन्मय होकर इसके बहाव में बह जाते हैं।शान्तसुधारस का एक संस्करण आचार्य तुलसी के मार्गदर्शन में आदर्श साहित्य संघ चुरु में हिन्दी अनुवाद के साथ प्रकाशित हुआ है।

शान्तसुधारस में १६ भावनाओं का आध्यात्मिक दृष्टि से प्रभावी निरूपण हुआ है- १. अनित्यता २. अशरणता ३. संसार ४. एकत्व ५. अन्यत्व ६. अशुचि ७. आस्रव ८. संवर ९. निर्जरा १०. धर्म ११. लोक १२. बोधिदुर्लभ १३. मैत्री १४. प्रमोद १५. कारुण्य १६. माध्यस्थ्य। संसार की अनित्यता एवं असारता को रामगिरि राग में गेय निम्नांकित श्लोक कितनी प्रभावी ढंग से अभिव्यक्त करता है-

मूढ! मुह्यसि मुधा मूढ! मुह्यसि मुधा, विभवमनुचिन्त्य हृदि सपरिवारम्।
कुशशिरसि नीरमिव गलदऽनिलकम्पितं, विनय! जानीहि जीवितमसारम्।।[14]

हे मूढ़ तु व्यर्थ ही वैभव एवं परिवार का चिन्तन कर मोह में उलझ रहा है। हे विनय! तू इस जीवन को उसी प्रकार असार समझ जिस प्रकार कुश के अग्र भाग पर टिका हुआ जलबिन्दु वायु द्वारा प्रकम्पित होने पर समाप्त हो जाता है।

संसार की असारता एवं भयानकता को केदार राग में अभिव्यक्त करते हुए कहा गया है-

कलय संसारमतिदारुणं, जन्ममरणादि भयभीत रे।
मोहरिपुणेह सगलग्रह, प्रतिपदं विपदमुपनीत रे।।[15]

हे पुरुष! इस संसार में जन्म-मरण आदि के भय से भीत बना हुआ है। मोह रूपी शत्रु तेरा गला पकड़कर तुझे पग-पग पर विपदा की ओर धकेल रहा है। अतः तु अनुभव कर कि यह संसार अत्यन्त दारुण (भयानक) है।

मैत्री, प्रमोद, कारुण्य एवं माध्यस्थ भावना का स्वरूप एक ही श्लोक में उन्होंने इस प्रकार स्पष्ट किया है-

मैत्री परेषां हितचिन्तनं यद्, भवेत् प्रमोदो गुणपक्षपातः।
कारुण्यमार्ताऽङ्गिगरुजां जिहीषत्युपेक्षणं दुष्टधियामुपेक्षा।।[16]

दूसरों का हित चिन्तन मैत्री भावना है। गुणों के प्रति अनुराग होना प्रमोद भाव है। दुःखी प्राणियों के कष्ट निवारण की इच्छा भावना कारुण्य भावना है तथा दुष्ट बुद्धि वाले लोगों के प्रति उदासीन रहना माध्यस्थ भावना है।

संवर भावना को नटराग से गाते हुए इस प्रकार भावाभिव्यक्ति की गई है-

विषयविकारमपाकुरु दूरं, क्रोधं मानं सहमायम्।
लोभरिपुं च विजित्य सहेलं, भज संयमगुणमकषायम्।।[19]

तू विषय विकारों को दूर कर, क्रोध, मान, माया और लोभरुपी शत्रुओं को सहजभाव से जीतकर कषायमुक्त संयमगुण का आसेवन कर।

इस प्रकार शान्तसुधारस में १६ भावनाओं के माध्यम से आध्यात्मिकता को प्रवाहित करते हुए शान्तरस का अनुभव कराया गया है।

(2) अध्यात्म गीता– यह गुजराती कृति है। जो दोहे और ढाल के क्रमिक प्रयोगों में निबद्ध है। इसमें कुल २३८ पद्य हैं। प्रशस्ति श्लोकों को मिलाकर इसमें २४२ पद्य हैं। इस कृति की प्रथम ढाल में प्रमुखतः निम्नलिखित विषय प्रतिपादित हैं-

१. धर्म का सच्चा स्वरूप क्या है?

२. मैं कहाँ से आया हूँ, कहा जाऊँगा और मेरा स्वरूप क्या है?

३. मैं किसका बान्धव हूँ और कौन मेरा बान्धव है?

४. परमात्मा का शुद्ध स्वरूप क्या है?

द्वितीय ढाल में धर्म रहित संसारी जीव की दुर्दशा का वर्णन किया गया है। तीसरी ढाल में बताया गया है कि ज्ञान के अभाव में संसारी जीव नरकादि गतियों में परिभ्रमण करता रहता है तथा अनेक दुःखों को भोगता है। चौथी ढाल में ८४ लाख जीव योनि का विवेचन है। आगे की ५वीं से ९वीं ढाल में मिथ्यात्व एवं सम्यक्त्व का बोध कराते हुए ध्यान और योग का निरूपण किया गया है। यह कृति विनयविजय जी की है, इसकी सिद्धि निम्नांकित पंक्ति से होती है-

विनय विवेक विचारी ने ज्योत सुं ज्योत मिलाप चेतन।[20]

(3) विनयविलास– यह मुख्यतः हिन्दी भाषा में रचित आध्यात्मिक कृति है जहाँ कहीं कहीं गुजराती का भी प्रयोग है। इसमें ३७ पद एवं इनमें १७० कड़ियाँ (पद्य) हैं। इसमें अधिकतर पद पाँच-पाँच कड़ियों के हैं। विनयविजयगणी ने कई पद्य आत्मलक्ष्यी दृष्टि से लिखे हैं। इस रचना में अनेक प्रेरणापद कथा प्रसंगों का समावेश किया गया है। उदाहरण के लिए राजुल एवं नेमीनाथ का प्रसंग विस्तार से कई पदों में दिया गया है। यह कृति मोह निद्रा को त्याग कर अप्रमत्त होने की शिक्षा देती है। धन, यौवन एवं सांसारिक प्रेम की चंचलता का प्रतिपादन करते हुए मन को वश में करने की प्रेरणा की गई है। योगी का जीवन कैसा होना चाहिए इसका रूपक शैली में निरूपण किया गया है। कहीं शान्तिनाथ एवं पार्श्वनाथ एवं ऋषभदेव के प्रति भक्ति दर्शायी गई है। आत्मा के विशुद्ध स्वरूप का प्रतिपादन करने वाली इस कृति में सांसारिक सुखों की आशा को त्यागने का संदेश मुखर हुआ

है।

4. स्तोत्र एवं स्तवन साहित्य

विनयविजयगणी ने विभिन्न स्तोत्रों, स्तवनों एवं स्तुतियों की रचना की है। एतद्विषयक उनकी प्रमुख रचनाएँ इस प्रकार हैं- १. जिनसहस्रनाम स्तोत्र २. अर्हन्नमस्कार स्तोत्र ३. आदिजिनविनति ४. उपधानस्तवन ५. गुणस्थान गर्भित वीर स्तवन ६. जिणचेइयथवण ७. जिनचौबीसी ८. पुण्य प्रकाश स्तवन ९. विहरमान जिनवीसी १०. वृषभतीर्थपति स्तवन ११. धर्मनाथ नी विनतिरूप स्तवना १२. नेमिनाथबारमासी

(1) जिनसहस्रनाम स्तोत्र- गान्धार वर्षावास में विक्रमसंवत् १७३१ में भुंजगप्रयात छन्द में रचित १४३ पद्यों के इस स्तोत्र में 'नमस्ते' शब्द का प्रयोग १००१ बार हुआ है। इसी से इस स्तोत्र का नाम जिनसहस्र रखा गया है। प्रत्येक पंक्ति में जिनेश्वर के भिन्न-भिन्न स्वरूप का प्रतिपादन किया गया है। प्रशस्ति आदि के पद्यों को मिलाकर यह कृति १४९ पद्यों की है। इसका प्रकाशन श्री वीर समाज अहमदाबाद के द्वारा सन् १९२५ में किया गया था। इस स्तोत्र का एक पद्य उदाहरण हेतु प्रस्तुत है-

नमोऽनुत्तरस्वर्गिभिः पूजिताय
नमस्तन्मनः संशयच्छेदकाय।
नमोऽनुत्तरज्ञानलक्ष्मीश्वराय,
नमस्ते, नमस्ते, नमस्ते, नमस्ते।।[९]

इसके प्रत्येक पद्य में जिनेश्वर देव की कोई न कोई नई विशेषता प्रकट हुई है।

(2) अर्हन्नमस्कार स्तोत्र– विक्रम संवत् १७३१ में विरचित यह कृति अप्रकाशित है तथा उदयपुर के ज्ञान भण्डार में उपलब्ध है। कृति के नाम से ही विदित होता है कि इसमें जिनेश्वरों को नमस्कार करते हुए उनके गुणों की स्तुति की गई है।

(3) आदि जिनविनति– यह आदि तीर्थंकर ऋषभदेव के प्रति ५७ पद्यों में की गई भावभीनी विनति है। जिसमें रचनाकार ने भक्तिभाव से उन्हें मनाने का प्रयास किया है। यह भी भावना भायी है कि ऋषभदेव की सेवा का अवसर प्रत्येक भव में मिलता रहे।

(4) उपधान स्तवन– जैन गृहस्थों के उपधान नामक अनुष्ठान को आधार बनाकर २४ कड़ियों में निबद्ध यह पद्यात्मक कृति गुजराती भाषा में है। उप अर्थात् समीप और धान अर्थात् धारण करना। गुरु के समीप उनके मुख से नवकार आदि सूत्रों का विधिपूर्वक ग्रहण करना उपधान है। उपधान के छह प्रकार माने गये हैं। जिनका विवेचन इस कृति में प्राप्त होता है। इसमें उपधान की महत्ता भलीभाँति प्रकट हुई है। तपागच्छ के आचार्य श्रीविजयप्रभसूरि जी का नामोल्लेख होने से यह

कृति विक्रम संवत् १७१० के पश्चात् की प्रतीत होती है।

(5) गुणस्थानकगर्भित वीर स्तवन– इसमें प्रभु महावीर की स्तुति करने के साथ मिथ्यात्वादि चौदह गुणस्थानों का स्वरूप स्पष्ट किया गया है। यह ७३ कड़ियों में गुजराती भाषा में निबद्ध है तथा इसमें अपनी गुरु परम्परा का स्मरण किया गया है।

(6) जिणचेइयथवण– जैन माहाराष्ट्री प्राकृत भाषा में २७ पद्यों में निबद्ध इस कृति में जिनेश्वरों के चैत्यों को वंदन किया गया है। इसमें निम्नांकित चौदह परिपाटियों में वन्दन करते हुए उनके महत्त्व का भी प्रतिपादन किया गया है- १. अष्टापक तीर्थ २. सम्मेत शिखर ३. शत्रुंजय तीर्थ ४. नंदीश्वर द्वीप ५. विहरमान जिनेश्वर ६. बीस तीर्थंकर को वंदन ७. भरत एवं ऐरवत तीर्थ ८. १६० तीर्थंकर ९. १७० तीर्थंकर १०. भरतक्षेत्र की तीन चौबीसियों को वंदन ११. भरतक्षेत्र की पाँच चौबीसियों को वन्दन १२. पन्द्रह चौबीसियों को वन्दन १३. अनेक चौबीसियों को वन्दन १४. त्रैलोक्य के चैत्यों को वंदन।

(7) जिनचौबीसी– इस कृति के नाम से ही ज्ञात होता है कि इसमें आदि तीर्थंकर ऋषभदेव से लेकर चौबीसवें तीर्थंकर महावीर स्वामी तक के सभी तीर्थंकरों की स्तुति की गई है। इसमें कुल २९ स्तवन हैं। जिनमें ऋषभदेव के दो, सुपार्श्वनाथ एवं पार्श्वनाथ के दो-दो तथा नेमीनाथ के तीन स्तवन हैं तथा शेष तीर्थंकरों की एक-एक स्तवन गुजराती भाषा में निर्मित है। किसी स्तवन में तीन कड़ी हैं तो किसी में सात कड़िया भी हैं। इस कृति की रचना विक्रम संवत् १७२५ होने की संभावना है।

(8) पुण्य प्रकाश स्तवन- गुजराती भाषा में ८७ कड़ियों में इस कृति की रचना विक्रम संवत् १७२९ के रांदेर चातुर्मास में की गई थी। इसमें दोहों और ढालों का प्रयोग हुआ है। मुक्तिमार्ग की आराधना के लिए इसमें दस अधिकारों का प्रतिपादन हुआ है, यथा- १. अतिचारों की आलोचना २. महाव्रतों अथवा गुणव्रतों का आराधन ३. क्षमापना ४. हिंसा आदि अठारह पापों का त्याग ५. चार शरणों की स्वीकृति ६. दुष्कृत्यों की निन्दा ७. शुभकृत्यों का अनुमोदन ८. शान्त भावना का आराधन ९. अनशन और प्रत्याख्यान १०. नवकार मंत्र का स्मरण।

इसमें आराधना का विषय मुख्य होने से इसे 'आराधना स्तवन' भी कहते हैं।

(9) विहरमान जिनवीसी– महाविदेह क्षेत्र में सम्प्रति सीमन्धर स्वामी आदि बीस तीर्थंकर आदि विचरण कर रहे हैं। उन्हीं को लक्ष्य करके प्रत्येक तीर्थंकर पर इस कृति में एक-एक स्तवन की रचना की गई है। गुजराती भाषा में निर्मित इस कृति में बीस विहरमानों की स्तुति होने से इसे 'विहरमान जिनवीसी' कहते हैं। इसमें प्रत्येक तीर्थंकर पर कम से कम पाँच एवं अधिकतम सात कड़ियों में स्तवन किए गए हैं- १. सीमन्धर २. युगंधर ३. बाहु ४. सुबाहु ५. सुजात ६. स्वयंप्रभ ७.

ऋषभानन ८. अनन्तवीर्य ९. सुरप्रभ १०. विशाल ११. वज्रधर १२. चन्द्रानन १३. चन्द्रबाहु १४. भुजंग १५. ईश्वर १६. नेमिप्रभ १७. वीरसेन १८. महाभद्र १९. देवयशस २०. अजितवीर।

(10) वृषभतीर्थपति स्तवन– यह एक लघु स्तवन है जो संस्कृत भाषा के छह पद्यों में निर्मित है। इसमें आदिनाथ का गुणगान होने से इसे 'आदि जिन स्तवन' भी कहा जाता है। इसके अन्तिम पद्य में वृषभ का तथा श्लेष द्वारा विनय का उल्लेख हुआ है।

(11) धर्मनाथ नी विनति रूप स्तवना– विक्रम संवत् १७१६ में सूरत चातुर्मास में इस गुजराती कृति की रचना हुई। इसमें कुल १३८ कड़ियाँ हैं, जो दोहा और चौपाई छन्द में निबद्ध है। इस कृति का मुख्य विषय सिदर्षि कृत उपमिति भव प्रपंच कथा की रूपरेखा है तथा इसका गौण विषय तीर्थंकर धर्मनाथ के प्रति की गई विनति रूप विज्ञप्ति है। इस कृति में मोहनीय कर्म, काम, राग, द्वेष आदि का सुन्दर निरूपण हुआ है। क्षमा आदि दस धर्मों, अनशन आदि द्वादश तपों तथा सतरह प्रकार के संयमों का भी वर्णन हुआ है। रूपकों के माध्यम से इसमें चारित्र धर्म तथा रागादि का सुन्दर निरूपण हुआ है।

(12) नेमिनाथ बार मासी– २७ कड़ियों में निबद्ध यह गुजराती भाषा में विक्रम संवत् १७२८ में रची गई थी। इसकी अन्तिम कड़ी में राजुल-नेमि संदेश का निरूपण हुआ है। यह एक प्रसिद्ध कथानक है जिसमें नेमिनाथ ने बाड़े में बंधे पशुओं पर करुणा कर उन्हें मुक्त करवा दिया तथा विवाह का विचार कर दीक्षित हो गए। राजीमति (राजुल) ने भी संसार त्याग की भावना से पर्वत की ओर प्रयाण कर दिया। नेमिनाथ बार मास स्तवन के अन्तर्गत कवि ने कल्पना की है कि राजुल अपनी ओर से नेमिनाथ को संदेश भेजती है तथा बारह महिनों का वर्णन करती हुई प्राणवल्लभ नेमिनाथ से मिलने की भावना व्यक्त करती है। नेमिनाथ उसके संदेश का उत्तर देते हैं कि तुम मुक्ति मन्दिर में आओ, वहाँ अपना मिलन होगा। यह एक प्रकार का संदेश काव्य है।

(13) शाश्वत जिनभास– नौ कड़ियों में निर्मित यह गुजराती कृति पालिताणा तीर्थ के अम्बालाल चुन्नीलाल ज्ञान भण्डार में सुरक्षित है। इस कृति में ऋषभ, चन्द्रानन, वर्द्धमान और वारिषेण इन शाश्वंत नाम वाले चार तीर्थंकरों का गुणोत्कीर्तन है।

5. व्याकरण विषयक साहित्य

वाचक विनयविजय ने काशी में अपने गुरुभ्राता उपाध्याय यशोविजय के साथ जो अध्ययन किया उसमें यशोविजय जी ने जहाँ न्याय एवं नव्यन्याय को मुख्य विषय बनाया वहाँ विनयविजय जी ने व्याकरण को अपने अध्ययन का प्रमुख विषय बनाया। यही कारण है कि उन्होंने व्याकरण के क्षेत्र में वरदराज, भट्टोजी दीक्षित विद्वानों की भांति उल्लेखनीय कार्य किया। उन्होंने हेमचन्द्रसूरि द्वारा

रचित सिद्धहेमशब्दानुशासन के आधार पर दो कृतियों का निर्माण किया- १. हैमलघुप्रक्रिया २. हैमप्रकाश। इनका संक्षिप्त परिचय आगे दिया जा रहा है-

(1) हैमलघुप्रक्रिया- पाणिनि की अष्टाध्यायी की भांति १२वीं शती में हेमचन्द्रसूरि ने 'सिद्ध हैमशब्दानुशासन' नामक व्याकरण ग्रन्थ आठ अध्यायों में लिखा था। उसके अन्तिम अध्याय में प्राकृत भाषा का व्याकरण तथा प्रथम सात अध्यायों में संस्कृत भाषा का व्याकरण सूत्र शैली में निबद्ध है। अष्टाध्यायी को आधार बनाकर जिस प्रकार भट्टोजी दीक्षित ने 'सिद्धान्त कौमुदी' का तथा वरदराज ने 'लघु सिद्धान्त कौमुदी' का निर्माण किया। उसी प्रकार उपाध्याय विनयविजय गणी ने हैमशब्दानुशासन के सूत्रों को प्रक्रिया क्रम में व्यवस्थित कर उस पर वृत्ति का निर्माण किया। इस कृति को उन्होंने 'हैमलघुप्रक्रिया' नाम दिया। यह पुस्तक जैन संत-सतियों द्वारा अध्ययन का आधार बनी तथा इससे उन्होंने संस्कृत व्याकरण का अच्छा अभ्यास किया। इसीलिए कुछ जैन परम्पराओं में इस हैमलघुप्रक्रिया के अध्ययन का क्रम आज भी प्रचलित है। इस का निर्माण राधनपुर में विक्रम संवत् १७१० में विजयादशमी के दिन पूर्ण हुआ। यह कृति एक प्रकार से हैमव्याकरण को समझने में कुंजी की भांति है। इसका परिमाण २५०० श्लोक जितना आंका गया है।

हैमलघुप्रक्रिया में क्रमशः संज्ञा, सन्धि, स्वरान्त पुंल्लिंग, स्वरान्त स्त्रीलिंग, स्वरान्त नपुंसकलिंग, व्यंजनान्त पुंल्लिंग, व्यंजनान्त स्त्रीलिंग, व्यंजनान्त नपुंसकलिंग, सर्वनाम शब्द, अव्यय, स्त्री प्रत्यय, कारक प्रकरण, समास प्रकरण, तद्धित प्रकरण, दशगण, आत्मनेपद, परस्मैपद, णिगन्तादि प्रक्रिया, कृदन्त आदि अधिकारों का निरूपण है। ऐसा उल्लेख प्राप्त होता है कि उन्होंने अपने सतीर्थ्य कान्तिविजय जी को संस्कृत व्याकरण पढ़ाने के लिए इस हैमलघुप्रक्रिया का निर्माण किया था।

(2) हैमप्रकाश— यह हैमलघुप्रक्रिया पर विस्तृत प्रकाश डालने वाले विवरण से युक्त कृति है। इसे ३४००० श्लोक जितने परिमाण का स्वीकार किया गया है। यह रचना हैमलघुप्रक्रिया के २७ वर्ष पश्चात् विक्रम संवत् १७३७ में पूर्ण हुई थी। इसकी सम्पूर्ण विषयवस्तु को पूर्वार्ध एवं उत्तरार्द्ध इन दो विभागों में विभक्त किया गया है।

हैमप्रकाश की मूल विषय वस्तु वही है जो हैमलघुप्रक्रिया की है, किन्तु इसमें अनेक समस्याओं को उठाकर उनका समाधान किया गया है। विनयविजय गणी ने व्याकरण के प्रसिद्ध ग्रन्थों वाक्यपदीय, प्रौढमनोरमा, वैयाकरणभूषण सार, सिद्धान्तकौमुदी, हेमवृहन्न्यास, वाक्यप्रकाश आदि ग्रन्थों का भी नामोल्लेख किया है। व्याकरण के विशेष अभ्यासियों के लिए यह हैमप्रकाश उत्कृष्ट ग्रन्थ है। यह व्याकरण ग्रन्थ ईस्वी सन् १९३७ एवं १९५४ में पूर्ण प्रकाशित हो गया है। इस व्याकरण

ग्रन्थ का पूर्वार्द्ध ईस्वी सन् १९३७ में शाह हीरालाल सोमचन्द मुम्बई द्वारा प्रकाशित किया गया था तथा उत्तरार्द्ध भाग १९५४ में श्रुतज्ञान अमी धारा ज्ञानमंदिर बेड़ा (मारवाड़) द्वारा प्रकाशित किया गया है। दोनों भागों में १००० से भी अधिक पृष्ठ है। व्याकरण का यह महाग्रन्थ उपाध्याय विनयविजय के उत्कृष्ट वैयाकरण होने का बोध कराता है। भारतीय व्याकरण शास्त्र के इतिहास में हैमशब्दानुशासन की तो गणना की जाती है, किन्तु उसके साथ ही हैमलघुप्रक्रिया एवं हैमप्रकाश की भी गणना आवश्यक प्रतीत होती है। सम्प्रति पाणिनीय व्याकरण के ही पठन-पाठन का अधिक प्रचलन है, किन्तु शोधार्थियों एवं विशेष जिज्ञासुओं के लिए यह ग्रन्थ अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है।

6. रास एवं फागु काव्य

जैन परम्परा में रास साहित्य एवं फागु साहित्य का राजस्थानी एवं गुजराती भाषा में भी ग्रंथन हुआ है। इनकी मिश्रित भाषा को कुछ विद्वान् 'मरु-गुर्जर' भी कहते हैं। विनयविजय गणी ने इन दोनों विधाओं में एक-एक कृति की रचना की है। रास शैली में उन्होंने 'श्रीपाल राजानो रास' कृति का तथा फागु शैली में 'नेमिनाथ भ्रमर-गीता' का निर्माण किया है।

(1) श्रीपालराजानो रास– जैन परम्परा में मन्दिरों में किसी चरित्र को लेकर नृत्य एवं गान पूर्वक जो अभिव्यक्ति दी जाती है उसे रास कहा जाता है। श्रीपालराजानो रास में श्रीपाल राजा का कथानक चित्रित है। मालवा के राजा की दो पुत्रियाँ थी- सुरसुन्दरी और मयणासुन्दरी (मैनासुन्दरी)। मैनासुन्दरी की अपने कृत कर्मों में आस्था थी, उसका अपने पिता से विवाद होता रहता था। अतः राजा ने रोष में आकर उसका विवाह उस श्रीपाल के साथ कर दिया जो ७०० कोढियों का मुखिया था। किन्तु मैनासुन्दरी की धर्म में प्रबल आस्था थी। उसने प्रभु भक्ति एवं नवपद सिद्धचक्र की आराधना की। श्रीपाल को भी इस आराधना में साथ लिया। इससे श्रीपाल रोग मुक्त हो गया। इस कथा को मुख्य आधार बनाकर श्रीपाल राजानो रास की रचना की गई है। इस कथानक से अपने कृत कर्मों का एवं धर्म की साधना का फल अवश्य मिलता है यह प्रतिपादन किया गया है।

विनयविजयगणी ने इस रास की रचना प्रारम्भ की थी एवं ७५० पद्य गुजराती (मरु-गुर्जर) भाषा मे रचे थे। किन्तु संयोगवश विक्रम संवत १७३८ में रांदेर चातुर्मास में इसकी रचना करते हुए उनका स्वर्गगमन हो गया। फिर उनके गुरुभ्राता एवं सहाध्यायी उपाध्याय यशोविजय गणी ने इस रास को पूर्ण किया। इस तरह से यह कृति इन प्रमुख दो सन्तों की संयुक्त रचना है।

अरिहन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय, साधु, सम्यक् दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक् चारित्र और सम्यक् तप इन नवपदों के प्रति श्रद्धा एवं इनकी आराधना के फल का प्रतिपादन इस रचना का मुख्य उद्देश्य प्रतीत होता है। यह समग्र रास चार खंडों में विभक्त है। इसमें कुल ४० ढाल और १२५०

गाथाएँ हैं एवं अन्त में चौदह कड़ियों का कलश है। इस विवरण से यह ज्ञात होता है कि यशोविजय जी ने ५०० पद्यों का योगदान किया है।

जैन परम्परा में श्रीपाल एवं मैनासुन्दरी जी की कथा लोकप्रिय रही है। नाटकों के रूप में भी इसका मंचन हुआ है तथा यह भारतीय जनमानस को सत्कर्म करने के लिए प्रेरित करती रही है।

(2) नेमिनाथ भ्रमर गीता– अद्यावधि उपलब्ध, जैन एवं अजैन फागु काव्य में प्राचीनतम काव्य जिनपद्मसूरि कृत स्थुलिभद्र फागु काव्य है। भ्रमरगीता नाम से विक्रम संवत् १५७६ में चतुर्भुज नामक कवि की रचना प्राप्त होती है। यह नेमिनाथ भ्रमर गीता सम्भवतः उसी परिकल्पना के आधार पर रची गई है एवं जैन भ्रमर गीता के रूप में इसका प्रथम स्थान है। इसमें ३६ कड़ियाँ हैं। सर्वप्रथम तीन दोहें हैं, फिर फाग की दो कड़ियाँ और छन्द की एक कड़ी, इस क्रम से रचना हुई है। तीसरी कड़ी में भ्रमरगीत शब्द का उल्लेख हुआ है। इस नेमिनाथ भ्रमरगीता में नेमिनाथ एवं राजीमति के प्रसंग को ही गेय रूप में मनोहारी दृश्यों के साथ प्रस्तुत किया गया है। नेमिनाथ जब राजीमति से विवाह करने के लिए जा रहे थे तब राजीमति सजधज कर झरोखे में बैठकर बारात का दृश्य देख रही थी। कवि ने राजीमति के देह एवं अलंकारों का सुन्दर वर्णन किया है। इन दोनों के मिलन की प्रतीक्षा को कवि ने विप्रलम्भ शृंगार के रूप में उभारा है। जब नेमिनाथ ने एक बाड़े में बंद पशुओं की चीत्कार सुनी तो उनका करुण हृदय जागृत हो उठा। पृच्छा करने पर ज्ञात हुआ कि इन पशुओं का उपयोग आहार के लिए किया जाएगा। नेमिनाथ को ऐसा विवाह प्रसंग अनुकूल नहीं लगा। उन्होंने इस प्रकार की हिंसा से मुख मोड़ लिया एवं सांसारिक प्रलोभनों का त्याग कर प्रव्रज्या पथ अंगीकार कर लिया। राजीमति इस घटना से विह्वल हो गई। नेमिनाथ भावी तीर्थंकर थे जो अरिष्टनेमिनाथ नाम से भी एवं २२वें तीर्थकर के रूप में भी जाने जाते हैं। राजीमति ने भी संसार को छोड़कर प्रव्रज्या अंगीकार की एवं अन्त में नेमिनाथ की भांति मोक्ष प्राप्त किया।

इस कृति की रचना भाद्रपद मास में विक्रम संवत् १७०६ में की गई थी।

7. पूजा विषयक साहित्य

जैन सन्तों ने जिनप्रतिमाओं की प्रतिष्ठा भी करवाई है और पूजा की विधि का भी प्रतिपादन किया है। विनयविजय गणी ने जिनमंदिर गमन एवं जिन प्रतिमा के दर्शन के लाभ का भी निरूपण किया है। इस दृष्टि से उनकी दो रचनाएँ उल्लेखनीय हैं- १. जिनपूजन नुं चैत्यवंदन २. सीमंधर स्वामी नुं चैत्यवंदन।

(1) जिनपूजन नुं चैत्यवंदन– मात्र बारह कड़ियों में गुजराती भाषा में इस कृति का निर्माण 'प्रणमी श्री गुरुराज आज जिनमंदिर केरो' पंक्ति से प्रारम्भ किया गया है। इसमें मुख्यतः जिनालय में

जाकर जिनप्रतिमा के दर्शन की ओर आकर्षित करने के लिए फलप्राप्ति का निर्देश किया गया है। फलप्राप्ति उपवास के फल से आंकी गई है।

(2) सीमंधर स्वामी नुं चैत्यवंदन– महाविदेह क्षेत्र में विचरणशील बीस विहरमानों में श्री सीमंधर स्वामी को वंदन के रूप में इस कृति का प्रारम्भ "श्री सीमंधर वीतराग त्रिभुवन तुमे उपगारी" पंक्ति से हुआ है। गुजराती भाषा में निर्मित इस चैत्यवंदन में मात्र तीन कड़ियाँ हैं। जिसमें सीमंधर स्वामी का परिचय दिया गया है।

8. संस्कृत दूत काव्य, गीति काव्य एवं विज्ञप्ति लेख

महान वैयाकरण उपाध्याय विनयविजय ने साहित्यिक रचनाओं का उत्कृष्ट निदर्शन प्रस्तुत किया है। उन्होंने दूतकाव्य, गीतिकाव्य एवं विज्ञप्ति लेखों की विधा में अपनी प्रतिभा को प्रस्तुत किया है। इस दृष्टि से उनकी सात रचनाएँ हैं- १. इन्दुदूत २. आनन्दलेख ३. शान्तसुधारस ४. विजयदेवसूरि लेख ५. विजयदेवसूरि विज्ञप्ति प्रथम एवं द्वितीय।

(1) इन्दुदूत– महाकवि कालिदास के मेघदूत का अनुकरण करते हुए उन्होंने चन्द्रमा को दूत बनाकर अपना संदेश अपने संघ के आचार्य श्री विजयप्रभसूरि को प्रेषित किया है। यह १३१ श्लोकों में मन्दाक्रान्ता छन्द में निबद्ध है। इसकी विशेषता यह है कि यह स्वतन्त्र रूप से आध्यात्मिक भाव प्रेषण का काव्य है। यह समस्यापूर्ति के रूप में निबद्ध नहीं है। कालिदास का 'मेघदूत' ही नहीं जैन कवि विरचित 'पार्श्वाभ्युदय' भी इस सरणि का प्रमुख ग्रन्थ है। उपाध्याय विनयविजय विरचित इन्दुदूत में मार्ग का निरूपण कालिदास के मेघदूत की भांति किया गया है। चन्द्रमा को उदित हुआ देखकर कवि का मन उल्लसित होता है तथा उसका स्वागत करते हुए कवि उसे अपने संदेश का माध्यम स्वीकार करता है। कवि ने इस काव्य की रचना जोधपुर नगर में वर्षावास करते हुए विक्रम संवत् १७१८ में की थी। अतः इसमें जोधपुर नगर का विस्तार से छह श्लोकों में वर्णन किया गया है। इसी के अनन्तर चन्द्रमा के आगम का एवं चन्द्र दर्शन का निरूपण है। कवि उसे अपनी भावना अपने आचार्य तक पहुँचाने के लिए निवेदन करता हुआ कहता है-

श्रुत्वा याच्ञां मम हिमरूचे! न प्रमादो विधेयो,
नो वावज्ञाऽभ्यधिकविभवोन्मत्तचित्तेन कार्या।
प्रेमालापैःश्चतुरवनितानिर्मितैर्विस्मृतिर्न,
प्राप्या प्रायः प्रथितयशसः प्रार्थना भंगभीताः।।[२०]

कवि यहाँ हिमरुचि चन्द्रमा से स्पष्ट निवेदन करता है कि मेरी याचना सुनकर तुम्हें प्रमाद नहीं करना है। अधिक वैभव से उन्मत्त चित्त के कारण मेरी इस याचना की अवज्ञा नहीं करनी है। चतुर वनिताओं के द्वारा किए गए प्रेमालापों से प्रभावित होकर मेरी याचना को नहीं भूलना है।

यशस्वी लोग प्रायः अपनी प्रार्थना के भंग होने से भीत रहते हैं। अतः मेरी प्रार्थना को अप्रमत्त भाव से स्वीकार करना है। चन्द्र वर्णन के साथ कवि ने पारिजात वृक्ष, रात्रि, अमृत आदि का भी वर्णन किया गया है। अपनी प्रार्थना भंग न हो इसका विश्वास दिलाते हुए कवि चन्द्रमा को सम्बोधित करते हुए कहते हैं-

तस्माद्वन्धो! जलधितनय! प्रार्थनां मे समर्थ,
व्यर्थीकर्तुं न खलु कथमप्यर्हसि प्रौढवंश्य!।।
येनोत्कृष्टं जगति विदितं याचमानस्य जन्तो–
र्याच्ञाभंगे भवति लघुता नैव सा किन्त्वमुष्य।।[२१]

कवि विनयविजय ने चन्द्रमा को जोधपुर से सूरत जाने का मार्ग समझाया है। मार्ग में आने वाले जालोर, सिरोही, आबू, अचलगढ़, सिद्धपुर, राजनगर, बड़ौदा, भरूच और नर्मदा आदि नगरों का वर्णन भी इस व्याज से सुन्दर हुआ है। कवि ने आबू के वर्णन के साथ विमलशाह एवं वस्तुपाल का भी कथन किया है। आबू पर्वत में विद्यमान निकुंज का प्राकृतिक वर्णन करते हुए कवि कहता है-

कूजद्भिर्यैः श्रुतिसुखकराः कोकिलैर्मल्लिकाना,
मामोदैश्च प्रसृमरतरैः प्राणिनो मोदयन्ति।
उद्गच्छद्भिर्नवनवतृणैर्वर्य्यवैडुर्य्यबद्ध,
क्षोणीपीठा इव विदधते शं निकुंजा द्रुमाणाम्।।[२२]

सूरत की सीमा में प्रवेश करते हुए कवि ने तापी नदी का वर्णन किया है। फिर सूरत नगर का निरूपण करते हुए वहाँ स्थित गोपीपुरा उपाश्रय एवं उसके व्याख्यानमंडप का संकेत किंया है। फिर वहाँ विराजमान विजयप्रभसूरि को अपना संदेश पहुँचाने हेतु निवेदन किया है। आचार्य को वन्दन करने की प्रेरणा करते हुए इसके फल से भी चन्द्रमा को परिचित कराया है-

वन्देथाः श्रीतपगणपतिं सार्वमैदंयुगीनं,
पीनं पुण्यप्रभंवमुदधेर्नन्दन! एवं लभेथाः।
प्राच्यैः पुण्यैः फलितमतुलैस्तावकीनैः सुलब्धं,
जन्मैतत्ते न भसि च गतिर्भाविनी ते कृतार्था।।[२३]

इस काव्य में शब्दालंकार एवं अर्थालंकार दोनों का प्रयोग प्राप्त होता है। कवि ने शान्त रस के साथ शृंगार रस को भी स्थान दिया है। प्राकृतिक सौन्दर्य को प्रस्तुत करने में अपनी निपुणता की अभिव्यक्ति दी है।

इस इन्दुदूत खण्डकाव्य पर मुनि श्री धुरन्धरविजय जी ने 'प्रकाश' नामक संस्कृत टीका लिखी है। जिसका प्रकाशन श्री जैन साहित्य वर्धक सभा श्रीपुर से सन् १९४६ में हुआ है तथा यह

भावनगर से प्राप्त होती रही है। इन्दुदूत का मूल रूप सिंघी जैन ग्रन्थमाला से प्रकाशित 'विज्ञप्ति लेख संग्रह' के भाग में भी उपलब्ध है।

इन्दुदूत काव्य काव्यात्मक दृष्टि से उत्तम है, किन्तु कवि ने इन्दु को जो दूत बनाया है। उसकी परिकल्पना औचित्य पूर्ण नहीं लगती क्योंकि इन्दु तो उसी समय जोधपुर में एवं सूरत में एक साथ दिखाई देता है। उसको चलकर संदेश पहुँचाने की आवश्यकता नहीं है। मेघ को तो चलकर संदेश पहुँचाना होता है क्योंकि वह एक साथ एक समय पर दृष्टिगोचर नहीं होता। किन्तु कवि ने चन्द्रमा को जो सम्पूर्ण मार्ग समझाया है, उसकी आवश्यकता प्रतीत नहीं होती। फिर कवि की कल्पनाओं को हम बांध नहीं सकते। कवि को वही उज्ज्वल संदेश वाहक नजर आया होगा। जो बिना किसी लाग-लपेट के संदेश को गन्तव्य तक पहुँचा सकता है। चन्द्रमा गति तो करता ही है, अतः वह सूरत के नजदीक पहुँचेगा तब सम्भव है कवि के संदेश को उनके गुरु तक पहुँचा दे।

(2) आनन्द लेख– यह रचना उपाध्याय विनयविजय ने भट्टारक श्री विजयानन्द सूरि को विज्ञप्ति रूप में तब लिखी थी जब वे देवसूरगच्छ से आनन्दसूरगच्छ में आए थे। यह रचना विक्रम् सम्वत् १६६४ में धनतेरस के दिन पूर्ण हुई थी। काव्य की यह एक विशेष विधा है जिसमें अपनी भावना विज्ञप्ति के रूप में दूसरे तक पहुँचाई जाती है। इसमें भी संस्कृत पद्य ही हैं, किन्तु दूतकाव्य से इनमें यह भेद है कि दूतकाव्य में किसी को दूत बनाकर संदेश भिजवाया जाता है जबकि विज्ञप्ति लेख में बिना दूत बनाए अपने सम्पूर्ण भाव एक स्थान पर अंकित कर दिए जाते हैं। फिर इसे यथास्थान भेज दिया जाता है। विज्ञप्तिलेख में कुम्भकलश, अष्टमंगल, १४ महास्वप्नादि को चित्रित कर स्वयं के स्थल आदि का निर्देश करते हुए सजे-धजे रूप में अभीष्ट व्यक्ति को भेजा जाता था। विनयविजयगणी ने द्वारपुर (बारेजा, द्वारिका) नगर में इसे लिखा था तथा स्तम्भतीर्थ में विराजित भट्टारक विजयानन्दसूरि की सेवा में प्रेषित किया था। विजयानन्द सूरी के लिए लिखे जाने के कारण ही इस विज्ञप्ति लेख का नाम आनन्दलेख है। इसमें कुल पाँच अधिकार एवं २५२ पद्य हैं। जो विभिन्न छन्दों में लिखे गए हैं।

यह रचना चित्रकाव्य कोटि की है। जिसमें विविध प्रकार के शब्दालंकारों एवं चित्रालंकारों का प्रयोग किया गया है। इसके प्रथम अधिकार का नाम चित्र चमत्कार रखा गया है। मंगलाचरण के अनन्तर सत्रह श्लोकों में अपने गुरु के नाम से गर्भित १८ अर से युक्त चक्र बनाया गया है। ये सारे श्लोक 'ज' अक्षर से प्रारम्भ होते हैं तथा इनमें प्रत्येक पद्य एक भिन्न अर्थ को भी प्रस्तुत करता है जैसे पूर्णकलश, छत्र, शर, धनुष आदि। चक्र के अतिरिक्त कमल, त्रिशूल आदि के चित्र भी बनते हैं। यह प्रथम अधिकार मूलतः ५१ श्लोकों का है। जिनमें ४२ श्लोकों में आदि तीर्थंकर के चरण, नख,

केश, भामण्डल, वंश, ज्योत्स्ना, ध्वनि आदि का भी कथन हुआ है। श्लोक ४३ से ५० शान्तिनाथ की स्तुति से सम्बद्ध है। ५१वें श्लोक में ऋषभदेव एवं शान्तिनाथ दोनों को एक साथ प्रणाम किया गया है-

वृषभमृगवरांकौ ध्वस्तसंसारपंकौ कनककमलकान्ती शान्तकर्मारितान्ती।
त्रिभुवनजनगेयौ मारुदेवाचिरेयौ नुतिविरचनयुक्त्या भूरिभक्त्या प्रणम्या।।[२४]

द्वितीय अधिकार में तपागच्छ के अधिपति के द्वारा पावन स्तम्भतीर्थ नगर का वर्णन किया गया है। इसके अन्तर्गत वप्र, वन, समुद्र, जिनमन्दिर, श्रेष्ठीभवन, उपाश्रय, चतुष्पथ आदि का वर्णन किया गया है। जिनमन्दिर का वर्णन करते हुए कहा गया है-

यत्रानिशं भूरिविलासिलोकैरुत्कीर्णकृष्णागुरुधूपधूमैः।
विधोरधो ध्यामलितं तलं यल्लक्ष्मेति लोकैः परिचिन्त्यते तत्।।[२५]

तृतीय अधिकार का नाम उदन्त (समाचार) व्यावर्णन है। इसमें बारेंजा नगर का वर्णन किया गया है। प्रारम्भिक श्लोक द्रष्टव्य है-

सरोवरं यत्र मरुत्तरंगोच्छलत्तरंगोत्तरलं समन्तात्।
अमुद्रमानेन समुद्रमानं समुद्रमानन्दि जिगीषु नूनम्।।[२६]

इसमें हेमचन्द्रसूरि का एक श्लोक भी उद्धृत किया गया है जिसमें वक्तृत्व और कवित्व को विद्वत्ता का फल निरूपित करते हुए शब्द ज्ञान के बिना दोनों को अनुपपन्न माना है-

वक्तृत्वं च कवित्वं च विद्वत्तायाः फलं विदुः।
शब्दज्ञानादृते तन्न द्वयमप्युपपद्यते।।[२७]

चतुर्थ अधिकार में गच्छाधिपति विजयानन्द सूरी के बाह्य एवं आभ्यन्तर व्यक्तित्व का गुणगान किया गया है। इसके भी अन्त में चमत्कारिक चित्रकाव्य का प्रयोग किया गया है। जिनमें कहीं कर्ता गुप्त है तो कहीं क्रिया गुप्त है, कहीं कर्म गुप्त है, कहीं करण गुप्त है तो इसी प्रकार अन्य कारक भी व्यंजित है।

पंचम अधिकार का नाम दृष्टान्त अधिकार है। इसमें लेख की प्रशंसा, लेख के भेदों आदि का वर्णन किया गया है। लेख की प्रशंसा में कहा गया है-

अनेकवर्णोत्तमरत्नपंक्तिविराजितो भूरिसदर्थशाली।
मुद्राचिंतः स्वादररक्षणीयो लेखोऽश्नुते कोशगृहस्थ लक्ष्मीम्।।[२८]

लेख के सात भेद बताए गए हैं- १. व्यापार लेख २. कामलेख ३. स्नेहलेख ४. शेषलेख ५. शोकलेख ६. प्रमोदलेख ७. धर्मलेख। इन सात लेखों में उन्होंने धर्मलेख को सुख की सिद्धि देने वाला माना है। इसके अनन्तर सज्जनों और दुर्जनों के स्वभाव का वर्णन किया गया है। अन्त में

२५२ वें श्लोक में विजयानन्दसूरि का नामोल्लेख किया गया है।

(3) शान्तसुधारस– साहित्यिक दृष्टि से यह गीतिकाव्य के अन्तर्गत समाविष्ट होता है। गीतगोविन्द की भांति यह भी गेय है। इसका परिचय दार्शनिक साहित्य के अन्तर्गत दे दिया गया है तथापि साहित्यिक वैशिष्ट्य के कारण इसका यहाँ नामोल्लेख किया जा रहा है। अनित्य, अशरण आदि सोलह भावनाओं का यह वर्णन विभिन्न रागों के साथ प्रस्तुत किया गया है। वर्णों का प्रयोग भी भावों के अनुरूप है तथा माधुर्य गुण एवं प्रसाद गुण की छटा सर्वत्र दिखाई पड़ती है। श्लोकों का प्रयोग शार्दूलविक्रीड़ित छन्दों के साथ भी हुआ है तो स्वागता, इन्द्रवज्रा, उपजाति, भुजंगप्रयात आदि छन्द भी प्रयुक्त हुए हैं। धर्म का प्रभाव निरूपित करते हुए ल, घ एवं ध वर्णों का प्रयोग द्रष्टव्य है-

उल्लोकल्लोलकलाविलासैर्नाप्लावयत्यम्बुनिधिःक्षितिं यत्।
न घ्नन्ति यद् व्याघ्रमरुद्वदाद्याः, धर्मस्य सर्वोऽप्यनुभाव एषः।।[२९]

शरीर की अशुचिता की तुलना मदिरा के घड़े से करते हुए कहा गया है-

सच्छिद्रो मदिराघटः परिगलत्तल्लेशसंगाऽशुचिः,
शुच्याऽऽमृद्य मृदा बहिः स बहुशो धौतोऽपि गंगोदकैः।
नाधत्ते शुचितां यथा तनुभृतां कायो निकायो महान्,
बीभत्साऽस्थिपुरीषमूत्ररजसां नाऽयं तथा शुद्धयति।।[३०]

(4) विजयदेवसूरि विज्ञप्ति– यह रचना प्रभासपाटण से प्राकृत भाषा में मिश्रित रूप से विज्ञप्ति पत्र के रूप में लिखी गई है। इसमें अणहिलपुर पाटण में विराजित विजयदेवसूरि को सम्बोधित किया गया है। यह रचना अप्राप्त है तथा इसके सम्बन्ध में अधिक जानकारी भी नहीं मिलती है। इसका गुजराती भावानुवाद भी हुआ है। ऐसा उल्लेख प्राप्त होता है।

(5) विजयदेवसूरि लेख– गुजराती भाषा में ३४ कड़ियों में विनयविजयगणी ने स्तम्भतीर्थ से लिखा था। यह चार ढालों में विभक्त है तथा विजयसेनसूरि को लक्ष्य कर लिखा गया है। इसमें विजयदेवसूरि को जिनशासन का शृंगार कहा गया है। यह कृति यशोविजय जैन ग्रन्थमाला के अन्तर्गत विक्रम संवत् १९७३ में ऐतिहासिक ग्रन्थमाला भाग १ में प्रकाशित है।

9. दार्शनिक साहित्य

उपाध्याय विनयविजय गणी जैन धर्म-दर्शन की मान्यताओं को हृदयंगम कर उन्हें प्रस्तुत करने में दक्ष थे। वे आगम एवं आगमेतर जैन साहित्य के मर्मज्ञ विद्वान् थे। दार्शनिक दृष्टि से उनकी प्रमुखतः चार रचनाएँ उपलब्ध होती हैं- १.लोकप्रकाश २. नयकर्णिका ३. पंच समवाय स्तवन ४. षट्त्रिंशज्जल्पसंग्रह संक्षेप।

(1) लोकप्रकाश– प्रस्तुत कृति इस रचना का ही समीक्षात्मक अध्ययन है। अतः इसका विस्तृत

परिचय अलग से आगे दिया गया है।

(2) नयकर्णिका– इस कृति के नाम से ही विदित होता है कि इसमें जैन दर्शन के नय सिद्धान्त का विवेचन हुआ है। दार्शनिक कवि विनयविजय ने तीर्थंकर महावीर की स्तुति करते हुए २३ श्लोकों में संस्कृत भाषा में इस लघुकृति की रचना की है। इसमें सात नयों का विस्तृत विवेचन है- १. नैगमनय २. संग्रहनय ३. व्यवहार नय ४. ऋजुसूत्र नय ५. शब्द नय ६. समभिरुढ नय ७. एवम्भूत नय। वस्तु के सामान्य एवं विशेष धर्मों के स्वरूप तथा नैगमादि नयों की उत्तरोत्तर विशुद्धता का भी प्रतिपादन किया गया है। समस्त नयों के विरोधी होने पर भी वे भगवान् के आगम वचन की उसी प्रकार सेवा करते हैं जिस प्रकार परस्पर विरोध करने वाले राजा एकत्रित होकर युद्ध रचना में चक्रवर्ती के चरण कमलों की सेवा करते हैं।[३१] इसमें एक-एक नय के १०० भेद मानकर ७०० भेद कहे हैं।[३२] शब्दनय में तत्त्वार्थसूत्र की भांति समभिरूढ़ तथा एवम्भूतनय का अन्तर्भाव करते हुए नयों के पाँच भेद एवं ५०० भेद भी कहे गए हैं। इस रचना पर संस्कृत में वृद्धिविजय जी के शिष्य पं. गम्भीरविजय जी ने टीका का लेखन किया है। इसका गुजराती एवं हिन्दी अनुवाद भी प्रकाशित है।

(3) पंचसमवाय स्तवन– पंच समवाय का सिद्धान्त जैन दर्शन में कारण-कार्य सिद्धान्त के रूप में प्रसिद्ध है। इसमें पाँच कारणों का समवाय कार्यसिद्धि में हेतु माना जाता है। वे पाँच कारण है- १. काल २. स्वभाव ३. नियति ४. पूर्वकृत कर्म ५. पुरुषार्थ। इन पाँचों के समन्वय से कार्य सम्पादित होते हैं। उपाध्याय विनयविजय ने इन्हीं पाँच कारणों के समवाय को आधार बनाकर 'पंच समवाय स्तवन' का गुजराती पद्यों में विक्रम संवत् १७२३ में कवन किया था। इसमें छह ढालें हैं तथा कुल ५८ कड़ियाँ हैं। विनयविजय जी ने कालवाद, स्वभाववाद, नियतिवाद, पूर्वकृत कर्मवाद एवं पुरुषार्थवाद की एकान्तता को अनुपयुक्त बताते हुए इनके समन्वय को उपयुक्त माना है। वे कहते हैं-

अे पांचे समुदाय मिथ्या बिण, कोई काज न सीझे।
अंगुलीयोगे करतणी परे, जे बुझे तो रीझे रे।।[३३]

(4) षट्त्रिंशज्जल्पसंग्रह संक्षेप– दार्शनिक खण्डन मण्डन के युग में जल्प का भी महत्त्व रहा है। न्यायसूत्र में जल्प का लक्षण इस प्रकार दिया है-

यथोक्तोपपन्नश्छलजातिनिग्रहस्थानसाधनोपालम्भो जल्पः।[३४]

अर्थात् प्रमाण एवं तर्क से स्वपक्ष की सिद्धि और परपक्ष का खण्डन करने के साथ जिसमें छल, जाति, एवं निग्रह स्थान के द्वारा भी स्वपक्ष की सिद्धि एवं परपक्ष का निरसन किया जाए उसे 'जल्प' कहते हैं। जैन दर्शन में जल्प के प्रयोग को उचित नहीं माना गया है। तथापि अन्य दर्शनों के

द्वारा किए गए जल्प प्रयोगों को समझना वे आवश्यक मानते हैं। मुनि विमलविजय के शिष्य भावविजय गणी ने विक्रम संवत् १६७६ में 'षट्त्रिंशज्जल्पसंग्रह' नामक कृति की रचना की थी। उसी का विनयविजय ने संस्कृत गद्य में संक्षेप किया है। इसलिए विनयविजय की इस कृति को 'षट्त्रिंशज्जल्पसंग्रह संक्षेप' के नाम से जाना जाता है। यह कृति सम्भवतः अभी तक अप्रकाशित है। मिथ्यात्व रूप समुद्र को तैरने के लिए जिनप्रवचन रूप वाहन का आश्रय विनयविजय जी आवश्यक मानते हैं इसमें धर्मसागरगणि के ग्रन्थों में निरूपित शास्त्र विरुद्ध ३६ जल्पों का उत्तर-प्रत्युत्तर दिया गया है।

लोकप्रकाश

जैन धर्म-दर्शन के द्रव्यानुयोग एवं गणितानुोग की समग्र एवं व्यवस्थित प्रस्तुति की दृष्टि से लोकप्रकाश महत्त्वपूर्ण कृति है। जिसे उपाध्याय विनयविजय ने ३७ सर्गों एवं २०००० श्लोकों में निबद्ध किया है। चरणानुयोग की विषयवस्तु भी कुछ अंशों में भावलोक के अन्तर्गत समाविष्ट हुई है। कहीं कहीं तीर्थंकरों के वर्णन आदि में धर्मकथानुयोग का भी समावेश हुआ है। इस प्रकार द्रव्यानुयोग, गणितानुयोग, चरणानुयोग और धर्मकथानुयोग इन चारों की विषयवस्तु लोकप्रकाश ग्रन्थ में उपलब्ध है। फिर भी अधिक विवेचन की दृष्टि से मूल्यांकन किया जाए तो इसमें द्रव्यानुयोग एवं गणितानुयोग का अधिक विवेचन हुआ है।

'लोकप्रकाश' नाम से यह प्रतीत होता है कि इसमें मात्र लोक के स्वरूप का विवेचन हुआ होगा। किन्तु उपाध्याय विनयविजय ने लोक के चार प्रकार निरूपित करते हुए जैन धर्म दर्शन की व्यापक विषय वस्तु को इसमें समाहित कर लिया है। वे लोक के चार प्रकार निरूपित करते हैं- १. द्रव्यलोक २. क्षेत्रलोक ३. काललोक ४. भावलोक। द्रव्यलोक में षड्-द्रव्यों में धर्म, अधर्म, आकाश, पुद्गल और जीव का विवेचन हुआ है। उनमें भी जीव द्रव्य का विशेष विस्तार से सर्वविध विवेचन किया गया है। क्षेत्रलोक में लोक के बाह्य स्वरूप का विवेचन है जिसके अन्तर्गत अधोलोक, मध्यलोक और ऊर्ध्वलोक को १४ रज्जु लोक के रूप में प्रस्तुत किया गया है। काललोक के अन्तर्गत कालद्रव्य का तार्किक स्थापन एवं विवेचन हुआ है। भावलोक में जीव के क्षायिक, औपशमिक, क्षायोपशमिक, औदयिक, पारिणामिक और सान्निपातिक भावों का प्रतिपादन हुआ है। इस प्रकार लोकप्रकाश एक ऐसा ग्रन्थ है, जिसमें जैन धर्म-दर्शन का अधिकांश विवेच्य विषय समुपलब्ध है।

लोकप्रकाश के लेखन की प्रेरणा उपाध्याय विनयविजय को कहाँ से प्राप्त हुई यह तो स्पष्ट उल्लेख प्राप्त नहीं होता है किन्तु हरिभद्रसूरि द्वारा रचित लोक तत्त्व निर्णय, लोकविंशिका आदि ग्रन्थ सम्भव है इसमें प्रेरणास्रोत रहे हों। लेखक का आगमिक ज्ञान इस कृति के प्रणयन में विशेष आधार

बना है। उन्हें मात्र आगमों का ही नहीं उनकी टीकाओं, वृत्तियों, भाष्यों, चूर्णियों, अवचूरियों, निर्युक्तियों, टब्बों आदि का भी ज्ञान था। वे एक अधिकारिक जैन विद्वान् के रूप में आगमिक परम्परा को अपनी कृति में निरूपित करते हैं। आगम एवं उसके व्याख्या साहित्य के अतिरिक्त उन्हें सिद्धसेन, जिनभद्रगणिक्षमाश्रमण, हरिभद्रसूरि, अभयदेवसूरि, हेमचन्द्रसूरि आदि की कृतियों का भी पूर्ण बोध था। वे आगमिक सरणि के तलस्पर्शी विद्वान् थे। इसकी प्रतीति उनकी इस विशालकाय कृति का अवलोकन करने पर पदे-पदे होती है।

'लोकप्रकाश' का परिचयात्मक चार्ट

सर्ग	श्लोक	उद्धृत श्लोक गाथा	प्रमुख विवेच्य विषय
			द्रव्यलोक
प्रथम	२१४	२५	मंगलाचरण एवं ग्रन्थ लेखन की भूमिका, उत्सेधांगुलादि का प्रमाण, रज्जु, पल्योपम सागरोपम, उत्सर्पिणी, अवसर्पिणी, क्षेत्र पल्योपम, सागरोपम (सूक्ष्म बादर), संख्यात-असंख्यात और अनन्त आदि।
दूसरा	१६२	३६	चतुर्विध लोक का स्वरूप, द्रव्यलोक, षड्द्रव्यमय, धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय, जीवास्तिकाय का स्वरूप, जीव का सामान्य लक्षण, भेद, सिद्ध का स्वरूप, सिद्धि प्राप्ति की योग्यता, अल्प-बहुत्व, अनन्त सुख आदि।
तीसरा	१४१८	२१७	संसारी जीवों का स्वरूप, ३७ द्वारों के नाम, जीव का भेद, स्थान, पर्याप्ति, योनि, मनुष्य योनि का स्वरूप तथा प्रकार, कुलकोटि, भवस्थिति, कायस्थिति, आयुष्य, शरीर, अंगमान (अवगाहना), संस्थान, समुद्घात, गति-आगति, लेश्या, आहार की दिशा, संहनन, कषाय, संज्ञा, इन्द्रिय, वेद, संज्ञी, दृष्टि, ज्ञान, दर्शन, उपयोग, आहार, गुणस्थान, योग, जीवों का प्रमाण, स्वजाति की अपेक्षा से अल्प-बहुत्व, दिशा की अपेक्षा से अल्प-बहुत्व, स्व जाति में उत्पन्न जघन्य-उत्कृष्ट अन्तर, महान् अल्पबहुत्व, भवसंवेध।
चतुर्थ	१६३	२०	संसारी जीवों के विविध विवक्षाओं से प्रकार, एकेन्द्रिय, सूक्ष्म एकेन्द्रिय, निगोद, व्यवहारराशि और अव्यवहारराशि का स्वरूप, एकेन्द्रिय जीव का स्थान आदि ३७ द्वारों से निरूपण।

पंचम	३६३	५२	बादर एकेन्द्रिय भेद, स्थान आदि ३७ द्वारों से विवेचन, साधारण वनस्पति, प्रत्येक वनस्पति आदि।
षष्ठ	१६८	१३	विकलेन्द्रिय (द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय एवं चतुरिन्द्रिय) एवं तिर्यंच पंचेन्द्रिय जीवों का भेद स्थान आदि ३७ द्वारों से विवेचन।
सप्तम	१२५	१५	सम्मूर्च्छिम एवं गर्भज मनुष्य का भेद, स्थान, पर्याप्ति आदि ३७ द्वारों से विवेचन।
अष्टम	१५५	११	देव गति के जीवों का ३७ द्वारों से विवेचन।
नवम्	३६	-	नारकी जीवों का ३७ द्वारों से विवेचन।
दशम	३०३	३	भवसंवेध प्रकरण में संसारी जीवों का भवसंवेध सम्बन्धी विस्तृत विवेचन। महा अल्पबहुत्व, जीवास्तिकाय के पाँच प्रकार, कर्मबन्ध के मूल एवं उत्तर हेतु, कर्म के आठ एवं अवान्तर प्रकार, उत्कृष्ट तथा जघन्य स्थिति, अबाधाकाल, निषेक, पुण्य एवं पाप प्रकृतियाँ, घाती एवं भवोपग्राही (अघाती) प्रकृतियाँ।
ग्यारहवाँ	१५८	१३	पुद्गलास्तिकाय का स्वरूप, स्कन्ध, देश, प्रदेश और परमाणु, परमाणु का स्वरूप एवं उसके चार प्रकार, पुद्गल के दस प्रकार के परिणाम, संस्थान परिणाम, उसके भेदोपभेद, अजीव रूपी जीव के ५६३ भेद, शब्द परिणाम, छाया, आतप एवं उद्योत की पौद्गलिकता।
			क्षेत्र लोक
बारहवाँ	२७५	२७	लोक का स्वरूप, रज्जु, खंडुक, त्रसनाडी, रूचक प्रदेश, मध्यलोक, ऊर्ध्वलोक, अधोलोक का आकार तथा स्थान, दिशा-विदिशा, कृतयुग्म, सप्तविध दिशाएँ, रज्जु के प्रकार, लोक का प्रमाण, अधोलोक का विशेष स्वरूप, सातों नरक भूमियों का विस्तृत विवेचन, व्यन्तर देवों का, उनके देव, देवियों का विवेचन।
तेरहवाँ	३१०	१६	भवनपति देवों का विस्तृत विवेचन, चमरेन्द्र, बलीन्द्र एवं भवनपति के दस प्रकारों का विस्तृत विवेचन।
चौदहवाँ	३२६	१८	नरकावासों का वर्णन, उनके शरीर, वर्ण, गंध, रस, स्पर्श, शब्द, वेदना आदि की भयंकरता। उनके दुःखों का कथन। पारस्परिक

			वेदना, सम्यग्दृष्टि एवं मिथ्यादृष्टि नारक, परमाधार्मिक देवों द्वारा उत्पन्न वेदना, दूसरी, तीसरी, चौथी, पाँचवीं, छठी एवं सातवीं नरक पृथ्वी, उनमें स्थित नरकावासों एवं उनमें रहने वाले नारकी जीवों की वेदना आदि का विवेचन।
पन्द्रहवाँ	२६५	२१	मध्यलोक (तिर्यक्लोक) का विवेचन, द्वीप-समूहों की संख्या, जम्बूद्वीप से नन्दीश्वर द्वीप एवं समुद्र, जम्बूद्वीप का विशेष विवेचन, सुधर्मा सभा, मणिपीठिका, इन्द्रध्वज, सात क्षेत्र, छह पर्वतादि का कथन।
सोलहवाँ	४५५	३५	भरत क्षेत्र, वैताढ्य पर्वत, हिमवान पर्वत, छह वलय, हैमवन्त क्षेत्र, महाहिमवान क्षेत्र, महापद्म सरोवर, हरिवर्ष क्षेत्र, निषध पर्वत, तिंगिच्छ सरोवर।
सत्रहवाँ	४२२	३५	महाविदेह क्षेत्र, सीतोदा नदी, पर्वत शिखर, गन्धमादन पर्वत, माल्यवान पर्वत, उत्तरकुरु क्षेत्र, यमक पर्वत, सुदर्शन वृक्ष, सौमनस पर्वत, विद्युत्प्रभ पर्वत, देवकुरु क्षेत्र, इसके सरोवर एवं पर्वतों का वर्णन।
अठारहवाँ	२७८	२३	मेरुपर्वत (सुमेरू पर्वत) का विस्तृत निरूपण, तीन काण्ड, नन्दनवन, पाण्ढक वन, ईशान कोण आदि की बावड़ियाँ, महाविदेह क्षेत्र में तीर्थंकर, वासुदेव, बलदेव आदि का कथन।
उन्नीसवाँ	२१५	१६	नीलवान पर्वत, रम्यक् क्षेत्र रुक्मी पर्वत, हैरण्यवंत क्षेत्र, ऐरवत क्षेत्र, इसकी भरत क्षेत्र के साथ समानता, पर्वतों, नदियों आदि की संख्या, जम्बूद्वीप के विजयों की संख्या, तीर्थंकर, चक्रवर्ती, बलदेव, वासुदेव की संख्या।
बीसवाँ	७२१	४५	जम्बूद्वीप में स्थित सूर्य चन्द्र की गति, सूर्यमण्डल का क्षेत्र आदि, चन्द्रमा, चन्द्र-सूर्य ग्रहण, उत्तरायण, दक्षिणायन, नक्षत्र, चन्द्रमा के साथ नक्षत्रों का योग।
इक्कीसवाँ	२८३	२१	लवण समुद्र, पाताल कलशों का स्वरूप, बलन्धर देव तथा पर्वतों का वर्णन, गौतम द्वीप का निरूपण।
बाईसवाँ	३६३	१	धातकी खण्ड द्वीप, भरत क्षेत्र का विस्तार, हिमवान पर्वत, गंगा

			आदि नदियाँ, चौदह महानदियों की गहराई एवं विस्तार, हैमवंत क्षेत्र का स्थान, हरिवर्ष क्षेत्र का स्थान, रम्यक् क्षेत्र, नीलवंत पर्वत, महाविदेह क्षेत्र का स्थान, महाविदेह के चार विभाग, गजदन्त पर्वतों की लम्बाई-चौड़ाई, कुरुक्षेत्र का मान, यमक गिरि एवं कांचन गिरि, धातकी खण्ड के मेरु पर्वत का वर्णन, भद्रशाल वन, नन्दन वन, सौमनस वन, पांडक वन, धातकी खण्ड में सरोवर नदियाँ, तीर्थंकर, चक्रवर्ती, सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र आदि की संख्या, कालोदधि समुद्र का वर्णन।
तेईसवाँ	३२१	२१	पुष्कर द्वीप, नाम की सार्थकता, मानुषोत्तर पर्वत, पर्वत पर कूटों तथा अधिष्ठित देव, ईषुकार पर्वत, वर्षधर पर्वत, हिमवान पर्वत पर पद्म सरोवर, सरोवर से निकलती गंगा-सिन्धु नदियाँ, रोहिताशा नदी, महापद्म-सरोवर से निकलती नदियाँ, हैरण्यवंत क्षेत्र एवं रुक्मि पर्वत, मनुष्य क्षेत्र का ४५ लाख योजन विस्तार, मनुष्य क्षेत्र के बाहर मनुष्यों का जन्म-मरण, अढ़ाई द्वीप के बाहर मनुष्यों का मरण संभव, मनुष्यों के १०१ स्थान, बीस विहरमान, चक्रवर्ती, वासुदेव, बलदेव आदि की संख्या, रत्न-निधियों का वर्णन, चन्द्र-सूर्य की श्रेणि एवं संस्था, अढ़ाई द्वीप के अन्दर और बाहर चैत्यों तथा जिन बिम्बों का वर्णन, तिरछा लोक, ऊर्ध्वलोक तथा अधोलोक के चैत्यों, प्रतिमाओं, बिम्बों की संख्या तथा प्रमाण।
चौबीसवाँ	३४३	८७	अढ़ाई द्वीप के बाहर स्थित ज्योतिषी, सूर्य-चन्द्र के दो प्रकार एवं प्रकाश क्षेत्र, ज्योतिष करंडक एवं चन्द्र प्रज्ञप्ति आदि से सूर्य चन्द्र जानने का करण, मनुष्य क्षेत्र के बाहर चन्द्र-सूर्य की पंक्तियों में मतान्तर, पुष्करोद समुद्र, क्षीरोद समुद्र, घृतवर द्वीप, घृतोद समुद्र, क्षोदवर द्वीप, क्षीदोद समुद्र आदि का वर्णन, नंदीश्वर द्वीप और अंजनगिरि का स्वरूप, दधिमुख पर्वत, रुचक द्वीप, स्वयंभूरमण द्वीप एवं समुद्र आदि।
पच्चीसवाँ	२१६	३२	ज्योतिष चक्र का प्रारम्भ, सम्भूतल से तारा एवं चन्द्र की दूरी, सूर्य-चन्द्र के विमानों का प्रमाण आदि, ज्योतिष शास्त्र की

			आवश्यकता।
छब्बीसवाँ	६६७	८०	ऊर्ध्वलोक का प्रारम्भ, प्रमाण, प्रतर, विमान सम्बन्धित सम्पूर्ण वर्णन, सौधर्म-ईशान लोक, सुधर्मा सभा के चैत्य स्तूप, ध्वजा, द्वार, अभिषेक-व्यवसाय सभा, देव, वृक्ष, देवों की भाषा, शक्ति, उनका काल निर्गमन, श्वासोच्छ्वास, देवांगनाएँ, उनका आयुष्य, अवधि-ज्ञान आदि का वर्णन, सौधर्म-ईशान के इन्द्र, देव-देवियों, सेनापतियों का वर्णन, प्रथम लोकपाल सोम, द्वितीय यम, तृतीय वरुण, चतुर्थ वैश्रमण का स्वरूप।
सत्ताईसवाँ	६७०	४१	सनत्कुमार-माहेन्द्र नामक तीसरे-चौथे देवलोक का स्थान, आकार, प्रतर, विमान एवं उनके इन्द्रों का वर्णन, ब्रह्मदेव नामक पाँचवें देवलोक का, लोकान्तिक देवों का, लांतकेन्द्र नामक छठे देवलोक का, किल्विषिक देव, महाशुक्र नामक सातवें देवलोक का, सहस्रार नामक आठवें, आनत-प्राणत नामक नौवे-दसवें, आरण-अच्युत नामक ग्यारहवें-बारहवें देवलोक का, अच्युतेन्द्र, नवग्रैवेयक, पाँच अनुत्तर विमान एवं सिद्धशिला का विस्तृत वर्णन।
			काललोक
अट्ठाईसवाँ	१०६०	५०	कालद्रव्य का विस्तृत विवेचन, आचार्यों का मतभेद, वर्तना, परिणाम, क्रिया, परत्व-अपरत्व आदि का प्रतिपादन, काल द्रव्य की सिद्धि, काल की सूक्ष्मतम ईकाई समय, मनुष्य क्षेत्र के बाहर काल विषयक शंका-समाधान, काल द्रव्य के ११ निक्षेप और उनका विवरण, सन्नाम काल, स्थापना काल, द्रव्यकाल, अद्धाकाल, यथायुष्ककाल, उपक्रमकाल, सामाचारी काल, कर्मों का उपक्रम, कर्म विपाक, देशकाल, काल-काल आदि का स्वरूप, प्रमाणकाल प्राण, क्षुल्लक भव, मुहूर्त्त आदि का स्वरूप, पाँच प्रकार के संवत्सर, षड्ऋतुएँ, द्वादश माह, युग आदि का विवेचन।
उनतीसवाँ	३५७	३७	पूर्वांग तथा पूर्व का स्वरूप, अवसर्पिणी-उत्सर्पिणी के छह-छह आरक, युगलिकों का विवेचन, प्रथम तीर्थंकर, पुरुष की ७२ एवं स्त्री की ६४ कलाएँ, भगवान् का पाणिग्रहण एवं राज्याभिषेक

			महोत्सव, प्रथम चक्रवर्ती, चतुर्थ आरे के २३ तीर्थंकर एवं ११ चक्रवर्ती, ६३ श्लाका पुरुष।
तीसवाँ	१०६५	६०	तीर्थंकर नामकर्म के २० स्थान, स्थविरों के तीन प्रकार, वैयावृत्य की आराधना, तीर्थंकर का विशेष विवेचन, ५६ दिक्कुमारियाँ, २२ परीषह, उपसर्ग सम्बन्धी कथन, ध्यान का विस्तृत विवेचन, समवसरण, श्रावक के व्रत, तीर्थंकर वाणी के ३५ गुण, २२ अभक्ष्य, पौषध एवं सामायिक के प्रकार, अष्ट प्रवचन माता, श्रावकों के ७३७ प्रकार, तीर्थंकर देशना, ३४ अतिशय, निर्वाण और उसका महोत्सव।
इकतीसवाँ	६४०	५८	चक्रवर्ती होने के निमित्त कारण, राजा के छत्तीस गुण, चक्ररत्न की उत्पत्ति, छह खण्ड को जीतने का उल्लेख, सिन्धुदेवी, वैताढ्य कटक, तमिस्रा गुफा, सेनापति रत्न, १४ रत्न, वास्तुशास्त्र में प्रासाद के १६ प्रकार, नवनिधान आदि।
बत्तीसवाँ	११२४	७१	प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव का चरित्र वर्णन, सात कुलकर, सात कल्पवृक्ष, केवलज्ञान, श्रेयांस कुमार, भरत चक्रवर्ती निर्वाण, भरत चक्रवर्ती को केवलज्ञान, अजितनाथ, सम्भवनाथ आदि तीर्थंकरों का चरित्र, पार्श्वनाथ एवं तीर्थंकर महावीर का चरित्र, अवसर्पिणी के दस आश्चर्य, पाँच अभिग्रह, गणधर आदि का विवेचन, श्रावक-श्राविका, यक्ष-यक्षिणी का कथन।
तैतीसवाँ	४०८	१४	भरत आदि १२ चक्रवर्तियों का वर्णन, परशुराम चक्रवर्ती द्वारा संयम ग्रहण चक्रवर्ती की सामान्य विशेषताएँ, नव वासुदेव, नव प्रतिवासुदेव एवं नव बलदेवों का वर्णन।
चौंतीसवाँ	४४४	७४	पंचम आरक का वर्णन, आयुष्य, देहमान, गुरु-शिष्य, पिता-पुत्र आदि का व्यवहार, साधुओं के प्रकार, श्रमणों के बकुश आदि प्रकार, छठे आरे का प्रारम्भ एवं उसका प्रभाव, मनुष्यों की अवगाहना एवं आयुष्य, उत्सर्पिणी काल का प्रारम्भ, उसके विभिन्न आरकों का वर्णन, भावी जिनेश्वरों/तीर्थंकरों का कथन।
पैंतीसवाँ	२१८	२२	पुद्गल परावर्तन के चार प्रकार, वर्गणा, औदारिक शरीर आदि की

			वर्गणा, अग्रहण योग्य वर्गणा, द्रव्य-सूक्ष्म बादर पुद्गल परावर्तन, क्षेत्र सूक्ष्म बादर पुद्गलपरावर्तन, काल सूक्ष्म बादर पुद्गलपरावर्तन, भाव सूक्ष्म-बादर पुद्गल परावर्तन, अनुभाग बन्ध, कर्म द्रव्यों की भाग प्राप्ति, एक अध्यवसाय में कर्म दलिक, स्पर्धक, अविभाग प्रतिच्छेद, शुभाशुभाध्यवसाय, अनागत काल का प्रमाण आदि।
			भावलोक
छत्तीसवाँ	२५४	२४	भाव का स्वरूप, औपशमिक, क्षायोपशमिक, क्षायिक, औदयिक, पारिणामिक एवं सान्निपातिक भावों का निरूपण, औपशमिक के दो, क्षायोपशमिक के १८, क्षायिक के ९, औदयिक के २१, पारिणामिक के ३ भेदों का कथन, सान्निपातिक के द्विकसंयोगी आदि का कथन, अजीव के दो भाव, आठ कर्मों के आधार पर भावों का निरूपण, गुणस्थान के आधार पर भावों का निरूपण, गुणस्थानों को लक्ष्य कर क्षायिकादि के उत्तरभेदों का कथन।
			उपसंहार
सैंतीसवाँ	४१	-	३६ सर्गों में विवेचित विषय वस्तु का संक्षिप्त कथन।
प्रशस्ति			तीर्थंकर महावीर से प्रमुख पाट परम्परा एवं गुरु परम्परा का उल्लेख।

इन ३७ सर्गों की विषयवस्तु का अवलोकन करने से विदित होता है कि उपाध्याय विनयविजय ने इसमें जैन परम्परा की द्रव्यलोक, क्षेत्रलोक, काललोक और भावलोक विषयक मान्यताओं को व्यवस्थित क्रम में परोसा है। यदि कोई मात्र लोकप्रकाश को पढ़कर जैन धर्म की विस्तृत जानकारी प्राप्त करना चाहता हो तो वह लोक के चतुर्विध स्वरूप के माध्यम से प्रमुख धारणाओं का ज्ञान कर सकता है।

जैन धर्म में विभिन्न द्वारों के माध्यम से विषयवस्तु की प्रस्तुति का प्राचीन उदाहरण हमें आगमों में प्राप्त होता है। अनुयोगद्वार एवं षट्खण्डागम इसके प्राचीन प्रमाण है। उपाध्याय विनयविजय ने भी ३७ द्वारों में इस विधि को अपनाया है।

स्वर्गवास

विक्रम संवत् १७३८ में उपाध्याय विनयविजय जी का रांदेर चातुर्मास के दौरान

'श्रीपाल राजानो रास' की रचना करते हुए स्वर्गगमन हुआ।

स्मृति चिह्न एवं स्मारक

उपाध्याय विनयविजय जी के जीवनकाल में उनकी कोई मूर्ति बनी ऐसी कोई जानकारी नहीं मिलती है। वर्तमान में शान्तमूर्ति श्री विजयविज्ञानसूरि के कर-कमलों से उपाध्याय विनयविजय की अभिनव मूर्ति 'विनयमंदिर' नामक विनयविजय जी के उपाश्रय में प्रतिष्ठित की गई है।

रांदेर (सूरत) में 'श्री नेमिनाथ जिनालय' में महावीर स्वामी, गौतम स्वामी, हीरविजयसूरि एवं विजयदेवसूरि के साथ-साथ विनयविजय जी की भी पादुकाएँ रखी हैं। १० ग ७.५ इंच का शिलालेख इसका प्रमाण है जो इसे पुष्ट करता है। शिलालेख पर इस प्रकार लिखा है-

"।।द.।। सं.1743 वर्षे पोस वदी 11 शुक्रवास.....रायने विजयमुर्हूत.....श्री रांज्ञारबंदीरस्वास्तव्यलाडुआश्रीमालीनतियसा (0) धनाभार्याकाहनबाइ तत्पुत्र शा. श्रीपाल तद्भार्या सा (0) काहड जी भार्यापानबाइ तत्पुत्री शामबाइनाम्न्या.....क्षेत्रे श्रीविजय.....हारनाम.....पं. श्रीरूपविजयगणि.....गौतमादिपादुकापंचकं कारितं प्रतिष्ठितं च।। भ. श्री विजयप्रभसूरिमुपदेशात् उ. श्रीरवीवर्धनगणिभिरिति.....(1) श्री गौतमस्वामिपादुका (2) श्री महावीरपादुका (3) श्रीहीरविजयसूरिपादुका (4) श्रीविजयदेवसूरिपादुका (5) उ. श्री विनयविजयगणिपादुका। श्री शामबाइकारितं पंचमितिथौ प्रतिष्ठितं.....श्री रवीवर्धनगणिभिः श्रेयः।।"

विनयविजय कृत रचनाओं का परिचयात्मक चार्ट

क्र.	नाम	भाषा	परिमाण	रचनावर्ष विक्रम संवत्	रचनास्थल	विषय
१	अध्यात्मगीता	गुजराती	२३६ गाथा ३३० श्लोक	-	-	अध्यात्म
२	अर्हन्नमस्कार स्तोत्र	संस्कृत	-	१७३१	-	परमात्म स्तवना
३	आदिजिनविनति	गुजराती	५७ गाथा	-	-	अभ्यर्थना
४	आनन्दलेख	संस्कृत	२५२ पद्य	१६६७	-	विज्ञप्तिपत्र
५	आयम्बिल नी सज्झाय	गुजराती	११ गाथा	-	-	तप महत्त्व
६	इन्दुदूत	संस्कृत	१३१ पद्य	लगभग १७१८	जोधपुर	संदेशकाव्य
७	इरियावहिय सज्झाय	गुजराती	२६ पद्य	१७३०/१७३३ /१७३४	-	क्रिया विवरण

८	उपधान स्तवन	गुराजती	२४ पद्य	-	-	तपक्रिया विवरण
९	कल्पसूत्र सुबोधिका टीका	संस्कृत	४१५० श्लोक	१६९६	-	कल्पसूत्र पर विस्तृत टीका
१०	गुणस्थानकगर्भित वीरस्तवन	गुजराती	७३ पद्य	-	-	तत्त्वज्ञान
११	जिणचेइयथवण	प्राकृत	२७ पद्य	-	-	स्तवना
१२	जिनचौबीसी	गुजराती	१२० पद्य	१७२५	-	स्तवना
१३	जिनपूजन नुं चैत्यवंदन	गुजराती	१२ पद्य	-	-	पूजाविधि
१४	जिनसहस्रनाम	संस्कृत	१४९ पद्य	१७३१	गांधार	परमात्म प्रभाव स्तोत्र
१५	धर्मनाथ नी विनतिरूप स्तवना	गुजराती	१३८ पद्य	१७१६	सूरत	रूपककाव्य
१६	नयकर्णिका	संस्कृत	२३ पद्य	१७०८	दीव	जैन न्याय
१७	नेमिनाथ बारमासी	गुजराती	२७ पद्य	१७२८	रांदेर	स्तवना
१८	नेमिनाथ भ्रमरगीता	गुजराती	३९ पद्य	१७०६	-	फागु (काव्य)
१९	प्रत्याख्यान विचार	गुजराती	२९ पद्य	-	-	पच्चक्खाण विचार
२०	पंचसमवाय स्तवन	गुजराती	५८ पद्य	१७२३	-	पंचकारण विवरण
२१	पट्टावली सज्झाय	गुजराती	७२ पद्य	१७१८	-	इतिहास श्रमण परम्परा
२२	पुण्यप्रकाश स्तवन	गुजराती	८७ पद्य	१७२९	रांदेर	आत्म आराधना
२३	भगवती सूत्र-सज्झाय	गुजराती	२१ पद्य	१७३८	रांदेर	विधि विधान सूत्र स्तवना
२४	मरुदेवी माता-सज्झाय	गुजराती	७ पद्य	-	-	स्वाध्याय
२५	लोकप्रकाश	संस्कृत	२०६२१ श्लोक	१७०८	जूनागढ़	तत्त्वज्ञान

२६	विजयदेवसूरि लेख	गुजराती	३४ गाथा	१७०५	स्तम्भतीर्थ	विज्ञप्तिपत्र
२७	विजयदेवसूरि विज्ञप्ति	अर्धसंस्कृत	८२ पद्य	-	देवपत्तनया प्रभासपाटण	विज्ञप्ति पत्र
२८	विजयदेवसूरि विज्ञप्ति	गुजराती	-	-	-	विज्ञप्ति पत्र
२९	विनयविलास	मिश्र हिन्दी	३७ पद्य, १७० गाथा	लगभग १७३०	-	अध्यात्म
३०	विहरमाण जिनवीसी	गुजराती	११६ गाथा	-	-	स्तवना
३१	वृषभतीर्थ पतिस्तवन	संस्कृत	६ पद्य	-	-	स्तवना
३२	शान्तसुधारस	संस्कृत	२३४ पद्य, ३५० गाथा	१७२३	गांधार	अध्यात्म, १६ भावना विवरण
३३	शाश्वतजिनभास	गुजराती	८ कड़ी	-	-	कीर्तन/ स्तवना
३४	श्रीपालराजानो-रास	गुजराती	७५० गाथा	१७३८	रांदेर	कथा जीवन-चरित्र
३५	षट्त्रिंशज्जल्पसंग्रह-संक्षेप	संस्कृत	-	-	-	वाद-विवाद
३६	षडावश्यक स्तवन	गुजराती	४३ पद्य	-	-	क्रिया विवरण
३७	सीमंधरस्वामी नुं चैत्यवंदन	गुजराती	३ पद्य	-	-	चैत्यवंदन स्तवना
३८	सूरति चैत्यपरिपाटी	गुजराती	१४ पद्य	१६८६	सूरत	इतिहास और भूगोल
३९	हैमप्रकाश	संस्कृत	३४००० श्लोक परिमाण	१७३७	रतलाम	व्याकरण
४०	हैमलघुप्रक्रिया	संस्कृत	२५०० श्लोक परिमाण	१७१०	राधनपुर	व्याकरण

संदर्भ–

१. लोकप्रकाश के प्रत्येक सर्गान्त में।
२. हैमलघुप्रक्रिया के सम्पादकीय में उद्धृत
३. हैमलघुप्रक्रिया, प्रशस्ति पाठ, पृष्ठ 414–415

४. जगत् गुरु हीरविजयसूरी चित्रकथा, प्रकाशन–प्राकृत भारती अकादमी, पृष्ठ 19
५. (अ) लोकप्रकाश (आ) हैमलघुप्रक्रिया (इ) हैमप्रकाश (ई) श्रीपाल राजानो रास (उ) पट्टावली सज्झाय
६. लोकप्रकाश 34वें सर्ग पश्चात् प्रशस्ति से।
७. इन्दुदूतम, श्लोक 4
८. इन्दुदूतम श्लोक 32
९. शान्तसुधारस, श्लोक 5
१०. शान्तसुधारस, श्लोक 7, पृष्ठ 140
११. श्रीपालराजानो रास की प्रशस्ति में
१२. विनय सौरभ, पृष्ठ 8
१३. शान्तसुधारस, मुनि राजेन्द्रकुमार
१४. शान्तसुधारस, अनित्य भावना, गीतिका सं. 1, पृष्ठ सं. 5
१५. शान्तसुधारस, संसार भावना, गीतिका सं. 1, पृष्ठ सं. 16, सम्पादक– मुनि राजेन्द्र कुमार, प्रकाशक, आदर्श साहित्य संघ, चुरू
१६. शान्तसुधारस, मैत्री भावना, श्लोक 3, पृष्ठ सं. 70
१७. शान्तसुधारस, संवर भावना, गोपाष्टक 2, पृष्ठ सं. 41
१८. विनयसौरभ, पृष्ठ 78
१९. जिनसहस्रनाम स्तोत्र, श्लोक 17
२०. इन्दुदूतम्, श्लोक 18
२१. इन्दुदूतम, श्लोक 27
२२. इन्दुदूतम, श्लोक 49
२३. इन्दुदूतम, श्लोक 121
२४. आनन्द लेख, प्रथम अधिकार, श्लोक 51
२५. आनन्द लेख, द्वितीय अधिकार, श्लोक 79
२६. आनन्द लेख, तृतीय अधिकार, श्लोक 108
२७. आनन्द लेख, तृतीय अधिकार, श्लोक 127–128 के मध्य उद्धृत
२८. आनन्द लेख, पंचम अधिकार, श्लोक 218
२९. शान्तसुधारस, धर्म भावना, श्लोक 4
३०. शान्तसुधारस, अशौच भावना, श्लोक 3
३१. सर्वे नया अपि विरोधभृतो मिथस्ते, सम्भूय साधु समयं भगवन्। भजन्ते। भूपा इव प्रतिभटा भुवि सार्वभौमपादाम्बुजं प्रधनयुक्तिपराजिता द्राक्।। –नयकर्णिका, श्लोक 22
३२. यथोत्तरं विशुद्धाः स्युर्नयाः सप्ताप्यमी तथा।
एकैकः स्याच्छतं भेदास्ततः सप्तशताप्यमी।।
–नयकर्णिका, श्लोक 19, प्रकाशक सन्मति ज्ञानपीठ लोहामण्डी, आगरा
३३. जिनेन्द्र भक्ति प्रकाश में विनयविजय कृत पंच समवाय की ढाल 6 का पद्य 2
३४. न्यायसूत्र भारतीय विद्या प्रकाशन, संस्करण 1999, प्रथम अध्याय, द्वितीय आह्निक, सूत्र 2

द्वितीय अध्याय

लोक–स्वरूप एवं जीव–विवेचन (1)

समस्त जीव एवं अजीव लोक में रहते हैं। जैन दार्शनिक लोक के स्वरूप की चर्चा दो दृष्टियों से करते हैं। एक दृष्टि में यह लोक पंचास्तिकायात्मक है तथा दूसरी दृष्टि से इसे षड्द्रव्यात्मक कहा गया है। जब धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय, जीवास्तिकाय एवं पुद्गलास्तिकाय की अपेक्षा से लोक के स्वरूप को व्याख्यायित किया जाता है तो इसे पंचास्तिकायात्मक कहा जाता है तथा जब काल द्रव्य को भी दृष्टिगत रखकर धर्म, अधर्म, आकाश, काल, पुद्गल एवं जीव इन षड्द्रव्यों के आधार पर लोक के स्वरूप का विवेचन किया जाता है तो लोक षड्द्रव्यात्मक कहा जाता है। इन षड्द्रव्यों में एक जीव एवं शेष पाँच अजीव होने से लोक जीवाजीवात्मक भी कहा गया है।

द्रव्यलोक, क्षेत्रलोक, काललोक एवं भावलोक

कुछ जैनाचार्य लोक के स्वरूप का निरूपण चार दृष्टियों से करते हैं, तदनुसार हरिभद्रसूरि ने लोकविंशिका के प्रथम खण्ड में लोक को द्रव्यलोक, क्षेत्रलोक, काललोक एवं भावलोक की अपेक्षा से चार प्रकार का कहा है। १७वीं शती में लोकप्रकाशकार उपाध्याय विनयविजय भी लोक का स्वरूप द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव इन चार अपेक्षाओं से प्रस्तुत करते हैं। द्रव्य दृष्टि से यह लोक षड्द्रव्यात्मक है। षड्द्रव्य में धर्म, अधर्म, आकाश, जीव, पुद्गल और काल इनका परिगणन किया जाता है। ये जीव-अजीव स्वरूप एवं नित्यानित्यात्मक षड्द्रव्य ही द्रव्यलोक है।[1] क्षेत्र दृष्टि से यह लोक असंख्यात कोटि योजन विस्तार वाला है। अधः, ऊर्ध्व और तिरछा इस तरह विशिष्ट आकार वाला आकाश प्रदेश क्षेत्रलोक है।[2] काल की अपेक्षा से यह लोक भूतकाल में या भविष्य में रहेगा और वर्तमान में विद्यमान है तथा समय, आवलिका आदि रूप से इसका व्यवहार होता है। यही काललोक है।[3]

भावतोऽनन्तपर्यवः। लोकशब्द प्ररूप्यास्ति कायस्थगुणपर्यवैः।।[4]

अर्थात् षड्द्रव्यात्मक लोक के अनन्त पर्यायरूप भाव ही भावलोक है।

लोक के इन चार प्रकारों में से इस अध्याय में द्रव्यलोक की विषयवस्तु का विवेचन किया जा रहा है। क्षेत्रलोक, काललोक एवं भावलोक की चर्चा अन्य अध्यायों में यथावसर की गई है।

द्रव्यलोक

षड्द्रव्यमय लोक ही द्रव्यलोक है, अतः षड्द्रव्य का स्वरूप इस प्रकार प्रस्तुत है- जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल इन छह द्रव्यों की जहाँ अवस्थिति है, वह लोक है। आकाश को छोड़कर शेष पाँच द्रव्य केवल लोक में हैं, किन्तु आकाश एक अखण्ड, अनन्त व असीम द्रव्य है तथा लोक के बाहर भी है। ससीम लोक के चारों ओर अनन्त अलोकाकाश है।

धर्म, अधर्म, आकाश, जीव और पुद्गल ये पाँच बहुप्रदेशी होने से अस्तिकाय भी माने जाते हैं जबकि काल को अनस्तिकाय माना गया है। धर्म, अधर्म और आकाश का बहुप्रदेशत्व द्रव्यापेक्षा से नहीं, अपितु क्षेत्र की अपेक्षा से है। द्रव्यसंग्रह में कहा भी है-

जावदियं आयासं अविभागी पुग्गलाणुवट्ठद्धं।
तं खु पदेसं जाणे सव्वाणुट्ठाणदाणरिहं।।

प्रो. जी. आर. जैन भी लिखते हैं- "Pradesha is the unit of space occupied by one indivisible atom of matter"[४] अर्थात् प्रदेश आकाश की वह सबसे छोटी इकाई है जो एक पुद्गलपरमाणु क्षेत्र घेरता है। क्षेत्र की अपेक्षा से ही धर्म और अधर्म द्रव्य असंख्यात प्रदेशी और आकाश अनन्तप्रदेशी कहा जाता है। पुद्गल का बहुप्रदेशत्व परमाणु की अपेक्षा से नहीं, अपितु स्कन्ध की अपेक्षा से है। लोक में जीव अनन्त हैं और असंख्यात प्रदेशी हैं। धर्म, अधर्म, आकाश, पुद्गल और काल ये पाँच द्रव्य अजीव हैं क्योंकि उनमें चैतन्य नहीं होता है तथा जीव द्रव्य मात्र चैतन्य होता है। धर्म, अधर्म, आकाश, जीव और काल अरूपी है एवं पुद्गल द्रव्य रूपी है। षड्द्रव्य नित्य और लोकव्यापी है तथा आकाश अलोक में भी व्याप्त है।

षड्द्रव्य विवेचन

(1–2) धर्म और अधर्म द्रव्य– जीव, पुद्गल, आकाश एवं काल ये चार द्रव्य प्रायः सभी दार्शनिक सम्प्रदायों एवं विज्ञान को मान्य हैं, किन्तु धर्म व अधर्म द्रव्य की अवधारणा लेश्या, गुणस्थान, द्रव्यकर्म आदि की तरह जैनधर्म की अद्वितीय अवधारणा है।[६] धर्म और अधर्म शब्द प्रचलित अर्थों स्वभाव, कर्त्तव्य, साधना अथवा उपासना से पूरी तरह भिन्न द्रव्य के वाचक एवं विशिष्ट पारिभाषिक अर्थ में प्रयुक्त हैं- 'धर्मादयः संज्ञा सामासिक्यः।'[७]

धर्म और अधर्म द्रव्य नित्य द्रव्य होने से उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य युक्त हैं। धर्म एवं अधर्म द्रव्य जीव और पुद्गल की गति एवं स्थिति में सहायक एवं उदासीन होते हैं। जीव एवं पुद्गल की गति में धर्मद्रव्य अपरिवर्तित रहता है, क्योंकि यह इनकी गति में निष्क्रिय माध्यम है। यह स्वयं जीव या पुद्गल को गति के लिए प्रेरित नहीं करता, अपितु गति करने वालों की गति में सहायक मात्र है।

अधर्मद्रव्य का धर्मद्रव्य से केवल इतना अन्तर है कि वह गति की जगह स्थिति का माध्यम है।

धर्म और अधर्म द्रव्यों के कारण ही लोक व्यवस्थित है। यदि ये नहीं हों तो जीव एवं पुद्गल द्रव्यों की सुसंगत व्यवस्था नहीं हो सकती और सम्पूर्ण लोक में अव्यवस्था उत्पन्न हो जाएगी। इन दोनों द्रव्यों के कारण जीव एवं पुद्गल लोकाकाश की सीमा के बाहर नहीं जाते और लोकाकाश एवं अलोकाकाश का भेद बना रहता है। यद्यपि धर्म और अधर्म द्रव्य असंख्यप्रदेशी हैं तथापि ये अखण्ड द्रव्य हैं क्योंकि इनका विखण्डन सम्भव नहीं है। इन दोनों द्रव्यों में देश, प्रदेश आदि की मान्यता मात्र वैचारिक स्तर पर ही होती है, वास्तविक रूप में धर्म एवं अधर्म द्रव्य के खण्ड नहीं होते।

द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव और गुण इन पाँच अपेक्षाओं से भी षड्द्रव्यों का निरूपण किया गया हैं। धर्म और अधर्म द्रव्य दोनों द्रव्य (संख्या) से एक-एक है, क्षेत्र से लोकाकाश तक हैं, काल से शाश्वत हैं और भाव से वर्ण, रस, गन्ध एवं स्पर्श से रहित हैं। धर्मद्रव्य गुण से गति में सहायक है। पुद्गल तथा आत्माओं के संचरण में यह सहायता करता है। लोकप्रकाशकार आगम के आधार[८] पर धर्मद्रव्य का वैशिष्ट्य कहते हैं कि यह सर्व जीव के गमन-आगमन में हेतु रूप होने के साथ-साथ भाषा, मन, वचन एवं काया के योग आदि चेष्टाओं में भी निमित्त बनता है-

जीवानामेष चेष्टासु गमनागमनादिषु।
भाषामनःवचस्काययोगादिष्वेति हेतुताम्।।[९]

जहाँ धर्मद्रव्य गति में सहायक है वहीं अधर्मद्रव्य जीव और पुद्गल दोनों की स्थिति में सहायक है। बैठने में, खड़े होने में, सोने में, आलम्बन में तथा चित्त की स्थिरता में भी अधर्म द्रव्य ही हेतुभूत है।[१०] यदि धर्मद्रव्य न हो तो जीव और पुद्गल स्थिर होने पर सदा ही स्थिर रहेंगे और यदि अधर्मद्रव्य नहीं हो तब सभी जीव एवं पुद्गल गति ही करते रहेंगे।

(3) आकाशद्रव्य– आकाश एक ऐसा द्रव्य है जो लोक और अलोक दोनों में व्याप्त है। जहाँ द्रव्यपरत्व से आकाशद्रव्य एक है। वहीं क्षेत्रपरत्व की दृष्टि से लोकालोक की अपेक्षा अनन्त प्रदेशी है और लोकाकाश की अपेक्षा से असंख्यात प्रदेश प्रमाण है। काल से यह द्रव्य शाश्वत है और भाव से वर्ण, गन्ध, रस एवं स्पर्श से मुक्त है। गुण की अपेक्षा से यह द्रव्य सभी पदार्थों के लिए अवकाश अर्थात् स्थान (जगह) देता है। इस गुण के कारण ही संख्यात, असंख्यात और अनन्त परमाणु एक प्रदेश में भी समा सकते हैं। आकाशद्रव्य अनन्त प्रदेशी, एक और अखण्ड द्रव्य है।

धर्म, अधर्म और आकाश तीनों द्रव्यों के स्कन्ध, देश और प्रदेश तीन-तीन भेद होते हैं। इन तीनों द्रव्यों के स्कन्ध आदि की कल्पना केवल वैचारिक स्तर तक ही सम्भव है, वस्तुतः इन द्रव्यों का विभाजन कर पाना सम्भव नहीं है, इसलिए इन्हें अखण्ड द्रव्य कहा जाता है। सम्पूर्ण धर्मास्तिकाय

एक स्कन्ध है। इसी प्रकार समस्त अधर्मास्तिकाय एवं आकाशास्तिकाय भी एक-एक स्कन्ध हैं। उनका काल्पनिक अंश देश कहलाता है तथा उनका परमाणु जितना काल्पनिक अंश प्रदेश कहा जाता है।

प्रदेश की सत्ता छहों द्रव्यों में होती है। जिसके विभाग न हो सके उस परमाणु जितने सूक्ष्म विभाग को प्रदेश कहते हैं। लोकप्रकाशकार कहते हैं-

निर्विभागा विभागाश्च प्रदेशा इत्युदाहृताः।
ते चानन्तास्तृतीयस्यासंख्येया आद्ययोर्द्वयोः।।"

धर्मास्तिकाय आदि के वे विभाग जिनका और अधिक भाग न हो सके, प्रदेश कहे गए हैं। धर्मास्तिकाय एवं अधर्मास्तिकाय के असंख्यात प्रदेश हैं तथा आकाशास्तिकाय के अनन्त प्रदेश हैं। धर्म, अधर्म और आकाश ये तीनों द्रव्य अनन्त एवं अगुरुलघु पर्यायों से युक्त हैं।[१२] इनकी अनन्तता काल एवं भाव से है। आकाश की अनन्तता क्षेत्र से भी है। ये सब लघु एवं गुरु गुण से रहित होने के कारण अगुरुलघु पर्याय वाले कहलाते हैं।

(4) पुद्गलद्रव्य– पूरण और गलन स्वभाव वाला पुद्गलास्तिकायद्रव्य द्रव्य से अनन्त द्रव्यरूप है। क्षेत्र से लोकप्रमाणरूप है, काल से शाश्वत है और भाव से वर्ण, गंध, रस एवं स्पर्शयुक्त है।[१३] गुण से लोकप्रकाशकार इसमें ग्रहण गुण मानते हैं, क्योंकि मात्र यही द्रव्य इन्द्रिय द्वारा ग्रहण किया जाता है, अन्य कोई द्रव्य नहीं। अतः यह ग्रहण गुण वाला है-

गुणतो ग्रहणगुणो यतो द्रव्येषु षट्स्वपि।
भवेत् ग्रहणमस्यैव न परेषां कदाचन।।[१४]

पुद्गलद्रव्य मूर्त्त और अचेतन द्रव्य है। जैन आचार्य पुद्गल के स्कन्ध, देश, प्रदेश और परमाणु ये चार भेद स्वीकार करते हैं। प्रत्येक परमाणु एक स्वतन्त्र द्रव्य या इकाई है। प्रत्येक परमाणु में एक वर्ण[१५], एक रस[१६], एक गन्ध[१७] और दो स्पर्श[१८] (शीत-उष्ण अथवा स्निग्ध-रूक्ष) होते हैं। स्कन्ध पुद्गल द्रव्य अनेक परमाणुओं से बनता है। अतः स्कन्ध के कई भेद हैं- किसी स्कन्ध में दो प्रदेश होते हैं, किसी में तीन प्रदेश, इस तरह बढ़ते हुए क्रम में किसी में संख्यात प्रदेश होते हैं और किसी स्कन्ध में अनन्त प्रदेश होते हैं। किसी स्कन्ध की स्थिति एक समय की होती है और किसी की असंख्यातकाल पर्यन्त भी होती है। दो प्रदेश, तीन प्रदेश आदि से लेकर अनन्त प्रदेश तक का स्कन्धबद्ध विभाग देश कहलाता है[१९] तथा अविभाज्य एवं परमाणु प्रमाण विभाग अर्थात् एक परमाणु जितना स्थान घेरता है वह प्रदेश है।[२०]

प्रदेश और परमाणु में इतना ही अन्तर है कि प्रदेश स्कन्ध का अंश है जो स्वतन्त्र सत्तावान

नहीं है जबकि परमाणु स्कन्ध से भिन्न एक स्वतंत्र इकाई वाला द्रव्य है। प्रदेश ही सभी द्रव्यों का मापक है। परमाणु किसी का कार्य नहीं, अपितु कारणभूत है।[२१] अर्थात् परमाणु द्रव्यतः नित्य है क्योंकि यह अविनाशी है और पर्यायतः अनित्य है क्योंकि विस्रसा गुण गलन, विध्वंसन आदि के प्रभाव से वर्णादि का नाश होता है एवं नये वर्णादि की उत्पत्ति होती है। अतः परमाणु नित्यानित्य है।[२२]

भगवती सूत्र में भगवान् महावीर स्वामी भी स्पष्ट करते हैं- "परमाणुपोग्गले णं भंते! किं सासए असासए? गोयमा! सिय सासए सिय असासए। से केणट्ठेणं भंते! एवं वुच्चइ सिय सासए, सिय असासए?गोयमा! दव्वट्ठयाए सासए वण्णपज्जवेहिं जाव फासपज्जवेहिं असासए। से तेणट्ठेणं जाव सिय सासए सिय असासए।।"[२३] अर्थात् परमाणु शाश्वत भी हैं और अशाश्वत भी। द्रव्यापेक्षा वे शाश्वत हैं और पर्याय अपेक्षा से अशाश्वत।

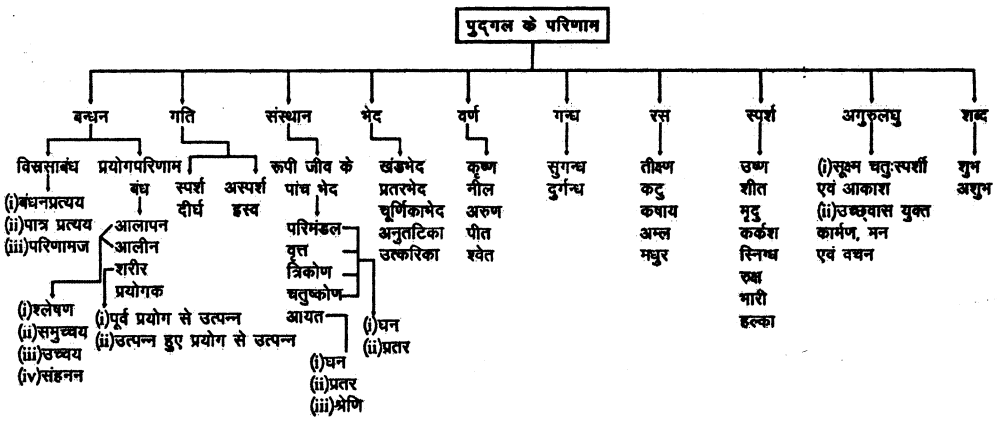

लोकप्रकाशकार ने बन्धन, गति, संस्थान, भेद, वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श, अगुरुलघु एवं शब्द इन दस पुद्गल परिणामों का भी विस्तृत निरूपण किया है। पुद्गल का प्रथम परिणाम 'बन्धन' दो प्रकार से होता है[२४]- १. विस्रसाबन्ध और २. प्रयोगबन्ध। जब किसी पुद्गल परमाणु का स्नेह गुण के कारण स्वाभाविक मेल होता है अर्थात् बन्ध होता है वह विस्रसाबन्ध तथा किसी चेतन के द्वारा पुद्गलों का मेल करवाने पर वह प्रयोगबन्ध कहलाता है। इन दोनों के क्रमशः तीन[२५]-बन्धनप्रत्यय, पात्र प्रत्यय, परिणामज प्रत्यय तथा चार[२६]- आलापन, आलीन, शरीर एवं प्रयोगक उत्तरभेद होते हैं।

द्वितीय परिणाम 'गति' दो प्रकार से होती है- १. स्पर्श करती हुई एवं स्पर्श नहीं करती हुई अथवा २. दीर्घगति और ह्रस्व गति।[२७] गति परिणाम के बल से पुद्गल लोक के एक सिरे से दूसरे सिरे तक एक ही समय में जा सकता है। पुद्गल गति करते समय बीच-बीच में अन्य वस्तुओं का स्पर्श करता है तब गति स्पर्शगति कहलाती है और जब वस्तु का स्पर्श नहीं होता है तो वह गति अस्पर्शगति होती है। दूर देशान्तर पहुँचने में पुद्गल की दीर्घगति होती है और दूर न होने पर

ह्रस्वगति होती है।

तृतीय परिणाम 'संस्थान' से तात्पर्य है आकार। पुद्गल का आकार पाँच प्रकार का होता है- १. परिमण्डल २. वृत्त ३. त्रिकोण ४. चतुष्कोण और ५. आयत।[२८] मंडलाकार परमाणुओं के समूह का वलय मध्य में से रिक्त होने पर पुद्गल का यह संस्थान '**परिमण्डल**' संस्थान है, कुलाल चक्र के समान मंडलाकार परमाणु समूह का वलय मध्य में से भरा हो तब यह पुद्गलसमूह '**वृत्त**' संस्थान कहलाता है। सिंघाड़े के समान त्रिकोण आकार में भरे पुद्गलों का समूह **त्रिकोणसंस्थान** कहा जाता है। कुंभिका समान चतुर्कोणाकार में भरे पुद्गलों का समूह **चतुष्कोणसंस्थान** कहलाता है। दण्डवत् आयताकार में व्याप्त पुद्गल समूह **आयतसंस्थान** कहलाता है। प्रथम चार संस्थान के घन और प्रतर दो-दो भेद हैं और पंचम आयत संस्थान के श्रेणि, घन एवं प्रतर तीन भेद होते हैं।[२९]

चतुर्थ पुद्गल परिणाम 'भेद' पाँच प्रकार का है- १. खंड भेद २. प्रतरभेद ३. चूर्णिका भेद ४. अनुतटिका भेद और ५. उत्करिका भेद।[३०] लोहे के टुकड़े के समान पुद्गलों का भेद 'खंडभेद', भोजपत्र और अभ्रक पत्र के समान पुद्गल भेद 'प्रतरभेद', फेंके हुए मृत्तिका पिण्ड के समान पुद्गल भेद 'चूर्णिका भेद', इक्षु की त्वचा-छाल आदि के समान पुद्गल का भेद 'अनुतटिका भेद' तथा पपड़ी उखाड़ने के समान पुद्गल समूह का भेद 'उत्करिका भेद' कहलाता है।[३१]

पुद्गल परिणाम के पाँच वर्ण इस प्रकार हैं[३२]-

१. काजल के समान कृष्ण।
२. नील के समान नीला
३. हिंगुल के समान अरुण (लाल)
४. सुवर्ण के समान पीत
५. शंख के समान श्वेत।

पुद्गलों का पुष्प आदि के समान सुगन्धित एवं लहसुन आदि के समान दुर्गन्धित दो प्रकार का गन्ध परिणाम होता है।[३३]

पुद्गलों का रस परिणाम तीक्ष्ण, कटु, काषाय, अम्ल और मधु पाँच प्रकार का होता है।[३४]

पुद्गल का स्पर्श परिणाम आठ प्रकार का है- उष्ण, शीत, मृदु, कर्कश, स्निग्ध, रुक्ष, गुरु और लघु। पुद्गल का अग्नि के समान उष्ण स्पर्श परिणाम, हिमवत् शीत स्पर्श परिणाम, पिच्छ समान मृदु स्पर्श परिणाम, पाषाणवत् कर्कश (कठोर) स्पर्शपरिणाम, घृतादिवत् स्निग्ध स्पर्शपरिणाम, राख आदि के समान रुक्ष स्पर्श परिणाम, वज्रादिवत् गुरु स्पर्श परिणाम तथा आक वृक्ष की रुई के

समान लघु स्पर्श परिणाम होता है।[३५]

पुद्गल के नवें परिणाम अगुरुलघु से तात्पर्य है गुरु और लघु भार से रहित होना। सूक्ष्म चतुःस्पर्शी (शीतस्पर्श, उष्णस्पर्श, स्निग्धस्पर्श एवं रुक्षस्पर्श) पुद्गल और आकाश, धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय एवं काल ये अमूर्त्त द्रव्य अगुरुलघु हैं। उच्छ्वास युक्त मन, वचन और कार्मण भी अगुरुलघु होते हैं। बादर अष्टस्पर्शी (आठ ही शीतादि स्पर्श मुख्ययुक्त), वैक्रिय, औदारिक, आहारक और तैजस ये सभी गुरुलघु होते हैं।[३६]

पुद्गल का दसवां शब्द परिणाम शुभ और अशुभ दो प्रकार का होता है।[३७]

(5) जीवद्रव्य- चेतना लक्षण वाला जीव द्रव्य द्रव्यपरत्व से अनन्त द्रव्य स्वरूप है, क्षेत्र परत्व से असंख्यात लोकप्रमाण है, कालपरत्व से शाश्वत है, भाव परत्व से वर्ण, गन्ध, रस एवं स्पर्श रहित है और गुणपरत्व से ज्ञान दर्शन स्वरूप उपयोग गुण वाला है। विनयविजय कहते हैं-

मतिश्रुतावधिमनःपर्यायकेवलान्यपि।
मत्यज्ञानं श्रुताज्ञानं विभंगज्ञानमित्यपि।
अचक्षुश्चक्षुरवधिकेवलदर्शनानि च।
द्वादशामी उपयोगा विशेषाज्जीवलक्षणम्।।[३८]

मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्यवज्ञान, केवलज्ञान, मतिअज्ञान, श्रुतअज्ञान, विभंगज्ञान, चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन, अवधिदर्शन और केवलदर्शन ये बारह प्रकार के उपयोग जीव के लक्षण हैं।

लोक का कोई भी जीव उपयोग रहित नहीं हैं। यदि वह उपयोग रहित है तब वह जीव नहीं, अजीव माना जाता है। निगोद के जीव में भी अक्षर के अनन्तवें भाग जितना उपयोग रहता है।[३९] ज्ञान-दर्शन रूप उपयोग कर्म-पुद्गल के आवरण से जीवों में कुछ अंशों में आवरित हो जाता है। निगोद जीव में उपयोग अत्यन्त अल्प और शेष एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय एवं पंचेन्द्रिय जीवों में क्रमानुसार उसकी वृद्धि होती जाती है। ज्ञानावरणादि कर्म पुद्गल के क्षयोपशम से जीव का विकास होता है। आठों कर्मों का पूर्ण क्षय होने पर जीव 'सिद्ध' कहलाता है।

सिद्ध जीव द्रव्यप्राण से युक्त न होकर ज्ञान आदि भाव-प्राण से युक्त होता है। अलोक में गति नहीं होने से सिद्धजीव लोक के अग्र भाग में स्थित होकर रहते हैं। आठ कर्मों से मुक्त हुए सिद्ध जीव- अनन्त केवलज्ञान, अनन्त केवलदर्शन, अनन्त चारित्र, अनन्त सुख, क्षायिक सम्यक्त्व, अनन्त अवगाहना, अक्षय स्थिति और अनन्त वीर्य इन आठ अनन्त गुणों से युक्त होते हैं।[४०]

जितने क्षेत्र में एक सिद्ध जीव रहता है उतने ही क्षेत्र में अनन्त सिद्ध जीव भी बिना बाधा के

आसानी से रहते हैं।[४१] लोक के अग्रभाग अर्थात् सिद्ध क्षेत्र में जाने वाले जीवों की ऊर्ध्वगति होती है और इस गति को प्राप्त करने वाले जीव के प्राण सर्व अंगों में से निकलते हैं।[४२] सिद्ध क्षेत्र की ओर जाने वाले जीव मार्ग में आने वाले प्रदेशों को स्पर्श किए बिना अस्पृशद्गति से गमन करते हैं।[४३] एक समय में ऊर्ध्वलोक में से उत्कृष्ट चार और तिर्यक् लोक में से एक सौ आठ सिद्ध होते हैं। अधोलोक के लिए तीन भिन्न-भिन्न मत मिलते हैं। उत्तराध्ययन सूत्र के अनुसार बीस, संग्रहणी के अनुसार बाईस तथा सिद्ध प्राभृत में चालीस की संख्या में जीव अधोलोक से सिद्धगति में जाते हैं।[४४] उत्सर्पिणी काल के तीसरे और अवसर्पिणी काल के चौथे आरे में उत्कृष्ट एक सौ आठ जीव सिद्ध होते हैं। उत्सर्पिणी के ही पाँचवें आरे में बीस जीव सिद्ध होते हैं। अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी काल के शेष सभी आरों में दस जीव सिद्ध होते हैं।[४५]

सिद्ध गति प्राप्त करने वाले जीवों में कुछ विशेषताएँ होती हैं, वे इस प्रकार हैं-

१. वज्रऋषभनाराच नामक प्रथम संहनन वाला जीव ही सिद्ध गति प्राप्त करता है।[४६]
२. देवगति से सिद्धगति को जाने वाला जीव समचतुरस्र संस्थान वाला होता है और अन्य गति से जाने वाला जीव छहों संस्थानों में से किसी भी संस्थान वाला हो सकता है।[४७]
३. उत्कृष्ट कोटि पूर्व आयुष्य वाला तथा जघन्य नौ वर्ष के आयुष्य वाला जीव सिद्ध होता है।[४८]

सिद्ध जीवों की उत्कृष्ट अवगाहना ३३३ १/३ धनुष प्रमाण होती है तथा जघन्य अवगाहना एक हाथ और आठ अंगुल प्रमाण होती है। सिद्ध की अवगाहना सम्बन्धी सामान्य कथन यह किया जाता है कि अन्तिम मनुष्य जन्म में जीव की जो अवगाहना होती है उसका दो तृतीयांश भाग सिद्ध जीव में होता है।[४९]

(6) कालद्रव्य– कालद्रव्य द्रव्य से एक द्रव्य, क्षेत्र से लोकप्रमाण, काल से शाश्वत, भाव से वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श रहित और गुण से वर्तन गुण वाला है। असंख्यात प्रदेशात्मक लोक में काल द्रव्य के कालाणु व्याप्त हैं, परन्तु बहुकायत्व न होने से काल-द्रव्य की अस्तिकाय के रूप में गणना नहीं होती है। कालद्रव्य की विशिष्ट चर्चा 'काललोक' नामक अध्याय में की गई है।

काल को जैनदर्शन में अनस्तिकायात्मक माना गया है, क्योंकि लोक में व्याप्त कालाणु परस्पर स्निग्ध एवं रुक्ष गुणों के अभाव में पृथक् ही बने रहते हैं। वे वर्तन गुण से युक्त होते हैं। जीव में उपयोग लक्षण तथा उपयोग का ज्ञान एवं दर्शन के रूप में निरूपण जैनदर्शन का वैशिष्ट्य है। मतिज्ञान, श्रुतज्ञान आदि ज्ञान के भेदों, इसी प्रकार चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन, अवधिदर्शन आदि दर्शन भेदों के निरूपण भी जैनदर्शन में ही प्राप्त होते हैं।

जैन दर्शन की धर्म एवं अधर्म नामक अभौतिक और अचेतन द्रव्यों की मान्यता दार्शनिक जगत् में महत्त्वपूर्ण स्थान रखती है। जैनाचार्यों ने विश्वव्यवस्था का सुचारु संचालन करने के लिए इन द्रव्यों को आधारभूत स्वीकार किया है, इसे सिद्ध करने में आधुनिक विज्ञान को अभी प्रयत्न करना शेष है। आकाश का भी जो स्वरूप जैनदर्शन में प्रतिपादित है वह महत्त्वपूर्ण है, वैशेषिक आदि दर्शनों की भाँति जैनदर्शन 'शब्दगुणकमाकाशम्' को नहीं मानता। जैनदर्शन के अनुसार शब्द तो स्वयं पुद्गल द्रव्य है वह आकाश का गुण नहीं है।

जैन दार्शनिक अवगाहन लक्षण को आकाश का लक्षण प्रतिपादित करते हैं जो सबके लिए व्यावहारिक एवं बुद्धिगम्य है। उपाध्याय विनयविजय ने पुद्गल का ग्रहण-लक्षण देकर उसके वास्तविक स्वरूप को उद्घाटित किया है। पुद्गल ही एक ऐसा द्रव्य है जो इन्द्रियों द्वारा ग्राह्य होता है, हाँ वह कभी परमाणु आदि की तरह सूक्ष्म होने पर इन्द्रिय ग्राह्य नहीं होता, किन्तु पुद्गल ही ऐसा द्रव्य है जो इन्द्रिय ग्राह्य बनता है इसलिए उसका ग्रहण लक्षण युक्तिसंगत है। पूरण गलन लक्षण भी पुद्गल को व्याख्यायित करता है, क्योंकि वही एकमात्र ऐसा द्रव्य है जो पूरित एवं विगलित होता है।

प्रथम द्वार : जीवों का भेद विचार

प्रस्तुत अध्याय में द्रव्यलोक में जीव द्रव्य का विशेष विवेचन अभीष्ट है। उपाध्याय विनयविजय ने लोकप्रकाश ग्रन्थ में ३७ द्वारों से जीव के विविध पक्षों का निरूपण किया है। यहाँ पर उन द्वारों में से १-१० द्वारों के आधार पर शोध प्रबन्ध के द्वितीय अध्याय में तथा शेष द्वारों को आधार बनाकर तृतीय से पंचम अध्याय में विवेचन किया जाएगा।

उपाध्याय विनयविजय ने जीवों का विश्लेषणात्मक स्वरूप प्रतिपादित किया है। जिसे वे सैंतीस द्वारों में विभक्त करते हैं वे क्रमशः इस प्रकार हैं- १. भेद २. स्थान ३. पर्याप्ति ४. योनि संख्या ५. कुल संख्या ६. योनियों का संवृतत्व ७. भवस्थिति ८. कायस्थिति ९. देह १०. संस्थान ११. अंगमान १२. समुद्घात १३. गति १४. आगति १५. अनन्तराप्ति १६. समयसिद्धि १७. लेश्या १८. दिगाहार १९. संहनन २०. कषाय २१. संज्ञा २२. इन्द्रिय २३. संज्ञित २४. वेद २५. दृष्टि २६. ज्ञान २७. दर्शन २८. उपयोग २९. आहार ३०. गुण ३१. योग ३२. मान ३३. लघु अल्पबहुत्व ३४. दिगाश्रित अल्पबहुत्व ३५. अन्तर ३६. भवसंवेध ३७. महाअल्पबहुत्व।

कोई जीव स्वजातीय जीवों से कैसे समान है और विजातीय जीवों से कैसे भिन्न है, इसका विश्लेषण 'भेदद्वार' में किया गया है। सर्वप्रथम जीवों का वर्गीकरण संसारी और मुक्त रूप से किया गया है।[५०] तदनन्तर भिन्न-भिन्न अपेक्षाओं से संसारी जीवों के अनेक वर्गों का कथन प्राप्त होता है। लोकप्रकाशकार ने भी संसारी जीवों के दो, तीन, चार से लेकर बाईस भेदों का उल्लेख किया है।[५१]

वह इस प्रकार है-

संसारी जीवों के भेद

दो भेद	त्रस					स्थावर
वेद की अपेक्षा तीन भेद	स्त्रीवेद	पुरुषवेद				नपुंसकवेद
गति की अपेक्षा चार भेद	देवगति	मनुष्यगति		तिर्यंचगति		नरक गति
इन्द्रिय की अपेक्षा पाँच भेद	एकेन्द्रिय	द्वीन्द्रिय		त्रीन्द्रिय	चतुरिन्द्रिय	पंचेन्द्रिय
काया की अपेक्षा छह भेद	पृथ्वीकाय	अप्काय	तेजस्काय	वायुकाय	वनस्पतिकाय	त्रसकाय
सूक्ष्म-बादर की अपेक्षा सात भेद	सूक्ष्म एकेन्द्रिय	बादर एकेन्द्रिय	द्वीन्द्रिय	त्रीन्द्रिय	चतुरिन्द्रिय	संज्ञी पंचेन्द्रिय	असंज्ञी पंचेन्द्रिय
पर्याप्त-अपर्याप्त की अपेक्षा आठ भेद	सूक्ष्म पर्याप्त एकेन्द्रिय	सूक्ष्म अपर्याप्त एकेन्द्रिय	बादर पर्याप्त एकेन्द्रिय	बादर अपर्याप्त एकेन्द्रिय	द्वीन्द्रिय	त्रीन्द्रिय	चतुरिन्द्रिय	पंचेन्द्रिय
नव भेद 1. त्रसप्रभेद एवं 2. अन्य अपेक्षा	स्थावर	अंडज	रसज	जरायु	प्रस्वेद	सम्मूर्च्छिमज	पोतज	उद्भेद	औपपातिक
	पाँच स्थावर				एक पंचेन्द्रिय		तीन विकलेन्द्रिय		
दस भेद	तीन विकलेन्द्रिय	पृथ्वीकायादि पाँच एकेन्द्रिय			संज्ञी पंचेन्द्रिय			असंज्ञी पंचेन्द्रिय	
ग्यारह भेद	पाँच स्थावर		तीन विकलेन्द्रिय		पुरुष, स्त्री तथा नपुंसक तीन पंचेन्द्रिय				
बारह भेद	पृथ्वीकायादि छह पर्याप्त				पृथ्वीकायादि छह अपर्याप्त				
तेरह भेद	पाँच स्थावर पर्याप्त		पाँच स्थावर अपर्याप्त		पुरुष, स्त्री और नपुंसक तीन त्रस				

<table>
<tr><td>चौदह भेद</td><td colspan="3">सात भेदों वाले पर्याप्त जीव</td><td colspan="4">सात भेदों वाले अपर्याप्त जीव</td></tr>
<tr><td>पन्द्रह भेद</td><td>तीन वेद के पंचेन्द्रिय मनुष्य</td><td>तीन वेद वाले तिर्यंच पंचेन्द्रिय</td><td>पुरुष- स्त्री दो वेद वाले देव</td><td>नपुंसक वेदी नारकी</td><td>पर्याप्त बादर एकेन्द्रिय</td><td>अपर्याप्त बादर एकेन्द्रिय</td><td>सूक्ष्म एकेन्द्रिय</td><td>तीन विकलेन्द्रिय</td></tr>
<tr><td>सोलह भेद</td><td colspan="4">एकेन्द्रिय से पंचेन्द्रिय तक वाले पाँच तिर्यंच, मनुष्य, देव तथा नारकी इन आठ के पर्याप्त</td><td colspan="4">इन आठ ही प्रकार के जीवों के अपर्याप्त</td></tr>
<tr><td>सतरह भेद</td><td colspan="2">पृथ्वीकायादि पाँच एकेन्द्रिय</td><td colspan="4">पन्द्रह भेदों में निरूपित नौ प्रकार के पंचेन्द्रिय</td><td>तीन विकलेन्द्रिय</td></tr>
<tr><td>अठारह भेद</td><td colspan="3">नौ प्रकार के पर्याप्त जीव</td><td colspan="4">नौ प्रकार के अपर्याप्त जीव</td></tr>
<tr><td>उन्नीस भेद</td><td colspan="2">नौ प्रकार के पंचेन्द्रिय</td><td colspan="3">बादर एकेन्द्रिय, सूक्ष्म एकेन्द्रिय, तीन विकलेन्द्रिय कुल पाँच पर्याप्त जीव</td><td colspan="3">कुल पाँच अपर्याप्त</td></tr>
<tr><td>बीस भेद</td><td colspan="4">दस भेद वाले पर्याप्त जीव</td><td colspan="4">दस भेद वाले अपर्याप्त जीव</td></tr>
<tr><td>इक्कीस भेद</td><td>पाँच सूक्ष्म स्थावर</td><td colspan="2">पाँच बादर स्थावर</td><td colspan="2">पाँच पर्याप्त स्थावर</td><td colspan="2">पाँच अपर्याप्त स्थावर</td><td>त्रस</td></tr>
<tr><td>बाईस भेद</td><td colspan="4">ग्यारह भेदों वाले पर्याप्त जीव</td><td colspan="4">ग्यारह भेदों वाले अपर्याप्त जीव</td></tr>
</table>

एकेन्द्रिय जीवों के भेद

एकेन्द्रिय के अन्तर्गत स्थावर जीवों का परिगणन होता है। स्थावर नामकर्म के उदय से उपजनित विशेष जीव स्थावर कहलाते हैं-

"स्थावरास्तत्र पृथ्व्यम्बुतेजोवायुमहीरूहः"[१२]

पृथ्वीकाय, अप्काय, तेजस्काय, वायुकाय और वनस्पतिकाय ये पाँच स्थावर कहलाते हैं। ये पंच स्थावर सूक्ष्म और बादर से विभाजित किये गये हैं तथा वनस्पति के बादरकाय में साधारण और प्रत्येक दो अवान्तर भेद हैं। इन ग्यारह स्थावर के पर्याप्त और अपर्याप्त भेद से कुल बाईस भेद हैं। जिसे तालिका में निम्न प्रकार देखा जा सकता है-

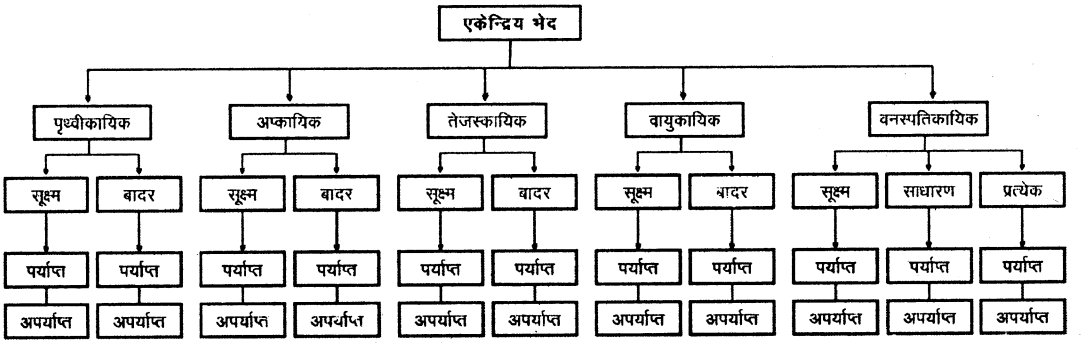

सूक्ष्म एकेन्द्रिय– जो जीव दूसरे जीव एवं वस्तु के द्वारा बाधित न हो और स्वयं भी किसी को बाधा न पहुँचाए वह सूक्ष्म-जीव कहलाते हैं तथा जो जीव दूसरों को बाधित करें और स्वयं भी अन्य से बाधित होवें, वे बादर जीव कहलाते हैं।[५३] सूक्ष्म जीव प्रतिघात मुक्त होकर सम्पूर्ण लोक मे ठसाठस भरे हैं। सूक्ष्म जीवों का पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु से भी घात नहीं होता है।[५४] पूज्यपादाचार्य, भट्ट अकलंक, कुन्दकुन्दाचार्य और कर्मग्रन्थकार सूक्ष्म जीव को इन्द्रिय-अग्राह्य और बादर जीव को इन्द्रिय-ग्राह्य मानते हैं। इन्द्रिय ग्राह्य पदार्थ को स्थूल और इन्द्रिय अग्राह्य को सूक्ष्म कहना व्यवहार है, परमार्थ नहीं। चक्षु से दिखाई न देना और दिखाई देना यह सूक्ष्म और बादर जीवों का स्थूल भेद है। बेर और आंवले में छोटे-बड़े होने से सूक्ष्मता और बादरता स्पष्ट दिखाई देती है वैसी सूक्ष्मता, बादरता इन जीवों में नहीं है, अपितु नामकर्मोदय के निमित्त से ही जीव सूक्ष्म और बादर होते हैं। जो जीव सूक्ष्मनामकर्म के योग से शरीर धारण करते हैं वे सूक्ष्मपृथ्वीकायादि एकेन्द्रिय जीव तथा जो जीव बादरनामकर्म के योग से शरीर धारण करते हैं वे बादर एकेन्द्रिय कहलाते हैं।

जीवनकाल अल्प होने से जिन जीवों का वर्ण, गंध, रसादि पूर्णता को प्राप्त नहीं होता वह अपर्याप्त बादर एकेन्द्रिय तथा जो जीव अपनी पर्याप्तियाँ पूर्ण करता है वह पर्याप्त बादर एकेन्द्रिय कहलाता है। वर्णादि में भिन्नता होने से पर्याप्त बादर एकेन्द्रिय के हजारों भेद होते हैं।

सूक्ष्म पृथ्वीकायिक, अप्कायिक, तेजस्कायिक, वायुकायिक और वनस्पतिकायिक जीव औदारिक शरीरधारी होते हुए भी चक्षुगम्य नहीं होते हैं। स्थावरों में वनस्पतिकायिक जीव साधारण और प्रत्येक दो प्रकार के होते हैं।[५५] प्रत्येक और साधारण शरीर वाले जीवों में साधारण शरीर वाले जीव नियम से वनस्पतिकायिक ही होते हैं और शेष पृथ्वीकाय, अप्काय, तेजस्काय तथा वायुकाय के जीव प्रत्येक शरीरी होते हैं।[५६]

एक जीव के शरीर को प्रत्येक और अनन्त जीवों के सम्मिलित शरीर को साधारण कहते हैं।

अनन्त जीवों का एक ही शरीर में जन्म, मरण, श्वासोच्छ्वास आदि एक साथ समानरूप से होना साधारण का स्वरूप है। प्रत्येक शरीर और उनमें रहने वाले जीवों की संख्या समान होती है, क्योंकि एक-एक शरीर के प्रति एक-एक जीव के ही होने का नियम है। प्रत्येकशरीर बादर अथवा स्थूल ही होता है और साधारणशरीर के बादर और सूक्ष्म दो भेद होते हैं। नित्य उपयोग में आने वाली वनस्पति यथा सन्तरा, आम, केला आदि प्रत्येक शरीरी हैं।

एक ही शरीर में अनन्त जीवों के रहने से साधारण शरीर को 'निगोद' भी कहते हैं और उस शरीर में रहने वाले जीवों को भी 'निगोद' कहते हैं।[५७] गोम्मटसार के टीकाकार निगोद का निरुक्त्यर्थ करते हैं कि 'नि' अर्थात् जिन जीवों का अनन्तपना निश्चित होता है, 'गो' अर्थात् एक ही क्षेत्र और 'द' अर्थात् देता है उसको निगोद कहते हैं। अर्थात् जो अनन्त जीवों को एक निवास स्थान देता है वह 'निगोद' है। निगोद ही जिन जीवों का शरीर होता है वे निगोदशरीरी कहलाते हैं।[५८] साधारण नामक नामकर्म के उदय से जीव निगोदशरीरी होता है। साधारण शरीर के सूक्ष्म और बादर दो भेद होने से निगोद भी सूक्ष्म और बादर दो स्वरूप वाला होता है। जिस प्रकार इस सम्पूर्ण लोक में पुद्गल रहित कोई प्रदेश नहीं है उसी प्रकार सूक्ष्म निगोद से भी रहित लोक का कोई स्थान नहीं है। अर्थात् यह लोक सूक्ष्म निगोदों से ठसाठस भरा हुआ है।[५९] सूक्ष्म होने से यह हमारे ज्ञान के विषय नहीं बनते हैं। आलू, अदरक, हल्दी, शकरकन्द, मूली आदि बादर निगोद के प्रकार हैं। बादर निगोद अथवा साधारण वनस्पतिकाय का वर्णन बादरवनस्पतिकाय के अन्तर्गत किया गया है।

बादर एकेन्द्रिय

1. बादर पृथ्वीकायिक– पृथ्वीनामकर्म के उदय से पृथ्वी स्वभाव वाले परिणमित पुद्गल 'पृथ्वी' कहलाते हैं। काय का अर्थ है- शरीर। अतः पृथ्वीकायनामकर्म के उदय से जो जीव पृथ्वी को शरीर रूप में धारण करते हैं वे 'पृथ्वीकायिक' कहलाते हैं।

बादरा पथिवी द्वेधामदुरेका खरापरा।
भेदाः' सप्त मृदोस्तत्र वर्णभेदविशेषजा।।[६०]

अर्थात् बादर पृथ्वी दो प्रकार की होती है- कोमल और कठोर। प्रज्ञापनासूत्र में जिसे श्लक्ष्ण (मृदु) और खर के नाम से निरूपित किया है।[६१] श्लक्ष्ण बादर पृथ्वी सात प्रकार की होती है। कोमल या श्लक्ष्ण पृथ्वी वर्ण भिन्नता से सात भेदों वाली है- काली, हरी, पीली, लाल, सफेद, पाण्डु और पनकमृत्तिका। किसी देश में पाण्डु रंग के कारण 'पाण्डु' नाम से प्रसिद्ध पृथ्वी और नदी आदि की बाढ़ से अत्यन्त नमी वाले प्रदेश की मिट्टी 'पनकमृत्तिका' कहलाती है।[६२]

खर अर्थात् कठोर पृथ्वी के ४० भेद होते हैं। १८ भेद मणि के और २२ भेद अन्य हैं। मणि

के १८ भेद इस तरह हैं- १. गोमेध २. कांक ३. स्फटिक ४. लोहिताक्ष ५. नीलम ६. मसारगल्ल ७. भुजमोचक ८. इन्द्रनील ९. चन्दन १०. गेरू ११. हंसगर्भ १२. सौगन्धिक १३. पुलक १४. चन्द्रप्रभ १५. वैडूर्य १६. जलकान्त १७. रुचक १८. सूर्यकान्तमणि।

अन्य- १. नदी किनारे दीवार की मिट्टी २. मिट्टी की रेत ३. सूक्ष्म कणी रूप सिकता ४. छोटे-छोटे पत्थर समूह-उपल ५. बड़ी शिला ६. सारी जमीन ७. समुद्र का नमक ८. सुवर्ण ९. चान्दी १०. तांबा ११. लोहा १२. जस्ता १३. सीसा १४. वज्र १५. हरताल १६. हिंगुल १७. मनःशील १८. प्रवाल १९. पारद २०.सौवीर अंजन २१. अभ्रक का पड समुदाय २२. अभ्रक मिश्रित रेती।

इसी प्रकार के अन्य जो भी पद्मरागादि रत्न है वे सब इस अन्य वर्ग के अन्तर्गत ही आते हैं।

2. बादर अप्काय– अप्नामकर्म के उदय से जल रूप बादर शरीर को धारण करने वाले जीव अप्काय एकेन्द्रिय कहलाते हैं। बादर अप्काय जीव पर्याप्तक और अपर्याप्तक रूप से दो प्रकार के होते हैं। पर्याप्त बादर अप्कायिक के वर्ण, गंध, रस और स्पर्श की अपेक्षा से हजारों भेद होते हैं। आचारांग सूत्र के निर्युक्तिकार[६३] ने बादर अप्काय के ५ ही भेदों का कथन किया है तथा उत्तराध्ययनसूत्र[६४] में भी पाँच ही भेद गिनाए हैं जबकि उपाध्याय विनयविजय[६५] ने यहाँ अनेक भेद किये हैं- १. स्वाभाविक शुद्ध २. स्वाभाविक शीतल ३. स्वाभाविक उष्ण ४. स्वाभाविक खारा, ५. थोड़ा खारा ६. अति खारा ७. खट्टा ८. थोड़ा खट्टा ९. अत्यन्त खट्टा १०. हिम का पानी ११. बर्फ १२. ओले १३. कुहरे का पानी १४. अंतरिक्ष से गिरता पानी १५. पृथ्वी का भेदन कर तृण के अग्रभाग पर रहा हरत नाम का जल १६. घृतवर १७. मदिरा में रहा इक्षुवर १८. वारुणीवर १९. क्षीरवर २०. घनोदधि।

3. बादर तेजस्काय– तेजस्कायनामकर्म के उदय से तेजस् रूप बादर शरीर को धारण करने वाले जीव तेजस्कायिक एकेन्द्रिय कहलाते हैं। बादर तेजस्कायिक जीव के १३ भेद इस प्रकार हैं[६६]- १. शुद्ध अग्नि २. वज्राग्नि ३. ज्वालाग्नि ४. स्फुल्लिंग ५. अंगार ६. विद्युत ७. अलात की आग ८. उल्का ९. तणखा १०. निर्घात अग्नि ११. कणिआ अग्नि १२. काष्ठ घर्षण से उत्पन्न आग १३. सूर्यकान्ति मणि आदि से उत्पन्न अग्नि।

इसी तरह अन्य उपाय से उत्पन्न हुई ऐसी अग्नि भी इसी के अन्तर्गत आती है। वर्णादि के भेद से पर्याप्त बादर तेजस्काय के हजारों भेद होते हैं।

4. बादर वायुकाय– वायुकायनामकर्म के उदय से वायु रूप बादर शरीर को धारण करने वाले

जीव वायुकाय एकेन्द्रिय कहलाते हैं। बादर वायुकाय के विविध प्रकार हैं[६७]- १. पूर्वी वायु २. उत्तरी वायु ३. पश्चिमी वायु ४. दक्षिणी वायु ५. विदिशा वायु ६. ऊर्ध्व वायु ७. अधो वायु ८. उद्भ्राम वायु ९. उत्कलिक वायु १०. गूंज वायु ११. झंझा वायु १२. संवर्त वायु १३. मंडलिक वायु १४. घन वायु १५. तनु वायु।

अन्य जितनी भी इस प्रकार की हवाएँ हैं, उन्हें भी बादर वायुकाय कहा जाता है। पर्याप्त बादर वायुकायिक के वर्ण, गंध, रस, स्पर्श की अपेक्षा से हजारों भेद होते हैं।

उद्भ्राम वायु- अनवस्थित रूप से चलने वाली वायु।

उत्कलिक वायु- समुद्र की तरंग के समान चलने वाली वायु।

गुंजावात वायु- आवाज करती हुई गूंजती वायु।

झंझावायु- मेघ की वृष्टि सहित या अत्यन्त कठोर वायु।

संवर्तक वायु- तृण आदि को घुमाकर उखाड़ने वाली वायु।

मंडलिक वायु- गोलाकार घूमती वायु।

घन वायु- घन परिणामी और पृथ्वी आदि का आधारभूत वायु।

तनु वायु- घनवायु से नीचे रहने वाली विरल परिणामी वायु।

शुद्ध वायु- मंद मंद चलने वाली सुखकारी और शीतल वायु।

5. बादर वनस्पतिकाय– वनस्पति ही जिसका शरीर है वह वनस्पतिकायिक कहलाता है। वनस्पतिकाय स्वरूपतः सूक्ष्म और बादर होती है। सूक्ष्म वनस्पतिकायिक और बादर वनस्पतिकायिक जीव के पर्याप्त और अपर्याप्त दो भेद होते हैं। बादर वनस्पतिकायिक जीव प्रत्येकशरीरी और साधारण शरीरी दो प्रकार के होते हैं। प्रत्येक शरीर बादरवनस्पति के वृक्ष, गुच्छ आदि १२ भेद तथा साधारण बादर वनस्पति के अन्तर्गत अनेक भेद हैं।

बीज से सर्वप्रथम अंकुर फूटता है। तब वह सर्वसाधारण होता है और फिर योगानुसार वृद्धि होती है और वह प्रत्येक या साधारण बनता है। जब कोई 'प्रत्येकनामकर्म' वाला जीव मूल, कंद, स्कन्ध, त्वचा, पर्व, प्रवाल, पत्र, पुष्प, फल और बीज इन दस स्थानों में से किसी भी स्थान में उत्पन्न होता है तो वह 'प्रत्येक-शरीरबादर-वनस्पतिकाय' कहलाता है।[६८] 'जीव विचार' में प्रत्येक शरीर वनस्पतिकाय का लक्षण किया है कि- जिसके एक शरीर में एक जीव होता है वह प्रत्येक वनस्पतिकायिक कहलाता है। जैसे कि फल, फूल, त्वचा-छाल, काष्ठ, मूल, पत्ते और बीज[६९] प्रत्येक-शरीर-बादर वनस्पतिकायिक जीव बारह प्रकार के होते हैं-

वृक्षा गुच्छा गुल्मा लताश्च वल्लयश्च पर्वकाश्चैव।

तृणवलयहरीतकौषधिजलरुहकुहणाश्च विज्ञेयाः।।[७०]

अर्थात् वृक्ष, गुच्छ, गुल्म, लता, वल्ली, पर्वक, तृण, वलय, हरीतक, औषधि, जलरुह और कुहण, इन बारह प्रकारों के प्रत्येकशरीरबादर वनस्पतिकायिक जीव होते हैं।

1. *वृक्ष*– जिस जीव के आश्रित मूल, पत्ते, फूल, फल, शाखा, प्रशाखा, स्कन्ध, त्वचा आदि अनेक होते हैं वह वृक्ष कहलाता है। वृक्ष दो प्रकार के होते हैं- एकास्थिक (जिसके फल में एक ही बीज या गुठली हो) और बहुबीजक (जिसके फल में अनेक बीज हों)। अंकोल, जामुन, नीम, आम, अरीठा, अशोक, नाग इत्यादि एकास्थिक वृक्ष हैं और तिंदुक, धावड़ी, बड़, अनार, कदम्ब, कटहल इत्यादि बहुबीजक वृक्ष हैं। ये दोनों प्रकार के वृक्ष तो प्रत्येक शरीरी होते हैं, लेकिन इनके मूल, कन्द, स्कन्ध, त्वचा, शाखा और प्रवाल असंख्यात जीवों वाले तथा पत्ते प्रत्येक जीव वाले और पुष्प अनेक जीवों वाले होते हैं।[७१]

2. *गुच्छ*– इसका अर्थ है- पौधा। इसके उदाहरण हैं- बैंगन, बेरी, नीली, तुलसी, मातुलिंगी, निर्गुण्डी, अलसी, धनिया, कैर, भिंडी आदि।[७२]

3. *गुल्म*– फूलों के पौधे 'गुल्म' कहलाते हैं। जैसे चम्पा, जई, जूही, कुन्द, मोगरा, मल्लिका आदि।[७३]

4. *लता*– जो जीव बेल स्वरूप होते हैं तथा वृक्षों पर चढ़ जाते हैं वे लता कहलाते हैं, जैसे- चम्पकलता, नागलता, अशोकलता आदि।[७४]

5. *वल्ली*– ऐसे बेल स्वरूप जीव जो विशेषतः जमीन पर फैलते हैं वे वल्लियाँ कहलाते हैं, उदाहरणार्थ- कुम्हड़ा (कद्दु की बेल), त्रपुषी (तरबूज की बेल), कर्कटकी (ककड़ी की बेल) आदि।[७५]

6. *पर्वक*– जिन वनस्पतियों में जीव बीच-बीच में पर्व या गांठें स्वरूप हों वे पर्वक वनस्पति कहलाती हैं। यथा- इक्षु, बांस, बेंत, द्रक्कुड़, नड, काश आदि।[७६]

7. *तृण*– दूर्वा, दर्भ, अर्जुन, एरंड, कुरुविंदक, क्षीर, बिस आदि जाति में रहने वाले जीव 'तृण' से अभिहित होते हैं।[७७]

8. *वलय*– वलय के आकार वाले गोल-गोल पत्तों वाले जीव 'वलय वनस्पति' के नाम से कहे जाते हैं। जैसे-सुपारी, खजूर, सरल, नारियल, तमाल, ताल, केला आदि।[७८]

9. *हरितक*– विशेषतः हरी सागभाजी के जीव हरितक कहलाते हैं। यथा- चन्दलिया, बथुआ, पालक, मंडुकी आदि।[७९]

10. *औषधि*– जो वानस्पतिक जीव फल (फसल) के पक जाने पर दानों के रूप में होते हैं वे औषधि वनस्पति कहलाते हैं। इनकी मुख्य २४ जाति है, जिसमें सभी प्रकार के अनाज सम्मिलित हैं- जौ,

जव, गेहूँ, शाल, चावल, साढी चावल, कोद्रव, अणुक, कांग, खिरनी, तिल, मूंग, उडद, अलसी, हरिमंथ, तिऊडग, निष्फाव, सिल, राजमा, उख्खू, मसूर, अरहर, कुलथी, धनिया और चने।[८०]

11. जलरुह– जल में उत्पन्न होने वाले वनस्पति जीव कमल, कुमुद, शैवल, कदम्ब, केशरुक, पनक आदि जलरुह कहलाते हैं।[८१]

12. कुहण– भूमि को तोड़कर निकलने वाले वनस्पति जीव कुहण कहलाते हैं, जैसे कुकुरमुत्ता आदि।[८२]

6. साधारण बादर वनस्पतिकायिक अथवा बादर निगोद जीव– उपाध्याय विनयविजय ने साधारण बादर वनस्पति का लक्षण इस प्रकार प्रतिपादित किया है-

शरीरोच्छ्वासनिःश्वासाहाराः साधारणाः खलु।
येषामनन्तजीवानां ते स्युः साधारणांगिनः।।[८३]

अर्थात् जिस अनन्तकाय जीव के शरीर का उच्छ्वास, निःश्वास और आहार साधारण होता है वह साधारण बादर वनस्पतिकायिक कहलाता है। अर्थात् ये जीव एक साथ उत्पन्न होते हैं, एक साथ शरीर बनाते हैं, प्राणापान के योग्य पुद्गलों को एक साथ ग्रहण कर श्वासोच्छ्वास करते हैं, आहारादि के पुद्गलों को ग्रहण कर आहार करते हैं। एक जीव द्वारा आहारादि पुद्गलों को ग्रहण करने पर सभी जीवों का आहारादि पुद्गल ग्रहण हो जाता है, क्योंकि सभी जीव एक शरीर पर ही आश्रित होते हैं यही साधारण जीवों की साधारणता का लक्षण है।

साधारण बादरवनस्पतिकाय अथवा बादरनिगोद को एक शरीर में अनन्त जीवों के आश्रय से अनन्तकायिकवनस्पति भी कहा जाता है। यह अनन्तकायिक वनस्पति कौन-कौनसी होती है, इस विषय में लोकप्रकाश[८४] और प्रज्ञापना सूत्र[८५] में विश्लेषणात्मक विवेचन प्राप्त होता है-

१. टूटे हुए मूल, कन्द, स्कन्ध, त्वचा, शाखा, प्रवाल, पुष्प, फल, बीज का समभंग प्रदेश अनन्तकायिक होता है।

२. मूल, कन्द, स्कन्ध और शाखा की छाल मूल काष्ठ की अपेक्षा अधिक स्थूल होने से अनन्तकायिक होती है।

३. टूटे हुए मूल, कन्द, स्कन्ध, छाल, शाखा, पत्र और पुष्प (रज से व्याप्त) का पर्व अनन्तकायिक होता है।

४. क्षीर सहित या क्षीर रहित पत्र की शिराएँ और सन्धि सर्वथा दिखाई न देती हो वह अनन्तकायिक होता है।

५. जलज और स्थलज प्रकार के पुष्प वृन्तबद्ध और नालबद्ध होते हैं। इनमें से कुछ संख्यात, कुछ

असंख्यात और कुछ अनन्तकायिक होते हैं।

६. पद्मिनीकन्द, उत्पलिनीकन्द, अन्तरकन्द एवं झिल्लिका नामक वनस्पति अनन्तकायिक होती है।

७. सफ्फाक, सज्जाय, उव्वेहलिया, कूहन और कन्दूका देशभेद से अनन्तजीवात्मक होती है।

८. सभी किसलय अनन्तकायिक होते हैं।

इस प्रकार सर्व जाति के कन्द, सूरणकन्द, वज्रकन्द, हरी हल्दी, हरी अदरक, हरा कच्चुरा, सतावरी, विरली कुआर, थोर, गलो, लहसुन, बांस, करेला, गाजर, लूणी, लोदर, गिरिकर्णी, किसलय पत्र, खीर सुआ, येग, हरा मोथ, लूणी वृक्ष की छाल, खीलाडा, अमर बेल, मूली, भूमिफोडा, विरुआ, टांका का प्रथम पत्र, सूकरवेल-लता, पलाक की भाजी, कोमल इमली, आलू, पिंडालू तथा हरवंती आदि और इन्हीं लक्षणों वाली वनस्पति बादरअनन्तकायिक वनस्पति होती है।[८६]

द्वीन्द्रिय के भेद

स्पर्शन और रसना इन दो इन्द्रियों से युक्त जीव द्वीन्द्रिय कहा जाता है। इसके पर्याप्त और अपर्याप्त दो भेद होते हैं। मृत कलेवर में पैदा होने वाले कृमि, कीट आदि सभी द्वीन्द्रिय सम्मूर्च्छिम और नपुंसक होते हैं। लोकप्रकाशकार ने द्वीन्द्रिय जीवों के प्रकारों का उल्लेख छठे सर्ग में इस प्रकार किया है[८७]- १. कुक्षि और गुदा द्वार में उत्पन्न होने वाले कृमि २. विष्ठा आदि अमेध्य पदार्थों में उत्पन्न होने वाले कीड़े ३. लकड़ी में उत्पन्न होने वाला घुण नामक कीड़ा ४. गंडोला केंचुआ ५. वंशीमुखा मातुवहा ६. जलोपुरा मेहरा ७. जातक ८. नाना प्रकार के शंख ९. शंखला १०. कौड़ी ११. सीप १२. चंदन १३. जौंक।

प्रज्ञापना सूत्र में इनके अलावा भी अन्य भेद बताए हैं- १. गोलोम २. नूपुर ३. सौमंगलक ४.सूचीमुख ५. गौजलोका ६. जलोयुष्क ७. घुल्ला ८. खुल्ला ९. गुडज १०. स्कन्ध ११. सौक्तिक १२. मौक्तिक १३. कलुकावास १४. एकतोवृत १५. द्विधातोवृत्त १६. नन्दिकावर्त १७. शम्बूक १८. समुद्रलिक्षा।[८८]

त्रीन्द्रिय के भेद

त्रीन्द्रिय जीव वे कहलाते हैं जो स्पर्शन, रसना और घ्राण इन तीन इन्द्रियों से युक्त हों। त्रीन्द्रिय जीवों के भी पर्याप्त और अपर्याप्त दो भेद होते हैं। १. अनेक जाति की चीटियाँ २. घृतेलि ३. औपदेहिक (उदई, दीमक) ४. लीख ५. मकोड़ा ६. जूं ७. गद्धइयां ८. खटमल ९. गोकलगाय १०. इयल ११. सावा १२. गुल्मी १३. गोबर का कीड़ा १४. चोर कीड़ा १५. अनाज का कीड़ा १६. पांचों रंग के कंथुआ १७. तृण-काष्ठ तथा फल का आहार करने वाले १८. पत्तों आदि का आहार करने वाले इत्यादि त्रीन्द्रिय जीव होते हैं।[८९]

प्रज्ञापना सूत्र में त्रीन्द्रिय संसारसमापन्नक जीवों की प्रज्ञापना इस प्रकार की है- १. औपयिक २. उत्कलिक ३. उत्पाद ४. उत्कट ५. उत्पट ६. मालुक ७. त्रपुषमिंजिक ८. कार्पासास्थिमिंजिक ९. हिल्लिक १०. झिल्लिक ११. झींगूरा १२. किंगरिट १३. बाहुक १४. लघुक १५. सुभग १६. सौवस्तिक १७. शुकवृन्त १८. इन्द्रिकायिक १९. इन्द्रगोपक २०. कुस्थलवाहक २१. हालाहक २२. पिंशुक २३. शतपादिका २४. गोम्ही (कनखजूरा) २५. हस्तिशौण्ड।[६०]

सभी त्रीन्द्रिय जीव सम्मूर्च्छिम और नपुंसक होते हैं।

चतुरिन्द्रिय के भेद

स्पर्शन, रसना, घ्राण और चक्षु इन चार इन्द्रियों से युक्त जीव चतुरिन्द्रिय कहलाते हैं। इनके पर्याप्त-अपर्याप्त दो भेद हैं। चतुरिन्द्रिय जीवों के भेदों का वर्णन लोकप्रकाश में इस तरह किया गया है- १. बिच्छु २. मकड़ा ३. भौंरे ४. भ्रमर ५. कंसारी ६. मच्छर ७. टिड्डी ८. मक्खी ९. मधुमक्खी १०. पतंगा ११. जील्लका १२. डांस १३. जुगनू १४. ढीकणा १५. लाल-पीले-हरे-काले तथा चितकबरे चित्र वाले कीड़े १६. नन्द्यावर्त १७. खड १८. भाकड़ी।[६१]

प्रज्ञापना में चतुरिन्द्रिय के अन्य भेद इस प्रकार हैं- १. अंधिक २. नेत्रिक ३. कुर्कुट ४. ओहांजलिक ५. जलचारिक ६. गम्भीर ७. नीनिक ८. तन्तव ९. अक्षिरोट १०. अक्षिवेध ११. सारंग १२. नेवल १३. दोला १४. भरिली १५. जरूला १६. तोट्ट १७. पत्रवृश्चिक १८. छाणवृश्चिक १९. जलवृश्चिक २०. प्रियंगाल २१. कनक और २२. गोमयकीट (गोबर का कीड़ा) इसी प्रकार के अन्य प्राणी आदि।[६२]

सभी चतुरिन्द्रिय जीव सम्मूर्च्छिम और नपुंसक होते हैं।

पंचेन्द्रिय के भेद

स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र इन पाँच इन्द्रियों से युक्त जीव पंचेन्द्रिय जीव कहलाते हैं। पंचेन्द्रिय जीव चार प्रकार के हैं[६३]- तिर्यंच, मनुष्य, देव और नारकी।

1. पंचेन्द्रिय तिर्यंच– तिर्यंच पंचेन्द्रिय तीन प्रकार के होते हैं[६४], यथा- जलचर, स्थलचर और खेचर।

जलचर तिर्यंच पंचेन्द्रिय– जल में रहने वाले तिर्यंच पंचेन्द्रिय जीव जलचरतिर्यंचपंचेन्द्रिय कहलाते हैं।

दृष्टा जलचरास्तत्र पंचधा तीर्थपार्थिवैः।
मत्स्याश्च कच्छपा ग्राहा मकरा शिशुमारकाः।।[६५]

मत्स्य, कछुआ, ग्राह, मकर और शिशुमार पाँच प्रकार के जलचर होते हैं। अब प्रस्तुत हैं

इनके उपभेद-

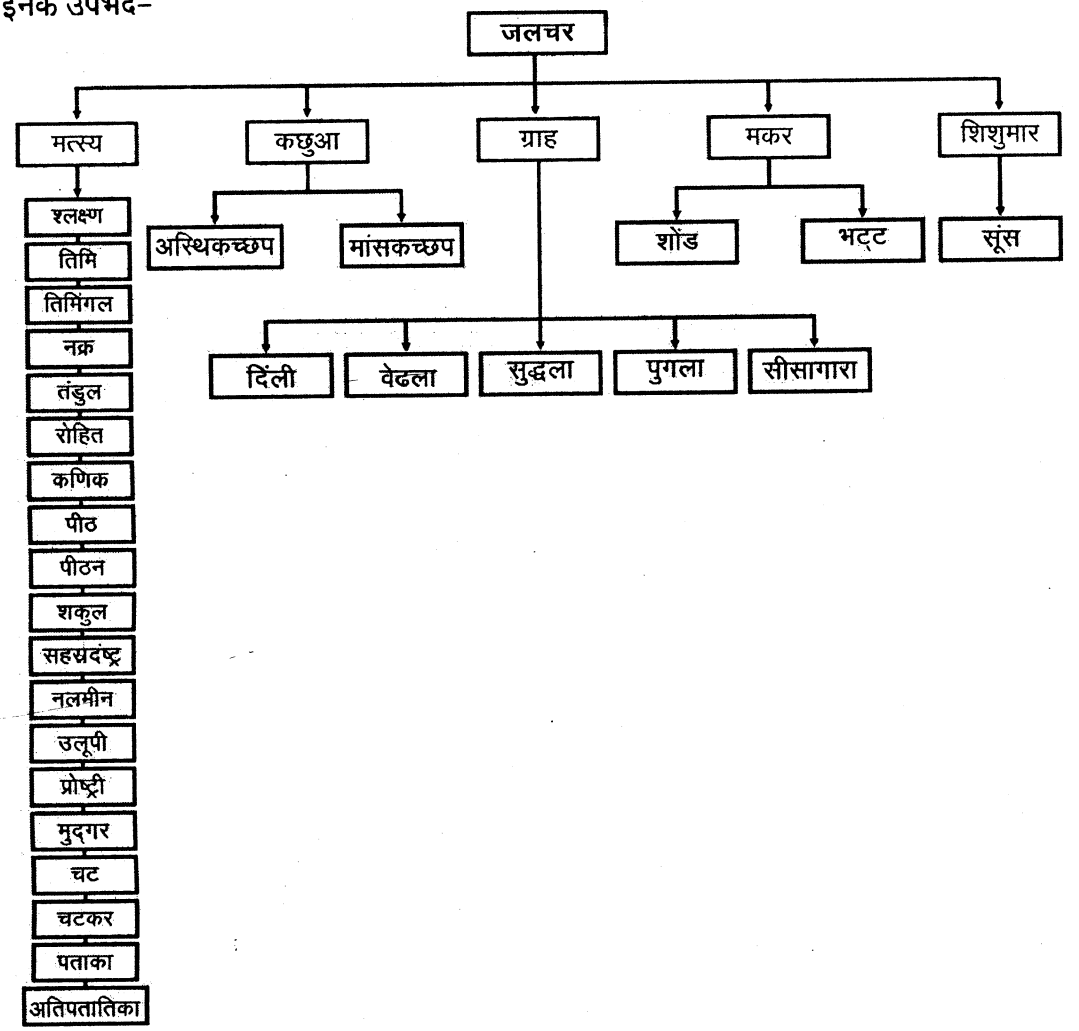

स्थलचर तिर्यंच पंचेन्द्रिय– भूमि पर चलने वाले जीव स्थलचर कहलाते हैं।

(क) चतुष्पदी स्थलचर– चार पैरों से चलने वाले चतुष्पदी स्थलचर तिर्यंच पंचेन्द्रिय चार प्रकार के हैं-

एक खुर वाले- जिसके खुर में विभाग न हो यथा- गधा, अश्व आदि जो जुगाली नहीं करते हैं।

दो खुर वाले- जिसके खुर भिन्न हों अर्थात् बीच में से भेद किए हों, यथा- गाय, ऊँट, भैंस, सुअर, बकरी, मेंढ़ा, रूरू, शरभ, चमर गाय, रोहिष मृग, गोकर्ण आदि जो जुगाली करने वाले प्राणी होते हैं।

गंडीपद- अर्थात् वृक्ष की जड़-मूल के समान जिसके पैर हों, यथा- हाथी, गेंडा, खंडक आदि। गंडी शब्द का यह अर्थ लोकप्रकाशकार और उत्तराध्ययन सूत्र के वृत्तिकार करते हैं, जबकि प्रज्ञापना सूत्र

की वृत्ति में 'सोनी की एरण' यह अर्थ मिलता है।[६६]

नखुरपदी- जिनके पैर श्वान के समान दीर्घ नख वाले होते हैं, उनको नखुर या नहोर कहते हैं। यथा- सिंह, व्याघ्र, गीदड़, तरक्ष, भालू, सियार, चीता, श्वान आदि।

(ख) परिसर्पक स्थलचर– परिसर्पक स्थलचर तिर्यंचपंचेन्द्रिय जीव दो प्रकार के होते हैं- १. भुज परिसर्प और २. उरपरिसर्प।[६७]

भुज परिसर्प- भुजाओं के बल पर चलने वाले पंचेन्द्रिय तिर्यंच भुजपरिसर्प कहलाते हैं, यथा-नेवला आदि।

उर परिसर्प- जिन जीवों की उत्पत्ति जमीन पर होती है, परन्तु जो स्थल और जल दोनों में उर (छाती) के बल पर विचरण करते हैं वे उर परिसर्प जीव हैं। यथा- घड़ियाल, मगर आदि।

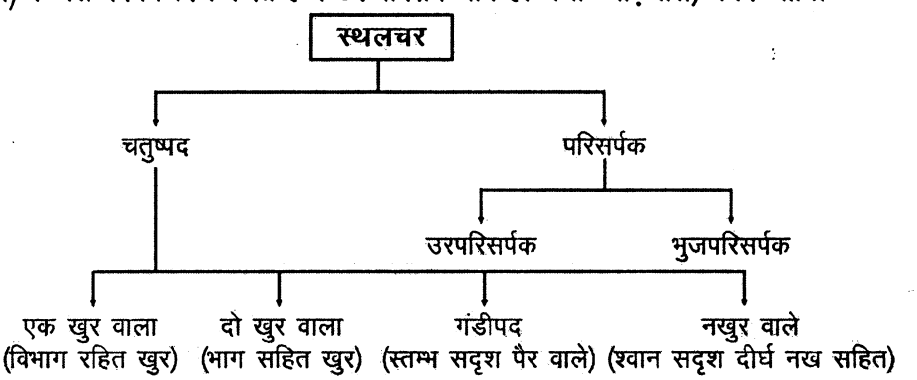

खेचर तिर्यंच पंचेन्द्रिय– ख अर्थात् आकाश। आकाश में उड़ने वाले अथवा विचरण करने वाले जीव खेचर तिर्यंच पंचेन्द्रिय कहलाते हैं। यथा- चिड़िया, कबूतर, तोता आदि।

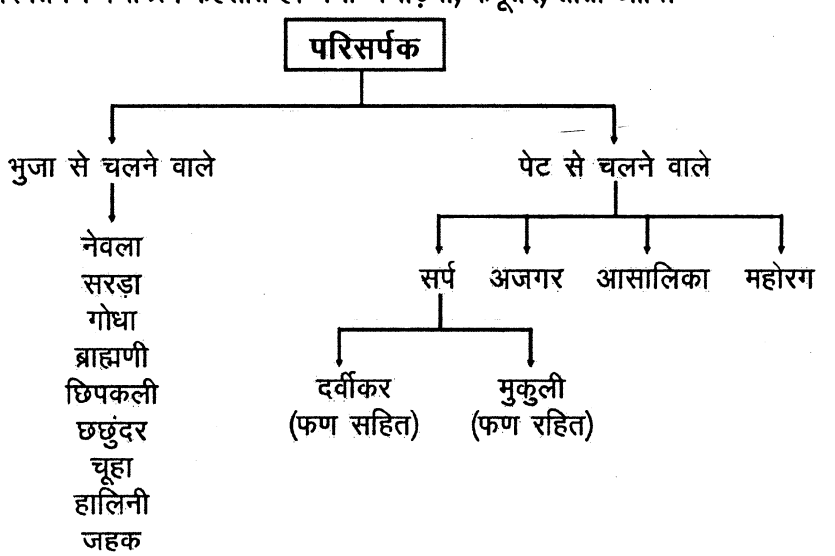

2. **मनुष्य**— पन्द्रह कर्मभूमि, तीस अकर्मभूमि और छप्पन अन्तर्द्वीप मनुष्यक्षेत्र कहलाते हैं अर्थात् इन १५+३०+५६=१०१ स्थानों में ही मनुष्य की उत्पत्ति होती हैं।[९८]

पन्द्रह कर्मभूमि के अन्तर्गत ५ भरत, ५ ऐरावत और पाँच महाविदेह क्षेत्र की गणना की जाती है।[९९] एक पल्योपम की आयुष्य वाला 'भरत' नामक देव जिस क्षेत्र का अधिष्ठायक है वह भरतक्षेत्र[१००] और एक पल्योपम आयुष्य वाला 'ऐरवत' नामक देव जिस क्षेत्र का अधिष्ठायक है वह ऐरवत क्षेत्र[१०१] कहलाता है। महाविदेह क्षेत्र का महाविदेह योग्य नाम सभी क्षेत्रों में महान् होने से अथवा महाविदेह नामक अधिष्ठायक देव होने से अथवा महान् शरीर वाले मनुष्य का निवास स्थल होने से रखा गया है।[१०२]

पाँच देवकुरु, पाँच उत्तरकुरु, पाँच हैरण्यवत, पाँच रम्यक्, पाँच हैमवत और पाँच हरिवर्ष ये छह क्षेत्र कुल (६ x ५=३०) अकर्मभूमियां हैं।[१०३] अकर्मभूमियों का नामकरण क्रमशः इस प्रकार है-

देवकुरु— एक पल्योपम आयुष्य वाले देवकुरु नामक अधिष्ठायक देव का निवास स्थल देवकुरु क्षेत्र कहलाता है।[१०४]

उत्तरकुरु— एक पल्योपम आयुष्य वाले 'उत्तरकुरु' नामक देव का निवास क्षेत्र उत्तरकुरु क्षेत्र कहा जाता है।[१०५]

हैरण्यवत—हिरण्य शब्द का अर्थ सोना और चाँदी दोनों होता है। रुक्मी पर्वत और शिखरीपर्वत रजतमय और सुवर्णमय होता है। इन दोनों पर्वत से सम्बन्धित क्षेत्र हैरण्यवत क्षेत्र कहलाता है।[१०६]

रुक्मी पर्वत और शिखरी पर्वत के मध्य रहने वाले युगलिकों को सुवर्ण की शिलापट्ट देने से भी इस क्षेत्र का नाम हैरण्यवत क्षेत्र रखा गया है, ऐसा अर्थ भी लोकप्रकाशकार करते हैं।[१०७]

रम्यक्— नीलवान पर्वत के उत्तर दिशा और रुक्मी पर्वत के दक्षिण दिशा में विविध जाति के कल्पवृक्ष और सुवर्णमय तथा माणकमय प्रदेश होने से यह क्षेत्र अत्यन्त रम्य लगता है। अतः इस क्षेत्र को 'रम्यक्' क्षेत्र कहते हैं।[१०८]

हैमवंत— युगलिक मनुष्यों को आसनादि के लिए हेम (सुवर्ण) देने से अथवा हैमवंत नामक अधिपति देव का निवास होने से इस क्षेत्र को हैमवंत कहते हैं।[१०९]

हरिवर्ष— महाहिमवंत पर्वत की उत्तर दिशा में पर्यंक (पलंग) समान आकार वाला क्षेत्र हरिवर्ष क्षेत्र कहलाता है। इसके दोनों किनारे समुद्र तक पहुँचते हैं।[११०]

तीस अकर्मभूमि और छप्पन अन्तर्द्वीप कुल छियासी युगलिकों की भोगभूमि होती है, भोग

जहाँ जीव बिना कुछ किए प्राकृतिक पदार्थों के आश्रय पर उत्तम भोग भोगते हुए सुखपूर्वक जीवन यापन करते हैं।

अन्तर्द्वीप में उत्पन्न होने वाले मनुष्य अन्तर्द्वीप कहे गए हैं[111], यथा- १. एकोरूक २. आभासिक ३. वैषाणिक ४. नांगोलिक ५. हयकर्ण ६. गजकर्ण ७. गोकर्ण ८. शष्कुलिकर्ण ९. आदर्शमुख १०. मेण्ढमुख ११.अयोमुख १२. गोमुख १३. अश्वमुख १४. हस्तिमुख १५. सिंहमुख १६. व्याघ्रमुख १७. अश्वकर्ण १८. सिंहकर्ण १९. अकर्ण २०. कर्णप्रावरण २१. उल्कामुख २२. मेघमुख २३. विद्युन्मुख २४. विद्युद्दन्त २५. घनदन्त २६. लष्टदन्त २७. गूढ़दन्त २८. शुद्धदन्त।

जम्बूद्वीप में भरत और हैमवत क्षेत्र की सीमा का विभाजन करने वाला हिमवान नामक पर्वत है। इस हिमवान पर्वत की चार दाढाओं पर एकोरुक आदि २८ अन्तर्द्वीप हैं। इनमें रहने वाले मनुष्य भी उपचार से इसी नाम से व्यवहृत होते हैं, क्योंकि जो जहाँ रहता है वह उसी नाम से कहा जाता है। हिमवान पर्वत की चारों विदिशाओं में सात-सात अन्तर्द्वीप निम्नानुसार है-

1. ईशानकोण में– एकोरुक द्वीप, हयकर्ण, आदर्शमुख, अश्वमुख, अश्वकर्ण, उल्कामुख एवं घनदन्त।

2. आग्नेयकोण में– आभासिक द्वीप, गजकर्ण द्वीप, मेण्ढमुख द्वीप, हस्तिमुख द्वीप, हरिकर्ण द्वीप, मेघमुख द्वीप एवं लष्टदन्त द्वीप।

3. नैऋत्यकोण में– वैषाणिक द्वीप, गोकर्ण द्वीप, अयोमुख द्वीप, सिंहमुखद्वीप, अकर्णद्वीप, विद्युन्मुख द्वीप एवं गूढदन्त द्वीप।

4. वायव्य कोण में– नांगोलिक द्वीप, शष्कुलीकर्ण द्वीप, गोमुख द्वीप, व्याघ्रमुख द्वीप, कर्णप्रावरण द्वीप, विद्युद्दन्त द्वीप एवं शुद्धदन्त।

इस प्रकार हिमवान पर्वत की चार दाढाओं पर ये (७ x ४) अठाईस अन्तर्द्वीप हैं। हिमवान पर्वत के समान शिखरी पर्वत के भी चारों विदिशाओं में चार दाढाओं पर २८ अन्तर्द्वीप हैं। अतः दोनों को मिलाकर कुल ५६ अन्तर्द्वीप हैं।[112]

मनुष्य दो प्रकार के होते हैं- सम्मूर्च्छिम और गर्भज।[113] सम्मूर्च्छिम मनुष्य संज्ञी पंचेन्द्रिय और नपुंसक होते हैं। ये लब्धि अपर्याप्तक भी होते हैं। गर्भज मनुष्य के समान पूर्ण विकसित नहीं होते हैं। मात्र आहार ग्रहण करने के अनन्तर अन्तर्मुहूर्त में इनकी मृत्यु हो जाती है। इनकी उत्पत्ति गर्भज मनुष्यों की विष्ठा, मूत्र, श्लेष्म, कफ-बलगम, वमन, पित्त, खून, वीर्य, मृत कलेवर, स्त्री-पुरुष के संयोग आदि सभी प्रकार के अपवित्र स्थानों में होती है। सम्मूर्च्छिम मनुष्य के एक सौ एक भेद क्षेत्र की अपेक्षा से कहे जाते हैं।[114]

कर्मभूमि क्षेत्र में गर्भज मनुष्य म्लेच्छ और आर्य दो प्रकार के होते हैं- 'म्लेच्छा आर्या इति द्वेधा मनुजाः कर्मभूमिजाः।'[115]

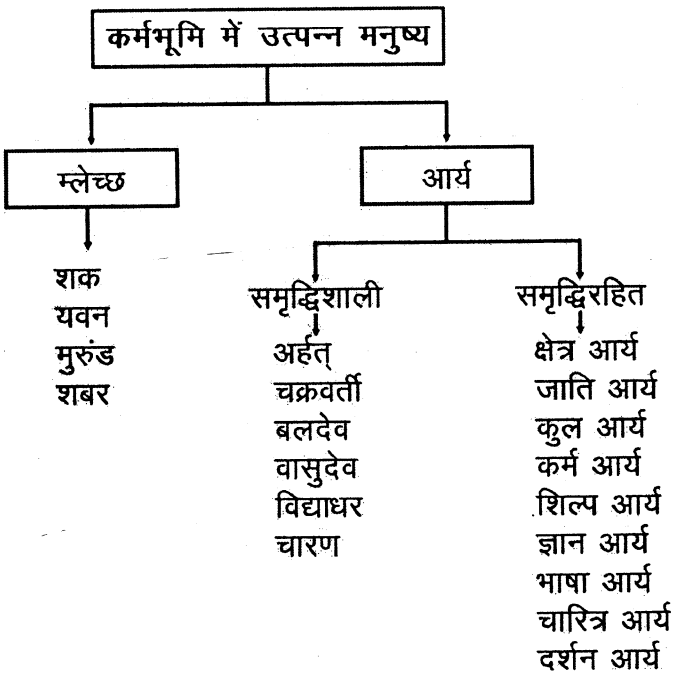

3. देव– लोकप्रकाशकार चार प्रकार के देवों का वर्णन करते हैं[116]- १. भवनपति २. व्यन्तर ३. ज्योतिषी ४. वैमानिक।

भवनपति देव– भवनों के स्वामी भवनपति होते हैं। भवनपति देव नरकक्षेत्र में निवास करते हैं और ये दस तरह के होते हैं- १. असुरकुमार २. नागकुमार ३. सुवर्णकुमार ४. विद्युतकुमार ५. अग्निकुमार ६. द्वीपकुमार ७. समुद्रकुमार ८. दिगकुमार ९. वायुकुमार १०. मेघकुमार। प्रथम असुरकुमार पन्द्रह भेद वाले होते हैं जिन्हें परमाधामी देव भी कहा जाता है।[117]

व्यन्तर देव– 'वनान्तरे चरन्तीति वानमन्तरा' अर्थात् वनान्तर (पर्वत की गुफाओं) में रहने वाले पंचेन्द्रिय जीव वानमन्तर देव होते हैं।

प्रायः शैलकन्दरादौ यच्चरन्ति वनान्तरे।
ततः पृषोदरादित्वात् एते स्युः वानमन्तराः।।[118]

लोकप्रकाशकार के अनुसार चक्रवर्ती आदि के सेवक के समान आराधना आदि करने वाले, मनुष्य से बहुत कम अन्तर वाले देव भी व्यन्तर देव कहलाते हैं।

भृत्यवच्चक्रवर्त्याद्याराधनादिकृतस्ततः।
व्यन्तरा वाभिधीयन्ते नरेभ्यो विगतान्तराः।।[119]

व्यन्तर देव के भेद इस प्रकार हैं- १. पिशाच, २. भूत ३. यक्ष ४. राक्षस ५. किन्नर ६. किंपुरुष ७. महोरग और ८. गन्धर्व। पिशाच[120] के १६, भूत[121] के ९, यक्ष[122] के १३, राक्षस[123] के ७, किन्नर[124] के १०, किंपुरुष[125] के १०, महोरग[126] के १० और गन्धर्व[127] के १२ इस प्रकार व्यन्तरों के प्र

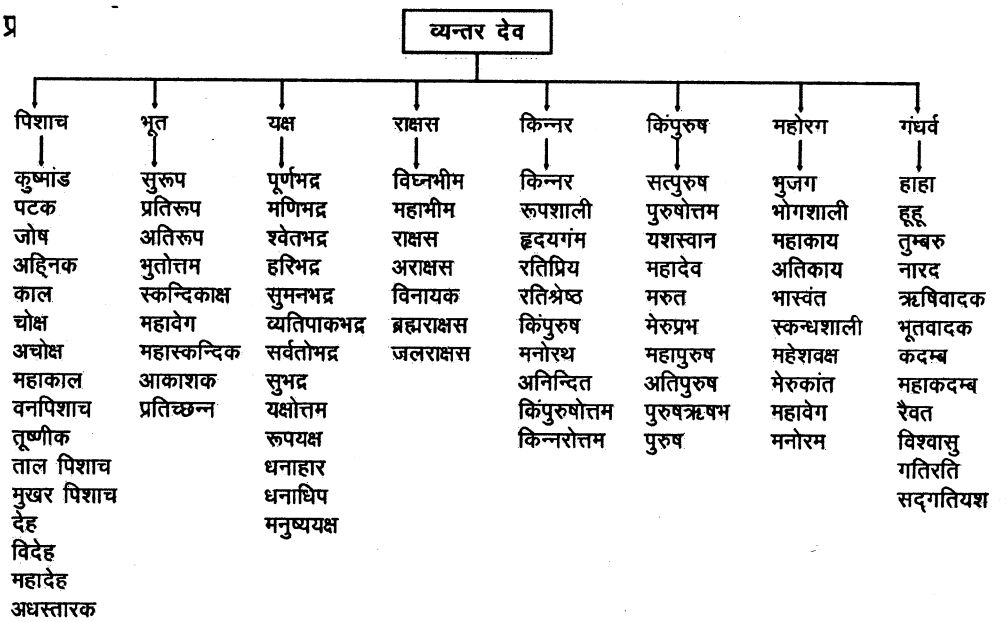

व्यन्तर देवों के आठ अवान्तर भेद भी कहे हैं[128]- १. अणपन्नी २. पणपन्नी ३. ऋषिवादी ४. भूतवादी ५. कंदीत ६. महाकंदीत ७. कोहंड और ८. पतंग।

अन्न-पान-वस्त्र-वसति-शय्या-पुष्प और फल इन वस्तुओं की कमी को पूर्ण करने वाले और कम रसवाली को रसपूर्ण करने वाले एक-एक देव जृम्भकदेव होते हैं। विद्या दान करने वाले विद्या जृंभक देव और सामान्य रूप से सभी वस्तुओं की वृद्धि करने वाले अव्यक्त जृंभक देव होते हैं। इस प्रकार दस तरह के जृम्भक देव होते हैं।

व्यन्तर जाति के देवों के भेद-प्रभेदों सहित सत्तासी जातियाँ होती हैं। इस प्रकार ये व्यन्तर देव सब (८७+८+१०) मिलाकर १०५ प्रकार के होते हैं- 'शत पंचोत्तरं भेदप्रभेदैर्व्यन्तरामराः।"[129]

ज्योतिषी देव– लोक को आलोकित करने वाले विमानों के वासी देव ज्योतिष कहलाते हैं।

ज्योतिषी देव पाँच प्रकार के हैं- सूर्य, चन्द्र, ग्रह, नक्षत्र और तारा। इसमें से कई तो स्थिर हैं और कई गतिमान हैं। अतः इस तरह ज्योतिषी देव के ५ ग २ =१० भेद होते हैं।[१३०]

वैमानिक देव– विमान में निवास करने वाले देव वैमानिक देव कहलाते हैं। वैमानिक देव कल्पोपन्न और कल्पातीत दो प्रकार के होते हैं।[१३१] कल्पोपन्न देवों के अन्तर्गत बारह देवलोक के देव और तीन किल्विष देवों की गणना की जाती है। बारह देवलोक के नाम इस प्रकार है- १. सौधर्म २. ईशान ३. सनत्कुमार ४. माहेन्द्र ५. ब्रह्म ६. लांतक ७. शुक्र ८. सहस्रार ९. आनत १०. प्राणत ११. आरण और १२. अच्युत।[१३२]

तीन किल्विष देवों में पहला किल्विष देव पहले दो देवलोक के नीचे, दूसरा किल्विष देव तीसरे देवलोक के नीचे और तीसरा किल्विष देव छठे लांतक देवलोक के नीचे रहता है।

स्वामित्व-सेवकत्व का भाव जहाँ नहीं होता है वे कल्पातीत देव कहलाते हैं। नौ ग्रैवेयक[१३३] नौ लोकान्तिक देव[१३४], पाँच अनुत्तर देव[१३५] कुल २३ देव कल्पातीत होते हैं। अतः कुल मिलाकर देवों के २५ (भवनपति)+१०५ (व्यन्तर)+१० (ज्योतिषी)+३८ (वैमानिक) =१७८ के पर्याप्त-अपर्याप्त भेद होकर ३५६ भेद होते हैं।

स्थानांग सूत्र[१३६] में पाँच प्रकार के देव अन्य रूप से कहे गए हैं-

भव्यद्रव्यदेव– जिसने शुभकर्म उपार्जन किया और देव गति प्राप्त करने वाला हो वह पंचेन्द्रिय मनुष्य या तिर्यंच 'भव्यद्रव्यदेव' कहलाता है।

नरदेव– सार्वभौम चक्रवर्ती राजा नरदेव कहलाता है।

धर्मदेव– साधु धर्मदेव कहलाता है।

देवाधिदेव– अरिहन्त देवाधिदेव होते हैं।

भावदेव– वर्तमान में देवगति वाला जीव 'भावदेव' कहलाते हैं।

4. नारक– लोकप्रकाश के नौंवे सर्ग में नरक के स्वरूप का वर्णन किया गया है। नरक सात हैं[१३७]- १. रत्नप्रभा २. शर्करा प्रभा ३. बालुका प्रभा ४. पंक प्रभा ५. धूम प्रभा ६. तमःप्रभा ७. महातमःप्रभा। इन सात नरकों में उत्पन्न पंचेन्द्रिय नारकी कहलाते हैं। सात नारकी के पर्याप्त और अपर्याप्त भेद से कुल १४ प्रकार होते हैं। इस तरह अपनी-अपनी जाति के विषय में जीवों के प्रथम भेद द्वार को समझाया गया है।

स्थावर जीवों में चेतना की सिद्धि

पृथ्वीकाय, अप्काय, तेजस्काय, वायुकाय और वनस्पतिकाय ये पाँचों एकेन्द्रिय जीव स्थावर

कहलाते हैं। जैन दार्शनिक सभी स्थावरों को सचेतन स्वीकार करते हैं। जैन आगम ग्रन्थों में इनकी चेतनता के प्रमाण भी प्राप्त होते हैं। आचारांग सूत्र के अनुसार सभी आत्माएँ समान हैं। पृथ्वीकायिक आदि जीव और मनुष्य की आत्मा में केवल उनके ज्ञानावरण आदि कर्मों की तरतमता का ही भेद है। वस्तुतः सभी आत्मा समान है।[१३८]

भगवती सूत्र में पृथ्वीकायिक जीवों के द्वारा तीन, चार, पाँच और छह दिशाओं से श्वासोच्छ्वास ग्रहण करने का उल्लेख मिलता है-

"जे इमे पुढवीकाइया जाव वणफ्फइकाइया–एगिंदिया जीवा एएसिं ण आणामं वा पाणामं वा उस्सासं वा निस्सासं वा न याणामो न पासामो। एएणं भंते! जीवा आणमंति वा?पाणमंति वा?ऊससंति वा?नीससंति वा?.... हंता गोयमा! एए वि णं जीवा आणमंति वा पाणमंति वा?ऊससंति वा नीससंति वा। एएण भंते! जीवा कइदिसं आणमंति वा?पाणमंति वा?ऊससंति वा?नीससंति वा? गोयमा! निव्वाघाएणं छद्दिसिं, वाघायं पडुच्च सिय तिदिसिं सिय चउदिसिं सिय पंचदिसि।"[१३९]

आचार्य कुन्दकुन्द पंचास्तिकाय में एकेन्द्रिय जीवों का जीवत्व सिद्ध करने के लिए तर्क प्रस्तुत करते हैं कि जिस प्रकार अण्डे में प्रवर्धमान और गर्भ में स्थित जीव तथा सम्मूर्च्छिम प्राणियों में बुद्धिपूर्वक प्रवृत्ति नहीं देखी जाती है फिर भी उनमें जीवत्व का निश्चय किया जाता है ठीक उसी प्रकार एकेन्द्रिय जीवों का भी जीवत्व सिद्ध होता है, क्योंकि एकेन्द्रिय जीव और अण्डवर्ती पंचेन्द्रिय जीव दोनों में बुद्धिपूर्वक प्रवृत्ति का समान अदर्शन दृष्टिगोचर होता है।[१४०]

स्थावरों की चेतनता क्रमशः इस प्रकार है-

पृथ्वीकाय– सुई की नोंक के बराबर पृथ्वीकाय के भाग में असंख्य जीव होते हैं।[१४१] महावीर स्वामी का यह कथन पहले अन्य मतावलम्बी दार्शनिकों को हास्यास्पद लगता था, क्योंकि उनकी दृष्टि में पृथ्वी अचला, स्पन्दहीन, जड़ व निर्जीव है, परन्तु वैज्ञानिक यंत्रों के विकास ने जैन दर्शन में प्रतिपादित इस सिद्धान्त को सत्य सिद्ध कर दिया है कि पृथ्वी सजीव है।

वैज्ञानिक जूलियस हक्सले ने 'पृथ्वी का पुर्ननिर्माण' लेख में यह तथ्य उद्घाटित किया है कि पैंसिल की नोंक के अग्रभाग जितनी मिट्टी में रहे जीवों की संख्या विश्व के समस्त मनुष्यों की संख्या से कुछ ही कम है और अन्य सजीव प्राणियों के समान मिट्टी का भी जन्म, वर्द्धन व मरण होता है।[१४२]

वैज्ञानिकों द्वारा ५० वंशों की मिट्टी के दस हजार कुलों के खोज की उपलब्धि जैन दर्शन में वर्णित पृथ्वीकाय की योनियों एवं कुल कोटियों की संख्या का समर्थन करती है। जैनदर्शन में पृथ्वीकाय की सात लाख योनि एवं बारह लाख कुल कोटि स्वीकार की गई है।

रटजर्स विश्वविद्यालय के डॉ. वाक्समन ने सिद्ध किया कि मिट्टी की सौंधी महक मिट्टी में रहने वाले लाखों माइक्रो एवं असंख्य बैक्टीरिया जीवों की देन है।[१४३]

प्रत्येक जीव के अपने स्वाभाविक विशेष गुण-धर्म होते हैं। इसी प्रकार पृथ्वीकायिक जीवों की अपनी-अपनी विशेषता से कोई मिट्टी रोगविनाशक होती है तो कोई रोगवर्द्धक, कोई स्नेह-प्रेम वर्द्धक होती है तो कोई हिंसकप्रवृत्ति, क्रूरता आदि की वृद्धि करती है।

तात्पर्य यह है कि विज्ञान ने आज पृथ्वीकाय के एक कण में अगणित जीवों का होना, स्वतः भूमि का उठाव होना, पर्वत शिखरों की ऊँचाई बढ़ना, नवीन पर्वतों का जन्म होना तथा पृथ्वी की प्रकृति का मानव प्रकृति पर प्रभाव पड़ना आदि तथ्यों को सिद्ध कर दिया है। अतः ये सभी तथ्य प्रमाणित करते हैं कि पृथ्वीकाय भी अन्य प्राणियों के तुल्य सजीव है।

अप्काय— अंगुल के असंख्यातवें भाग के बराबर वाले अप्कायिक जीवों का शरीर इतना सूक्ष्म होता है कि जल की एक बूँद में असंख्य अप्कायिक जीव रहते हैं। प्रसिद्ध वैज्ञानिक कैप्टिन स्केवेसिवी ने एक जलकण में ३६४५० जीव गिनाए हैं[१४४], जो जैनदर्शन के अनुसार त्रस जीव हैं। अप्काय तो असंख्यात स्थावर जीवों का पिण्ड है। वैज्ञानिक अनुसंधानकर्ताओं ने यह सिद्ध किया है कि वर्षा की एक बूँद लगभग पाँच लाख मेघबूंदों एवं करोड़ों वाष्प कणों से मिलकर बनती है। इस दृष्टि से जल की एक बूंद में खरबों वाष्प कण और असंख्य जीव होते हैं।

आगम ग्रन्थों में प्राकृतिक रूप में पाए जाने वाले जलीय पदार्थ के ओस, हिम, धुँअर, शुद्ध जल, शीत जल, उष्णजल, खाराजल, मीठाजल आदि अनेक प्रकार कहे गए हैं और जल की सात लाख योनियाँ कही गई हैं।[१४५] आधुनिक विज्ञान भी जलमात्र को एक समान न मानकर अनेक प्रकार का मानता है, यथा- शुद्ध जल, भारी जल, लवणीय जल, गंधकीय जल आदि।

जैसे पार्थिव पदार्थों के कण पिण्ड रूप में एक होकर भी निज रूप में पृथक्-पृथक् होते हैं, वैसे ही जल के कण पिण्ड रूप में एक होकर भी पृथक्-पृथक् होते हैं।

आशय यह है कि वैज्ञानिक अनुसंधानों से जैसे-जैसे जल के रहस्य प्रकट होते जायेंगे, वैसे-वैसे आगमों में वर्णित जल के शेष कथन भी विज्ञान जगत् में मान्य होते जायेंगे।

तेजस्काय— अग्निकाय (तेजस्काय) की सजीवता इसी से सिद्ध है कि अग्नि उसी प्रकार श्वासोच्छ्वास लेती है जैसे अन्य जीव लेते हैं। अग्नि भी श्वास लेने में ऑक्सीजन ग्रहण करती है और श्वास छोड़ने में कार्बनडाईऑक्साइड बाहर निकालती है। अर्थात् अग्नि हवा में ही जीवित रहती है एवं जलती है। जिस प्रकार जुगनुओं, कुछ प्रकार की विशेष मछलियों एवं अन्य प्राणियों के शरीर में प्रकाश होता है उसी प्रकार अग्निकाय के जीवों के शरीर में भी प्रकाश होता है। त्रस प्राणियों

के समान अग्नि भी चलायमान होती है। इस दृष्टि से आगमों में इसे त्रसकाय भी कहा गया है-

तेऊवाऊ य बोधव्वा, उराला य तसा तहा।
इच्चेए तसा तिविहा, तेसिं भेए सुणेह मे।।[146]

अग्निकाय के चलने की क्रिया दावानल (वन में लगी आग) के रूप में प्रकट होती है। दावानल के रूप में यह सैंकड़ों मील चली जाती है और बड़वानल (समुद्र में लगी आग) के रूप में भयंकर रूप धारण कर हजारों मील की परिधि में फैल जाती है।

आगम ग्रन्थों में आग की सात लाख योनि एवं सात लाख कुलकोटि कही गई है। इसका समर्थन आधुनिक विज्ञान भी करता है। वैज्ञानिक आग के अगणित प्रकारों को चार भागों में विभाजित करते हैं- १. कागज और लकड़ी आदि में लगने वाली आग २. आग्नेय तरल पदार्थों और गैस से लगने वाली आग ३. विद्युत तारों में लगने वाली आग ४. ज्वलनशील धातु-तांबा, सोडियम और मैग्नीशियम में लगने वाली आग।

अतः यह निष्कर्ष निकलता है कि अग्निकाय सजीव है और अनेक प्रकार की योनियों व कुल वाली है।

वायुकाय– जैन आगम ग्रन्थ के अनुसार अंगुल के असंख्यातवें भाग जितने वायुकाय के जीव होते हैं। विज्ञान भी यह सिद्ध करता है कि हवा में 'थेकसस' नामक जीव है और ये जीव इतने सूक्ष्म हैं कि सूई के अग्रभाग जितने स्थान में इनकी संख्या एक लाख से भी अधिक होती है। किन्तु जैनदर्शनानुसार इन्हें त्रसकोटि में रखा जा सकता है। स्थावर वायुकायिक जीव अतीव सूक्ष्म होते हैं।

वनस्पतिकाय– वनस्पतिकाय सजीव है। इस विषयक जिन सूत्रों को विज्ञान सिद्ध करता है। वे सभी सूत्र जैन दर्शन ग्रन्थ के अलावा किसी भी अन्य दर्शन ग्रन्थ में नहीं मिलते हैं। ये सभी सूत्र विज्ञान की उत्पत्ति के पूर्व असंभव माने जाते थे। इन सूत्रों की रचना जैन आगमकारों ने हजारों वर्ष पूर्व ही कर दी थी। अतः यह कहा जाए तो अतिशयोक्ति नहीं होगी कि वनस्पति विज्ञान के अनेक सूत्रों के मूलप्रणेता जैन आगमकार ही थे।

वनस्पति को सजीव सिद्ध करने वाले प्रथम वैज्ञानिक श्री जगदीशचन्द्र बसु ने १९२० ई. में वनस्पति में चेतना अभिव्यक्त करने वाले ऐसे यंत्रों की रचना की जो पौधों की गतिविधि को करोड़ गुणा बड़े रूप में दिखाते थे। इनसे पौधों की गतिविधि की क्रिया, प्रतिक्रिया, प्रक्रिया स्वतः अंकित होती थी।

भारतीय वैज्ञानिक प्रो. टी. एन. सिंह ने पौधों पर संगीत के प्रयोग किए। प्रतिदिन २५ मिनट वीणा की मधुर ध्वनि पौधों को सुनाने पर उनमें शीघ्र फल एवं फूल आए तथा २० प्रतिशत की

वृद्धि हुई। बिना घुंघरू बांधे भरतनाट्यम के प्रयोग से मूँगफली और तम्बाकू के पौधे तेजी से बढ़े और उनमें दो सप्ताह पहले ही फूल आ गए।

न्यूयार्क के प्रसिद्ध वैज्ञानिक कल्यू-वेक्स्टर ने संवेदन मापक गेल्वेनोमीटर से जुड़े पौधे के सामने आमलेट बनाने का प्रयोग किया गया। अण्डे फोड़ने पर पोलीग्राक यंत्र पौधे से उत्पन्न हुई गहरी संवेदनाओं को प्रकट करने लगा और इसी प्रकार पानी में उबलते अंडों के प्रति भी पौधे ने अपना शोक व्यक्त किया। इस प्रयोग से दो तथ्य प्रकट हाते हैं कि पौधा भी सजीव है और अण्डा भी सजीव है।

यदि बीज को छह बार छह फुट की ऊँचाई से गिराया जाए तो वह मर जाता है। फिर उसे अच्छी भूमि में बोने पर भी उसमें से अंकुर नहीं निकलता है। इससे यह सिद्ध होता है कि वनस्पति भी अन्य प्राणियों के समान संवेदनशील होती है तथा काटने, छेदने, आघात पहुँचाने आदि से घायल हो जाती है तथा मर भी जाती है। अतः हमारा यह कर्त्तव्य है कि हम जिस प्रकार मनुष्य, पशु, कीट, पतंग आदि जीवों की रक्षा करते हैं उसी प्रकार वनस्पति के जीवों की भी यथासंभव रक्षा करनी चाहिए।

दूसरा द्वार : जीवों के स्थान

उपाध्याय विनयविजय ने अपनी कृति लोकप्रकाश में जीवों के सैंतीस द्वार निरूपित किए हैं। इनमें द्वितीय 'स्थान द्वार' के द्वारा जीवों की स्थिति को प्रस्तुत किया है साथ ही यह भी निरूपण किया है कि किस तरह से जीव निजस्थिति, समुद्घात और उपपात के द्वारा लोक के असंख्यातवें भाग में रहता है।

निजस्थिति– जहाँ जहाँ जीव रहते हैं वह जीवों की निजस्थिति होती है।

उपपात स्थान– जीव एक भव से छूट कर दूसरे भव में जन्म ग्रहण करता है, उससे पूर्व वह जिस प्रदेश की यात्रा करता है उसे उपपात स्थान कहते हैं।

सूक्ष्म जीव– काजल से भरी डिबिया के समान सम्पूर्ण लोक सूक्ष्म जीवों (पृथ्वीकाय, अप्काय, तेजस्काय, वायुकाय और वनस्पतिकाय) से परिपूर्ण है। जिस प्रकार पुद्गल रहित कोई प्रदेश नहीं है, उसी प्रकार सूक्ष्म जीवों से रहित कोई स्थान नहीं है। सभी पर्याप्त-अपर्याप्त सूक्ष्म जीव उपपात, समुद्घात और निजस्थिति से सर्वलोक में व्याप्त हैं।

बादर जीव– जैन आगम ग्रन्थों में अधोलोक और ऊर्ध्वलोक में पृथ्वीकायिक, अप्कायिक, वायुकायिक, वनस्पतिकायिक जीवत्व की सिद्धि के प्रमाण मिलते हैं तथा मध्यलोक (तिर्यक्लोक) में तेजस्काय सहित इन चारों का भी अस्तित्व वर्णित है। बादर एकेन्द्रिय जीवों के स्थान निम्न हैं[89]–

बादर एकेन्द्रिय जीवों के स्थान

क्र. सं.	बादर एकेन्द्रियों के नाम	अधोलोक क्षेत्र	ऊर्ध्वलोक क्षेत्र	तिर्यक्लोक क्षेत्र
१	पृथ्वीकायिक जीव	रत्नप्रभादि सात और ईषत्प्राग्भारा नामक पृथ्वी, पातालकलश, असुरादि भवन और नारकों में इनका स्थान है।	विमानों के प्रस्तरों में स्थान है।	पर्वत, द्वीप और समुद्र में इसके स्थान हैं।
२	अप्कायिक जीव	घनोदधि और उनके सात वलयों में इनके स्थान हैं।	विमान और स्वर्ग की पुष्करणी में इनके स्थान हैं।	शाश्वत और अशाश्वत सभी प्रकार के जलाशयों में ये जीव रहते हैं।
३	वायुकायिक जीव	सात घनवायु, सात तनुवायु तथा उनके वलय, पातालकुम्भ, भवनों के छिद्र, निष्कुट में ये जीव रहते हैं।	सभी विमान, इनकी श्रेणियां, प्रस्तट, छिद्र निष्कुट स्थानों में ये जीव रहते हैं।	दिशा-विदिशा और गृहोद्यान वायुकायिकों के स्थान हैं।
४	वनस्पतिकायिक जीव	अप्कायिकों के स्थान वनस्पतिकायिक जीवों के भी स्थान होते हैं। क्योंकि जल वनस्पति की उत्पत्ति का एक प्रमुख कारण है। विज्ञान भी इस तथ्य को स्वीकार करता है और जैन आगम ग्रन्थों में भी इसके प्रमाण मिलते हैं।		
५	अग्निकायिक जीव	अधोलोक और ऊर्ध्वलोक में अग्निकाय जीवों का अस्तित्व ही नहीं है। यह मात्र तिर्यग्लोक के भिन्न-भिन्न क्षेत्रों में शाश्वत और अशाश्वत रूप से रहते हैं। कर्मभूमि के भरत एवं ऐरवत क्षेत्र में और अकर्मभूमि तथा अन्तरद्वीपों में निश्चित काल में ये जीव रहते हैं जबकि कर्मभूमि के ही विदेह क्षेत्र में ये जीव सदैव रहते हैं।		

अधोलोक की सातों पृथ्वियाँ (रत्नप्रभा, शर्कराप्रभा, बालुकाप्रभा, पंकप्रभा, धूमप्रभा, तमःप्रभा और तमस्तम प्रभा) तीन-तीन वातवलयों के आधार पर ठहरी हुई है-घनोदधिवलय, घनवातवलय और तनुवातवलय। ये तीनों वातवलय आकाश पर प्रतिष्ठित होते हैं।[१४८] रत्नप्रभापृथ्वी

सर्वप्रथम २० हजार योजन वाले घनोदधिवलय पर आधारित होती है। घनोदधिवलय असंख्यात हजार योजन वाले घनवातवलय पर आश्रित है तथा घनवातवलय असंख्यात हजार योजन वाले तनुवातवलय पर स्थित है। इस तनुवातवलय के नीचे असंख्यात कोटि-कोटि योजन प्रमाण आकाश होता है। यह आकाश निराधार है। शेष पृथ्वियाँ भी इसी प्रकार वलयों पर आश्रित हैं।

बादर पृथ्वीकायिक, अप्कायिक, तेजस्कायिक जीवों का उपपात, समुद्घात और स्वस्थान की अपेक्षा से स्थान लोक के असंख्यातवें भाग में है। वायुकायिकों का स्थान भी लोक का असंख्यातवां भाग है और वनस्पतिकायिकों का स्थान क्रमशः सर्वलोक और असंख्यातवें भाग में है।

पर्याप्त-अपर्याप्त भेद से छः प्रकार के विकलेन्द्रिय[१४६] (द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय) और तिर्यंच पंचेन्द्रिय[१५०] (जलचर, स्थलचर, खेचर) जीवों का अस्तित्व अधोलोक एवं ऊर्ध्वलोक के एक देश भाग में ही रहता है। वे तिर्यक्लोक में नदी, कुएँ, तालाब, बावड़ी, सर्व द्वीपों, समुद्रों, जलाशयों और समस्त जलस्थानों में होते हैं। उपपात, समुद्घात और स्वस्थान की अपेक्षा से ये लोक के असंख्यातवें भाग में रहते हैं।

मनुष्य का अस्तित्व मात्र तिर्यक् लोक की कर्मभूमि, अकर्मभूमि, ५६ अन्तरद्वीप, अढ़ाई द्वीप-समुद्र इस तरह मनुष्य क्षेत्र के पैंतालीस लाख योजन तक सीमित है।[१५१] सम्मूर्च्छिम मनुष्य का उपपात, समुद्घात और स्वस्थान की अपेक्षा से स्थान मनुष्य लोक के असंख्यातवें भाग में है।[१५२] गर्भज मनुष्य का स्थान तिर्यक्लोक के साथ अधोलोक में एक सहस्र योजन पर्यन्त होता है।[१५३]

नारक जीवों का अस्तित्व मात्र अधोलोक की सात पृथ्वियों में मिलता है। वहाँ नारकों के ८४ लाख नारकावास होते हैं। सातों पृथ्वियों का भिन्न-भिन्न क्षेत्रफल भिन्न-भिन्न भूमिभाग और नारकावासों की भिन्न-भिन्न संख्याएँ होती हैं।[१५४]

सात पृथ्वियाँ

	रत्नप्रभा	शर्कराप्रभा	बालुकाप्रभा	पंकप्रभा	धूमप्रभा	तमःप्रभा	तमस्तमप्रभा
क्षेत्रफल	१ लाख ८० हजार योजन	१ लाख ३२ हजार योजन	१ लाख २८ हजार योजन	१ लाख २० हजार योजन	१ लाख १८ हजार योजन	१ लाख १६ हजार योजन	१ लाख ८ हजार योजन
भूमि भाग	१ लाख ७८ हजार योजन	१ लाख ३० हजार योजन	१ लाख २६ हजार योजन	१ लाख १८ हजार योजन	१ लाख १६ हजार योजन	१ लाख १४ हजार योजन	१ लाख ३ हजार योजन

नारकावास संख्या	३० लाख	२५ लाख	१५ लाख	१० लाख	३ लाख	५ कम १ लाख	५

भवनवासी देवों को छोड़कर शेष देवों का निवास स्थान ऊर्ध्वलोक और मध्यलोक है जबकि दस भवनपति देव के स्थान अधोलोक में रत्नप्रभा पृथ्वी के ऊपर-नीचे एक-एक हजार योजन छोड़ बीच में एक लाख अठहत्तर हजार योजन में है।[१५५] देव[१५६] और नारक[१५७] उपपात, समुद्घात और स्वस्थान की अपेक्षा से लोक के असंख्यातवें भाग में रहते हैं।

उपाध्याय विनयविजय ने जीवों का सूक्ष्म और बादर स्वरूप में विभाजन करते हुए स्वस्थान, उपपात व समुद्घात की दृष्टि से उनके स्थानों का निरूपण करने का प्रयास किया है। उनके अनुसार सूक्ष्म जीव सर्वलोकव्यापी हैं तथा बादर जीवों की पृथक्-पृथक् स्थानों पर व्याप्ति है। उनका यह स्थान प्रतिपादन महत्त्वपूर्ण है क्योंकि ऐसा विस्तृत प्रतिपादन अन्यत्र कहीं देखने को नहीं मिलता।

तीसरा द्वार : पर्याप्ति विमर्श

आहार, शरीर, इन्द्रिय आदि के रूप में पुद्गलों को परिणमन करने की जीव की शक्ति पर्याप्ति है। कार्तिकेयानुप्रेक्षा में मुनि कार्तिकेय भी ऐसा ही कथन करते हैं-

'आहारसरीरींदियणिस्सासुस्सास–भास–मणसाणं।
परिणई–वावारेसु य जाओ छच्चेव सत्तीओ।।
तस्सेव कारणाणं पुग्गलखंधाण जाहु णिप्पत्ती।
सा पज्जत्ती भण्णदि।'[१५८]

अर्थात् आहार, शरीर, इन्द्रिय, श्वासोच्छ्वास, भाषा और मन के व्यापारों में परिणमन करने की जो शक्तियाँ हैं वे छह ही हैं। आहार, शरीरादि में परिणमन करने की जो शक्तियाँ हैं उन्हीं को पर्याप्ति कहते हैं।

आहार, शरीरादि की यथायोग्य पूर्णता को पर्याप्ति कहते हैं और उनकी अपूर्णता अपर्याप्ति कहलाती है। षट्खण्डागम के धवलाटीकाकार भी कहते हैं- 'पर्याप्तियों की अपूर्णता अपर्याप्ति होती है। जीवन के हेतुत्व (कारणपने) की अपेक्षा न करके इन्द्रियादि रूप शक्ति की पूर्णता मात्र को पर्याप्ति कहते हैं।[१५९]

उपाध्याय विनयविजय अधिक स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि जीव (एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, पंचेन्द्रिय) स्व-स्व शरीर योग्य पुद्गल वर्गणाओं का ग्रहण कर उनका आहार,

शरीर, इन्द्रिय आदि के व्यापारों में परिणमन करता है। जिस शक्ति से परिणमन कार्य निष्पन्न होता है वह पर्याप्ति है।[१६०] यह शक्ति परिणमन का कार्य एक अन्तर्मुहूर्त में पूरा होता है।

जीव को पर्याप्त और अपर्याप्त के भेद से भी विभाजित किया जाता है।[१६१] अतः जिस कर्म के उदय से आहारादि पर्याप्तियों की रचना होती है वह पर्याप्तनामकर्म एवं जिसके उदय से जीव अपर्याप्त होता है वह अपर्याप्त नामकर्म कहा जाता है।

पर्याप्ति के प्रकार- नये जन्म ग्रहण के साथ जीव उत्पत्ति स्थान में पहुँचने लगता है। यह परिणमन शक्ति षड्विध प्रकार की होती है।[१६२] आहारवर्गणा के पुद्गलस्कन्धों को ग्रहण कर खल और रस रूप में परिणत करने वाली आहारपर्याप्ति, रस रूप में परिणत आहार को रुधिर, वसा, माँस, अस्थि, मज्जा और वीर्य धातुओं में परिणमन करने वाली शरीरपर्याप्ति होती हैं। सप्त धातुओं से रूपादि युक्त पदार्थ ग्रहण करने के निमित्तभूत पुद्गलों का उपचय करने वाली इन्द्रिय पर्याप्ति, श्वासोच्छ्वास योग्य पुद्गलों का श्वास और उच्छ्वास में रूपान्तरण करने वाली श्वासोच्छ्वास (आनापान) पर्याप्ति, भाषा वर्गणा के पुद्गलों का चतुर्विध भाषा में रूपान्तरण करने वाली भाषा पर्याप्ति तथा अनुभूत अर्थ के स्मरण रूप मनोवर्गणा के पुद्गलस्कन्धों का परिणमन मन के रूप में करने वाली मनःपर्याप्ति कहलाती है।[१६३]

षट् पर्याप्तियों का प्रतिष्ठापन क्रम और काल- षट् पर्याप्तियों का प्रारम्भ युगपत् होता है और इनकी पूर्णता क्रमवत् होती है।[१६४] जन्म के प्रथम समय से ही सभी पर्याप्तियाँ सत्ता में रहती हैं, अतः इनका प्रारम्भ युगपत् कहा जाता है। सभी पर्याप्तियों का विकास धीरे-धीरे समयानुसार जीव की इन्द्रियों के आधार पर होता है, अतः इनकी पूर्णता क्रमवत् कही गई है।

योनि में प्रवेश करते ही प्रथम समय से लेकर एक अन्तर्मुहूर्त में सभी पर्याप्तियाँ निष्पन्न होती हैं। आहार पर्याप्ति एक समय में पूर्ण हो जाती है। तदनन्तर शरीरादि पर्याप्तियाँ एक ही अन्तर्मुहूर्त में (१ समय कम ४८ मिनट में) निष्पन्न हो जाती हैं। सभी पर्याप्तियों का समाप्ति काल अन्तर्मुहूर्त प्रमाण ही कहा गया है-

आरम्भसमयाद्यान्ति निष्टां ह्यन्तर्मुहूर्तिकः।[१६५]

तिर्यंच और मनुष्यों में ये षट् पर्याप्तियाँ एक समय कम मुहूर्त्त में पूर्ण हो जाती हैं और उपपात से जन्म लेने वाले देव और नारकियों में इन षट् पर्याप्तियों की पूर्णता एक समय में ही हो जाती है। उपपात से जन्म लेने के कारण देव और नारकियों का शारीरिक विकास क्रमवत् नहीं होता है, अतः उनकी पर्याप्तियाँ प्रथम समय में ही पूर्ण हो जाती है।

पर्याप्ति के आधार पर जीव की अवस्थाएँ- लोकप्रकाशकार के द्वारा पर्याप्तियों के आधार

पर जीव के पर्याप्त और अपर्याप्त दो भेद किये गये हैं-

1. पर्याप्त–जीव के भेद–

(अ) लब्धि पर्याप्त– पर्याप्तनामकर्म के उदय से युक्त जीव स्वयोग्य पर्याप्तियों को पूर्ण करने के पूर्व नहीं मरता, पर्याप्तियों को पूर्ण करने के पश्चात् ही मरता है, वह लब्धि-पर्याप्त जीव कहलाता है।[९६६]

(आ) करण पर्याप्त– द्रव्य एवं भाव दोनों रूप से शरीर, इन्द्रिय आदि का निर्वतन होना करण पर्याप्त कहलाता है।[९६७]

2. अपर्याप्त–जीव के भेद–

(अ) लब्धि अपर्याप्त– अपर्याप्त नामकर्मोदय से जो जीव स्वयोग्य पर्याप्तियाँ पूरी किए बिना मृत्यु को प्राप्त हो जाता है, वह लब्धि अपर्याप्त जीव कहलाता है।[९६८] इस सम्बन्ध में गोम्मटसार-जीवकाण्ड में विशेष अर्थ किया जाता है कि जीव स्वयोग्य पर्याप्तियों को पूर्ण न करके उच्छ्वास के अठारहवें भाग प्रमाण अन्तर्मुहूर्त में मर जाते हैं, वे लब्ध्यपर्याप्त कहलाते हैं।

जो जीव लब्धि-अपर्याप्त होते हैं वे करण पर्याप्त अवश्य होते हैं क्योंकि आहारपर्याप्ति पूर्ण होने के बाद कम से कम शरीर पर्याप्ति बन जाती है और तभी से जीव करण पर्याप्त मान लिया जाता है।[९६९] यह नियम भी है कि लब्धि अपर्याप्त जीव भी कम से कम पूर्व की तीन पर्याप्तियों को पूर्ण किए बिना नहीं मरते। इसका प्रमाण प्रज्ञापना सूत्र में भी दृग्गोचर होता है-

यस्मादागामिभवायुर्बद्ध्वा म्रियन्ते सर्वदेहिनः नाबद्ध्वा।
तच्च शरीरेन्द्रियपर्याप्तिभ्यां पर्याप्तानां बन्धमायाति नापर्याप्तानाम्।।

अर्थात् सभी प्राणी अगले भव की आयु को बाँधकर ही मरते हैं, बिना बाँधे नहीं मरते। आयु तभी बाँधी जा सकती है, जबकि शरीर और इन्द्रिय पर्याप्तियाँ पूर्ण बन चुकी हों। उपाध्याय विनयविजय ने भी इसी बात पर बल देते हुए लोकप्रकाश में उल्लेख किया है कि जो जीव लब्धि अपर्याप्त होता है वह पहली तीन पर्याप्तियाँ पूर्ण करके ही अग्रिम भव की आयु बाँधता है। अन्तर्मुहूर्त तक की आयु का बंध करके लब्ध्यपर्याप्त जीव जघन्य अबाधाकाल (जो अन्तर्मुहूर्त्त प्रमाण का माना गया है) व्यतीत करके गत्यन्तर में जा सकता है, अतः जो अग्रिम आयु को नहीं बाँधता और उसके अबाधाकाल को पूरा नहीं करता, वह मर ही नहीं सकता।[९७०]

(आ) करण अपर्याप्त– जो जीव आहार शरीर, इन्द्रियादि करण पूर्ण निष्पन्न हुए बिना मृत्यु प्राप्त करते हैं, वे करण अपर्याप्त कहलाते हैं।[९७१]

दिगम्बर मतावलम्बी करण अपर्याप्त जीव को निर्वृत्यपर्याप्त कहते हैं।[९७२] इनके मतानुसार

निर्वृति शब्द का अर्थ 'शरीर' है। शरीरपर्याप्ति पूर्ण न होने तक जीव को निर्वृत्ति अपर्याप्त कहा जाता है। जबकि श्वेताम्बर परम्परानुसार करण शब्द का अर्थ शरीर, इन्द्रिय आदि किया जाता है। अतः जिसने शरीर पर्याप्ति पूर्ण की है, किन्तु इन्द्रिय पर्याप्ति पूर्ण नहीं की है वह भी करण अपर्याप्त कहलाता है अर्थात् शरीर रूप करण पूर्ण करने से करण पर्याप्त और इन्द्रिय रूप करण पूर्ण न करने से करण-अपर्याप्त कहा जा सकता है।

पर्याप्तनामकर्म के उदय से जीव को शरीर निष्पन्न नहीं होने पर भी पर्याप्त कह सकते हैं, क्योंकि पर्याप्तनामकर्म का उदय होना और शरीर पर्याप्ति का निष्पन्न होना ये दोनों कार्य भिन्न-भिन्न हैं। अतः उन जीवों को पर्याप्त कहने में कोई विरोध उत्पन्न नहीं होता है।

आचार्य पुष्पदन्त भूतबलि के 'षट्खण्डागम' की धवला टीका में एक अन्य पर्याप्ति 'अतीत पर्याप्ति' का उल्लेख मिलता है- 'एदांसि छण्हमभावो अदीदपज्जत्ती णाम' अर्थात् छह पर्याप्तियों के अभाव को अतीत पर्याप्ति कहते हैं।[७३]

पर्याप्ति और प्राण में तुलना

आहार, शरीर, इन्द्रिय, आनपान, भाषा और मनरूप शक्तियों की पूर्णता के कारण को पर्याप्ति कहते हैं और आत्मा जिनके द्वारा जीवन संज्ञा को प्राप्त होता है वह प्राण है। पर्याप्तियाँ छह प्रकार की कही गई है- आहार पर्याप्ति, शरीर पर्याप्ति, इन्द्रिय पर्याप्ति, श्वासोच्छ्वास पर्याप्ति, भाषा पर्याप्ति और मनः पर्याप्ति। प्राण दस होते हैं- श्रोत्रेन्द्रियबलप्राण, चक्षुइन्द्रियबलप्राण, घ्राणेन्द्रियबलप्राण, रसनेन्द्रिय बलप्राण, स्पर्शनइन्द्रियबलप्राण, मनोबलप्राण, वचनबलप्राण, कायबलप्राण, श्वासोच्छ्वास बलप्राण और आयुष्यबलप्राण। पर्याप्तियाँ जीव के शारीरिक विकास क्रम की सूचक हैं तथा प्राण जीव के शरीर में चेतना का संचरण करता है। इन दोनों की विषमताएँ कुछ इस प्रकार हैं-

१. पर्याप्ति पहले होती है एवं प्राण उसके अनन्तर आते हैं। अतः पर्याप्ति कारण है एवं प्राण कार्य है।
२. पर्याप्ति छह होती हैं और प्राण दस होते हैं।[७४]
३. पर्याप्ति में आयु का सद्भाव नहीं होता है, जबकि प्राणों में आयु का सूचक आयुष्यबलप्राण होता है।
४. पर्याप्ति से शक्तियाँ प्रवाहित होती हैं, अतः ये शक्तिस्रोत हैं और प्राणों में शक्तियाँ निहित होती हैं, इसलिए ये शक्तिकेन्द्र हैं।
५. अपर्याप्त काल में पर्याप्ति का अपर्याप्त रूप से सद्भाव होता है अतः पर्याप्तियाँ पर्याप्त एवं

अपर्याप्त दोनों काल में होती हैं जबकि मन, वचन और उच्छ्वास बलप्राण ये तीन प्राण अपर्याप्त काल में नहीं होते हैं।[७५]

पर्याप्ति एवं प्राण में समानताएँ-

१. पर्याप्ति और प्राण में समानता यह है कि ये दोनों जीव एवं अजीव की संयुक्तावस्था में उत्पन्न होते हैं। जब जीव कर्मपुद्गलों से पूर्णतः रहित सिद्धावस्था में होता है तो वहाँ न पर्याप्ति होती है और न प्राण।

२. पर्याप्ति और प्राण जीव में ही होते हैं, अजीव में नहीं। जिनमें आहार, शरीर, इन्द्रिय और श्वासोच्छ्वास की शक्ति नहीं होती है, वे अजीव कहलाते हैं।

विग्रहगति में जीव अपर्याप्त संज्ञावान्- विग्रह गति में स्थित जीव का अन्तर्भाव अपर्याप्त अवस्था में कर सकते हैं[७६], क्योंकि अपर्याप्त जीव की जिस प्रकार सामर्थ्याभाव, उपपादयोगस्थान, एकान्तवृद्धियोग स्थान, गति और आयु सम्बन्धी स्थिति होती है[७७] ठीक उसी प्रकार विग्रहगति में कार्मण शरीर में स्थित जीव की प्रथम, द्वितीय और तृतीय समय में अवस्थाएँ होती हैं। अतः विग्रहगति के जीव को अपर्याप्तसंज्ञा दी जा सकती है।

पर्याप्ति और प्राणों का स्वामित्व- सूक्ष्म और बादर एकेन्द्रिय जीव[७८] छः पर्याप्तियों में से श्वासोच्छ्वास पर्याप्ति पर्यन्त प्रथम चार पर्याप्तियों के अधिकारी होते हैं। विकलेन्द्रिय जीव[७९] और सम्मूर्च्छिम तिर्यंच पंचेन्द्रिय जीव[८०] भाषा पर्याप्ति पर्यन्त पाँच पर्याप्तियों के स्वामी होते हैं। गर्भज तिर्यंच पंचेन्द्रिय, गर्भज मनुष्य, देव और नारक षट् पर्याप्तियों का स्वामित्व रखते हैं।[८१] सम्मूर्च्छिम मनुष्य पाँचवीं पर्याप्ति आरम्भ कर पूर्ण करने के पूर्व ही मृत्यु को प्राप्त कर लेते हैं।[८२]

संज्ञी पंचेन्द्रियों (गर्भज तिर्यंच पंचेन्द्रिय, गर्भज मनुष्य, देव और नारक) में दस प्राण होते हैं।[८३] शेष असंज्ञी पंचेन्द्रिय (सम्मूर्च्छिम तिर्यंच पंचेन्द्रिय व सम्मूर्च्छिम मनुष्य) से लेकर अनुक्रम से द्वीन्द्रिय पर्यन्त पर्याप्तकों में एक-एक प्राण घटता जाता है।[८४] असंज्ञी पंचेन्द्रिय में मनोबल प्राण के अतिरिक्त नौ प्राण, चतुरिन्द्रियों में मनोबल प्राण और श्रोत्रेन्द्रिय बलप्राण को छोड़कर शेष आठ प्राण, त्रीन्द्रिय में मन, श्रोत्र और चक्षु के सिवाय शेष सात प्राण तथा द्वीन्द्रिय में मन, श्रोत्र, चक्षु और घ्राण के सिवाय शेष छह प्राण होते हैं। एकेन्द्रिय में स्पर्शन, कायबल, श्वासोच्छ्वास और आयुष्य बल प्राण होते हैं।[८५]

संज्ञी और असंज्ञी पंचेन्द्रियों के अपर्याप्त जीवों में सात प्राण ही होते हैं, क्योंकि पर्याप्तकाल में होने वाले श्वासोच्छ्वास बलप्राण, वचन बलप्राण और मनोबलप्राण अपर्याप्तकाल में नहीं होते हैं।

चतुरिन्द्रिय से लेकर एकेन्द्रिय तक के अपर्याप्त जीवों में क्रम से श्रोत्र, चक्षु, घ्राण और रसनेन्द्रिय को छोड़कर छह, पाँच, चार और तीन प्राण होते हैं।[१८६]

चौथा, पांचवां और छठा द्वार :
जीवों की योनि, योनिसंख्या एवं कुल संख्या का निरूपण

सामान्यतः जीव जिस स्थान पर आकर जन्म ग्रहण करता है उस स्थान को योनि कहते हैं। योनि विषयक चर्चा प्रज्ञापना सूत्र, तत्त्वार्थ राजवार्तिक, सर्वार्थसिद्धि, गोम्मटसार जीवकाण्ड आदि ग्रन्थों में सम्प्राप्त है। लोकप्रकाशकार ने योनि, योनि संख्या एवं कुल संख्या द्वार के अन्तर्गत योनि व कुल के सम्बन्ध में व्यवस्थित एवं विशिष्ट चर्चा की है। उन्होंने स्पर्शपरत्व, चेतनता और आवरण की अपेक्षा से योनियों के तीन भेद कर उसके भेद-प्रभेदों का विभाजन किया है, साथ ही आकृति की विविधता से भी योनि-भेद किये हैं। देवता और नारकी के पांच प्रकार के योनि स्थान, सम्मूर्च्छिम तिर्यंच पंचेन्द्रिय और मनुष्य के सात प्रकार के योनि स्थान और गर्भज तिर्यंच पंचेन्द्रिय के तीन प्रकार के योनि स्थान बताये गये हैं। योनि से सम्बन्धित कुल का भी यहाँ विवेचन किया गया है।

योनि प्ररूपणा

'यू मिश्रणे' धातु से निष्पन्न योनि शब्द का व्युत्पत्त्यर्थ है- 'यूयते यस्यां इति योनिः' अर्थात् नवीन पर्याय धारण करने वाली आत्मा जिसमें मिश्रण अवस्था को प्राप्त होती है वह योनि है। जैन दर्शन के अनुसार तैजस् और कार्मण शरीर वाले जीव औदारिक शरीर के योग्य पुद्गलस्कन्धों के समुदाय के साथ मिश्रित होते हैं, वह स्थान योनि कहलाता है।[१८७] तदनुसार जीव के जन्म ग्रहण करने के स्थान को भी योनि कहते हैं।[१८८] तत्त्वार्थसूत्र की टीका में योनि को निम्नलिखित शब्दों से परिभाषित किया गया है- 'योनिरुपपाददेशपुद्गलप्रचयः' अर्थात् उत्पत्ति स्थान के पुद्गल प्रचय रूप योनि है।[१८९] जन्म ग्रहण तीन प्रकार का होता है- उपपात, गर्भ और सम्मूर्च्छिम। इनमें से किसी भी प्रकार का जन्म हो सकता है।[१९०]

सामान्य रूप से योनियों की संख्या चौरासी लाख मानी जाती है। जैन दर्शन में इसका विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है।[१९१] व्यक्तिपरत्व से योनि के असंख्यात भेद होते हैं, परन्तु विशिष्ट वर्णादि जाति की अपेक्षा से योनि गिनी जा सकती है।

गुण और आकार की दृष्टि से जैन आगमों में इसका वर्णन प्राप्त होता है।

गुण दृष्टि से योनि भेद— गुणभेद से योनियों की प्ररूपणा तीन प्रकार से की जा सकती है[१९२]-

१. स्पर्शपरत्व की अपेक्षा से- शीत, उष्ण और शीतोष्ण।

२. चेतनता की अपेक्षा से- सचित्त, अचित्त, मिश्र।

३. आवरण की अपेक्षा से- संवृत, विवृत, संवृत-विवृत।

(1) स्पर्शपरत्व की अपेक्षा– शीत स्पर्श गुण का एक भेद है जो द्रव्य और गुण दोनों का वाचक है, अतः शीत गुणवाला द्रव्य भी 'शीत' कहलाता है। जो योनि शीतस्पर्श परिणाम वाली होती है वह शीतयोनि कहलाती है। इसी प्रकार जिस योनि का उष्ण स्पर्श और जिसका शीतोष्ण स्पर्श परिणाम होता है वह क्रमशः उष्णयोनि और शीतोष्ण योनि होती है।[१६३]

(2) चेतनता की अपेक्षा– जो योनि चेतन सहित हो वह सचित्तयोनि, जो जीव रहित हो वह अचित्तयोनि (जैसे देवों एवं नारकों की) और जो योनि जीव से युक्त व अयुक्त उभयस्वरूपा हो वह मिश्र (सचित्ताचित्त) योनि (गर्भजों की योनि) कहलाती है।[१६४]

(3) आवरण की अपेक्षा– सम्यक् प्रकार से आच्छादित अदृश्य योनि संवृतयोनि, अनाच्छादित दृश्य योनि विवृतयोनि एवं जो अंशतः ढकी हुई एवं अंशतः खुली हुई हो वह संवृतविवृत योनि कहलाती है। इस दृष्टि से लोकप्रकाशकार ने उदाहरण सहित उल्लेख किया है- वस्त्रादि से आच्छादित दिव्य शय्यादि के समान प्रथम संवृत योनि, जलाशयादि के समान स्पष्ट रूप से दृष्ट विवृतयोनि और स्त्री के गर्भाशय के तुल्य कुछ स्पष्ट एवं कुछ अस्पष्ट संवृतविवृत योनि होती है।[१६५]

आकार दृष्टि से योनि भेद– आकृति की विविधता से मनुष्यों की योनि के तीन वर्ग किए गए हैं[१६६]–

(1) शंखावर्त योनि– शंख के समान आवर्त्त आकृति वाली योनि शंखावर्त योनि कहलाती है। यह योनि चक्रवर्ती राजा की पटरानी के होती है। इस योनि में आए हुए जीव अति प्रबल कामाग्नि के परिताप से निश्चयमेव नष्ट होते हैं। अतः यह गर्भवर्जित योनि भी कही जाती है।[१६७] यथा कुरुमती के हाथ के स्पर्श से ही लोहे का पुतला द्रवीभूत हो गया था।[१६८]

(2) कूर्मोन्नत योनि– कछुए की पीठ की भाँति उन्नत आकृति वाली योनि कूर्मोन्नत योनि कहलाती है। इस योनि में उत्तमपुरुष गर्भ में उत्पन्न होते हैं। उत्तम पुरुषों में तीर्थंकर, चक्रवर्ती, वासुदेव एवं बलदेवों की गणना होती।[१६९]

(3) वंशीपत्रा योनि– शेष सभी स्त्रियों की तीसरे प्रकार की बाँस के दो संयुक्त पत्र की आकृति के तुल्य 'वंशीपत्रा' नामक योनि होती है।[२००]

योनियों का स्वामित्व– स्पर्श, चेतना और आवरण की अपेक्षा से एकेन्द्रिय की क्रमशः संवृत, सचित्त, अचित्त, मिश्र, शीत, उष्ण, शीतोष्ण सात तरह की योनियाँ हैं, विकलेन्द्रिय की योनि संवृत के

स्थान पर विवृत होती है, शेष ६ योनियाँ एकेन्द्रिय के समान है।[२०१] देव[२०२] और नारकी[२०३] की योनियाँ संवृत, अचित्त, शीतोष्ण, शीत और उष्ण होती हैं। सम्मूर्च्छिम तिर्यंच पंचेन्द्रिय[२०४] और सम्मूर्च्छिम मनुष्य[२०५] की योनियाँ विवृत, सचित्त, अचित्त, मिश्र, शीत, उष्ण और शीतोष्ण हैं। गर्भज तिर्यंच पंचेन्द्रिय[२०६] और गर्भज मनुष्य[२०७] संवृत-विवृत, मिश्र और शीतोष्ण तीन योनियों वाले होते हैं। योनियों का स्वामित्व सारणी से भी स्पष्ट किया जा रहा है-

जीव	संवृत	विवृत	संवृतविवृत	सचित्त	अचित्त	मिश्र	शीत	उष्ण	शीतोष्ण
एकेन्द्रिय	✓	✗	✗	✓	✓	✓	✓	✓	✓
विकलेन्द्रिय	✗	✓	✗	✓	✓	✓	✓	✓	✓
गर्भज तिर्यंच पंचेन्द्रिय	✗	✗	✓	✗	✗	✓	✗	✗	✓
गर्भज मनुष्य	✗	✗	✓	✗	✗	✓	✗	✗	✓
सम्मूर्च्छिम तिर्यंच पंचेन्द्रिय	✗	✓	✗	✓	✓	✓	✓	✓	✓
सम्मूर्च्छिम मनुष्य	✗	✓	✗	✓	✓	✓	✓	✓	✓
देव	✓	✗	✗	✗	✓	✗	✗	✗	✓
नारक	✓	✗	✗	✗	✓	✗	✓	✓	✗

योनिकों और अयोनिकों का अल्पबहुत्व– योनि से उत्पन्न जीव 'योनिक' कहलाते हैं और योनि से उत्पन्न न होने वाले जीव 'अयोनिक' जीव कहलाते हैं। योनिक जीव और अयोनिक जीवों में तीन दृष्टियों से अल्पबहुत्व की गणना हो सकती है। वह इस प्रकार है-

(१) स्पर्शपरत्व की अपेक्षा से सबसे अल्प जीव शीतोष्ण योनि वाले, उनसे असंख्यातगुणे अधिक उष्णयोनिक जीव, उनसे अनन्त गुणे अधिक अयोनिक जीव और उनसे अनन्तगुणे अधिक शीतयोनिक जीव हैं।

(२) चेतनता की अपेक्षा से मिश्रयोनिक जीव सबसे कम, उनसे अचित्त-योनिक जीव असंख्यात गुणे अधिक, उनसे अयोनिक जीव अनन्तगुणे अधिक और उनसे सचित्तयोनिक जीव अनन्तगुणे अधिक हैं।

(३) आवरणपरत्व से सर्वाल्प संवृतविवृत योनिक जीव हैं, विवृतयोनिक जीव उनसे असंख्यातगुणे अधिक हैं, अयोनिक जीव उनसे अनन्तगुणे अधिक हैं और संवृतयोनिक जीव उनसे भी अनन्तगुणे अधिक हैं।[२०८]

योनि संख्या प्ररूपणा

योनि और कुल का निकट सम्बन्ध होने से योनिद्वार के अन्तर्गत ही योनि संख्या और कुल संख्या द्वार को सम्मिलित कर यहाँ उल्लेख किया गया है।

सामान्य तौर पर योनियों के नौ भेद किए जाते हैं, परन्तु विस्तार की अपेक्षा से ८४ लाख भेद भी स्वीकृत हैं। पृथ्वीकाय, अप्काय, तेजस्काय, वायुकाय, साधारण वनस्पतिकाय में प्रत्येक की सात लाख; प्रत्येक वनस्पतिकाय की दस लाख; द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय प्रत्येक की दो-दो लाख; देव, नारकी व तिर्यंच पंचेन्द्रिय प्रत्येक की चार लाख और मनुष्य की चौदह लाख योनियाँ हैं। अतः सब मिलाकर कुल चौरासी लाख योनियाँ होती हैं। वैसे तो लोक में अनन्त जीव हैं इसलिए व्यक्ति भेद से अनन्त योनियाँ सम्भव हैं, परन्तु समान वर्ण, गंध, रस, स्पर्शादि से युक्त बहुत सी योनियों की सामान्य जाति वाली एक योनि गिनाई जाती है, अतः सामान्य रूप से जीवों की चौरासी लाख योनियाँ स्वीकार की गई है।[२०९] आचारांग सूत्र के वृत्तिकार ने ८४ लाख योनियों की शुभ-अशुभ अपेक्षा से एक नयी दृष्टि प्रदान की है, जिसे उपाध्याय विनयविजय ने लोकप्रकाश में उद्धृत किया है तदनुसार असंख्यात आयुष्य वाले जाति सम्पन्न मनुष्यों की और संख्यात आयुष्य वाले चक्रवर्ती तथा तीर्थंकर नामगोत्र वालों की शुभ योनि और अन्यों की अशुभ योनि होती है। किल्विष देव की अशुभ व अन्य देवों की शुभयोनि हैं। तिर्यंच पंचेन्द्रिय में अश्वरत्न तथा गजरत्न शुभ एवं शेष अशुभ हैं। इसी प्रकार उत्तम वर्ण वाले एकेन्द्रिय रत्न, हीरा, माणक, मोती, पन्नादि शुभ हैं।[२१०]

कुल संख्या प्ररूपणा

योनि के आधार पर कुल उत्पन्न होता है।[२११] एक योनि में नाना प्रकार की जाति वाले जीवों के अनेक कुल होते हैं अतः जाति भेद को भी 'कुल' कहा गया है।[२१२] उदाहरणार्थ- आर्द्रतायुक्त छाने (गोबर का कण्डा) के पिंड में कृमि, कीड़े, बिच्छु आदि अनेक प्रकार के क्षुद्र प्राणियों के अनेक कुल होते हैं।[२१३] फिर भी सामान्य रूप से कुलों की संख्या एक करोड़ सत्तानवें लाख पचास हजार स्वीकार की गई है,[२१४] जिसका विवेचन निम्नानुसार है-

एकेन्द्रिय जीव– एकेन्द्रिय जीवों की कुल संख्या में मतवैभिन्य मिलता है। लोकप्रकाश, मूलाचार और गोम्मटसार में पृथ्वीकायिक, अप्कायिक, अग्निकायिक, वायुकायिक और वनस्पतिकायिक जीवों की कुल संख्या अनुक्रम से बाईस लाख करोड़, सात लाख करोड़, तीन लाख करोड़, सात लाख करोड़ और अट्ठाईस लाख करोड़ गिनाई गई है। आचारांग वृत्ति के अनुसार एकेन्द्रिय की कुल संख्या बत्तीस लाख कही गई है वहीं जीवाभिगम सूत्र में मात्र पुष्प की कुल संख्या १६ लाख कही गई है।

विकलेन्द्रिय जीव– द्वीन्द्रिय जीव की सात लाख करोड़, त्रीन्द्रिय की आठ लाख और चतुरिन्द्रिय की नौ लाख करोड़ कुल संख्या है।

पंचेन्द्रिय जीव– जलचर, खेचर, उरपरिसर्प, भुजपरिसर्प जीवों की क्रम से साढ़े बारह, बारह, दस और नव लाख करोड़ कुल संख्या है।

देव, नारकी और मनुष्य के कुल संख्या क्रम से छब्बीस लाख , पच्चीस लाख और चौदह लाख करोड़ हैं।[२१५]

सातवां एवं आठवां द्वार : भवस्थिति और काय स्थिति

किसी अवस्था में जीव कितने समय तक रहता है, इसे लोकप्रकाशकार ने तृतीय सर्ग में भवस्थिति (७वाँ) और कायस्थिति (८वाँ) द्वार से स्पष्ट किया है।

किसी क्षेत्र में स्थित वस्तु अथवा जीव की कालमर्यादा स्थिति कहलाती है। 'स्थिति' को राजवार्तिककार और सर्वार्थसिद्धिकार ने भी परिभाषित किया है।[२१६] पूज्यपादाचार्य ने इसे अधिक स्पष्ट करते हुए लिखा है कि "अपने द्वारा प्राप्त हुई आयु के उदय से उस भव में शरीर के साथ रहना स्थिति कही जाती है।[२१७]

जैन साहित्य में सान्तर-निरन्तर, सादि-अनादि, स्थिति-बंध आदि भिन्न-भिन्न स्थितियों का कथन प्राप्त होता है, परन्तु लोकप्रकाशकार ने भव और काय के रूप में जीव की स्थिति का वर्णन किया है। एक ही भव या आयुष्य की स्थिति भवस्थिति कहलाती है तथा एक ही प्रकार की काय में निरन्तर जन्म लेने की अवधि कायस्थिति कहलाती है। अतः सामान्य या विशेष रूप पर्याय में पृथ्वीकायादि जीव मृत्यु प्राप्त करके पुनः उसी काय में रहते हैं वह कायस्थिति कहलाती है।[२१८] कहने का अभिप्राय यह है कि आयुष्य कर्म के कारण एक भव में रहना भवस्थिति है तथा अनेक भवों में एक ही गति, जाति, काय आदि में रहना कायस्थिति है।

भवस्थिति के भेद

दो रूपों में भवस्थिति की पूर्णता होने से भवस्थिति के दो भेद माने जाते हैं-सोपक्रम भवस्थिति और निरुपक्रम भवस्थिति-

भवस्थितिस्तद् भवायुर्द्विविधं तच्च कीर्तितम्।
सोपक्रमं स्यात्तत्राद्यं द्वितीयं निरुपक्रमम्।।[२१९]

सोपक्रम आयुष्य– सोपक्रम अर्थात् उपक्रम सहित। उपक्रम अर्थात् निमित्तों के द्वारा आयुष्य नष्ट होकर मृत्यु हो जाना सोपक्रम आयुष्य कहलाता है। अध्यवसाय, निमित्त, आहार, वेदना, पराघात, स्पर्श और श्वासोच्छ्वास ये सात उपक्रम हैं, जिनसे आयुष्य नष्ट होता है-

अज्झवसाण निमित्ते आहारे वेयणापराघाए।
फासे आणापाणू सत्तविहं भिज्झए आउं।।[२२०]

उपर्युक्त सात कारणों से अकालमृत्यु होना सोपक्रम भवस्थिति कहलाती है। सातों कारणों का विस्तृत विवेचन इस प्रकार है- (१) राग, स्नेह व भय त्रिविध अध्यवसाय मृत्यु के कारण बनते हैं। (२) निमित्त से अर्थात् विषपान, शस्त्रघात आदि से मृत्यु होती है। (३) आहार से अर्थात् अत्यल्प, अत्यधिक, बहुत भारी, अतीव लूखा, विकारी या अहितकारी भोजन करने से मृत्यु होती है। (४) वेदना अर्थात् शूलि, फांसी आदि से; (५) पराघात अर्थात् किसी का अनिष्ट किया हो उसके आघात से; (६) स्पर्श से अर्थात् विषैले स्पर्श से और (७) श्वासोच्छ्वास अर्थात् किसी व्याधि के कारण जोर से श्वासोच्छ्वास चलने पर या रोकने पर मृत्यु होती है।[२२१]

निरुपक्रम आयुष्य– एक भव की आयुष्य पूर्ण कर मरना अथवा अकालमृत्यु न होना निरुपक्रम आयुष्य कहलाता है। असंख्यात वर्ष आयुष्य वाले मनुष्य, तिर्यंच, चरम शरीरी, नारकी, देव और तिरेसठ शलाका पुरुष निरुपक्रमी (अकालमृत्यु नहीं है जिसकी) आयुष्य वाले होते हैं। शेष सभी सोपक्रमी आयुष्य वाले होते हैं।[२२२]

सोपक्रम और निरुपक्रम आयुष्य के ये दो भेद मनुष्य और तिर्यंच गति में ही दृष्टिगोचर होते हैं। देव और नारक तो पूर्णतः निरुपक्रम आयुष्य वाले हैं। अतः चारों गतियों में भवस्थिति और कायस्थिति का विवेचन निम्नानुसार है-

षड्कायिक जीवों की भवस्थिति एवं कायस्थिति

सूक्ष्म एकेन्द्रिय– सूक्ष्म एकेन्द्रिय जीवों की भवस्थिति उत्कृष्ट अन्तर्मुहूर्त्त और जघन्यतः क्षुल्लक (छोटे) भवरूप अन्तर्मुहूर्त की होती है।[२२३] इनकी कायस्थिति त्रिविध होती है-

(1) ***अनादि अनन्त***– जो सूक्ष्म एकेन्द्रिय जीव कभी भी अनादि सूक्ष्म निगोद से नहीं निकलने वाले हैं, उनकी अनादि अनन्त कायस्थिति होती है।[२२४]

(2) ***अनादि सांत***– भूतकाल में जो सूक्ष्म एकेन्द्रिय जीव कभी भी सूक्ष्म निगोद में से बाहर नहीं आए हैं, परन्तु भविष्यकाल में आने वाले हैं उनकी अनादि सांत कायस्थिति होती है।[२२५] अथवा जो एक बार सूक्ष्म निगोद से बाहर आ गए हैं वे भी अनादि सान्त कायस्थिति वाले हैं।

(3) ***सादि सांत***– एक बार सूक्ष्म एकेन्द्रिय निगोद से निकल कर जो जीव पुनः निगोद में जाता है तथा वहाँ जितने समय तक रहता है वह कायस्थिति सादि सान्त है। इसका काल से मान असंख्यात उत्सर्पिणी-अवसर्पिणी तक हो सकता है।[२२६]

बादर एकेन्द्रिय– सकल पृथ्वीकाय की उत्कृष्ट भवस्थिति २२ हजार वर्ष है। उनकी भिन्न-भिन्न

स्थिति निम्नानुसार है[२२७]-

१. मृदु कोमल पृथ्वीकाय	उत्कृष्ट एक हजार वर्ष
२. कुमारी मिट्टी	उत्कृष्ट बारह हजार वर्ष
३. रेती सदृश	उत्कृष्ट चौदह हजार वर्ष
४. मनः शिल	उत्कृष्ट सोलह हजार वर्ष
५. पत्थर के टुकड़े	उत्कृष्ट अठारह हजार वर्ष
६. कठोर पत्थर	उत्कृष्ट बाईस हजार वर्ष

अप्काय की भवस्थिति उत्कृष्ट (अधिकतम) सात हजार वर्ष, वायुकाय की तीन हजार वर्ष, अग्निकाय की तीन अहोरात्रि, प्रत्येक वनस्पतिकाय की दस हजार वर्ष तथा साधारण वनस्पतिकाय की अन्तर्मुहूर्त होती है। उत्कृष्ट भवस्थिति में से अन्तर्मुहूर्त कम करने पर बादर एकेन्द्रिय पर्याप्त की उत्कृष्ट स्थिति आ जाती है। इन सभी की उत्कृष्ट व जघन्य अपर्याप्त स्थिति अन्तर्मुहूर्त है। पाँचों की जघन्य (न्यूनतम) भवस्थिति मात्र अन्तर्मुहूर्त ही है।[२२८]

सकल बादर एकेन्द्रिय जीवों की कायस्थिति सत्तर कोटाकोटि सागरोपम है।[२२९]

विकलेन्द्रिय– द्वीन्द्रिय की उत्कृष्ट भवस्थिति १२ वर्ष, त्रीन्द्रिय की उनपचास (४९) दिन, चतुरिन्द्रिय की छह मास है और जघन्य भवस्थिति सभी विकलेन्द्रिय की अन्तर्मुहूर्त है, जबकि पर्याप्त की स्थिति अन्तर्मुहूर्त से कम है।[२३०]

तीनों विकलेन्द्रियों की ओघ से कायस्थिति संख्यात सहस्रों वर्ष है, परन्तु पर्याप्त द्वीन्द्रिय की संख्यात वर्ष, त्रीन्द्रिय की संख्यात दिन और चतुरिन्द्रिय की संख्यात मास की कायस्थिति होती है।[२३१]

तिर्यंच पंचेन्द्रिय– तिर्यंच पंचेन्द्रिय जीवों की भवस्थिति और कायस्थिति निम्नानुसार है[२३२]

तिर्यंच पंचेन्द्रिय	उत्कृष्ट भवस्थिति		जघन्य भवस्थिति	कायस्थिति
	सम्मूर्च्छिम	गर्भज	मात्र अन्तर्मुहूर्त	सम्मूर्च्छिम
जलचर	पूर्व कोटि	पूर्व कोटि		सात पूर्व कोटि
चतुष्पद	८४ हजार वर्ष	तीन पल्योपम		
उरपरिसर्प	५३ हजार वर्ष	पूर्व कोटि		गर्भज
भुजपरिसर्प	४२ हजार वर्ष	पूर्व कोटि		तीन पल्योपम और
खेचर	७२ हजार वर्ष	पल्योपम के असंख्य अंश के समान	---	सात पूर्व कोटि

मनुष्य– सम्मूर्च्छिम मनुष्य की भवस्थिति और कायस्थिति दोनों जघन्य और उत्कृष्ट रूप से अन्तर्मुहूर्त ही होती है। गर्भज मनुष्यों में युगलिकों की उत्कृष्ट भवस्थिति तीन पल्योपम और शेष मनुष्यों की करोड़ पूर्व है। गर्भज मनुष्य के गर्भ की जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त्त एवं उत्कृष्ट बारह वर्ष होती है। गर्भज मनुष्य की कायस्थिति गर्भज तिर्यंच के समान होती है।[२३३]

देव और नारक– देव और नारक मरकर पुनः देव और नारक नहीं बनते हैं अतः उनकी कायस्थिति नहीं होती है। मात्र भवस्थिति ही होती है।[२३४] देवों और नारकों की उत्कृष्ट भवस्थिति तैंतीस सागरोपम और जघन्य दस हजार वर्ष है। त्रस रूप में नारकों की कायस्थिति जघन्यतः अन्तर्मुहूर्त्त और उत्कर्षतः दो हजार सागरोपम है।[२३५]

नरक, देव, मनुष्य और तिर्यंच- इन चार गतियों में भवस्थिति और कायस्थिति का निरूपण सुव्यवस्थित एवं स्पष्ट रूप से लोकप्रकाश में प्राप्त होता है। कायस्थिति का वर्णन व्याख्याप्रज्ञप्ति सूत्र के आधार पर किया गया है। देव एवं नारक की कायस्थिति नहीं है और भवस्थिति भी निरुपक्रम होने से निश्चित है। असंख्यात वर्ष वाले मनुष्य और तिरेसठ शलाका पुरुष की आयु निरुपक्रम है, शेष मनुष्यों की सोपक्रम है तथा कायस्थिति अन्तर्मुहूर्त्त है। तिर्यंच के एकेन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय तक में भवस्थिति और कायस्थिति अनेक प्रकार की है।

नौवां द्वार : शरीर विवेचन (देह द्वार)

देह का दूसरा नाम शरीर है। शरीर ही हमारी समस्त चेष्टाओं का आश्रय है। यह है तब तक संसार में परिभ्रमण है। जैन दर्शन के अनुसार जिस कर्मोदय से आत्मा शरीर की रचना करता है वह शरीर नामकर्म है। उस शरीर नामकर्म के उदय से औदारिकादिवर्गणा के पुद्गलस्कन्ध शरीर योग्य परिणामों से परिणत होते हुए जीव के साथ सम्बद्ध होते हैं उस पुद्गलस्कन्ध की संज्ञा शरीर है।[२३६] धवला टीकाकार अनन्तानन्त पुद्गलों के समवाय को शरीर कहते हैं- अणंताणं तप्पोग्गलसमवाओ सरीरं'[२३७]

जैनदर्शन में पाँच प्रकार के शरीरों का वर्णन है, जिनमें से तैजस एवं कार्मण शरीर मुक्ति के पूर्व तक अनादिकाल से जीव के साथ हैं। औदारिक एवं वैक्रिय शरीरों की प्राप्ति एक-एक भव के लिए होती है। मृत्यु के समय ये शरीर एक बार छूटते ही हैं।

शरीर के भेद- भिन्न-भिन्न औदारिक, वैक्रियादि शरीरनाम कर्म के उदय से भिन्न-भिन्न शरीर होते हैं, यथा- १. औदारिक २. वैक्रिय ३. आहारक ४. तैजस और ५. कार्मण शरीर।[२३८] सांख्य दर्शन शरीर के दो भेद स्वीकारते हैं- सूक्ष्म शरीर और स्थूल शरीर। बुद्धि, अहंकार, इन्द्रिय और तन्मात्राओं का आश्रयभूत 'अंगुष्ठमात्र पुरुष' सूक्ष्म शरीर नित्य है। स्थूल शरीर वह है जिसके

आविर्भाव का निमित्त होता है और जो अनित्य है।[२३६]

(1) औदारिक शरीर– 'उदारैः पुद्गलैर्जातं औदारिकं भवेत्'[२४०] अर्थात् उदार पुद्गलों से बना शरीर औदारिक शरीर कहलाता है। उदार शब्द से प्रयोजन रूप अर्थ में ठक् प्रत्यय से औदारिक शब्द-'उदार+ठक्'-उदारे भवम् औदारिकम्- बनता है।[२४१]

(2) वैक्रिय शरीर– शरीर के स्वाभाविक आकार के अतिरिक्त विभिन्न आकार बनाना विक्रिया कहलाता है और यह विक्रिया जिस शरीर का प्रयोजन बनता है वह वैक्रिय शरीर कहलाता है। पूज्यपादाचार्य के अनुसार शुभ या अशुभ अनेक प्रकार की अणिमा, महिमा आदि ऋद्धियों[२४२] से युक्त शरीर द्वारा आत्मा के प्रदेशों में जो परिस्पन्दन होता है वह विक्रिया है। यह विक्रिया करने वाला शरीर वैक्रिय शरीर होता है।[२४३]

(3) आहारक शरीर– आहारक ऋद्धि प्राप्त प्रमत्त मुनि असंयम के परिहार और संदेह के निवारण रूपी प्रयोजनवश आहारकशरीर नामकर्म के उदय से जिस शरीर की रचना करता है वह आहारक शरीर कहलाता है।[२४४] यह आहारक शरीर रसादिक धातु[२४५], संहननों से रहित, समचतुरस्र संस्थान से युक्त, आकाश व स्फटिक रत्न के समान स्वच्छ निर्मल, अनुत्तरविमान के देवों से भी अधिक कान्ति वाला, शुभनामकर्मोदय से शुभ अवयवों से युक्त होता है।[२४६] यह एक हस्तप्रमाण[२४७] वाला उत्तमांग शिर में से उत्पन्न होता है।

(4) तैजस शरीर– तैजस् नामकर्म के उदय से तेजस् अर्थात् उष्णता से होने वाला शरीर तैजस शरीर कहलाता है- 'तेजसि भवं तैजसम्'[२४८] यह शरीर संसारी जीव का अनुगामी होता है। आहार पचाने में भी यह समर्थ होता है।[२४९] तैजस शरीर प्राप्त जीव ही विशिष्ट तप से तेजोलेश्या और शीतलेश्या की लब्धि प्राप्त कर सकता है। यदि जीव प्रसन्न और तुष्टमान हो तो वह शीतलेश्या से अन्य जीव का अनुग्रह कर देता है और यदि रोष युक्त हो तो जीव का तेजोलेश्या से निग्रह कर देता है।[२५०]

(5) कार्मण शरीर– क्षीर-नीरवत् जीव प्रदेशों के साथ में मिले हुए कर्म प्रदेशों का पुद्गल स्कन्ध कार्मण शरीर होता है, जो कार्मण नामकर्म के उदय से होता है। कार्मण और तैजस शरीर मिलकर जीव को जन्मान्तर में जाने के लिए सहायक बनते हैं।[२५१]

उपाध्याय विनयविजय ने तत्त्वार्थ सूत्र, सर्वार्थसिद्धि, गोम्मटसार, पंचास्तिकाय, षट्खण्डागम आदि ग्रन्थों में उपलब्ध पाँचों शरीरों के विशेष अन्तर को एक साथ उद्धृत कर कुछ नवीन प्रभेदों का भी उल्लेख किया है। वे इस प्रकार हैं-

(6) पुद्गल कृत भेद– औदारिक शरीर स्थूल पुद्गलों से निर्मित होता है एवं अन्य शरीर उत्तरोत्तर सूक्ष्म पुद्गलों के बने होते हैं।

संजातं पुद्गलैः स्थूलैर्देहमौदारिकं भवेत्।
सूक्ष्मपुद्गलजातानि ततोऽन्यानि यथोत्तरम्।।[२५२]

(7) प्रदेशसंख्या कृत भेद– औदारिक से आहारक शरीर उत्तरोत्तर असंख्यातगुणे प्रदेशों वाले होते हैं और अन्तिम दो शरीर उत्तरोत्तर अनन्तगुणे प्रदेश प्रमाण वाले होते हैं।

यथोत्तरं प्रदेशैः स्युःसंख्येयगुणानि च।
आतृतीयं ततोऽनन्तगुणे तैजसकार्मणे।।[२५३]

(8) चतुर्गतिक कृत भेद– औदारिक शरीर के धारक तिर्यंच और मनुष्य हैं और वैक्रिय शरीर के धारी सामान्य रूप से देव और नारकी जीव होते हैं। लब्धि प्राप्त जीव, वायुकाय, संज्ञी तिर्यंच और मनुष्य को भी वैक्रिय शरीर प्राप्त होता है। आहारकलब्धि प्राप्त छठे गुणस्थानवर्ती प्रमत्त चौदपूर्वधारी मुनियों को आहारक शरीर प्राप्त होता है। तैजस और कार्मण शरीर सर्व संसारी जीवों के होते हैं।[२५४]

(9) स्वामिकृत भेद– एक संसारी जीव अधिकाधिक एक साथ दो, तीन अथवा चार शरीरों का स्वामी हो सकता है। एक साथ पाँचों शरीर और मात्र एक शरीर एक जीव में संभव नहीं है। क्योंकि वैक्रिय और आहारक शरीर एक जीव में एक साथ नहीं होते हैं तथा तैजस और कार्मण दोनों सहचर होते हैं अतः एक जीव में मात्र एक शरीर संभव नहीं है।[२५५] तत्त्वार्थ सूत्र और उसकी टीकाओं[२५६] में स्वामिकृत भेद विस्तृत रूप से चर्चित है।

(10) स्थानकृत भेद– औदारिक शरीरधारक जंघा चारण मुनियों की तिरछे लोक में गति रुचक पर्वत पर्यन्त होती है। विद्या चारण और विद्याधर मुनियों की नन्दीश्वर द्वीप तक गति होती है और ऊर्ध्व गति तीनों की पंडक वन तक होती है। वैक्रिय शरीरधारी जीव असंख्यात द्वीप समुद्र तक जाता है। इसी प्रकार आहारक शरीर महाविदेह क्षेत्र तक गति करता है। जीव के जन्मान्तर में साथ होने से तैजस और कार्मण शरीर की गति सर्वलोक में होती है।[२५७]

(11) प्रयोजनकृत भेद– औदारिकादि पाँचों शरीर भिन्न-भिन्न प्रयोजनार्थ कर्म करते हैं। औदारिक शरीर का प्रयोजन धर्म-अधर्म का उपार्जन करना, सुख-दुःख का अनुभव करना, केवलज्ञान प्राप्त करना और मोक्ष पद प्राप्त करना है।[२५८] वैक्रिय शरीर का प्रयोजन एकत्व, अनेकत्व, सूक्ष्मत्व, स्थूलत्व आकाश गमन आदि करना है।[२५९] आहारक शरीर सूक्ष्म शंकाओं का निवारण और जिनेन्द्र ऋद्धि दर्शन का कर्म करता है।[२६०] शाप और अनुग्रह की शक्ति एवं भोजन पचाने की शक्ति तैजस शरीर प्रदान करता है तथा जन्मान्तर ग्रहण करने में गति का कार्य कार्मण शरीर करता है।[२६१]

इस तरह पाँचों शरीर स्व-कर्म करते हुए सतत क्षय होते रहते हैं।

(12) प्रमाण अवगाह कृत भेद– औदारिक शरीर का उत्कृष्ट प्रमाण एक हजार योजन से कुछ अधिक होता है। वैक्रिय शरीर का एक लाख योजन से थोड़ा अधिक है। आहारक शरीर का एक हाथ प्रमाण है। तैजस और कार्मण शरीर का प्रमाण केवली समुद्घात के समय लोकाकाश के सदृश होता है।[२६२] अतः आहारक शरीर सबसे अल्प प्रमाणक्षेत्र में अवगाहन करता है, औदारिक शरीर उससे संख्यात् गुणा प्रदेशों में, वैक्रिय शरीर, औदारिक शरीर से संख्यात गुणा अधिक और अन्तिम दो शरीर सर्वलोक का अवगाहन करते हैं।[२६३]

सभी शरीरों की जघन्य और उत्कृष्ट रूप में अवगाहना का विस्तृत उल्लेख प्रज्ञापना सूत्र ग्रन्थ में भी मिलता है। आहारक शरीर की जघन्य अवगाहना एक रत्नि प्रमाण (एक हाथ) से कुछ कम होती है[२६४] और नारकी जीवों की तैजस शरीर की जघन्य अवगाहना एक हजार योजन होती है।[२६५] शेष सभी औदारिक, वैक्रिय, तैजस एवं कार्मण शरीर की जघन्य अवगाहना अंगुल का असंख्यातवां भाग होती है। समुच्चय औदारिक शरीर की उत्कृष्ट अवगाहना एक हजार योजन, वैक्रिय शरीर की एक लाख योजन से कुछ अधिक, आहारक शरीर की पूर्ण रत्नि प्रमाण और तैजस शरीर की लोकान्त तक होती है, परन्तु मारणान्तिक समुद्घात के समय जीव की तैजस एवं कार्मण शरीर की उत्कृष्ट अवगाहना, इस प्रकार होती है[२६६]–

मारणान्तिक समुद्घात समयवर्ती जीवों की तैजस एवं कार्मण शरीर की उत्कृष्ट अवगाहना

क्र. सं.	जीवों के नाम	उत्कृष्ट अवगाहना
१	एकेन्द्रिय	लोक के एक छोर से दूसरे छोर तक ।
२	विकलेन्द्रिय	तिर्यक्लोक से लोकान्त तक।
३	नारकी	अधोलोक में अन्तिम सातवें नरक तक
४	तिर्यंच पंचेन्द्रिय	विकलेन्द्रिय जीव के समान तिर्यक्लोक से लोकान्त तक
५	मनुष्य	भरत क्षेत्र से लोकान्त तक
६	भवनपति, व्यन्तर, ज्योतिष्क और पहले दो देवलोक के देव	अधोलोक में शैला नामक नरक पर्यन्त, तिरछे लोक में स्वयंभूरमण समुद्र की किनारे की वेदिका तक और ऊर्ध्वलोक में अन्तिम सिद्धशिला के ऊर्ध्वतल तक।
७	सनत्कुमारादि और सहस्रार देवलोक तक के देव	अधोलोक में पाताल कलश के बीच तीसरे भाग तक, ति रछे लोक में स्वयंभूरमण समुद्र पर्यन्त और ऊर्ध्वलोक में अच्युत देवलोक तक।

८	आनत देवलोक से लेकर अच्युत देवलोक के देव	अधोलोक में अधोग्राम पर्यन्त, तिरछे लोक में मनुष्य क्षेत्र तक और ऊर्ध्वलोक में अच्युत देवलोक पर्यन्त।
९	ग्रैवेयक और अनुत्तर विमान के देव	अधोलोक में अधोग्राम तक, ऊर्ध्वलोक में स्व स्थान पर्यन्त और तिरछेलोक में मनुष्य क्षेत्र तक

तैजस शरीर और कार्मण शरीर का अविनाभावी सम्बन्ध है। अतः तैजस एवं कार्मण शरीर की अवगाहना समान ही होती है।[२६७]

(13) स्थितिकृत भेद– कौनसा शरीर कितनी अवधि तक रह सकता है, यह उसकी स्थिति कहलाती है। स्थिति के अनुसार सबसे अल्पावधि वाला शरीर आहारक शरीर है जो जघन्य और उत्कृष्ट रूप में अन्तर्मुहूर्त पर्यन्त ही रहता है।[२६८] औदारिक शरीर की जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट तीन पल्योपम है।[२६९] वैक्रिय शरीर की स्थिति में मतभेद है। जीवाजीवाभिगम सूत्र के अनुसार कृत्रिम वैक्रिय शरीर की जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त है। उत्कृष्ट काल नारकियों में अन्तर्मुहूर्त का, तिर्यंच एवं मनुष्य में चार अन्तर्मुहूर्त का और देवों में अर्धमास का होता है।[२७०] जबकि भगवतीसूत्र[२७१] में वायुकाय, संज्ञितिर्यंच और मनुष्य की कृत्रिम वैक्रिय स्थिति एक अन्तर्मुहूर्त की निरुपित है। लोकप्रकाशकार[२७२] वैक्रिय शरीर की जघन्य स्थिति दस हजार वर्ष और उत्कृष्ट तैंतीस सागरोपम होने का उल्लेख करते हैं।[२७३] तैजस और कार्मण शरीर की स्थिति भव्य और अभव्य जीवों के अनुसार क्रमशः सान्त और अनादि-अनन्त है।[२७४]

(14) अन्तरकाल कृत भेद– एक बार एक शरीर प्राप्त होने के बाद पुनः वैसा ही शरीर प्राप्त होने के मध्य व्यतीत काल को उस शरीर का अन्तरकाल कहा जाता है।[२७५] औदारिक शरीर का जघन्य अन्तरकाल एक अन्तर्मुहूर्त व उत्कृष्ट अन्तरकाल अन्तर्मुहूर्त अधिक तैंतीस सागरोपम होता है। जघन्य काल पृथ्वीकाय आदि जीवों की अपेक्षा से है तथा उत्कृष्ट अन्तरकाल नरक एवं देवगति के मध्य व्यतीत काल की अपेक्षा से है। वैक्रिय शरीर का जघन्य अन्तरकाल अन्तर्मुहूर्त एवं उत्कृष्ट काल वनस्पतिकाय के काल के समान है। आहारक शरीर का अन्तरकाल जघन्य अन्तर्मुहूर्त तथा उत्कृष्ट कुछ कम अर्धपुद्गल परावर्तन के समान है। तैजस और कार्मण शरीर या तो अनादि अनन्त होते हैं या अनादि सान्त, किन्तु ये दोनों ही बिना अन्तरकाल के होते हैं। सिद्धावस्था में जीव से इनका विच्छेद हो जाता है।[२७६]

(15) अल्पबहुत्व कृत भेद– आहारक शरीर धारण करने वाले जीव सबसे अल्प हैं। उनसे असंख्यात गुणा वैक्रिय-शरीरी हैं, क्योंकि वैक्रिय शरीर धारण करने वाले नारकी, देव और मनुष्य जीव असंख्य हैं। साधारण वनस्पति के प्रत्येक अंग में जीव अनन्त हैं, परन्तु शरीर असंख्यात ही

होने से औदारिक शरीरी भी वैक्रिय से असंख्यात गुणा अधिक हैं। औदारिक से अनन्त गुना अधिक तैजस और कार्मण शरीर वाले होते हैं।[२७७]

शरीरों का स्वामित्व

एक जीव को कितने शरीरों का स्वामित्व होता है इसका वर्णन लोकप्रकाश में उपाध्याय विनयविजय ने किया है। पृथ्वीकायादि सूक्ष्म एकेन्द्रिय जीवों को तैजस, कार्मण और औदारिक शरीर होता है। अनन्त निगोदों का सर्व साधारण एक औदारिक शरीर है, उनमें तैजस एवं कार्मण शरीर पृथक्-पृथक् होते हैं।[२७८] वायुकाय को छोड़कर बादर एकेन्द्रिय भी इन्हीं तीन शरीरों के अधिकारी होते हैं। वायुकाय पूर्वोक्त शरीर के साथ वैक्रिय शरीर का भी स्वामित्व रखता है।[२७९] विकलेन्द्रिय के तीन शरीर औदारिक, तैजस और कार्मण हैं।[२८०] सम्मूर्च्छिम मनुष्य के प्रथम तीन शरीर होते हैं। सम्मूर्च्छिम तिर्यंच पंचेन्द्रिय और युगलिकों में विकलेन्द्रिय के समान तीन शरीर होते हैं। संख्यात आयुष्य वाले मनुष्य में पांच शरीर होते हैं। असंख्यात आयुष्य वाले मनुष्यों को आहारक और वैक्रिय दो शरीर नहीं होते, केवल तीन शरीर होते हैं।[२८१] देव और नारक तैजस, कार्मण और वैक्रिय तीन देहों के स्वामी होते हैं।[२८२]

निरन्तर क्षरण होने वाला पुद्गलों का स्कन्ध 'शरीर' औदारिक, वैक्रिय, आहारक, तैजस और कार्मण भेद से पाँच प्रकार का है। शरीर के ये पाँच भेद जैनेतर दर्शनों से जैन दर्शन का वैशिष्ट्य प्रतिपादित करते हैं। उपाध्याय विनयविजय ने तत्त्वार्थ सूत्र, सर्वार्थसिद्धि, गोम्मटसार, पंचास्तिकाय, षट्खण्डागम आदि ग्रन्थों में उपलब्ध पाँचों शरीर के प्रभेदों को एक साथ उद्धृत कर कुछ और नए चतुर्गतिकृत, स्थानकृत और प्रयोजनकृत प्रभेदों का भी उल्लेख किया है।

दसवां द्वार : संस्थान-निरूपण

शरीरनामकर्म से प्राप्त शरीर के संस्थानों/आकारों का उल्लेख विनयविजय ने दसवें 'संस्थान' द्वार के अन्तर्गत किया है।

'संतिष्ठते, संस्थीयतेऽनेन इति, संस्थितिर्वा संस्थानम्'[२८३] भट्ट अकलंक के अनुसार सम्यक् स्थिति संस्थान कहलाती है। 'संस्थान का अर्थ आकृति है,'[२८४] ऐसा पूज्यपादाचार्य स्वीकार करते हैं। जिस कर्मोदय से औदारिकादि शरीरों की भिन्न-भिन्न आकृति बनती है वह संस्थान है।[२८५] कषायपाहुड[२८६] में त्रिकोण, चतुष्कोण और गोल आदि आकार को संस्थान की संज्ञा दी गई है। लोकप्रकाशकार ने संस्थान को एक लाक्षणिक परिभाषा दी है-

सदसल्लक्षणोपेतप्रतीकसन्निवेशजम्। शुभाशुभाकाररूपं षोढा संस्थानमंगिनाम्।।[२८७]

देहधारियों के सत्–असत् लक्षणों से युक्त और शुभ–अशुभ आकार या युक्त आकृति संस्थान है। इनके अवयवों का सन्निवेश छः प्रकार का होता है। अतः औदारिकादि शरीरी जीवों के द्वारा कर्मोदय से शुभ–अशुभ लक्षणों से युक्त भिन्न–भिन्न आकृतियाँ ग्रहण करना संस्थान कहलाता है।

संस्थान भेद-

समचतुरस्रं न्यग्रोधसादिवामनकुब्जहुंडानि।
संस्थानान्यंगे स्युः प्राक्कर्मविपाकतोऽसुमताम्।।[२९९]

आगम में संस्थान के समचतुरस्र आदि छह भेद प्रसिद्ध हैं,[२९६] जिन्हें आचार्य पुष्पदन्त भूतबलि[२९०], भट्ट अकलंक[२९१] और उपाध्याय विनयविजय आदि विद्वान् अंगीकार करते हैं। जबकि पूज्यपादाचार्य देवनन्दी संस्थान के इत्थं और अनित्थं दो भेद स्वीकार करते हैं।[२९२] द्रव्यसंग्रह ग्रन्थ के टीकाकार भी संस्थान के दो भेद मानते हैं जिनके नाम हैं- व्यक्त और अव्यक्त।[२९३]

(1) समचतुरस्र संस्थान– सब ओर से शोभन अवयवों वाला शरीर समचतुरस्र संस्थान कहलाता है। इसका तात्पर्य है कि जिस शरीर के सभी अंग अपने-अपने प्रमाण के अनुसार होते हैं और दोनों हाथों और दोनों पैरों के कोण पद्मासन से बैठने पर समान होते हैं वह शरीर सब ओर से शोभन अवयवों वाला समचतुरस्र संस्थान कहलाता है- "आद्यं चतुरस्रं संस्थानं सर्वतः शुभम्।"[२९४] अकलंक के तत्त्वार्थराजवार्तिक[२९५] और आचार्य पुष्पदन्त भूतबलि के षट्खण्डागम[२९६] में समचतुरस्रसंस्थान से सम्बन्धित यही अभिप्राय उपलब्ध होता है।

(2) न्यग्रोध परिमण्डल संस्थान– न्यग्रोध अर्थात् वटवृक्ष और परिमंडल का अर्थ है सब ओर का मण्डल। न्यग्रोध के परिमण्डल के समान जिस शरीर के अवयवों की रचना होती है वह न्यग्रोध परिमंडल शरीर संस्थान है। वटवृक्ष जिस प्रकार नीचे से छोटा और ऊपर से विशाल होता है उसी प्रकार नाभि से नीचे लघुप्रदेशों वाले और नाभि से ऊपर के भारी प्रदेशों वाले शरीरावयव की रचना न्यग्रोधपरिमण्डल संज्ञा से अभिहित होती है।[२९७]

(3) सादि संस्थान– न्यग्रोध से ठीक विपरीत ऊपर से सूक्ष्म और नीचे से स्थूल वल्मीक या शाल्मलि वृक्ष के समान शरीर की रचना सादि संस्थान है। इस संस्थान वाला शरीर नीचे के भाग में शुभ एवं ऊपर से अशुभ लक्षणों से युक्त होता है।[२९८] इस तीसरे संस्थान के नाम में विद्वानों के भिन्न-भिन्न मत प्राप्त होते हैं। षट्खण्डागम[२९९] में यह 'स्वाति', पंचसंग्रह[३००] की टीका में 'साचि' और लोकप्रकाश[३०१] में 'सादि' संज्ञा से अभिहित है।

(4) वामन संस्थान– शरीर के सभी अंग और उपांगों का सामान्य आकार से छोटा होना 'वामन

संस्थान' है और जिस कर्म से यह संस्थान प्राप्त होता है वह कर्म 'वामनशरीर संस्थान' नामकर्म है।[३०२] विनयविजय के अनुसार मस्तक, गर्दन, हाथ-पैर मनोहर शुभलक्षणों से युक्त हों और शेष शरीर के अवयव बौने हों वह वामन शरीर संस्थान है।[३०३]

(5) कुब्ज संस्थान– पीठ पर बहुत से पुद्गलों का बड़ा पिण्ड बनना कुब्ज या कुबड़ापन कहलाता है। ऐसा कुब्ज अवयवों वाला शरीर कुब्ज शरीर संस्थान होता है।[३०४] जिस शरीर में मस्तक, गर्दन, हाथ और पैर अशुभ और शेष अवयव सुन्दर होते हैं उसे लोकप्रकाशकार कुब्ज शरीर संस्थान कहते हैं।[३०५]

(6) हुण्डक संस्थान– विषम आकार वाले पाषाणों से भरी हुई मशक के समान सभी ओर से विषम अवयवों वाला शरीर हुण्डक शरीर संस्थान कहलाता है।[३०६] विनयविजय के अनुसार जिस शरीर के सभी अवयव खराब अशुभ लक्षणों से युक्त होते हैं, वह शरीर हुण्डक संस्थान है।[३०७]

उपर्युक्त ६ प्रसिद्ध संस्थानों के अतिरिक्त पूज्यपाद देवनन्दी एवं द्रव्यसंग्रह के टीकाकार ब्रह्मदेव के आधार पर इत्थं, अनित्थं तथा व्यक्त-अव्यक्त के रूप में भी विनयविजय ने संस्थानों का निरूपण किया है।

(7) इत्थं–अनित्थं संस्थान– जिस आकार की किसी के साथ तुलना की जा सकती है वह इत्थं संस्थान और किसी के साथ अतुलनीय आकार अनित्थं संस्थान कहलाता है। यथा- मेघ, नदी, सागर का जल आदि अनियत रचना विशेष होने से अनित्थं शरीर संस्थान स्वरूप हैं तथा गेंद, स्टूल, किताब आदि पदार्थों की रचना गोल, त्रिकोण, चतुष्कोण आदि रूप में नियत होने से इत्थं शरीर संस्थान स्वरूप है।[३०८]

(8) व्यक्त–अव्यक्त संस्थान– जिस आकार का वृत्त, त्रिकोण, चतुष्कोण आदि निश्चित कथन किया जा सकता है वह व्यक्त संस्थान होता है तथा जिस रचना विशेष का कोई निश्चित कथन नहीं किया जा सकता है वह अव्यक्त संस्थान कहलाता है- 'वृत्तत्रिकोणचतुष्कोणादि-व्यक्ताव्यक्तरूपं बहुधा संस्थानम्।[३०९]

संस्थानों का स्वामित्व

सर्व सूक्ष्म एकेन्द्रिय जीवों के हुण्डक संस्थान होता है।[३१०] बादर एकेन्द्रियों के हुण्डक संस्थान भी भिन्न-भिन्न रूपों में दृष्टिगोचर होता है। पृथ्वीकाय का शरीर मसूर और चन्द्राकार है। अप्काय स्तिबुक की आकृतिवाला है। अग्निकाय का शरीर सूई के आकार के समान है और वायुकाय शरीर ध्वजा के आकार के तुल्य है। प्रत्येक और साधारण दोनों प्रकार की वनस्पतिकाय के शरीर का

आकार अकथनीय है।[३११]

विकलेन्द्रिय[३१२], सम्मूर्च्छिम तिर्यंच पंचेन्द्रिय[३१३] और सम्मूर्च्छिम मनुष्य[३१४] के मात्र हुण्डक संस्थान है। गर्भज तिर्यंच पंचेन्द्रिय के सर्व संस्थान होते हैं।[३१५] संख्यात आयुष्य वाले मनुष्य के सर्व और असंख्यात आयुष्य वाले मनुष्य के मात्र समचतुरस्र संस्थान होता है।[३१६] देवों के सुन्दर रम्य समचौरस[३१७] एवं नारक जीवों के हुण्डक संस्थान होता है।[३१८]

लोकप्रकाशकार ने सत्-असत् और शुभ-अशुभ लक्षणों से युक्त आकृति रूप संस्थान की लाक्षणिक परिभाषा करते हुए संस्थानों के भेदों का अन्य ग्रन्थों में मिलने वाले संज्ञा शब्द सहित उल्लेख किया है।

समीक्षण

१. द्रव्य, क्षेत्र, काल एवं भाव के आधार पर लोक का निरूपण करना जैन दर्शन का अपना वैशिष्ट्य है। साधारणतः लोक में एवं अन्य दर्शनों में भी द्रव्यलोक को ही लोक माना जाता है। किन्तु जैन दर्शन में क्षेत्र, काल एवं भाव की दृष्टि से भी लोक का निरूपण हुआ है। हरिभद्रसूरि के लोक तत्त्व निर्णय ग्रन्थ में द्रव्यलोक, क्षेत्रलोक, काललोक एवं भावलोक का कथन होने के पश्चात् उपाध्याय विनयविजय का महान् योगदान रहा कि उन्होंने लोकप्रकाश ग्रन्थ के ३७ सर्गों में इन चारों लोकों का विस्तार से विवेचन किया है जिसमें प्रायः समग्र जैन दर्शन समाहित हो गया है।

२. द्रव्यलोक से आशय जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल इन षड् द्रव्यों का समूह है। लोक का विस्तार क्षेत्रलोक है। समय, आवलिका आदि का व्यवहार तथा भूत, भविष्य और वर्तमान में लोक की अवस्थिति काललोक है। षड्द्रव्यों के अनन्त पर्याय रूप भावों को ही भावलोक कहा गया है।

३. द्रव्यलोक के अन्तर्गत षड्द्रव्यों का विवेचन भी द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव और गुण इन पाँच अपेक्षाओं से किया गया है। धर्मास्तिकाय जीव एवं पुद्गल की गति में निमित्त बनता है, अधर्मास्तिकाय स्थिति में निमित्त बनता है, आकाशास्तिकाय सभी द्रव्यों को स्थान देता है, काल से सभी द्रव्यों का परिणमन होता है, पुद्गल में वर्ण, गंध, रस और स्पर्श होते हैं तथा जीव ज्ञानोपयोग एवं दर्शनोपयोग से मुक्त होता है।

४. उपाध्याय विनयविजय ने जीवद्रव्य का जितना विस्तार से वर्णन किया है उतना अन्य द्रव्यों का नहीं। धर्म, अधर्म आदि द्रव्यों का आवश्यक विवेचन तो किया ही है, पुद्गल द्रव्य पर भी विशेष प्रकाश डाला है। कालद्रव्य का काललोक में अधिक विवेचन किया है। आकाश

द्रव्य का भी यथावश्यक विवेचन हुआ है। किन्तु जीव द्रव्य का ३७ द्वारों से व्यवस्थित विवेचन किया है।

५. लोकप्रकाशकार ने पुद्गल द्रव्य का लक्षण करते हुए इसमें ग्रहण गुण स्वीकार किया है, क्योंकि मात्र यही एक द्रव्य है जो इन्द्रिय द्वारा ग्रहण किया जाता है। लोकप्रकाश में पुद्गल के बन्धन, गति, संस्थान, भेद, वर्ण, गंध, रस, स्पर्श, अगुरुलघु और शब्द इन परिणामों के स्वरूप पर प्रकाश डालते हुए इनके भेदों का भी निरूपण किया गया है।

६. परमाणु का प्रतिपादन जैन दर्शन भी करता है। जैन दर्शन वैशेषिक दर्शन की भांति परमाणु को नित्य नहीं मानता। जैन दर्शन के अनुसार परमाणु में भी वर्ण, गंध, रस और स्पर्श होते हैं। द्रव्यार्थिक नय से ये परमाणु शाश्वत होते हैं तथा पर्यायार्थिक नय से इन्हें वर्णादि के परिवर्तन के कारण अशाश्वत माना गया है।

७. धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय द्रव्यों की मान्यता जैन दर्शन की निजी विशेषता है। इस प्रकार के अमूर्त द्रव्यों की परिकल्पना किसी अन्य भारतीय दर्शन में नहीं है। सांख्य दर्शन में अवश्य त्रिगुणात्मक प्रकृति के रजोगुण से गति, तमोगुण से स्थिति का ग्रहण किया गया है।

८. न्याय वैशेषिक आदि दर्शन जहाँ शब्द को आकाश का गुण स्वीकार करते हैं वहाँ जैन दर्शन शब्द को पुद्गल मानते हैं तथा आकाश का गुण अवगाहन मानते हैं। अवगाहन गुण के कारण ही आकाश अन्य द्रव्यों को स्थान देता है।

९. जैन दर्शन में जीवों की संख्या अनन्त स्वीकार की गई है तथा सब जीवों की स्वतंत्र सत्ता मानी गई है। सब अपने अपने कर्मों के अनुसार फल प्राप्त करते हैं। जीव के मुख्यतः दो प्रकार हैं- संसारी और सिद्ध। संसारी जीवों के विभिन्न अपेक्षाओं से दो, तीन, चार यावत् बाईस भेद निरूपित किए गए हैं। त्रस और स्थावर के आधार पर दो; स्त्रीवेद, पुरुषवेद, नपुंसकवेद के आधार पर तीन; नरकगति, तिर्यंचगति, मनुष्यगति एवं देवगति के आधार पर चार; एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय एवं पंचेन्द्रिय के आधार पर पाँच; पृथ्वीकाय, अप्काय, तेजस्काय, वायुकाय, वनस्पतिकाय एवं त्रसकाय के आधार पर छह भेद प्रसिद्ध हैं।

१०. उपाध्याय विनयविजय ने जीवों की विभिन्न अवस्थाओं का विवेचन जीवों के मुख्यतः अग्रांकित भेदों के आधार पर किया है- १. सूक्ष्म एकेन्द्रिय २. बादर एकेन्द्रिय ३. द्वीन्द्रिय ४. त्रीन्द्रिय ५. चतुरिन्द्रिय ६. तिर्यंच पंचेन्द्रिय ७. मनुष्य ८. देव और ९. नारक। इनके पर्याप्त और अपर्याप्त अवस्थाओं के आधार पर भी भेद किए गए हैं। एकेन्द्रिय के पाँच

प्रकार हैं- पृथ्वीकायिक, अप्कायिक, तेजस्कायिक, वायुकायिक और वनस्पतिकायिक। ये सभी सूक्ष्म और बादर होते हैं। मात्र वनस्पतिकाय के तीन प्रकार हैं- सूक्ष्म, साधारण और प्रत्येक। वनस्पतिकाय का जो साधारण भेद है उसे निगोद भी कहते हैं। ऐसी अवधारणा है कि निगोद में एक शरीर के आश्रित अनेक जीव रहते हैं, इसलिए इसे अनन्तकायिक वनस्पति भी कहते हैं।

११. वनस्पतिकाय में जीव का प्रतिपादन जैन दर्शन में अत्यन्त प्राचीन है। आधुनिक विज्ञान ने भी इसे सिद्ध कर दिया है। फल, फूल, छाल, मूल, पत्ते, बीज आदि सबमें जैन दर्शन जीवत्व अंगीकार करता है।

१२. पंचेन्द्रिय के जलचर, स्थलचर, परिसर्प, खेचर आदि भेद किए गए हैं। मनुष्य के पन्द्रह कर्मभूमि, ३० अकर्मभूमि और ५६ अन्तर्द्वीप के आधार पर भेद निरूपित हैं। देवों के मुख्यतः चार प्रकार हैं- भवनपति, व्यन्तर, ज्योतिषी और वैमानिक।

१३. कौनसा जीव कहाँ रहता है इसका निरूपण उपाध्याय विनयविजय ने स्थानद्वार के अन्तर्गत किया है। जन्म के आधार पर उनकी निजस्थिति, समुद्घात और उपपात के द्वारा लोक के किस स्थान को जीव अवगाहित करता है, इसका निरूपण व्यवस्थित रीति से प्राप्त होता है। इसके अनुसार मनुष्य का अस्तित्व मात्र तिर्यक्लोक की कर्मभूमि, अकर्मभूमि, छप्पन अन्तरद्वीप, अढ़ाई द्वीप समुद्र इस तरह ४५ लाख योजन तक सीमित है। सूक्ष्म एकेन्द्रिय जीव सर्वलोकव्यापी है, किन्तु बादर एकेन्द्रिय जीवों का स्थान भिन्न-भिन्न है।

१४. पर्याप्ति का भी सम्बन्ध जीवों से है। आहार, शरीर, इन्द्रिय, श्वासोच्छ्वास, भाषा और मन के रूप में पुद्गलों को परिणमन करने की शक्ति पर्याप्ति कहलाती है। एकेन्द्रिय जीव में इनमें से चार ही पर्याप्तियाँ होती हैं। जबकि द्वीन्द्रिय में पांच और शेष सभी में छह पर्याप्तियाँ होती हैं। जो जीव अपने योग्य पर्याप्तियों को पूर्ण कर लेता है वह पर्याप्त जीव तथा जो पर्याप्तियों को पूर्ण करने से पूर्व ही मृत्यु को प्राप्त हो जाता है वह अपर्याप्त जीव कहलाता है। पर्याप्त एवं अपर्याप्त जीव के भी लब्धि और करण पर्याप्त एवं अपर्याप्त भेद किए गए हैं।

१५. जीवों की ८४ लाख योनियाँ मानी गई है। जीव के जन्म ग्रहण करने के स्थान को योनि कहते हैं। गुण, आकार आदि के आधार पर योनि के अनेक भेद किए गए हैं। संवृत, विवृत, संवृत-विवृत, सचित्त, अचित्त, मिश्र, शीत, उष्ण, शीतोष्ण आदि इस निरूपण की विशिष्टता को बतलाता है। योनि के आधार पर कुल उत्पन्न होता है। एक योनि में नाना

प्रकार की जाति के जीवों के अनेक कुल होते हैं। सामान्यतः जीवों के कुलों की संख्या एक करोड़ सत्तानवें लाख पचास हजार स्वीकार की गई है। आधुनिक विज्ञान में इसे प्रजाति कह सकते हैं।

१६. एक ही भव या आयुष्य में जीव की स्थिति भवस्थिति कहलाती है तथा एक ही प्रकार की काय में स्थिति कायस्थिति कहलाती है। जैन दार्शनिकों का यह चिन्तन है कि कोई जीव एक ही प्रकार के शरीर को अनेक भवों तक भी धारण कर सकता है। इसलिए वे काय स्थिति के आधार पर भी जीवों के सम्बन्ध में विचार करते हैं। भवस्थिति दो प्रकार की होती है- सोपक्रम और निरूपक्रम। सोपक्रम आयुष्य में बाह्य निमित्तों से अकाल मृत्यु भी सम्भव है तथा निरूपक्रम आयुष्य में आयुष्य का पूर्ण भोग किया जाता है। उसमें अकाल मृत्यु नहीं होती है। असंख्यात आयुष्यक मनुष्य और तिर्यंच, चरम शरीरी जीव, ६३ श्लाका पुरुष, नारक और देव निरुपक्रम आयु वाले होते हैं। शेष सभी जीव सोपक्रमी हो सकते हैं। कई ऐसे सूक्ष्म एकेन्द्रिय जीव हैं जो एकेन्द्रिय अवस्था में ही जन्म-मरण कर रहे हैं। इस दृष्टि से कायस्थिति अनन्तकाल तक भी सम्भव है।

१७. जैन दर्शन में पाँच प्रकार के शरीरों का निरूपण हुआ है- औदारिक, वैक्रिय, आहारक, तैजस और कार्मण। इनमें तैजस ओर कार्मण शरीर संसारी जीवों के साथ सदैव रहते हैं। मोक्ष होने पर ही ये शरीर छूटते हैं। औदारिक और वैक्रिय शरीर मरण के समय छूटते हैं, किन्तु पुनः जन्म लेते ही यथायोग्य ग्रहण कर लिए जाते हैं। देवों और नारकों के मात्र वैक्रिय शरीर होता है तथा शेष जीवों के औदारिक शरीर होता है। मनुष्य एवं कुछ तिर्यंच जीव औदारिक शरीर के साथ वैक्रिय शरीर का निर्माण करने में भी समर्थ होते हैं। आहारक शरीर उन प्रमत्तसंयत मुनियों को प्राप्त होता है जिन्हें अपने प्रश्नों का समाधान दूर स्थित तीर्थंकरों से करना होता है। यह अत्यन्त सूक्ष्म पुद्गलों से बना होता है जो औदारिक शरीर से निकलकर कुछ ही समय में समाधान प्राप्त कर लौट आता है। उपाध्याय विनयविजय ने इन पाँच प्रकार के शरीरों का ११ द्वारों से विवेचन किया है, जिससे इनके स्वरूप, स्वामित्व, स्थिति, अन्तरकाल, अवगाहना आदि पर प्रकाश प्राप्त होता है।

१८. शरीर के आकार को जैन पारिभाषिक शब्दावली में संस्थान कहा गया है। समचतुरस्र, न्यग्रोध परिमण्डल, सादि, वामन, कुब्जक और हुण्डक संस्थानों में से किस जीव को कौनसा संस्थान प्राप्त होता है, इसका भी निरूपण संस्थान के अन्तर्गत हुआ है। इनमें समचतुरस्र संस्थान को श्रेष्ठ बताया गया है क्योंकि यह शुभ लक्षणों से युक्त एवं शोभन

अवयवों वाला होता है।

संदर्भ

१. जीवाजीवस्वरूपाणि नित्यानित्यत्ववन्ति च।
द्रव्याणि षट् प्रतीतानि द्रव्यलोकः स उच्यते।।—लोकप्रकाश, 2.5

२. योजनानामसंख्येयाः कोटयः क्षेत्रतोऽमिताः।
ये संस्थानविशेषेण तिर्यगूर्ध्वमधः स्थिताः।
आकाशस्य प्रदेशास्तं क्षेत्रलोकं जिनाः जगुः।।—लोकप्रकाश, 2.3 और 7

३. कालतो भूच्च भाव्यस्ति।
समयावलिकादिश्च काललोको जिनैः स्मृतः।।—लोकप्रकाश, 2.4 और 8

४. लोकप्रकाश, 2.5

५. Dr. G.R. Jain, Cosmology : Old and New, Page 23-57 and 135-140

६. जिनवाणी, 15 सितम्बर 2007, विश्व व्यवस्था एवं धर्म–अधर्म द्रव्यों की अवस्थिति, डॉ. कुसुम पटोदिया के लेख से उद्धृत।

७. सर्वार्थसिद्धि और तत्त्वार्थराजवार्तिक, 5.1

८. व्याख्याप्रज्ञप्ति सूत्र, शतक 13, उद्देशक 4, सुत्त 24

९. लोकप्रकाश, 2.19

१०. (अ) लोकप्रकाश, 2.23 (ब) व्याख्याप्रज्ञप्तिसूत्र, शतक 13, उद्देशक 4, सुत्त 25

११. लोकप्रकाश, 2.51

१२. लोकप्रकाश, 2.52

१३. लोकप्रकाश, 11.3

१४. लोकप्रकाश, 11.4

१५. वर्ण पांच हैं– काला, नीला, लाल, पीला एवं सफेद।

१६. रस पांच हैं– तिक्त, कटु, कसैला, खट्टा एवं मीठा।

१७. गंध दो हैं– सुगन्ध और दुर्गन्ध।

१८. स्पर्श आठ हैं– शीत, उष्ण, स्निग्ध, रूक्ष, लघु, गुरु, कर्कश और कोमल।

१९. लोकप्रकाश, 11.8

२०. लोकप्रकाश, 11.9

२१. लोकप्रकाश, 11.11

२२. लोकप्रकाश, 11.19–20

२३. (अ) लोकप्रकाश, 11.21 की व्याख्या से उद्धृत, पृष्ठ 571
(ब) भगवती सूत्र, शतक 14, उद्देशक 4, सुत्त 8

२४. लोकप्रकाश, 11.24

२५. लोकप्रकाश, 11.25

२६. लोकप्रकाश, 11.31

२७. लोकप्रकाश, 11.44–46

२८. लोकप्रकाश, 11.48
२९. लोकप्रकाश, 11.49–52
३०. लोकप्रकाश, 11.107–108
३१. लोकप्रकाश, 11.109–111
३२. लोकप्रकाश, 11.113–114
३३. लोकप्रकाश, 11.115
३४. लोकप्रकाश, 11.116–117
३५. लोकप्रकाश, 11.118–121
३६. लोकप्रकाश, 11.122–125
३७. लोकप्रकाश, 11.139
३८. लोकप्रकाश, 2.54–55
३९. लोकप्रकाश, 2.56
४०. ते ज्ञानावरणीयाद्यै मुक्ताः कर्मभिरष्टभिः।
ज्ञानदर्शनचारित्राद्यनन्ताष्टक संयुताः।।– लोकप्रकाश, 2.78–82
४१. लोकप्रकाश, 2.84, 109–111
४२. स्थानांग सूत्र के पांचवें स्थानक में कहा है कि जीव पांच द्वारों से निकलता है– पैर से, जंघा से, हृदय से, मस्तक से अथवा सर्व अंगों से। पैरों से निकलने वाला जीव नरकगामी, उरू से निकलने वाला तिर्यंच, हृदय से निकलने वाला देवगामी और सर्वांग से निकलने वाला सिद्धगामी होता है।
४३. लोकप्रकाश, प्रथम भाग, पृष्ठ 50
४४. लोकप्रकाश, 2.95–96
४५. लोकप्रकाश, 2.101–102
४६. लोकप्रकाश, 2.131
४७. लोकप्रकाश, 2.131
४८. लोकप्रकाश, 2.132
४९. लोकप्रकाश, 2.122–125
५०. (अ) 'संसारिणो मुक्ताश्च' तत्त्वार्थसूत्र 2.10 (ब) मूलाचार 204 (स) पंचास्तिकाय, 109
५१. लोकप्रकाश, 4.3 से 24
५२. लोकप्रकाश 4.25
५३. जैनेन्द्रसिद्धान्त कोश, भाग 4, पृष्ठ सं. 438
५४. मूलाचार, गाथा 1202
५५. 'प्रत्येकाः साधरणाश्च' लोकप्रकाश 5.2
५६. षट्खण्डागम 1/1, 1, 41
५७. गोम्मटसार जीवकाण्ड, जीवतत्त्वप्रदीपिका, गाथा 191
५८. गोम्मटसार जीवकाण्ड, जीवतत्त्वप्रदीपिका, गाथा 191
५९. लोकप्रकाश, 4.68

६०. लोकप्रकाश 5.1

६१. 'बादरपुढविकाइया दुविहा पन्नत्ता। तं जहा– सण्हबादरपुढविकाइया य खरबादरपुढविकाइया य।' –प्रज्ञापनासूत्र, प्रथम प्रज्ञापना पद, सूत्र 22, पृष्ठ 42

६२. कृष्णा नीलारुणा पीता शुक्लेति पंचमृद्भिदः
षष्ठी देशविशेषोत्था मृत्स्ना पांडुरिति श्रुता।।
नद्यादिपूरापगमे देशे तत्रातिपिच्छिले।
मृदुश्लक्ष्णा पंकरूपा सप्तमी पनकाभिधा।।– लोकप्रकाश, 5.6 और 7

६३. सुद्धोदए य उस्सा हिम य महिया य हरतणू चेव।
बायर आउविहाणा पंचविहा वण्णिया एए।।108।। –आचारांग सूत्र निर्युक्ति गाथा 108

६४. 'बायरा जे उ पज्ज़त्ता पंचहा ते पकित्तिया।
सुद्धोदए य उस्से, हरतणू महिया हिमे।। –उत्तराध्ययन सूत्र 36.85

६५. लोकप्रकाश, 5.16 से 18

६६. लोकप्रकाश 5.19 और 20

६७. लोकप्रकाश 5.21 और 22

६८. मूले कंदे खं धे तया य साले पवलपत्ते य।
पुप्फे फलबीए वियपत्तेयं जीवठाणाइं।।–लोकप्रकाश, 5.77

६९. 'एग सरीरे एगो जीवो जेसिं तुते उ पत्तेया।
फल फुल्ल छल्लिकट्ठा मूला पत्ताणि बीआणि।।–लोकप्रकाश, 5.94

७०. (अ) लोकप्रकाश, 5.98
(ब) 'पत्तेयसरीरबादरवणप्फइकाइया दुवालसविहा पन्नत्ता। तं जहा–
रुक्खा, गुच्छा, गुम्मा, लता य, वल्ली य, पव्वगा चेव।
तण, वलय, हरिय, ओसहि, जलरूह, कुहणा य बोद्धव्वा।।
–प्रज्ञापना सूत्र, प्रथम प्रज्ञापना पद, सूत्र 38, पृष्ठ संख्या 52

७१. (अ) लोकप्रकाश, 5.99 से 106
(ब) प्रज्ञापना सूत्र, प्रथम प्रज्ञापना पद, सूत्र 39, 40 और 41

७२. (अ) लोकप्रकाश, 5.119 (ब) प्रज्ञापना सूत्र, प्रथम प्रज्ञापना पद, सूत्र 42

७३. (अ) लोकप्रकाश, 5.120 (ब) प्रज्ञापना सूत्र, प्रथम प्रज्ञापना पद, सूत्र 43

७४. (अ) लोकप्रकाश, 5.121 और 122(ब) प्रज्ञापना सूत्र, प्रथम प्रज्ञापना पद, सूत्र 44

७५. (अ) लोकप्रकाश, 5.123 (ब) प्रज्ञापना सूत्र, प्रथम प्रज्ञापना पद, सूत्र 45

७६. (अ) लोकप्रकाश, 5.124 (ब) प्रज्ञापना सूत्र, प्रथम प्रज्ञापना पद, सूत्र 46

७७. (अ) लोकप्रकाश, 5.125 (ब) प्रज्ञापना सूत्र, प्रथम प्रज्ञापना पद, सूत्र 47

७८. (अ) लोकप्रकाश, 5.126 (ब) प्रज्ञापना सूत्र, प्रथम प्रज्ञापना पद, सूत्र 48

७९. (अ) लोकप्रकाश, 5.127 (ब) प्रज्ञापना सूत्र, प्रथम प्रज्ञापना पद, सूत्र 49

८०. (अ) लोकप्रकाश, 5.128 से 130 (ब) प्रज्ञापना सूत्र, प्रथम प्रज्ञापना पद, सूत्र 50

८१. (अ) लोकप्रकाश, 5.131 (ब) प्रज्ञापना सूत्र, प्रथम प्रज्ञापना पद, सूत्र 51

८२. (अ) लोकप्रकाश, 5.132 (ब) प्रज्ञापना सूत्र, प्रथम प्रज्ञापना पद, सूत्र 52

८३. लोकप्रकाश, 5.75

८४. लोकप्रकाश, 5.78 से 85

८५. प्रज्ञापना सूत्र, प्रथम प्रज्ञापना पद, सूत्र 54.3, 4, 5, 6, 7, 8 और 9

८६. (अ) लोकप्रकाश, 5.88–92 (ब) प्रज्ञापना सूत्र, प्रथम प्रज्ञापना पद, सूत्र 54.1

८७. लोकप्रकाश, 6.2, 3 और 4

८८. प्रज्ञापना सूत्र, प्रथम प्रज्ञापना पद, सूत्र 57, आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर

८९. लोकप्रकाश, 6.5, 6 और 7

९०. प्रज्ञापना सूत्र, प्रथम प्रज्ञापना पद, सूत्र 57

९१. लोकप्रकाश, 6.11, 12 और 13

९२. प्रज्ञापना सूत्र, प्रथम प्रज्ञापना पद, सूत्र 58–1

९३. (अ) तिर्यंचो मनुजा देवा नारकाश्चेति तात्त्विकैः।
स्मृताः पंचेन्द्रिया जीवाश्चतुर्धा गणधारिभिः।।–लोकप्रकाश, 7.62
(ब) पंचिंदियसंसारसमावण्णजीवपण्णवणा चउव्विहा पण्णत्ता। तं जहा– नेरइयपंचिंदियसंसारसमावण्णजीवपण्णवणा 1, तिरिक्खजोणियपंचिदियसंसारसमावण्ण–जीवपण्णवणा 2, मणुस्सपंचिंदियसंसारसमावण्णजीवपण्णवणा 3, देवपंचिंदियसंसार–समावण्णजीवपण्णवणा 4। प्रज्ञापना सूत्र, प्रथम प्रज्ञापना सूत्र 59

९४. (अ) त्रिधा पंचाक्ष तिर्यंचो जलस्थल–ख–चारिणः।
अनेकधा भवन्त्येते प्रतिभेदविवक्षया।।–लोकप्रकाश, 7.63
(ब) प्रज्ञापना सूत्र, प्रथम प्रज्ञापना, सूत्र 61

९५. लोकप्रकाश, 7.64

९६. प्रज्ञापनावृत्तौ तु– 'गंडी सवर्णकाराधिकरणस्थानमिति।' उद्धृत, लोकप्रकाश, भाग 1, द्रव्यलोकप्रकाश, पृष्ठ सं. 438

९७. लोकप्रकाश 6.99 से 108

९८. अध्यर्द्धो द्वाविहद्वीपौ, द्वावेषु च पयोनिधी।
भरतान्यैरवतानि, विदेहाः पंच पंच च।।
एवं पंचदश कर्मभूमयोऽत्र प्रकीर्तिताः।
देवोत्तराख्याः कुरवो, हैरण्यवत रम्यके।।
हैमवंत हरिवर्ष पंच पंच पृथक् पृथक्।
सर्वाष्यपि त्रिंशदेवं भवत्यकर्मभूमयः।।
अन्तर्द्वीपाश्च षट् पंचाशदेवं युग्मिभूमयः।
षडशीतिर्नरस्थानान्येवमेकोत्तरं शतम्।। –लोकप्रकाश, क्षेत्रलोक उत्तरार्द्ध, 23.205 से 208

९९. प्रवचनसारोद्धार, द्वार 163, गाथा 1053

१००. 'यो योऽत्रोपद्यतेक्षेत्रेऽधिष्ठाता पल्यजीवितः।
तमाह्वयन्ति भरतं तस्य सामानिकादयः।।' –लोकप्रकाश, 16.3

१०१. ऐरावतः सुरो ह्यस्य स्वामी पल्योपम स्थितिः।
वसत्यत्र ततः ख्यातमिदमैरवताख्यया।।–लोकप्रकाश, 19.100

१०२. सर्वक्षेत्रगुरुत्वान्महाप्रमाणां गजनयुतत्वात् वा।
इदमुत महाविदेहाभिधसुरयोगान्महाविदेहाख्यम्।।–लोकप्रकाश, 16.393
१०३. प्रवचनसारोद्धार, द्वार 164, गाथा 1054
१०४. अत्र देवकुरुर्नाम देवः पल्योपम स्थितिः।
वस्त्यतस्तथा ख्याता यद्वेदं नाम शाश्वतम्।।–लोकप्रकाश, 17.398
१०५. लोकप्रकाश, 17.1219
१०६. रूप्यहिरण्यशब्देन सुवर्णमपि वोच्यते।
ततो हिरण्यवन्तौ द्वौ तन्मयत्वात् धराधरौ।।
रुक्मी च शिखरी चापि तद्धिरण्यवतोरिदम्।
हैरण्यवंतमित्याहुः क्षेत्रमेतत् महाधियः।।–लोकप्रकाश, 19.56 और 57
१०७. लोकप्रकाश 19.58
१०८. लोकप्रकाश, 19.26 और 27
१०९. लोकप्रकाश, 16.328
११०. लोकप्रकाश, 16.393
१११. प्रज्ञापना सूत्र, प्रथम प्रज्ञापना पद, सुत्त 96
११२. प्रज्ञापना सूत्र, प्रथम प्रज्ञापना पद टीका, सुत्त 98
११३. 'सम्मूर्च्छिमा गर्भजाश्च द्विविधा मनुजा अपि।' –लोकप्रकाश, 7.1
११४. लोकप्रकाश, 7.2 से 5
११५. लोकप्रकाश, 7.23
११६. लोकप्रकाश, 8.1
११७. लोकप्रकाश 8.2 और 13.4
११८. लोकप्रकाश, 12.215
११९. लोकप्रकाश, 12.216
१२०. लोकप्रकाश, 8.30 से 32
१२१. लोकप्रकाश, 8.33 से 34
१२२. लोकप्रकाश, 8.35 से 38
१२३. लोकप्रकाश, 8.39 और 40
१२४. लोकप्रकाश, 8.41 और 42
१२५. लोकप्रकाश, 8.43 और 44
१२६. लोकप्रकाश, 8.45 और 46
१२७. लोकप्रकाश, 8.47 से 49
१२८. लोकप्रकाश 12.250
१२९. लोकप्रकाश, 8.57
१३०. लोकप्रकाश, 8.58
१३१. 'वैमानिका द्विधा कल्पातीतकल्पोपपन्नकाः।
कल्पोत्पन्ना द्वादशधा तेत्वमी देवलोकजाः।।–लोकप्रकाश, 8.59

१३२. सौधर्मेशान सनत्कुमारमाहेन्द्रब्रह्मलांतकजाः।
शुक्रसहस्रारानतप्राणतजा आरणाच्युतजाः।।–लोकप्रकाश, 8.60
१३३. लोकप्रकाश, 8.63 से 65
१३४. (अ) लोकप्रकाश, 8.66 (ब) स्थानांग सूत्र नवम स्थान सूत्र 34
१३५. 'विजयादि विमानोत्थाः पंचधानुत्तरामराः'– लोकप्रकाश, 8.65
१३६. स्थानांग सूत्र, पंचम स्थान, प्रथम उद्देशक, सूत्र 53
१३७. लोकप्रकाश 9.1
१३८. आचारांग सूत्र, प्रथम श्रुतस्कन्ध, प्रथम अध्ययन, द्वितीय उद्देशक, सूत्र 15– पृथ्वीकायिक जीव; तृतीय उद्देशक सूत्र 22– अप्कायिक जीव; चतुर्थ उद्देशक, सूत्र 32– अग्निकायिक जीव; पंचम उद्देशक, सूत्र 45–वनस्पतिकायिक जीव; सप्तम उद्देशक, सूत्र 56–वायुकायिक जीव।
१३९. व्याख्याप्रज्ञप्ति, शतक 2, उद्देशक 2, सूत्र 5वां
१४०. अंडेसु पवड्ढंता गब्भत्था माणुसा य मुच्छगया।
जारिसया तारिसया जीवा एगेंदिया णेया।।–पंचास्तिकाय, गाथा 113
१४१. जीवाजीवाभिगम, प्रथम प्रतिपत्ति।
१४२. जीव–अजीव तत्त्व, कन्हैयालाल लोढ़ा, प्राकृत भारती अकादमी, जयपुर, पृथ्वीकाय वर्णन, पृष्ठ सं. 15
१४३. जीव–अजीव तत्त्व, कन्हैयालाल लोढ़ा, पृथ्वीकाय वर्णन, पृ. 17–18
१४४. जीव–अजीव तत्त्व, अप्काय, पृष्ठ 21
१४५. प्रज्ञापना सूत्र, प्रथम पद, सूत्र 9
१४६. उत्तराध्ययन सूत्र, 36.107
१४७. (अ) लोकप्रकाश, 5.170 से 192
(ब) प्रज्ञापना सूत्र, द्वितीय पद, सूत्र 1 से 5
१४८. 'चतुर्भिश्च किलाधारैर्भूमि रेषा प्रतिष्ठिता।
धनोदधिधनवाततनुवातमरुत्पथैः।।' –लोकप्रकाश, 12.177
१४९. लोकप्रकाश, 6.11 से 13
१५०. लोकप्रकाश, 6.109
१५१. द्रष्टव्य इसी पुस्तक का पृष्ठ सं.
१५२. लोकप्रकाश, 7.6
१५३. लोकप्रकाश, 7.40
१५४. लोकप्रकाश 9.2 और 3
१५५. लोकप्रकाश, 13.1 और 2
१५६. लोकप्रकाश, 8.71
१५७. लोकप्रकाश, 9.2
१५८. कार्तिकेयानुप्रेक्षा, गाथा 134–135
१५९. "पर्याप्तीनामर्धनिष्पन्नावस्था अपर्याप्तिः। जीवनहेतुत्वं तत्स्थमनपेक्ष्य शक्तिनिष्पत्तिमात्रं

पर्याप्तिरुच्यते।।"–षट्खण्डागम, धवला टीका, प्रथम खण्ड–प्रथम स्थान सत्प्ररूपणा जीवस्थान, सूत्र 34, पृष्ठ 257

१६०. "आहारादिपुद्गलानामादानपरिणामयोः। जन्तोः पर्याप्तिनामोत्था शक्तिः पर्याप्तिरत्र सा।।"– लोकप्रकाश, 3.15

१६१. पर्याप्ताव्यपदिश्यन्ते याभिः पर्याप्तयस्तु ताः।
पर्याप्तापर्याप्तभेदादत एव द्विधांगिनः।।–लोकप्रकाश, 3.7

१६२. 'पुद्गलोपचयादेव भवेत्सा च षड्विधा।
आहारांगेन्द्रियश्वासोच्छ्वास–भाषा मनोऽभिधा।।' –लोकप्रकाश, सर्ग 3.16

१६३. लोकप्रकाश, 3.17 से 21, 23, 29 एवं 30

१६४. (अ) लोकप्रकाश, 3.36
(आ) मूलाचार, 12वाँ पर्याप्त्याधिकार की गाथा 1047 भी इसी तथ्य को प्रकट करती है यथा–
आहारे य सरीरे तह इंदिय आणपाणभासाए।
होंति मणो वि य कमसो पज्जत्तीओ जिणक्खादा।।

१६५. लोकप्रकाश, 3.41

१६६. (अ) समाप्य स्वार्हं पर्याप्तीर्म्रियन्ते नान्यथाध्रुवम।–लोकप्रकाश 3.9
(आ) जीवाजीवाभिगम, प्रथमप्रत्तिपत्ति, पृथ्वीकाय वर्णन

१६७. करणानि शरीराक्षादीनि निवर्तितानि यैः।
ते स्युः करणपर्याप्ताः करणानां समर्थनात्।।– लोकप्रकाश, 3.10

१६८. असमाप्य स्वपर्याप्तीर्म्रियन्ते ये अल्पजीविनाः।
लब्ध्याते ते स्युरपर्याप्ता यथा निःस्वमनोरथाः।।–लोकप्रकाश, 3.12

१६९. म्रियन्ते अल्पायुषो लब्धपर्याप्ता इह येऽङ्गिनः।
तेऽपि भूत्वैव करणपर्याप्ता नान्यथा पुनः।।– लोकप्रकाश, 3.14

१७०. पर्याप्तित्रययुक्तोऽन्तर्मुहूर्तेनायुरग्रिमम्।
बद्धा ततोऽन्तर्मुहूर्तमबाधान्तस्य जीवति।।–लोकप्रकाश, 3.32

१७१. 'निर्वर्तितानि नाद्यापि प्राणिभिः करणानि यैः।
देहाक्षादीनि करणापर्याप्तास्ते प्रकीर्तिताः।।– लोकप्रकाश, 3.13

१७२. पज्जत्तस्स्य उदये णियणियपज्जत्ति णिट्ठिदा होदि।
जाव सरीरमपुण्णं णिव्वत्ति अपुण्णगो भवंति।।
यावच्छरीरमपूर्णं निर्वृत्यपर्य्याप्तकस्तावत्।।–गोम्मटसार, जीवकाण्ड, जीवतत्त्वप्रदीपिका टीका, गाथा 121

१७३. षट्खण्डागम, पुस्तक संख्या 2, प्रथम खण्ड, प्रथम भाग, सूत्र 416

१७४. मनोवचः कायबलान्यक्षाणि पंच जीवितम्।
श्वाश्चेति दश प्राणा द्वारेऽस्मिन्नेव वक्ष्यते।।–लोकप्रकाश, 3.42

१७५. गोम्मटसार, जीवकाण्ड, जीवतत्त्वप्रदीपिका, गाथा 121 के अनुसार उच्छ्वास कर्म का उदय पर्याप्तकाल में ही होता है; द्वीन्द्रिय से पंचेन्द्रिय पर्यन्त पर्याप्तों में ही स्वरनामकर्म का उदय होता है; नोइन्द्रियावरण का क्षयोपशम पर्याप्त संज्ञी पंचेन्द्रिय में ही होता है। अतः मन, वचन

और उच्छ्वास प्राण अपर्याप्तकाल में नहीं होते हैं तथा इन्द्रिय, काय व आयु तीनों प्राण पर्याप्त–अपर्याप्त दोनों काल में समान रूप से होते हैं।

१७६. षट्खण्डागम धवला टीका, प्रथम खण्ड, जीवस्थान–सत्प्ररूपणा सूत्र 94,

१७७. (अ) सामर्थ्याभाव– षट् पर्याप्तियों व प्राणों का अभाव होना।

(आ) उपपादयोगस्थान– जीव के नवीन पर्याय को धारण करने के प्रथम समय का स्थान।

(इ) एकान्तानुवृद्धियोगस्थान– जीव के उत्पन्न होने के द्वितीय समय से लेकर शरीरपर्याप्ति से अपर्याप्त रहने के अन्तिम समय तक एकान्तनुवृद्धियोग स्थान होता है।

(ई) गति– नरक, तिर्यंच, मनुष्य और देव गति।

(उ) आयु–आयुष्यकर्म का बंध।

–षट्खण्डागमधवला टीका, 1/1.1.64

१७८. लोकप्रकाश, 4.69, 70 और 5.213

१७९. लोकप्रकाश, 6.14, 15

१८०. लोकप्रकाश, 6.110

१८१. लोकप्रकाश, 6.110, 7.41, 8.72 और 9.4

१८२. आरभ्य पंच पर्याप्तीस्ते म्रियन्तेऽसमाप्य ताः – लोकप्रकाश, 7.7

१८३. (अ) लोकप्रकाश, 6.112 (आ) लोकप्रकाश, 7.41 (इ) लोकप्रकाश, 8.72

१८४. (अ) लोकप्रकाश, 6.112 (आ) लोकप्रकाश, 7.7 (इ) लोकप्रकाश, 6.14 और 15

१८५. (अ) लोकप्रकाश, 4.69 और 70 (आ) लोकप्रकाश, 5.213

१८६. गोम्मटसार, जीवकाण्ड, जीवतत्त्वप्रदीपिका, प्राणप्ररूपणाधिकार, गाथा 133, पृ. 267, 268

१८७. तैजसकार्मणवन्तो युज्यन्ते यत्र जन्तवः स्कन्धैः।
औदारिकादियोग्यैः स्थानं तद्योनिरित्याहुः।।–लोकप्रकाश, 3.43

१८८. 'यूयते इति योनिः' तत्त्वार्थराजवार्तिक, 2.32

१८९. सर्वार्थसिद्धि, 2.32

१९०. सम्मूर्च्छनगर्भोपपाता जन्म। –तत्त्वार्थसूत्र 2.31

१९१. (अ) शीता चौष्णा च शीतोष्णा तत्तत्स्पर्शान्वयात् त्रिधा।
सचिताचित्त मिश्रेति भेदतोऽपि त्रिधा भवेत्।।– लोकप्रकाश, 3.51

(आ) संवृता विवृता चैव योनिर्विवृत संवृता।।–लोकप्रकाश, 3.46

(इ) प्रज्ञापना सूत्र, नवम् योनिपद्, पृष्ठ537

(ई) तत्त्वार्थ सूत्र, 2.32, 'सचित्तशीतसंवृताः सेतरा मिश्राश्चैकशस्तद्योनयः।

१९२. प्रतिकमण सूत्र का '84 लाख जीवयोनि' का पाठ– 7 लाख पृथ्वीकाय, 7 लाख अप्काय, 7 लाख तेजस्काय, 7 लाख वायुकाय, 10 लाख प्रत्येक वनस्पतिकाय, 14 लाख साधारण वनस्पतिकाय, 2 लाख द्वीन्द्रिय, 2 लाख त्रीन्द्रिय, 2 लाख चतुरिन्द्रिय, 4 लाख देवता, 4 लाख नारकी, 4 लाख तिर्यंच पंचेन्द्रिय और 14 लाख साधारण मनुष्य– इस प्रकार ये कुल 84 लाख जीवों की योनि है।

१९३. प्रज्ञापना सूत्र, नवम् योनिपद, पृष्ठ 542

१९४. सर्वार्थसिद्धि, 2.32

१९५. लोकप्रकाश, 3.46, 47, 48

१९६. लोकप्रकाश, 3.56, 57

१९७. (अ) लोकप्रकाश, 3.58,

(आ) 'संखावत्ताए णं जोणीए बहवे जीवा य पोग्गला य वक्कमंति चयंति उवचयंति, नो चेव णं निप्फज्जंति।। –प्रज्ञापना सूत्र, नवम् योनि पद, पृष्ठ 548

(इ) गोम्मटसार जीवकाण्ड, गाथा 81

१९८. अतिप्रबल कामाग्नेर्विलीयन्ते हि ते यथा।
कुरुमत्या कर स्पृष्टोऽप्य द्रवल्लोह पुत्रकः।।– लोकप्रकाश, 3.59

१९९. अर्हच्चक्रिविष्णु बलदेवाम्बानां द्वितीयिका।।– लोकप्रकाश, 3.60

२००. लोकप्रकाश, 3.60

२०१. लोकप्रकाश, 5.224, 225

२०२. लोकप्रकाश, 8.73

२०३. लोकप्रकाश, 9.5

२०४. लोकप्रकाश, 6.117 से 120

२०५. लोकप्रकाश, 7.8

२०६. लोकप्रकाश, 6.117 से 120

२०७. योनिविवृतसंवृता, मिश्रा सचित्ताचित्तत्वात् शीतोष्णात्वाच्च सा भवेत्।–लोकप्रकाश, 7.42, 43

२०८. (अ) लोकप्रकाश, 3.49, 50

(आ) प्रज्ञापना सूत्र, नवम योनिपद, सूत्रगाथा 753, 763, 772, आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर

(इ) सर्वार्थसिद्धि, 2.32

२०९. समवण्णइसमेया बहवोवि हु जोणिभेअलक्खा उ। समन्ना घेप्पंति ह एकजोणीए गहणेणं।
–आर्यश्यामाचार्य प्रज्ञापना सूत्र (मलयगिरिवृत्ति) द्वितीय खण्ड, नवम् योनिपद, पृष्ठ 691

२१०. सीआदिजोणीओ चउरासीती सयसस्सहिं।
असुहाओ य सुहाओ तत्थ सुहाओ इमा जाण।।
अस्संखाउ मणुस्सा राइसर संखमादि आऊणं।
तित्थयरनामगोअं सव्वसुहं होइ नायव्वं।।
तत्थवि य जाइसंपन्नाइ सेसाओ होंति असुहाओ।
देवेसु किव्विसाइ सेसाओ होंति उ सुहाओ।।
पंचेदियतिरिएसु हयगयरयणा हवंति उ सुहाओ।
सेसाओ असुहाओ सुहवन्नेगिंदियादीया।। –लोकप्रकाश, 3.61 से 64, पृष्ठ 74

२११. 'कुलानि योनि प्रभवानि आहुः।– लोकप्रकाश, 3.66

२१२. 'कुलानि जातिभेदाः। – मूलाचार, गाथा 1046

२१३. कृमि–वृश्चिक–कीटादि नाना क्षुद्रांगिनां यथा।
एकगोमयपिण्डान्तः कुलानि स्युरनेकशः।।– लोकप्रकाश, 3.67

२१४. (अ) लोकप्रकाश, 3.68

(आ) मूलाचार, गाथा 225 में मनुष्य के 14 लाख कुल स्वीकार कर कुलों का जोड़ एक

करोड़ निन्यानवे लाख पचास हजार मानी है–
एया य कोडिकोडी णवणवदीकोडिसदसहस्साइं।
पण्णासं च सहस्सा सवंग्गीणं कुलाण् कीडीओ।।
(इ) गोम्मटसार, जीवकाण्ड में लोकप्रकाश के समान कुल संख्या गिनाई है।

२१५. बावीस सत्ततिण्णि य सत्त य कुलकोडिसदसहस्साइं।
णेया पुढविदगागणिवाऊकायाण पडिसंखा।।
कोडिसदसहस्साइं सत्तट्ठ व णव य अट्ठवीसं च।
बेइंदिय तेइंदिय चउरिंदिय हरिदकायाणं।।
अद्धतेरस बारस दसयं कुलकोडिसदसहस्साइं।
जलचरपक्खिचउप्पय उरपरिसप्पेसु णव होंति।।
छव्वीसं पणवीसं चउदस कुलकोडि सदसहस्साइं।
सुरणेरइयणराणं जहाकमं होई णायव्वं।।–मूलाचार, पंचाचाराधिकार, पृष्ठ 186–187, गाथा 221–224

२१६. (अ) 'स्थितिमतोऽवधिपरिच्छेदार्थं कालोपादानम्।' –तत्त्वार्थराजवार्तिक 9, 8/6/42
(आ) सर्वार्थसिद्धि 9, 7/22/4 'स्थितिःकालपरिच्छेदः।'

२१७. 'स्वोपात्तस्यायुष उदयात्तस्मिन भवे शरीरेण सहावस्थानं स्थितिः।' –सर्वार्थसिद्धि 4, 20/251/7

२१८. (अ) प्रज्ञापना सूत्र, 18वाँ कायस्थिति पद
(आ) कायस्थितिस्तु पृथिवी कायिकादिशरीरिणाम्।
तत्रैव कायेऽवस्थानं विपद्योत्पद्य चासकृत।।–लोकप्रकाश, 3.94
(इ) स्थानांगसूत्र, द्वितीय स्थान–तृतीय उद्देशक

२१९. लोकप्रकाश, 3.69

२२०. (अ) लोकप्रकाश, 3.75, स्थानांग सूत्र, सप्तम स्थान
(आ) मूलाचार ग्रन्थ में आयुष्य नाशक कारणों के अन्य नाम प्राप्त होते हैं जो इस प्रकार हैं– विषवेदनारक्तक्षयभयसंक्लेशशस्त्रघातोच्छ्वासनिश्वासनिरोधैरायुषो घातः अर्थात् विष, वेदना, रक्त, क्षय, भय, संक्लेश, शस्त्रघात, उच्छ्वास, निश्वास का निरोध, इनसे आयु का घात होना उपक्रम है।

२२१. लोकप्रकाश, 3.76, 82 से 84 तक।

२२२. असंख्यायुर्नृतिर्यंचश्चरमांगाश्च नारका।
सुरा शलाका पुमांसोऽनुपक्रमायुषः स्मृता।। –लोकप्रकाश, 3.90।
लोकप्रकाशकार ने तत्त्वार्थवृत्ति के कर्ता के पंक्तियों को भी उद्धृत किया है– तीर्थंकरौपपातिकानां नोपक्रमतो मृत्युः। शेषाणामुभयथा। इति तत्त्वार्थवृत्तौ।

२२३. लोकप्रकाश, 4.72

२२४. लोकप्रकाश, 4.74, 75

२२५. लोकप्रकाश 4.77

२२६. लोकप्रकाश 4.83

२२७. लोकप्रकाश, 5.227 से 229
२२८. लोकप्रकाश, 5.230 से 234
२२९. लोकप्रकाश 5.236
२३०. लोकप्रकाश 6.20, 21
२३१. लोकप्रकाश 6.22 से 25
२३२. लोकप्रकाश, 6.121 से 137
२३३. लोकप्रकाश, 7.9, 44 से 46 और 49
२३४. स्थानांग सूत्र, द्वितीय स्थान–तृतीय उद्देशक
२३५. लोकप्रकाश, 8.74 और 9.6 व 7
२३६. षट्खण्डागम धवला पुस्तक 6; 1.9–1.28
२३७. षट्खण्डागम धवला पुस्तक 14; 5.6.512
२३८. औदारिकवैक्रियिकाहारक तैजसकार्मणानि शरीराणि' –सर्वार्थसिद्धि, 2.36
२३९. 'सूक्ष्मा मातापितृजाः सह प्रभूतैस्त्रिधा विशेषाः स्युः।
सूक्ष्मास्तेषां नियता मातापितृजा निवर्तन्ते।। –सांख्यतत्त्वकौमुदी, कारिका 39
२४०. लोकप्रकाश, 3.96
२४१. (अ) सर्वार्थसिद्धि, 2.36 (आ) गोम्मटसार जीवकाण्ड, गाथा 230, पृष्ठ 131
२४२. विक्रिया के प्रसिद्ध आठ भेद इस प्रकार हैं– अणिमा, महिमा, लघिमा, गरिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, इशित्व एवं वशित्व।
२४३. (अ) सर्वार्थसिद्धि 2.36 (आ) गोम्मटसार जीवकाण्ड, गाथा 232, पृष्ठ 132
२४४. गोम्मटसार, जीवकाण्ड गाथा 235, पृष्ठ 134
२४५. सप्त धातु– रस, रक्त, मांस, मेद, अस्थि, मज्जा और वीर्य– से शरीर बनता है।
२४६. लोकप्रकाश, 3.99
२४७. एक हस्तप्रमाण से तात्पर्य है– व्यवहारांगुल की अपेक्षा 24 अंगुल प्रमाण।
२४८. तत्त्वार्थ वृत्ति, 2.36, पृष्ठ 224
२४९. लोकप्रकाश, 3.104
२५०. (अ) अस्मादेव भवत्येवं शीतलेश्याविनिर्गमः।
स्यातां च रोषतोषाभ्यां निग्रहानुग्रहावितः।। –लोकप्रकाश 3.101 एवं 102
(आ) प्रज्ञापना सूत्र, 21वां पद, सूत्र 1475
२५१. लोकप्रकाश, 3.105 एवं 106
२५२. (अ) लोकप्रकाश , 3.111 (आ) तत्त्वार्थ सूत्र, 2.37 'परं परं सूक्ष्मम्'
(इ) गोम्मटसार जीवकाण्ड, जीवतत्त्व प्रदीपिका, गाथा 246, पृष्ठ 381
२५३. (अ) लोकप्रकाश , 3.112 (आ) तत्त्वार्थ सूत्र, 2.38 व 39 'प्रदेशोऽसंख्येयगुणं प्राक्तैजसात्' 'अनन्तगुणे परे' (इ) गोम्मटसार जीवकाण्ड, जीवतत्त्व प्रदीपिका, गाथा 246, पृष्ठ 382
२५४. लोकप्रकाश, 3.113 से 115
२५५. लोकप्रकाश, 3.115 से 117

२५६. (अ) तत्त्वार्थ सूत्र, 2.43 'तदादीनि भाज्यानि युगपदेकस्मिन्नाचतुर्भ्यः।'
(आ) सर्वार्थसिद्धि, 2.43, पृष्ठ 142 'युगपदेकस्यात्मनः.....विभागः क्रियते।
(इ) राजवार्तिक 2.43, पृष्ठ 406
२५७. लोकप्रकाश, 3.118 से 121
२५८. लोकप्रकाश, 3.122
२५९. लोकप्रकाश 3.123
२६०. लोकप्रकाश, 3.124 से 125
२६१. लोकप्रकाश, 3.126
२६२. लोकप्रकाश 3.127 और 128
२६३. लोकप्रकाश, 3.129 और 130
२६४. प्रज्ञापना सूत्र, सूत्र 1535
२६५. (अ) लोकप्रकाश, 3.143 (आ) प्रज्ञापना सूत्र, 21वां पद, सूत्र 1548
२६६. (अ) लोकप्रकाश, 3.135 से 185 (आ) प्रज्ञापना सूत्र, 21वां पद, सूत्र 1546 से 1551
२६७. प्रज्ञापना सूत्र, 21वां पद, सूत्र 1552
२६८. लोकप्रकाश, 3.192
२६९. लोकप्रकाश, 3.186
२७०. अंतमुहुत्तं नरएसु होइ चत्तारि तिरियमणुएसु।
देवेसु अद्धमासो उक्कोसं विउवणा कालो।।–जीवाजीवाभिगम सूत्र में पठित लोकप्रकाश में उद्धृत 3.189
२७१. लोकप्रकाश, 3.190 से उद्धृत
२७२. लोकप्रकाश, 3.187
२७३. लोकप्रकाश, 3.187
२७४. अनादिके प्रवाहेण सर्वतैजसकार्मणे' –लोकप्रकाश, 3.192
२७५. द्रव्यानुयोग, प्रथम खण्ड, 14वां शरीर अध्ययन
२७६. लोकप्रकाश, 3.201 से 203
२७७. लोकप्रकाश, 3.194 से 200
२७८. लोकप्रकाश, 4.94 और 95
२७९. लोकप्रकाश, 5.251
२८०. लोकप्रकाश, 6.9
२८१. लोकप्रकाश, 7.10, 6.138 और 7.50
२८२. लोकप्रकाश 8.75 और 9.8
२८३. तत्त्वार्थराजवार्तिक, 5.24
२८४. 'संस्थानमाकृतिः' –सर्वार्थसिद्धि 5.14
२८५. 'यदुदयादौदारिकादिशरीराकृतिनिर्वृतिः भवति तत् संस्थानम्।' –सर्वार्थसिद्धि 8.11
२८६. 'तंस–चउरंस–वट्टादीणि संठाणाणि' –कषायपाहुड 2/2–22

२८७. लोकप्रकाश, 3.204

२८८. लोकप्रकाश, 3.20

२८९. 'छव्विहे संठाणे पण्णत्ते तं जहा– समचउरंसे, णग्गोहपरिमंडले, साई, खुज्जे, वामणे, हुंडे।'
–स्थानांग सूत्र, षष्ठ स्थान, संस्थान सूत्र

२९०. 'जं तं सरीरसंठाणणामकम्मं तं छव्विहं।' –षट्खण्डागम 6/1, 9–1

२९१. तत् षोढा प्रविभज्यते– समतुरस्रसंस्थाननाम, न्यग्रोधपरिमण्डलसंस्थाननाम, स्वातिसंस्थाननाम, कुब्जसंस्थाननाम, वामनसंस्थाननाम, हुण्डसंस्थाननाम चेति। –तत्त्वार्थराजवार्तिक 8.11

२९२. तद् द्विविधम्– इत्थंलक्षणमनित्थं लक्षणं चेति। –सर्वार्थसिद्धि, 5.24

२९३. वृत्तत्रिकोणचतुष्कोणादिव्यक्ताव्यक्तरूपं बहुधा संस्थानम्। –द्रव्यसंग्रह टीका गाथा 16,

२९४. लोकप्रकाश, 3.206

२९५. तत्रोर्ध्वाधोमध्येषु समप्रविभागेन शरीरावयवसंनिवेशव्यवस्थापनं कुशलशिल्पिनिर्वतितसम–स्थितिचक्रवत् अवस्थानकर समचतुरस्रंसंस्थाननाम। –तत्त्वार्थराजवार्तिक, 8.11

२९६. समं चतुरस्रं समचतुस्रं समविभक्तमित्यर्थः। –षट्खण्डागम, 6/1, 9–1, 34
चतुरं शोभनम्, समन्ताच्चतुरं समचतुरम् समानमानोन्मानमित्यर्थः। समचतुरं च तत् शरीरसंस्थानं च समचतुरशरीरसंस्थानम्। –षट्खण्डागम, 13/5, 5, 107

२९७. (अ) लोकप्रकाश, 3.206 'न्यग्रोधमूर्ध्वं नाभेः सत्'
(आ) तत्त्वार्थराजवार्तिक, 8.11 (इ) धवला टीका 13/5, 5, 107

२९८. (अ) लोकप्रकाश, 3.206 'सादि नाभेरधः शुभम्'
(आ) तत्त्वार्थराजवार्तिक, 8.11 (इ) धवला टीका 6/1, 9–1,34। 'स्वातिर्वल्मीक शाल्मलिर्वा, तस्य संस्थानमिव संस्थानं यस्य शरीरस्य तत्स्वातिशरीरसंस्थानम्।'

२९९. षट्खण्डागम 6/1, 9–1/34

३००. 'अपरे तु साचीति पठन्ति तत्र साचीति प्रवचनवेदिनः शाल्मलीतरुमाचक्षते। ततः साचीव यत्संस्थानं तत्साचीति। एवं च न्यग्रोधसचिनोरन्वितार्थता भवतीति ज्ञेयम्। –उद्धृत लोकप्रकाश, पृष्ठ 99

३०१. लोकप्रकाश, 6.206

३०२. (अ) धवला टीका 6/1, 9–1, 34 (आ) तत्त्वार्थराजवार्तिक 8.11

३०३. 'मौलिग्रीवाणिपादे कमनीयं च वामनम्।
लक्षितं लक्षणैः दुष्टैः शेषेष्ववयवेषु च।।' –लोकप्रकाश, 3.208

३०४. (अ) पृष्ठप्रदेशभाविबहुपुद्गलप्रचयविशेषलक्षणस्य निर्वर्तकं कुब्जकसंस्थाननाम।। –तत्त्वार्थ राजवार्तिक 8.11, पृष्ठ 307 (आ) षट्खण्डागम 6/1.9–1,34

३०५. लोकप्रकाश, 3.209

३०६. धवला टीका 6/1, 9–1, 34

३०७. लोकप्रकाश, 3.210

३०८. ''वृत्तत्र्यस्रचतुरस्रायतपरिमण्डलादीनामित्थं लक्षणम्। अतोऽन्यन्मेघादीनां संस्थानमनेकविधमित्थमिद– मिति निरूपणाभावादनित्थं लक्षणम्।'' (अ) सर्वार्थसिद्धि, 5.24,

पृष्ठ 255 (आ) तत्त्वार्थराजवार्तिक 5.24,पृष्ठ 233।

३०६. जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश, भाग 4 से उद्धृत, पृष्ठ 153

३१०. लोकप्रकाश, 4.96, 97 और 98

३११. लोकप्रकाश, 5.252 और 253

३१२. लोकप्रकाश, 6.26;

३१३. लोकप्रकाश, 6.139

३१४. लोकप्रकाश, 7.10

३१५. लोकप्रकाश, 6.139

३१६. लोकप्रकाश, 7.54

३१७. लोकप्रकाश, 8.75

३१८. लोकप्रकाश, 9.8

तृतीय अध्याय

जीव–विवेचन (2)

जीव का जैन दर्शन में विभिन्न द्वारों से विवेचन हुआ है। द्वितीय अध्याय में १० द्वारों के आधार पर चार गतियों के जीवों की विभिन्न विशेषताओं पर प्रकाश डाला गया है। अब तृतीय अध्याय में अवगाहना, समुद्घात, गति, आगति, अनन्तराप्ति, समयसिद्धि, लेश्या, दिगाहार, संहनन और कषाय इन १० द्वारों से लोकप्रकाश ग्रन्थ को मुख्य आधार बनाकर विवेचन प्रस्तुत है।

ग्यारहवां द्वार : अवगाहन अथवा अंगमान का प्रख्यापन

जीव जितने आकाश प्रदेशों को रोक कर रहता है वह जीव का अंगमान अथवा अवगाहना कहलाती है। दूसरे शब्दों में जीव की लम्बाई, चौड़ाई, ऊँचाई आदि शरीर प्रमाण उसका अंगमान या अवगाहना होती है।

अंगमानं तु तुंगत्वमानमंगस्य देहिनाम्।
स्थूलता पृथुताद्यं तु ज्ञेयमौचित्यतः स्वयम्।।[1]

'चउव्विहा ओगाहणा पण्णत्ता'[2] स्थानांग के इस सूत्र के अनुसार जीव की अवगाहना चार प्रकार से ज्ञात की जा सकती है- १. द्रव्यावगाहना २. क्षेत्रावगाहना ३. कालावगाहना ४. भावावगाहना। उपाध्याय विनयविजय ने द्रव्यावगाहना की स्पष्ट चर्चा लोकप्रकाश में की है।

जीवों की अवगाहना या अंगमान इस प्रकार है–

क्र.	जीवों के नाम	जघन्य अवगाहना	उत्कृष्ट अवगाहना
१	पर्याप्तक-अपर्याप्तक पृथ्वीकायिक जीव	अंगुल का असंख्यातवां भाग	अंगुल का असंख्यातवां भाग
२	सूक्ष्म-बादर पृथ्वीकायिक जीव	"	"
३	सूक्ष्म-बादर अप्कायिक, तेजस्कायिक और वायुकायिक जीव	"	"
४	सूक्ष्म अपर्याप्तक-पर्याप्तक वनस्पतिकायिक जीव	"	"
५	बादर अपर्याप्तक वनस्पतिकायिक जीव	"	"
६	बादर पर्याप्तक वनस्पतिकायिक जीव	"	कुछ अधिक एक हजार योजन

७	द्वीन्द्रिय अपर्याप्तक	”	अंगुल का असंख्यातवां भाग
८	द्वीन्द्रिय पर्याप्तक	”	बारह योजन
९	त्रीन्द्रिय अपर्याप्तक	”	अंगुल का असंख्यातवां भाग
१०	त्रीन्द्रिय पर्याप्तक	”	तीन गव्यूति (६ कोस)
११	चतुरिन्द्रिय अपर्याप्तक	”	अंगुल का असंख्यातवां भाग
१२	चतुरिन्द्रिय पर्याप्तक	”	चार गव्यूति (८कोस)
१३	सम्मूर्च्छिम जलचर तिर्यंच पंचेन्द्रिय	”	एक हजार योजन
१४	गर्भज जलचर तिर्यंच पंचेन्द्रिय	”	“
१५	सम्मूर्च्छिम चतुष्पद तिर्यंच पंचेन्द्रिय	”	पृथक्त्व कोश
१६	गर्भज चतुष्पद तिर्यंच पंचेन्द्रिय	”	छह गव्यूति
१७	सम्मूर्च्छिम भुजपरिसर्प तिर्यंच पंचेन्द्रिय	”	पृथक्त्व धनुष
१८	गर्भज भुजपरिसर्प तिर्यंच पंचेन्द्रिय	”	पृथक्त्व कोस
१९	सम्मूर्च्छिम खेचर तिर्यंच पंचेन्द्रिय	”	पृथक्त्व धनुष
२०	गर्भज खेचर तिर्यंच पंचेन्द्रिय	”	“
२१	सम्मूर्च्छिम उरपरिसर्प तिर्यंच पंचेन्द्रिय	”	पृथक्त्व योजन
२२	गर्भज उरपरिसर्प तिर्यंच पंचेन्द्रिय	”	एक हजार योजन
२३	अपर्याप्तक और सम्मूर्च्छिम मनुष्य[३]	”	अंगुल का असंख्यातवां भाग
२४	पर्याप्तक व गर्भज मनुष्य (अ) संख्यात आयुष्यक मनुष्य[४] (ब) असंख्यात आयुष्यक मनुष्य[५] (स)संख्यात आयुष्यक मनुष्य का वैक्रिय शरीर[६] (द) लब्धिधारक श्रुत केवली का आहारक शरीर[७]	” ” ” ” ” 	तीन गव्यूति (६कोस) पाँच सौ धनुष तीन गव्यूति एक लाख योजन से कुछ अधिक मात्र एक हस्त प्रमाण
२५	(अ) देव का वैक्रिय शरीर[८]	अंगुल का असंख्यातवां भाग आरम्भ में	सात हाथ

	(ब) देव का कृत्रिम वैक्रिय शरीर[८]	"	एक लाख योजन से कुछ अधिक
२६	(अ) नारक का वैक्रिय शरीर[७०] (ब) नारक का कृत्रिम वैक्रिय शरीर[७१]	" "	पाँच सौ धनुष एक हजार धनुष

लोकप्रकाशकार ने एकेन्द्रिय जीवों में वनस्पतिकाय जीवों की अवगाहना सम्बन्धी विशिष्ट चर्चा की है। प्रत्येक वनस्पतिकाय का शरीर जघन्यतः एक अंगुल के असंख्यात भाग के समान होता है और उत्कृष्ट हजार योजन से कुछ अधिक होता है। उत्सेधांगुल के माप से सहस्र योजन गहरे जलाशय में उत्पन्न होने वाले कमल, लता आदि की अपेक्षा से प्रत्येक वनस्पतिकाय का उत्कृष्ट अंगमान हजार योजन है।[७२]

शालि आदि धान्य जाति के वृक्ष के मूल, कंद, स्कन्ध, छिलके, साल, प्रवाल और पत्र इन सातों की अवगाहना पृथक्त्व धनुष प्रमाण होती है और उनके बीज, पुष्प और फल की अवगाहना पृथक्त्व अंगुल प्रमाण होती है[७३]।

तालादि वृक्ष के मूल, कंद और किसलय की अवगाहना उत्कृष्ट पृथक्त्व धनुष है, पत्तों की अवगाहना भी पृथक्त्व धनुष है और पुष्प की पृथक्त्व कर प्रमाण होती है।[७४]

इन्हीं वृक्षों के स्कन्ध, शाखा और छिलके की अवगाहना पृथक्त्व गव्यूत प्रमाण है और फल तथा बीज की अवगाहना पृथक्त्व अंगुल प्रमाण है।[७५]

एक बीज वाले और बहु बीज वाले वृक्षों के मूलादि दस भागों की अवगाहना ताल आदि वृक्ष के भागों के समान है[७६] तथा गुच्छ और गुल्म की अवगाहना शाल आदि वृक्षों के तुल्य होती है।[७७] वल्ली के फल की अवगाहना पृथक्त्व धनुष की है एवं शेष मूलादि नौ भागों की अवगाहना ताल वृक्ष के समान है।[७८]

सूक्ष्म निगोद का देहमान एक अंगुल के असंख्यवें अंश के सदृश है और इससे सूक्ष्म वायुकाय, तेजस्काय, अप्काय और पृथ्वीकाय के जीवों का देहमान अनुक्रम से असंख्य-असंख्य गुणाधिक है। बादर वायुकाय आदि चार का देहमान अनुक्रम से असंख्य से असंख्य गुणा है तथा बादर निगोद का देहमान असंख्य गुणा है।[७९] अपने अपने स्थान में ये सभी जीव एक अंगुल के असंख्यातवें भाग जितने हैं, परन्तु अंगुल का असंख्यातवां भाग अनेक प्रकार का होता है। अतः वह कई प्रकार से इनमें घटित होता है। इस प्रकार वनस्पतिकायिक जीवों के देहमान का सूक्ष्मतया विवेचन हुआ है।

तिर्यंच पंचेन्द्रिय जीव यदि वैक्रिय शरीर करता है तो उसका उत्कृष्ट अंगमान सौ पृथक्त्व योजन का होता है, जिसका आरम्भ जघन्य एक अंगुल के असंख्यातवें भाग के जितना होता है।[२०]

बारहवां द्वार : समुद्घात-विमर्श

समुद्घात तीन शब्दों से मिलकर बना है जिसका अभिप्राय है-

सम-समान भाव से या एकीभावपूर्वक

उत्- प्रबलता से

घात-नाश करना।

तात्पर्य है कि एकीभावपूर्वक प्रबलता के साथ घात करना समुद्घात है। उपाध्याय विनयविजय भी ऐसा ही कहते हैं-

समित्येकीभावयोगाद्वेदनादिभिरात्मनः।
उत्प्राबल्येन कर्मांशघातो यः स तथोच्यते।।[२१]

राजवार्तिककार का मानना है कि वेदनादि निमित्तों से कुछ आत्मप्रदेशों का शरीर से बाहर निकलना समुद्घात है।[२२] इसी विषय में अन्य दृष्टि से धवलाटीकाकार कहते हैं कि-कर्मों की स्थिति और अनुभाग का उत्तरोत्तर समीचीन उद्घात समुद्घात है।[२३] लोकप्रकाशकार कहते हैं कि जीव कालान्तर में भोगने योग्य कर्मपुद्गलों को उदीरणाकरण से आकर्षित कर उदय में लाकर भोगता है और उनका क्षय करता है, यही समुद्घात है।[२४]

जीव सात विधियों से कर्म पुद्गलों का समुद्घात करता है। वे सात समुद्घात इस प्रकार हैं- १. वेदना २. कषाय ३. मारणान्तिक ४. वैक्रिय ५.आहारक ६. तैजस और ७. केवलि।[२५] तैजस पर्यन्त समुद्घात छद्मस्थ जीव को होते हैं एवं सातवां केवलि समुद्घात सर्वज्ञ को होता है।[२६] अन्तिम समुद्घात आठ समय का होता है जबकि पूर्व के छह समुद्घात एक अन्तर्मुहूर्त के लिए होते हैं। यह अन्तर्मुहूर्त असंख्यात समय का भी हो सकता है।[२७]

(1) वेदना समुद्घात- वेदनाओं से दुःखी होकर जब कोई जीव अपने आत्मप्रदेशों को शरीर से बाहर कर कर्म-पुद्गलों का घात करता है तो वह वेदनासमुद्घात कहलाता है।[२८] इस समुद्घात में जीव लम्बाई-चौड़ाई में शरीर प्रमाण क्षेत्र में मुख, उदर, कान, स्कन्ध आदि के छिद्रों और रिक्त स्थानों को आत्मप्रदेशों से पूर्ण कर देता है। अन्तर्मुहूर्त पर्यन्त रहने वाला यह समुद्घात असातावेदनीय कर्म पुद्गलों का क्षय करता है।[२९]

(2) कषाय समुद्घात- कषाय समुद्घात चारित्र मोहनीय कर्माश्रित है।[३०] कषाय के उदय से

युक्त जीव अपने आत्मप्रदेशों से मुखादि रिक्त विभागों को पूरित करता है और लम्बाई तथा चौड़ाई में शरीर प्रमाण क्षेत्र में व्याप्त कर कषाय मोहनीय कर्म के बहुत से अंशों को क्षय करता है वह कषाय समुद्घात कहा जाता है। यह क्रोध, मान, माया और लोभ रूप हेतुओं से चार प्रकार का होता है।[३१]

(3) मारणान्तिक समुद्घात- अन्तर्मुहूर्त शेष आयुष्य वाले जीव के द्वारा मुखादि छिद्र विभागों को और लम्बाई-चौड़ाई में शरीर प्रमाण क्षेत्र को आत्मप्रदेशों से पूर्ण करना मारणान्तिक समुद्घात कहलाता है।[३२] इस समुद्घात में जीव स्वशरीर के अतिरिक्त जघन्य अंगुल के असंख्यातवें भाग तक और उत्कृष्ट असंख्यात योजन तक एक दिशा में अन्तिम उत्पत्ति स्थान तक कर्मपुद्गलों को व्याप्त करके भी क्षय करता है। व्याख्याप्रज्ञप्ति के अनुसार कोई-कोई जीव मारणान्तिक समुद्घात से निवृत्त होकर पुनः उसी शरीर में भी उत्पन्न हो सकता है।[३३]

(4) वैक्रिय समुद्घात- वैक्रिय समुद्घात वैक्रियशरीरनाम कर्माश्रित है। वैक्रिय शक्ति वाला जीव आत्मप्रदेशों को शरीर से बाहर निकाल कर मोटाई, चौड़ाई में अपने शरीर के अनुसार तथा लम्बाई में संख्यात योजन समान दंडाकार बनाकर वैक्रियशरीरनामकर्म के पुद्गलों को शान्त करता है, इसी को वैक्रिय समुद्घात की संज्ञा से पुकारते हैं।[३४]

(5) तैजस समुद्घात- तेजोलेश्या शक्ति से युक्त जीव तेजोलेश्या फैंकते समय अपने आत्प्रदेशों को बाहर शरीर के अनुसार मोटा, चौड़ा और संख्यात योजन लम्बा दंडाकार करके पूर्वबद्ध तैजस अंशों को समाप्त करता है एवं योग्य अंशों को लेकर तेजोलेश्या छोड़ता है वह तैजस समुद्घात कहलाता है।[३५]

(6) आहारक समुद्घात- चौदह पूर्वधारी मुनि किसी हेतु से आत्मप्रदेशों द्वारा शरीर प्रमाण मोटा, चौड़ा और संख्यात योजन लम्बा दण्डवत् करके आहारक पुद्गलों को फैलाकर एवं योग्य पुद्गलों का ग्रहण करके आहारक शरीर का सृजन करते हैं और आहारक शरीर नामकर्म के पुद्गलों का परिशाटन (फैलाव) करते हैं, उसे आहारक समुद्घात कहते हैं।[३६]

(7) केवलि समुद्घात- जिन सर्वज्ञ केवलज्ञानी की वेदनीय, नाम और गोत्र कर्म बन्ध की स्थिति आयुष्य कर्म से अधिक रहती है वे अन्तर्मुहूर्त शेष आयुष्य रहने पर केवलीसमुद्घात करते हैं।[३७] यह समुद्घात मात्र आठ समय में पूर्ण हो जाता है।[३८] प्रथम समय वे केवली भगवन्त आत्मप्रदेश द्वारा स्व शरीर के अनुसार मोटे, चौड़े, ऊँचे, नीचे एवं लोकान्त को स्पर्श करने वाले दण्ड का सर्जन करते हैं। दूसरे समय में दण्ड को पूर्व-पश्चिम लम्बे कपाट के आकार का बनाते हैं। तीसरे समय में उत्तर-दक्षिण दिशा में लम्बे विस्तार को मथानी रूप में निर्मित करते हैं और चौथे समय में सम्पूर्ण लोक में व्याप्त हो जाते हैं, अवकाश के अन्तरों को भर लेते हैं। उस समय आत्मा का विराट् स्वरूप

बनता है। पाँचवें समय में अवकाशान्तरालों को सिकोड़ते हैं, तत्पश्चात् छठे समय में मथानी को समेटते हैं और सातवें समय में कपाट को संकुचित करते हैं। तदनन्तर आठवें समय में दण्ड को समेटकर मूल शरीर में ही स्थित हो जाते हैं। इस विधि से कर्मक्षय कर अन्तर्मुहूर्त में मोक्षगमन करते हैं।[३९]

प्रत्येक केवली केवलिसमुद्घात करे यह आवश्यक नहीं है। जिनकी आयुष्य कर्म की स्थिति कम होती है और वेदनीय, नाम एवं गोत्र कर्मों की स्थिति एवं प्रदेश अधिक होते हैं उन सबको समान करने हेतु सर्वज्ञ समुद्घात करते हैं।[४०] जिन केवलियों का आयुष्यकर्म बंधन से भवोपग्राही वेदनीय आदि अन्य कर्मों के तुल्य होता है, वे केवलिसमुद्घात नहीं करते हैं। मुक्तदशा में कर्म शेष नहीं रहते और न ही मुक्त जीव नये आयुकर्म का बंध कर सकते हैं। इसी कारण केवली केवलि-समुद्घात के द्वारा वेदनीयादि तीन कर्मों के प्रदेशों की विशिष्ट निर्जरा करके तथा उनकी लम्बी स्थिति का घात करके उन्हें आयुष्यकर्म के बराबर कर लेते हैं, जिससे चारों का क्षय एक साथ हो सके।[४१]

समुद्घात : अतीत-अनागत

वेदना, कषाय, मारणान्तिक, वैक्रिय और आहारक समुद्घात सभी प्राणी सर्व जातियों में अनन्त बार करते हैं। कोई-कोई लघु कर्मी जीव समुद्घात नहीं करते हैं, कोई एक-दो बार और कोई अनेक बार करते हैं। बहुकर्मी जीव संख्यात, असंख्यात और अनन्त बार समुद्घात करते हैं।[४२] सूक्ष्म निगोद के जीव निगोद के ही कायान्तर में दो-तीन समुद्घात अनन्त बार अनुभव करते हैं।[४३] मनुष्य जन्मों में एक जीव को आहारक समुद्घात कुल चार ही होते हैं।[४४] सातवां केवलि समुद्घात मनुष्य जन्म से भिन्न अतीत काल में नहीं होता और वह भी एक बार ही होता है।[४५]

समुद्घात : किसमें, कितना और क्यों?

तेजोलब्धि, आहारकलब्धि और केवलित्व का अभाव होने से नारकों में प्रथम चार समुद्घात होते हैं।[४६] दस भवनपति देवों में प्रारम्भ के चार और पाँचवां तैजस समुद्घात भी होता है।[४७] पृथ्वीकायिकादि पांच स्थावरों को प्रथम तीन समुद्घात होते हैं और वायुकाय में एक वैक्रिय समुद्घात मिलाकर कुल चार समुद्घात होते हैं और सूक्ष्म एकेन्द्रियों को तीन समुद्घात होते हैं।[४८] सम्मूर्च्छिम तिर्यंच पंचेन्द्रिय में तीन समुद्घात होते हैं[४९] तथा गर्भज तिर्यंच पंचेन्द्रियों से लेकर वैमानिकों तक पाँच समुद्घात होते हैं।[५०] उनमें आहारकलब्धि और केवलित्व न होने से अन्तिम दो समुद्घात नहीं होते हैं। संख्यात आयुष्य वाले मनुष्य सातों समुद्घातों से युक्त हो सकते हैं और असंख्यात आयुष्य वाले

मनुष्य को पूर्व के तीन समुद्घात होते हैं।[५१] विकलेन्द्रियों को वेदनादि पूर्व के चार समुद्घात होते हैं।[५२]

समुद्घात–यन्त्र

क्र.	समुद्घातों के नाम	अधिकारी	कितना समय	किस कर्मोदय से	परिणाम
१	वेदना समुद्घात	सभी संसारी जीव	अन्तर्मुहूर्त्त	असाता वेदनीय कर्मोदय	असातावेदनीय कर्म पुद्गलों का नाश
२	कषाय समुद्घात	”	”	चारित्र मोहनीय कर्म से	कषाय मोहनीय कर्म पुद्गलों का नाश
३	मारणान्तिक समुद्घात	”	”	आयुष्य कर्म से	आयुष्य कर्म पुद्गलों का नाश
४	वैक्रिय समुद्घात	नारकी, देव, पंचेन्द्रिय तिर्यंच एवं छद्मस्थ मनुष्य	”	वैक्रिय शरीर नाम कर्म से	वैक्रिय शरीर नाम कर्म के पुराने पुद्गलों का नाश एवं नए का ग्रहण
५	तैजस समुद्घात	व्यन्तर व ज्योतिष्क देव, नारकी, पंचेन्द्रिय तिर्यंच व छद्मस्थ मनुष्य।	”	तैजस शरीर नाम कर्म से	तैजस शरीर नामकर्म पुद्गलों का नाश
६	आहारक समुद्घात	१४ पूर्वधारी मनुष्य।	”	आहारक शरीर नामकर्म से	आहारक शरीर नाम कर्म के पुद्गलों का नाश
७	केवलि समुद्घात	केवलज्ञानी मनुष्य	आठ समय	आयुष्य के अतिरिक्त तीन अघाती कर्मों के कारण	आयुष्य के साथ तीन अघाती कर्म पुद्गलों का नाश।

भविष्य में भोग्य कर्म पुद्गलों को उदीरणा पूर्वक उदय में लाकर भोगना और क्षय करना समुद्घात है। लोकप्रकाशकार ने वेदनादि सात प्रकार के समुद्घात में केवलिसमुद्घात का विस्तृत उल्लेख किया है।

तेरहवां एवं चौदहवां द्वार : गति-आगति निरूपण

जीव मर कर जहाँ जाता है वह गति और जहाँ से आकर उत्पन्न होता है वह आगति है। गति शब्द 'गम्' धातु से निष्पन्न है। यह धातु गमन, क्रिया तथा अवस्था (दशा) अर्थ की बोधक है। जैन आचार्यों ने 'गम्' धातु के भिन्न-भिन्न अर्थों को लेकर गति को परिभाषित किया है। पंचसंग्रहकार के अनुसार निश्चय से गति क्रिया का नाम है और व्यवहार से चारों गतियों में गमन का नाम गति है।[५३] धवलाटीककार के अनुसार जो प्राप्त की जाए वह गति है।[५४]

गति के भेद

गति भेद के विषय में विद्वानों का सूक्ष्म मतवैभिन्य है। भट्ट अकलंक[५५] गति के दो भेद कर्मोदयकृत और क्षायिकी करते हैं। कर्मोदयकृत गति चार नरक, तिर्यंच, मनुष्य और देव है और क्षायिकी गति मोक्षगति है।[५६] कर्म-सिद्धान्त की दृष्टि से चार गतियाँ प्रसिद्ध हैं। जब तक जीव कर्मों से आबद्ध है वह इन चार गतियों में गमनागमन करता रहता है और जब कर्म-बन्धन से मुक्त हो जाता है तो वह सिद्ध गति को प्राप्त हो जाता है। इसी अपेक्षा से स्थानांग सूत्र[५७] में गति के पाँच भेद मिलते हैं- नरक गति, तिर्यंच गति, मनुष्य गति, देवगति और सिद्धगति। स्थानांग सूत्र के दसवें अध्ययन में विग्रह शब्द की अपेक्षा से गति के दस भेद किए हैं।[५८] विग्रह शब्द के दो अर्थ हैं- शरीर और मोड़ (वक्रता)। नरक आदि स्थानों को प्राप्त करते समय जब ऋजु (अनुश्रेणि) गति होती है तो उसे नरक गति, तिर्यंच गति आदि कहते हैं तथा जब वह गति वक्र अर्थात् एक से अधिक मोड़ वाली होती है तो उसे नरकविग्रहगति, तिर्यंचविग्रहगति आदि नामों से अभिहित करते हैं।

स्थानांग सूत्र में जीवों की गति-आगति के छह, सात, आठ और नौ भेदों का भी उल्लेख मिलता है।

छह भेद— संसारसमापन्नक जीव छह प्रकार के हैं[५९]- पृथ्वीकाय, अप्काय, तेजस्काय, वायुकाय, वनस्पतिकाय और त्रसकाय।

सात और आठ भेद योनिसंग्रह के आधार पर किए हैं अर्थात् जिस योनि से जीव उत्पन्न होता है वह गति-आगति के भेद होंगे।

सात भेद— सत्तविधे जोणिसंग्गहे पण्णत्ते- तं जहा- अंडजा, पोतजा, जराउजा, रसजा, संसेयगा, संमुच्छिमा, उब्भिगा।[६०] अर्थात् योनि संग्रह सात प्रकार के हैं- अण्डज, पोतज, जरायुज, रसज, संस्वेदज, सम्मूर्च्छिम और उद्भिज्ज।

आठ भेद— उपर्युक्त सात भेदों के साथ औपपातिक योनि संग्रह को मिलाकर आठ भेद किए हैं।[६१]

नौ भेद– संसारसमापन्न जीव नौ प्रकार के हैं- पृथ्वीकायिक, अप्कायिक, तेजस्कायिक, वायुकायिक, वनस्पतिकायिक, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पंचेन्द्रिय।[६२]

आगति

जीव के एक जन्म की भवस्थिति समाप्त होने पर अन्य जन्म में आने की योग्यता आगति कहलाती है। उपाध्याय विनयविजय इसे स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि अन्य भवों से विवक्षित भव में उत्पन्न होने की प्राणियों की योग्यता आगति है।

विवक्षते भवेऽन्येभ्यो भवेभ्यो या च देहिनाम।
उत्पत्तौ योग्यता सात्रागतिरित्युपदर्शिता।।[६३]

आगति से तात्पर्य है आगमन। गति एवं आगति में अन्तर को उदाहरण से समझा जा सकता है, यथा- देवगति से कोई जीव च्यवकर (मरण को प्राप्त होकर) मनुष्य गति में उत्पन्न होता है तो देवगति की अपेक्षा से मनुष्य गति में जाना गति है एवं मनुष्यगति की अपेक्षा देवगति से आकर मनुष्यगति में उत्पन्न होना आगति है।

गति-आगति का विशेष विवरण

एकेन्द्रियादि संसारी जीवों की कितनी और कौन-कौनसी गति तथा आगति है, इसका संक्षेप में स्वरूप इस प्रकार है-

सूक्ष्म एकेन्द्रिय– सूक्ष्म तेजस्काय और वायुकाय जीवों को छोड़कर शेष सूक्ष्म एकेन्द्रिय जीवों की दो गति और दो आगति होती है। वे दो गति एवं दो आगति हैं- तिर्यंच एवं मनुष्य। एकेन्द्रिय सूक्ष्म जीव मृत्यु प्राप्त कर एकेन्द्रिय, विकलेन्द्रिय, संख्याता गर्भज तिर्यंच पंचेन्द्रिय, मनुष्य और सम्मूर्च्छिम मनुष्यों में उत्पन्न होते हैं ओर तेजस्काय एवं वायुकायिक सूक्ष्म जीव मात्र तिर्यंच गति के पूर्वोक्त रूपों में उत्पन्न होते हैं[६४] अतः सूक्ष्म तेजस्काय एवं वायुकाय के जीवों की गति मात्र तिर्यंच है। नारकी, देव, असंख्याता आयुष्य वाले तिर्यंच और मनुष्य सूक्ष्म एकेन्द्रिय में गमन नहीं करते हैं।[६५] अतः सूक्ष्म एकेन्द्रिय की आगति भी दो मानी गई है।[६६] सूक्ष्म तेजस्काय और वायुकाय की अन्य सूक्ष्म एकेन्द्रिय जीवों की भाँति आगति दो है।

बादर एकेन्द्रिय– बादर पृथ्वीकायिक, अप्कायिक, प्रत्येक एवं साधारण वनस्पतिकायिक जीवों की दो गति एवं तीन आगति है। अग्निकायिक तथा वायुकायिक जीव मृत्यु उपरान्त मात्र तिर्यंच गति में जाते हैं। बादर पृथ्वीकायिकादि जीव एकेन्द्रियादि, गर्भज एवं सम्मूर्च्छिम तिर्यंच पंचेन्द्रिय और संख्याता आयुष्य वाले मनुष्य में जाकर उत्पन्न होते हैं।[६७]

सभी पर्याप्त-अपर्याप्त एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, गर्भज-सम्मूर्च्छिम तिर्यंच

पंचेन्द्रिय, मनुष्य, भवनपति, व्यन्तर, ज्योतिषी और प्रथम दो देवलाक के देव ये सब मृत्यु के बाद पृथ्वीकाय, अप्काय, अग्निकाय, वायुकाय, प्रत्येक वनस्पतिकाय और अपर्याप्त निगोद में आकर उत्पन्न होते हैं।[६८] अतः बादर एकेन्द्रिय की गति दो और आगति तीन हैं।[६९]

विकलेन्द्रिय (द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय) – पृथ्वीकायादि पाँचों स्थावर, तीन विकलेन्द्रिय तथा संख्यात आयुष्य वाले पंचेन्द्रिय तिर्यंच तथा मनुष्य इन दसों स्थानकों के अन्दर विकलेन्द्रिय जीवों की गति है और इन्हीं दसों स्थानों से इनकी आगति होती है। नारक, देव और असंख्यात वर्षायु वाले तिर्यंच और मनुष्य में इनकी गति-आगति नहीं है। अतएव ये जीव दो गति और दो आगति वाले हैं।[७०]

सम्मूर्च्छिम तिर्यंच पंचेन्द्रिय– जलचर, स्थलचर (चतुष्पद और परिसर्प) और खेचर- जीव चार गतियों में जाते हैं और दो गतियों से आते हैं। नरक में रत्नप्रभा पहली नरक तक, तिर्यंच में सभी तिर्यंचों में, मनुष्य में संख्यात एवं असंख्यात आयुष्य वाले मनुष्यों में और देवों में भवनपति और वाणव्यन्तरों में ये जीव उत्पन्न होते हैं।[७१]

एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय और संज्ञी तथा असंज्ञी तिर्यंच जीव सम्मूर्च्छिमतिर्यंच में उत्पन्न होते हैं। देव अथवा नरक से कोई भी जीव सम्मूर्च्छिम तिर्यंच पंचेन्द्रिय में उत्पन्न नहीं होता।[७२]

गर्भज तिर्यंच पंचेन्द्रिय– गर्भज तिर्यंच पंचेन्द्रिय जीव मरकर सातवीं नरक तक, सभी तिर्यंचों, मनुष्यों और सहस्रार तक के देवलोक में जाते हैं।[७३] अर्थात् मरणोपरान्त इनका गमन चारों गतियों में हो सकता है। गर्भज तिर्यंच पंचेन्द्रिय जीवों की नरक में उत्पन्न होने की स्थिति को जीवाजीवाभिगम सूत्र में विशेष रूप से उद्धृत किया है-"असंज्ञी जीव पहले नरक तक, सरीसृप दूसरे नरक तक, पक्षी तीसरे नरक तक, सिंह चौथी नरक तक, सर्प पाँचवीं नरक तक, स्त्रियाँ छठी नरक तक और मत्स्य तथा मनुष्य सातवीं नरक तक जा सकते हैं।"[७४]

उपाध्याय विनयविजय ने भी इसे अपने ग्रन्थ लोकप्रकाश में पुष्ट किया है- "रौद्रध्यान आदि के कारण जिन्होंने महापाप उपार्जन किया हो, ऐसे परस्पर हिंसा करने वाले मत्स्य आदि जलचर जीव सातों नरक में जाते हैं। सिंह आदि हिंसक जीव चार पैर वाले प्रथम चार नरक तक जाते हैं! उरपरिसर्प पाँचवीं नरक तक, पक्षी तीसरी नरक तक और भुजपरिसर्प दूसरी नरक तक जाते हैं।[७५]

संख्यात आयुष्यक गर्भज मनुष्य एवं गर्भज तिर्यंच, पर्याप्त बादर पृथ्वीकाय, अप्काय और प्रत्येक वनस्पतिकाय इन जीवों में देव गति करते हैं।

गर्भज तिर्यंच पंचेन्द्रिय में जीव सातवीं नरक पर्यन्त से, असंख्याता वर्षायु वाले तिर्यंच को

छोड़कर शेष तिर्यंचों से, कर्मभूमिज मनुष्यों से और सहस्रार तक के देवलोकों से आकर उत्पन्न होते हैं।[७६] अतः ये जीव चारों गतियों में जाने वाले और चारों आगति वाले हैं।

मनुष्य– सम्मूर्च्छिम मनुष्य दो गति वाले और दो आगति (तिर्यक् और मनुष्य) वाले हैं।[७७] गर्भज मनुष्य सातवीं नरक को छोड़ शेष सभी नरकों से आकर उत्पन्न होते हैं, असंख्यात वर्षायु को छोड़कर शेष सभी तिर्यंचों से भी उत्पन्न होते हैं। कर्मभूमिज मनुष्यों और सभी देवों से आकर भी उत्पन्न होते हैं।[७८] ये जीव मृत्यु बाद नैरयिकों में यावत् अनुत्तरौपपातिक देवों में भी उत्पन्न होते हैं और कोई सिद्ध होते हैं। इस प्रकार गर्भज मनुष्य जीव पाँच गति वाले और चार आगति वाले हैं।[७९]

देव– देव च्यवन कर नरक और देवों में उत्पन्न नहीं होते। यथासम्भव तिर्यंच एवं मनुष्यों में उत्पन्न होते हैं तथा इन्हीं से आते हैं। अतः वे दो गति वाले और दो आगति वाले हैं।[८०]

नारक– नारकी जीव मरकर तिर्यंच और मनुष्यों में ही जाते हैं। अतः दो गति वाले हैं और तिर्यंच तथा मनुष्यों से ही आकर उत्पन्न होते हैं इसलिए दो आगति वाले हैं।[८१]

उपाध्याय विनयविजय ने आगम सूत्रों को उद्धृत करते हुए जीवों की गति-आगति का स्पष्ट एवं प्रामाणिक उल्लेख किया है।

पन्द्रहवां एवं सोलहवां द्वार : अनन्तराप्ति और समयसिद्धि निरूपण

अनन्तराप्ति अर्थात् अनन्तर (अन्तर रहित) जन्म में प्राप्त करना। इसका आशय है कि विवक्षित जन्म (वर्तमान कालीन जन्म) में प्राप्त स्व-शरीर को छोड़कर (मृत्यु प्राप्त कर) अन्तर रहित दूसरे ही जन्म में प्राणी समकित को प्राप्त करता है वह 'अनन्तराप्ति' कहलाता है। लोकप्रकाशकार के अनुसार इसका लक्षण इस प्रकार है-

विवक्षितभवान्मृत्वोत्पद्य चानन्तरे भवे।
यत्सम्यक्त्वाद्यश्नुतेऽगी सानन्तराप्तिरुच्यते।।[८२]

समकित आदि साधनों को प्राप्त कर योग्यता धारक जीव एक समय में जितने सिद्ध होते हैं वह 'एक समय सिद्ध' है-

लब्ध्वा नृत्वादि सामग्रीं यावन्तोऽधिकृतांगिनः।
सिद्धयन्त्येकक्षणे सैकसमये सिद्धिरुच्यते।।[८३]

अनन्तराप्ति के अधिकारी और समयसिद्ध होने वाले जीव

(1) सूक्ष्म और बादर एकेन्द्रिय जीव– पृथ्वीकायिक, अप्कायिक और वनस्पतिकायिक जीव मृत्यु के बाद अनन्तर भव में तिर्यंच पंचेन्द्रिय जन्म प्राप्त करता है तब वह देशविरति सम्यक्त्व प्राप्त कर सकता है और यदि गर्भज रूप प्राप्त करता है तब क्रमशः देशविरति, सर्वविरति और मोक्ष भी

प्राप्त कर सकता है।[८४] तेजस्काय और वायुकाय के जीव अनन्तर जन्म में समकित प्राप्त नहीं करते हैं।[८५]

पृथ्वीकायिक और अप्कायिक जीव अनन्तर जन्म में एक समय में चार एवं वनस्पतिकायिक जीव छह मोक्ष जाते हैं।[८६]

आगमकारों ने सूक्ष्म और बादर एकेन्द्रिय जीवों की अनन्तराप्ति और समयसिद्धि का भिन्न-भिन्न विभाजन नहीं किया है। लोकप्रकाशकार ने भी उन्हीं का अनुकरण किया है।

(2) विकलेन्द्रिय– विकलेन्द्रिय जीव अनन्तर जन्म में मनुष्य भव प्राप्त करे तो सर्वविरति रूप दीक्षा ग्रहण कर सकता है, परन्तु स्वभाव से मोक्ष प्राप्त नहीं कर सकता।[८७] मोक्ष प्राप्त नहीं कर सकता है तो एक समयसिद्धि का प्रश्न ही नहीं उठता है-

एकस्मिन् समये सिद्धिर्विकलानां न सम्भवेत्।
ग्रामो नास्ति कुतः सीमा मोक्षो नास्तीति सा कुतः।।[८८]

(3) तिर्यंच पंचेन्द्रिय– तिर्यंच पंचेन्द्रिय जीव अनन्तर भव में समकित एवं मोक्ष प्राप्त कर सकता है और एक समय में ऐसे दस ही जीव मोक्ष में जाते हैं-

लभतेऽनन्तरभवे सम्यक्त्वादि शिवावधि।
ते चैकस्मिन् क्षणे मुक्तिं यान्तो यान्ति दशैव हि।।[८९]

(4) मनुष्य– सम्मूर्च्छिम मनुष्यों की अनन्तराप्ति और समयसिद्धि की गणना पृथक् से नहीं की जाती है क्योंकि सम्मूर्च्छिम जीव एकान्त मिथ्यात्वी होते हैं, अतः उन्हें समकित की प्राप्ति नहीं होती है। गर्भज मनुष्य अनन्तर जन्म में मनुष्यत्व प्राप्त कर सम्यक्त्व, देशविरति चारित्र और मोक्ष प्राप्त करता है, परन्तु अर्हत्, चक्रवर्ती (बलदेव) या वासुदेव को अनन्तर जन्म में समकित प्राप्त नहीं होता।[९०]

गर्भज मनुष्य अनन्तर जन्म में मनुष्यत्व प्राप्त करके एक समय में केवल बीस ही सिद्धि प्राप्त करते हैं। यदि पुरुष अनन्तर जन्म में मनुष्यत्व प्राप्त किया जाए तो दस और स्त्रियाँ यदि अनन्तर जन्म में मनुष्यत्व प्राप्त करे तो एक समय में बीस सिद्ध होते हैं।[९१]

(5) देव– लघुकर्मी देव अनन्तर जन्म में समकित, देशविरति, सर्वचारित्र और मोक्ष भी प्राप्त करते हैं।[९२] देव अनन्तर भव में एक समय में उत्कृष्ट १०८ सिद्ध होते हैं।[९३] भवनपति और व्यन्तर देव अनन्तर भव में से दस जीव सिद्ध होते हैं और इनकी देवियाँ पाँच ही सिद्ध होती है। ज्योतिष्क देवों में से दस जीव सिद्ध होते हैं और उनकी देवियाँ बीस सिद्ध होती हैं। वैमानिक देव एक सौ आठ सिद्ध होते हैं।[९४]

(6) नारक– सामान्यतः नारकी अनन्तर जन्म में सम्यक्त्व, देशविरति, सर्वविरति और मोक्ष प्राप्त कर सकते हैं। नरक से च्यवन कर मनुष्य जन्म प्राप्त करने पर एक समय में दस नारक सिद्ध होते हैं। प्रथम तीन नरकों से च्यवन किए नारकी दस मोक्ष जाते हैं और चौथी नरक से निकलकर पाँच सिद्धि प्राप्त करते हैं। पाँचवें से यावत् सातवें नरक से च्यवन किए मोक्ष नहीं जाते।

सत्रहवां द्वार : लेश्या-विमर्श

आत्मा का अध्यवसाय या परिणाम विशेष लेश्या जैन दर्शन का पारिभाषिक शब्द है। यह लेश्या शब्द आगम साहित्य में मिलता है, परन्तु इसकी परिभाषा आगम में अनुपलब्ध है। प्राचीन साहित्य में किसी वस्तु का स्वरूप परिभाषा से स्पष्ट न करके उसके भेद-प्रभेद से समझाया जाता था। इसलिए आगम साहित्य में लेश्या को परिभाषित न कर उसके भेदों पर विस्तार से प्रकाश डाला गया है।

नवांगी टीकाकार आचार्य अभयदेवसूरि ने सर्वप्रथम भगवती सूत्र की टीका में लेश्या को परिभाषित करते हुए कहा- 'कृष्णादिद्रव्यसानिध्यजनितो जीवपरिणामो लेश्या'[६५] अर्थात् कृष्ण आदि द्रव्य वर्गणाओं की सन्निधि से होने वाला जीव का परिणाम लेश्या है। आचार्य हरिभद्र, मलयगिरि, नेमिचन्द्र-सिद्धान्तचक्रवर्ती, पंचसंग्रहकार और कर्मग्रन्थकार आदि आचार्यों ने भी लेश्या विषय में अपने विचार अभिव्यक्त किए हैं। वे इस प्रकार हैं-

१. आवश्यक सूत्र की टीका में आचार्य हरिभद्र कहते हैं कि जो आत्मा को योग और कषाय प्रवृत्ति द्वारा अष्टविध कर्मों से श्लिष्ट करती है वह लेश्या है।[६६]

२. आचार्य मलयगिरि प्रज्ञापना सूत्र की वृत्ति में लिखते हैं कि स्फटिक मणि में जिस काला, लाल आदि वर्ण का धागा पिरोया जाता है। वह वैसी ही प्रतिभासित होने लगती है उसी प्रकार राग-द्वेष कषाय आदि विविध परिणामों से आत्मा का तत्तत् परिणामों में परिणत हो जाना लेश्या है।[६७]

३. स्थानांग सूत्र की टीका में लेश्या को श्लेष की तरह कर्मबंध की स्थिति की विधायिका बताया गया है- "लिश्यते श्लिष्यते कर्मणा संबध्यते जीवो याभिस्ताः लेश्याः-कर्मणा सह सम्बन्धे हेतुभूता आत्मपरिणामविशेषाः।"[६८] तात्पर्य यह है कि लेश्याओं का कर्म के साथ कार्य-कारणभाव सम्बन्ध है। कर्मों की स्थिति का कारण लेश्या है। जैसे दो पदार्थों का योग करने में एक तीसरे लेसदार द्रव्य की आवश्यकता होती है ठीक वैसे ही आत्मा का कर्मों के साथ बन्ध होता है उसमें श्लेष (सरेस) की तरह लेश्या कार्य करती है। आत्मप्रदेशों के साथ सम्बद्ध होने वाले कर्म पुद्गलों के रस विशेष को अनुभाग कहते हैं और उस रस-विशेष

का अनुभव भी लेश्या के द्वारा किया जाता है।

४. 'योगपरिणामो लेश्या' अर्थात् योगों के परिणाम विशेष को भी लेश्या कहते हैं।[९९]

५. 'अध्यवसाये आत्मनः परिणामविशेषे, अन्तःकरणवृत्तौ।' अर्थात् आत्मा के परिणाम विशेष, अन्तःकरणवृत्ति या अध्वसाय के अर्थ में 'लेश्या' शब्द प्रयुक्त होता है।[१००]

६. 'लिम्पतीति लेश्या। कर्मभिरात्मानमित्यध्याहारापेक्षित्वात्। अथवाऽऽत्मप्रवृत्तिसंश्लेषणकारी लेश्या।' जो लिम्पन करती है वह लेश्या है। जो आत्मा को कर्मों से लिप्त करती है अर्थात् आत्मा को कर्म रूपी द्रव्य से बांधती है वह लेश्या है अथवा जो आत्मा और कर्म का सम्बन्ध करने वाली है उसको लेश्या कहते हैं।[१०१]

७. जिसके द्वारा जीव पुण्य-पाप से स्वयं को लिप्त करता है, उनके आधीन करता है, उसे लेश्या कहते हैं। जिस प्रकार आमपिष्ट से मिश्रित गेरुमिट्टी के लेप द्वारा दीवाल लीपी या रंगी जाती है उसी प्रकार शुभ-अशुभ भाव रूप लेप के द्वारा आत्मा लिप्त होती है, वह लेश्या है।[१०२]

८. कर्मग्रन्थ के अनुसार लेश्या का व्युत्पत्त्यर्थ है- 'लिश्यते श्लिष्यते कर्मणा सह आत्मा अनयेति लेश्या' अर्थात् जिसके द्वारा कर्मों के साथ आत्मा श्लिष्ट हो जाए वह लेश्या है।[१०३]

९. स्थानांग सूत्र की वृत्ति में एक मत उद्धृत करते हुए अभयदेवसूरि लिखते हैं-लेश्या कर्म निर्झर (निष्यन्द) रूप है।[१०४] जिस प्रकार वर्णन की स्थिति का निर्धारण उसमें विद्यमान श्लेष द्रव्य के आधार पर होता है, वैसे ही कर्मबंध की स्थिति का निर्धारण लेश्या से होता है।

१०. तत्त्वार्थराजवार्तिक में लेश्या को परिभाषित करते हुए आचार्य अकलंक लिखते हैं- 'कषायोदयरंजिता योगप्रवृत्तिलेश्या अर्थात् कषाय के उदय से रंजित योग की प्रवृत्ति लेश्या है। आत्म-परिणामों की शुद्धता और अशुद्धता की अपेक्षा से इसे कृष्ण आदि नामों से पुकारा जाता है।[१०५]

उपाध्याय विनयविजय लेश्या के स्वरूप का प्रतिपादन करते हुए प्रज्ञापना सूत्र की मलयगिरि वृत्ति का ही अनुसरण करते हुए कहते हैं- कृष्ण आदि द्रव्य के संयोग से स्फटिक रत्न का जैसे अन्य नया परिणाम होता है वैसे ही कर्मों के संयोग से आत्मा का परिणाम होता है, उसे लेश्या कहते हैं।[१०६]

अतः लेश्या वह कारक तत्त्व है जो मन-वचन-काय की प्रवृत्ति रूप योग और कषाय से युक्त होकर आत्मा का कर्मों के साथ सम्बन्ध करवाता है।

लेश्या की उपर्युक्त परिभाषाओं एवं अन्य विवरण के आधार पर उसके सम्बन्ध में मुख्य

तीन मत हमारे सामने प्रस्तुत होते हैं- १. कर्मवर्गणा निष्पन्न लेश्या २. कर्मनिष्यन्द लेश्या ३. योगपरिणाम लेश्या।

कर्मवर्गणा निष्पन्न लेश्या

उत्तराध्ययन के टीकाकार शांतिसूरि का मत है कि लेश्या का निर्माण कर्मवर्गणा से होता है। लेश्या कर्म रूप होते हुए भी उससे पृथक् है, क्योंकि दोनों स्वरूपतः भिन्न-भिन्न हैं।[१०७]

उपर्युक्त अभिमत के आधार पर हम यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि जीव जब तक कार्मण वर्गणाओं का आकर्षण करता है तब तक ही लेश्या का अस्तित्व रहता है। उसके पश्चात् जीव अलेश्य हो जाता है।

कर्मनिष्यन्द लेश्या

लेश्या कर्म का निष्यन्द या निर्झर रूप है। जैसे निर्झर नित नए-नए रूप में प्रवाहित होता रहता है, वैसे ही लेश्याप्रवाह एक जीव के साथ अपने असंख्य रूप दिखलाता है। निष्यन्द रूप का तात्पर्य बहते हुए कर्मप्रवाह से है। १४वें गुणस्थान में कर्मसत्ता है, प्रवाह है, पर वहाँ लेश्या का अभाव है, क्योंकि वहाँ नए कर्मों का आगमन नहीं होता।

इस मत में एक प्रश्न उपस्थित होता है कि यह लेश्या कौनसे कर्म का निष्यन्द है घाती कर्मों का अथवा अघाती कर्मों का? और यदि आठों कर्मों का निष्यन्द लेश्या है तो चार घाती कर्मों को नष्ट करने वाले सयोगी केवलियों को भी लेश्या के सद्भाव का प्रसंग प्राप्त हो जायेगा। लेश्या, कषाय और योग दोनों के साथ कार्य करती है। जब कषाय की उपस्थिति में लेश्या कार्य करती है तो कर्म का बंधन प्रगाढ़ होता है और जब वह मात्र योग के साथ सक्रिय होती है तो स्थिति और अनुभाग की दृष्टि से कर्म का बंधन नाममात्र का होता है। १३वें गुणस्थानवर्ती सयोगी केवलियों के मात्र दो समय की स्थिति वाली ईर्यापथिक क्रिया का ही बन्ध होता है। अतः सयोगी केवलियों के भी लेश्या स्वीकार नहीं की जाती है।

योग परिणाम लेश्या

इस मत के मुख्य प्रवर्तक आचार्य हरिभद्रसूरि आचार्य मलयगिरि एवं उपाध्याय विनयविजय हैं। आचार्य मलयगिरि ने प्रज्ञापना सूत्र के लेश्या पद की प्रस्तावना में इस विषय पर पर्याप्त विवेचन किया है। लेश्या और योग में अविनाभावी सम्बन्ध है। जहाँ योग का विच्छेद होता है वहीं लेश्या परिसम्पन्न होती है। ऐसा होने पर भी लेश्या योगवर्गणा के अन्तर्गत नहीं है। वह एक स्वतंत्र द्रव्य है। कर्म के उदय और क्षयोपशम से जैसे हमारे योगों में परिवर्तन आता है, वैसे ही लेश्या भी सतत परिवर्तन की प्रक्रिया से गुजरती रहती है।

उपाध्याय विनयविजय भी इसी मत को अंगीकार करते हैं-

द्रव्याण्येतानि योगान्तर्गतानीति विचिन्त्याम्।
संयोगत्वेन लेश्यानामन्वयव्यतिरेकतः।।[१०८]

लेश्या के बिना कर्म-पुद्गलों का आत्मप्रदेशों से संयोग नहीं होता, इनका कर्म संयोग में अन्वय-व्यतिरेक सम्बन्ध है, अतः लेश्या भी द्रव्य है, जिनका समावेश योग वर्गणा में होता है।

कषायानुरंजिता कायवाङ्मनोयोगप्रवृत्तिः लेश्या।।[१०९]

भट्ट अकलंक के इस लक्षण से भी स्पष्ट है कि लेश्या योगप्रवृत्ति का नाम है, योग का नहीं।

योग और लेश्या का वास्तविक अन्तर तो अतीन्द्रिय ज्ञानी ही बता सकते हैं।

लेश्या के प्रकार : द्रव्य लेश्या एवं भाव लेश्या

लेश्या हमारे व्यक्तित्व का प्रतिबिम्ब है। जैसे प्रतिबिम्ब में हमारे बाह्य व्यक्तित्व की छवियाँ दिखाई देती हैं, वैसे ही लेश्या में हमारा बाह्य और अन्तरंग दोनों प्रकार का व्यक्तित्व प्रतिबिम्बित होता है। इसी आधार पर लेश्या के दो प्रकार किए गए हैं- द्रव्यलेश्या और भावलेश्या। तेज, दीप्ति, ज्योति, किरण, आभामण्डल आदि शब्द द्रव्यलेश्या का प्रतिनिधित्व करते हैं तथा अन्तःकरण, अध्यवसाय, आत्मपरिणाम आदि शब्द भाव लेश्या के सूचक हैं।[११०] द्रव्यलेश्या और भावलेश्या के स्वरूप को निम्नांकित बिन्दुओं से समझा जा सकता है-

१. द्रव्यलेश्या एक पौद्गलिक पदार्थ है इसलिए पुद्गल के सभी गुण उसमें विद्यमान हैं। द्रव्यलेश्या में पाँच वर्ण, पाँच रस, दो गंध और आठ स्पर्श होते हैं। भावलेश्या अपौद्गलिक होने से वर्ण, गंध, रस एवं स्पर्श से विरहित है।
२. जैनदर्शन में लेश्या के भार पर भी विचार किया गया है। द्रव्य लेश्या न एकान्ततः भारी होती है और न हल्की, अतः वह गुरुलघु रूप होती है।[१११] जबकि भावलेश्या अरूपी है अतः सर्वथा भारमुक्त है, इसलिए वह अगुरुलघु है।
३. द्रव्यलेश्या का विस्तार क्षेत्र की दृष्टि से लोकप्रमाण है, काल की अपेक्षा शाश्वत है और भाव की दृष्टि से वह कभी वर्ण, गंध आदि से वियुक्त नहीं होती।
४. द्रव्यलेश्या में निरन्तर पुद्गलों का आदान-प्रदान होता रहता है। एक ही द्रव्यलेश्या के पुद्गल संहति में तारतम्य चलता रहता है।
५. द्रव्यलेश्या के असंख्य स्थान हैं। वे स्थान पुद्गलों की विशुद्धता-अविशुद्धता, मनोज्ञता-अमनोज्ञता, शीतता-उष्णता आदि के हीनाधिक्य की अपेक्षा से हैं। द्रव्यलेश्या के

बिना भावलेश्या का स्थान नहीं बन सकता। विविध गतियों और जातियों में लेश्याओं का विवेचन द्रव्यलेश्या की अपेक्षा से है, क्योंकि भावलेश्या की अपेक्षा नारक और देवता में सभी लेश्याओं का अस्तित्व स्वीकार किया जाता है।

६. द्रव्यलेश्या में होने वाले परिणमन में एक लेश्या के पुद्गलों का दूसरी लेश्या के पुद्गलों में परस्पर संक्रमण नहीं होता है जबकि एक ही लेश्या के पुद्गलों में न्यूनाधिकता होती है। यथा कृष्ण लेश्या के परिणमन में उसी लेश्या के पुद्गल की संख्या कम ज्यादा होती है। परन्तु कृष्णलेश्या, नीललेश्या में परिवर्तित नहीं होती है। द्रव्यलेश्या-परिणमन से विपरीत भावलेश्या-परिणमन में लेश्याओं का परस्पर संक्रमण होता है। पुद्गल की न्यूनाधिकता इसमें नहीं होती क्योंकि यह पौद्गलिक नहीं है। भावों की विशुद्धता और अविशुद्धता से भाव लेश्याएँ परस्पर परिवर्तित होती रहती है।

सा च षोढ़ा कृष्ण–नील–कापोतसंज्ञितास्तथा।
तेजोलेश्या पद्मलेश्या शुक्ललेश्येति नामतः।।[२]

लेश्या के छह भेद हैं- कृष्णलेश्या, नीललेश्या, कापोतलेश्या, तेजोलेश्या, पद्मलेश्या और शुक्ललेश्या। परिणाम, वर्ण, रस, गंध, स्पर्श, शुभ, गति, गुणस्थान, भाव, अवगाहना, अल्पबहुत्व आदि विभिन्न दृष्टिकोणों से लेश्याओं का विवेचन आगम-साहित्य में मिलता है। इन्हीं दृष्टियों का द्रव्य लेश्या और भावलेश्या के रूप में भी वर्गीकरण किया जा सकता है। यह वर्गीकरण इस प्रकार होगा-

द्रव्यलेश्या– नाम, वर्ण, रस, गंध, स्पर्श, परिणाम, प्रदेश, अवगाहना, स्थिति, स्थान, अल्पबहुत्व के आधार पर द्रव्य लेश्या का विवेचन किया जाता है।

भावलेश्या– शुद्धत्व, प्रशस्तत्व, संक्लिष्टत्व, परिमाण, गति, अल्पबहुत्व, स्थान के आधार से भावलेश्या का निरूपण किया जाता है।

हमारे आत्म-परिणामों के असंख्य प्रकार होने से लेश्या भी असंख्य हो सकती हैं फिर भी लेश्याओं के छह भेद नैगम नय की अपेक्षा से किए जाते हैं। लेश्या के इन प्रचलित छह भेदों के अतिरिक्त 'संयोगजा' नामक सातवीं लेश्या भी स्वीकार की गई है। उत्तराध्ययन सूत्र के चूर्णिकार आचार्य जयसिंह सूरि ने इस विषय पर विशेष प्रकाश डाला है। उनके अनुसार यह लेश्या शरीर की छाया के रूप में है। औदारिक, औदारिक मिश्र, वैक्रिय, वैक्रिय मिश्र, आहारक, आहारक मिश्र और कार्मण ये जीव-शरीर के सात प्रकार हैं जिन्हें काययोग कहा जाता है। इन सभी काययोग के शरीरों की छाया भी संयोगजा नाम की सातवीं लेश्या में समाविष्ट होती है।[३]

लेश्या का विभिन्न द्वारों से कथन

उपाध्याय विनयविजय कृत लोकप्रकाश तथा श्वेताम्बर एवं दिगम्बर परम्परा के विभिन्न ग्रन्थों एवं दिगम्बर परम्परा के विभिन्न ग्रन्थों के आधार पर यहाँ १५ द्वारों से लेश्या का निरूपण किया जा रहा है, जिससे लेश्या का विशेष स्वरूप प्राप्त हो सकेगा।

नाम– कृष्ण, नील, कापोत, तेजो, पद्म एवं शुक्ल ये छहों नाम द्रव्य लेश्या के नाम हैं। भावलेश्याएँ असंख्य हैं।

वर्ण– लेश्याओं के वर्ण के सम्बन्ध में इस प्रकार विवेचन उपलब्ध होता है-

1. ***कृष्णलेश्या***–खंजन नामक पक्षी, अंजन, काले बादल, भ्रमर, कोयल और हाथी के रंग के समान कृष्ण वर्ण युक्त।[११४]
2. ***नील लेश्या***– तोता, चाषपक्षी-नीलकण्ठ, मयूर पंख, कबूतर का कंठ तथा नीलकमल के वन सदृश नीलवर्ण युक्त।[११५]
3. ***कापोत लेश्या***– खादि वृक्ष का सार, शण के पुष्प और वृन्ताक पुष्प के रंग समान कापोत वर्णयुक्त।[११६]
4. ***तेजोलेश्या***– पद्मरागमणि, उदीयमान सूर्य, संध्या, चनोटी के आधे भाग और परवाल के रंग के समान लाल वर्णयुक्त।[११७]
5. ***पद्मलेश्या***– स्वर्ण, जूहीपुष्प, स्वर्णकर्णिका पुष्प, चम्पकपुष्प आदि से भी उत्कृष्ट पीतवर्णयुक्त।[११८]
6. ***शुक्ललेश्या***– गाय के दूध, समुद्र के फेन, दही तथा शरत् ऋतु के बादल समान श्वेत वर्ण युक्त।[११९]

गन्ध– कृष्ण आदि छह द्रव्य लेश्याओं में प्रथम तीन लेश्याएँ अप्रशस्त, अति दुर्गन्ध से भरी हुई एवं मलिन हैं तथा अन्तिम तीन तेजो, पद्म एवं शुक्ल लेश्या अत्यन्त सुवासित, प्रशस्त और निर्मल हैं।[१२०] भावलेश्या में गंध नहीं होती। उत्तराध्ययन सूत्रकार के अनुसार इन अप्रशस्त लेश्याओं की गन्ध मृत गाय, मृत कुत्ता और मृत सर्प की दुर्गन्ध से भी अनन्तगुणा दुर्गन्ध वाली होती है। शेष तीन प्रशस्त लेश्याएँ सुरभित पुष्पों तथा घिसे हुए सुगन्धित द्रव्यों से भी अनन्तगुणा सुगन्ध वाली होती हैं।[१२१]

रस– द्रव्यलेश्याओं के पाँच रस इस प्रकार हैं-

1. ***कृष्ण***– नीम, कड़वा त्रपुशी, तुम्बिका, नीम की छाल एवं उसके फल के समान कटुक

रस वाली कृष्णलेश्या है।[१२२]

2. *नील*– पीपल, अदरक, कालीमिर्च, राजिका तथा गजपीपल के तुल्य अत्यन्त तिक्त रस वाली नीललेश्या है।[१२३]
3. *कापोत*– कच्चे बिजोरा, कपित्थ, बेर, कटहल और आंवले के समान अनन्तगुणा कषैली कापोतलेश्या है।[१२४]
4. *तेजो*– वर्ण, गंध, रसयुक्त पके हुए आम फल आदि के समान मधुर आम्ल रस वाली तेजोलेश्या है।[१२५]
5. *पद्म*– द्राक्ष, खजूर, महुए आदि के आसव तथा मदिरा के समान अनन्तगुना आम्ल, कषैला एवं मधुर रस वाली पद्मलेश्या है।[१२६]
6. *शुक्ल*– शक्कर, गुड़, मिश्री, गन्ना आदि के समान अति मधुर रस वाली शुक्ल लेश्या है।[१२७]

स्पर्श– प्रथम तीन लेश्याओं में शीत और रूक्ष स्वभाव वाले परमाणुओं का आधिक्य होने से इनका स्पर्श कठोर होता है तथा अन्तिम तीन लेश्याओं में उष्ण और स्निग्ध स्वभाव के परमाणुओं के आधिक्य से ये लेश्याएँ कोमल स्पर्श वाली होती हैं।[१२८] उत्तराध्ययन सूत्रकार का कहना है कि तीन अप्रशस्त लेश्याओं का स्पर्श करौत, गाय की जीभ, शाक के पत्ते से भी अनन्तगुणा कठोर होता है और प्रशस्त लेश्याओं का स्पर्श नवनीत, शिरीष पुष्पों से भी अनन्तगुणा कोमल है।[१२९]

प्रदेश और अवगाह- द्रव्यलेश्या अनन्त प्रदेशात्मक है और लेश्या का अवगाह क्षेत्र असंख्य प्रदेशात्मक है।[१३०] आचार्य नेमिचन्द्र ने गोम्मटसार में लेश्या के अवगाहन पर विशेष विचार व्यक्त किया है कि प्रथम तीन लेश्याओं का अवगाह क्षेत्र सर्वलोक है तथा अन्तिम तीन लेश्याओं का क्षेत्र लोक का असंख्यातवां भाग है। समुद्घात की अपेक्षा शुक्ल लेश्या का क्षेत्रावगाह सम्पूर्ण लोक परिमाण होता है।[१३१]

स्थान– द्रव्यलेश्या की अपेक्षा से लेश्या के असंख्य स्थान है।[१३२] ये स्थान पुद्गल की मनोज्ञता-अमनोज्ञता, सुगन्धता-दुर्गन्धता, विशुद्धता-अविशुद्धता तथा शीत-रूक्षता अथवा स्निग्ध-उष्णता की हीनाधिकता की अपेक्षा से है। काल की अपेक्षा से असंख्य अवसर्पिणी उत्सर्पिणी काल में जितने समय हैं उतने लेश्या के स्थान हैं। क्षेत्र की अपेक्षा से लोकाकाश प्रमाण लेश्या के स्थान हैं।[१३३]

भावलेश्या के स्थान द्रव्यलेश्या सापेक्ष हैं, क्योंकि पूर्व में भी कहा है कि द्रव्यलेश्या के स्थान

बिना भावलेश्या के बन नहीं सकते। अतः जितने द्रव्यलेश्या के स्थान होते हैं, उतने ही भावलेश्या के स्थान होने चाहिए।

गति– जीव अपने आत्मपरिणामों के अनुसार तिर्यंच आदि गतियों में परिभ्रमण करता है। कारण में कार्य का उपचार करने पर लेश्या को सुगति और दुर्गति का सर्जक कहा गया है। कृष्ण, नील, कापोत- ये तीन लेश्याएँ अशुभ हैं और दुर्गति में ले जाने वाली हैं और तेज, पद्म एवं शुक्ल ये तीन शुभ लेश्याएँ सुगति में ले जाने वाली है।[१३४] टीकाकार मलयगिरि के अनुसार संक्लिष्ट अध्यवसायों के कारण लेश्या सुगति का कारण बनती है।[१३५]

लेश्या–विवरण : विभिन्न गतियों में

लेश्या	नरक	मनुष्य तथा तिर्यंच	देव
कृष्ण	नैरयिक जीवों की जघन्य स्थिति पल्योपम के असंख्यातवें भाग सहित दस सागर और उत्कृष्ट स्थिति तैंतीस सागरोपम है।	दोनों में जघन्य तथा उत्कृष्ट स्थिति अन्तर्मुहूर्त्त।	भवनपति और वाणव्यन्तर देवों की जघन्य स्थिति दस हजार वर्ष तथा उत्कृष्ट पल्योपम का असंख्यातवां भाग।
नील	इनकी जघन्य स्थिति पल्योपम के असंख्यातवें भाग और उत्कृष्ट पल्योपम के असंख्यातवें भाग सहित दस सागरोपम।	”	भवनपति और वाणव्यन्तर देवों की कृष्ण लेश्या की उत्कृष्ट स्थिति से एक समय अधिक और उत्कृष्ट पल्योपम का असंख्यातवां भाग।
कापोत	जघन्य दस हजार वर्ष और उत्कृष्ट पल्योपम के असंख्यातवें भाग सहित तीन सागरोपम।	”	नील लेश्या की उत्कृष्ट स्थिति से एक समय अधिक जघन्य स्थिति और उत्कृष्ट स्थिति पल्योपम का असंख्यातवां भाग।
तेजो	-	”	भवनपति और व्यन्तर ज्योतिषी तथा प्रथम दो देवलोक तक के देवों की अपेक्षा से जघन्य दस हजार वर्ष और उत्कृष्ट पल्योपम का असंख्यातवां भाग अधिक दो सागरोपम
पद्म	-	”	ईशान देवलोक से लेकर ब्रह्मलोक तक के देवों में

			तेजोलेश्या की उत्कृष्टस्थिति से एक समय अधिक जघन्य स्थिति और उत्कृष्ट एक मुहूर्त्त अधिक दस सागरोपम
शुक्ल	-	मनुष्य की जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त्त एवं उत्कृष्ट नौ वर्ष कम एक करोड़ पूर्व की है तथा तिर्यंच की दोनों अन्तर्मुहूर्त्त है।	लान्तक देवलोक से लेकर अन्तिम अनुत्तर विमान तक के देवों की अपेक्षा पद्म लेश्या की उत्कृष्ट स्थिति से एक समय अधिक जघन्य स्थिति और उत्कृष्ट एक मुहूर्त्त अधिक ३३ सागरोपम है।

लेश्या स्थिति (एक भव की अपेक्षा से)- उत्तराध्ययनसूत्र, अध्ययन ३४, गाथा ३४ से ५५

लेश्या	जघन्य स्थिति	उत्कृष्ट स्थिति
कृष्ण	अन्तर्मुहूर्त	एक मुहूर्त अधिक तैंतीस सागरोपम।
नील	"	एक पल्योपम के असंख्यातवें भाग अधिक दस सागरोपम
कापोत	"	एक पल्योपम के असंख्यातवें भाग अधिक तीन सागरोपम।
तेजो	"	एक पल्योपम के असंख्यातवें भाग अधिक दो सागरोपम।
पद्म	"	एक मुहूर्त अधिक दस सागरोपम
शुक्ल	"	एक मुहूर्त अधिक तैंतीस सागरोपम

आगामी जन्म में प्राप्त होने वाली लेश्या मृत्यु के समय से एक अन्तर्मुहूर्त्त पहले ही आ जाती है। इस दृष्टि से कृष्णादि लेश्याओं की उत्कृष्ट स्थिति में एक अन्तर्मुहूर्त्त का अधिक समय जोड़ा गया है। प्रथम लेश्या की स्थिति ७वीं नरक की उत्कृष्ट स्थिति की अपेक्षा से कही है और दूसरी लेश्या की स्थिति धूमप्रभा नामक नरक के प्रथम प्रस्तर की उत्कृष्ट आयु की अपेक्षा से कही है। तीसरी लेश्या-स्थिति शैला नरक के प्रथम प्रस्तर की उत्कृष्ट आयु की अपेक्षा से एवं चौथी लेश्या-स्थिति ईशान देवलोक के देवों की उत्कृष्ट आयु की अपेक्षा से कही है। ५वीं लेश्या-स्थिति, ब्रह्म देवलोक के उत्कृष्ट आयुष्य की अपेक्षा से और छठी लेश्या-स्थिति अनुत्तर विमान के देवों की उत्कृष्ट आयु की अपेक्षा से कही है।[१३६]

लेश्या का परिणाम

भाव लेश्या जीव के परिणाम या अध्यवसाय रूप होती है, किन्तु एक लेश्या का दूसरी लेश्या

में परिणमन या परिवर्तन भी सम्भव है। एक लेश्या का अन्य लेश्या के रूप में (उसी के वर्णादि रूप में) परिणत हो जाना लेश्या का परिणमन या परिवर्तन है। कोई भी एक लेश्या क्रम से या व्युत्क्रम से अन्य लेश्या के वर्णगंधादि रूप में परिवर्तित हो सकती है, परन्तु एक साथ अनेक लेश्याओं में परिणत नहीं होती। इसी बात को आगमकारों ने वैडूर्यमणि के दृष्टान्त से स्पष्ट किया है। जैसे कोई वैडूर्यमणि काले या नीले या लाल या पीले अथवा श्वेत सूत्र में पिरोने पर उसी के वर्ण, गंध, रस और स्पर्श के रूप में परिणत हो जाती है उसी प्रकार कृष्णलेश्या, नीललेश्या यावत् शुक्ललेश्या को प्राप्त होकर उन्हीं के रूप में पुनः पुनः परिणत या परिवर्तित हो जाती है।[१३७]

तिर्यंच और मनुष्य की लेश्या स्थिति उत्कृष्ट रूप से अन्तर्मुहूर्ता तक रहती है अतः लेश्याद्रव्यों का परिणमन पूर्णरूप से तद्रूप होता है।[१३८] जबकि देव और नारकों की लेश्या भवपर्यन्त स्थायी रहती है अतः उनके लेश्याद्रव्यों का परिणमन पूर्णतया तद्रूप नहीं होता। वहाँ एक ही द्रव्यलेश्या का परिणमन पूर्णतया तद्रूप नहीं होता। वहाँ एक द्रव्यलेश्या प्रधान और शेष द्रव्य लेश्याएँ अप्रधान होती हैं परन्तु भावलेश्याएँ छहों होती हैं।[१३९]

कृष्णादि छहों लेश्याएँ विभिन्न प्रकार के परिणामों से परिणत होती हैं। संक्लिष्ट और असंक्लिष्ट योग से अनुगत लेश्या के जघन्य, मध्यम, उत्कृष्ट, तीव्र, तीव्रतर, तीव्रतम, मन्द, मन्दतर और मन्दतम आदि विविध भेद हैं। उत्तराध्ययन सूत्रकार के अनुसार प्रत्येक लेश्या के परिणामों के जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट ये तीन भेद होते हैं। इन तीनों में से प्रत्येक के पुनः जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट भेद से नौ प्रकार के परिणाम होते हैं। इसके भी पुनः तीन-तीन भेद करने पर सत्ताईस परिणाम होते हैं। पुनः तीन-तीन से गुना करते इक्यासी, दो सौ तैंतालीस इत्यादि बहुत भेद होते जाते हैं।[१४०]

सलेश्य-अलेश्य जीवों का अल्पबहुत्व

सबसे थोड़े होने पर भी असंख्यात जीव शुक्ललेश्या वाले हैं उनसे पद्मलेश्या वाले असंख्यातगुणे हैं। उनसे तेजोलेश्या वाले असंख्यातगुणे हैं। इनसे अलेश्यी अनन्त गुणे हैं, इनसे कापोतलेश्यी अनन्तगुणे हैं। उनसे नीललेश्या वाले विशेषाधिक (कुछ अधिक) हैं। सलेश्यी सबसे विशेषाधिक हैं।[१४१]

लेश्या में उत्पाद-उद्वर्तन

नारक और देव जीव जिस लेश्या में उत्पन्न होते हैं, वे उसी लेश्या से उद्वर्तन (मरण) करते हैं। पृथ्वीकायिकादि, तिर्यंच और मनुष्यों की उद्वर्तना के विषय में यह नियम ऐकान्तिक नहीं है कि जिस लेश्या में वह उत्पन्न हो उसी लेश्या से युक्त होकर उद्वर्तन करे। क्योंकि तिर्यंचों और

मनुष्यों का लेश्या परिणाम अन्तर्मुहूर्त मात्र स्थायी रहता है उसके पश्चात् बदल जाता है। जैसाकि कहा है-

अंतोमुहुत्तंमि गए, सेसए आउं (चेव)।
लेस्साहिं परिणयाहिं, जीवा वच्चंति परलोयं।।[१४२]

अतएव जो तिर्यंच एवं मनुष्य गति का जीव जिस लेश्या से युक्त होकर उत्पन्न होते हैं, वे कदाचित् उसी लेश्या से युक्त होकर उद्वर्तन करते हैं एवं कदाचित् नहीं भी।[१४३]

शुद्धत्व और प्रशस्तत्व

भावों की शुद्धता-अशुद्धता के आधार पर जीवों के तीव्रतम, तीव्रतर, तीव्र, मंद, मंदतर और मंदतम काषायिक परिणाम प्राप्त होते हैं। उत्तराध्ययन, तत्त्वार्थराजवार्तिक, पंचसंग्रह आदि के आधार पर वे परिणाम विभिन्न लेश्याओं में इस प्रकार हैं-

1.कृष्ण लेश्या– कृष्ण लेश्या में परिणमन करने वाला जीव भाव से तीव्र क्रोध करने वाला, वैर को न छोड़ने वाला, धर्म एवं दया से रहित, दुष्ट, स्वच्छन्द, कार्य करने में विवेकशून्य, कलाचातुर्य रहित, मानी, मायावी, आलसी और भीरु होता है।[१४४] इस तरह कृष्णलेश्यी जीव के भाव अप्रशस्त एवं अशुद्ध होते हैं।

2.नीललेश्या– नील लेश्या में परिणमन करने वाला जीव आलस्य, मूर्खता, विवेकहीनता, अतिविषयाभिलाष, अतिगृद्धि, माया, तृष्णा, अतिमान, वंचना अनृतभाषण, चपलता, अतिलोभ, कायरता आदि अशुद्ध तीव्रतर कषाय भावों से युक्त होता है।[१४५]

3.कापोत लेश्या– तीव्र कषाय-भावों से युक्त कापोतलेश्यी जीव के भाव परिणाम मात्सर्य (ईर्ष्या भाव युक्त), पैशुन्य (चुगली करना), परपरिभव, आत्मप्रशंसा, परपरिवाद (परनिन्दा), जीवन नैराश्य, प्रशंसकों को धन देना, स्व हानि-वृद्धि के ज्ञान से शून्य, कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य विवेकशून्य, युद्ध मरणोद्यम आदि रूपों में प्रकट होते हैं।[१४६]

4.तेजोलेश्या– मंद कषाय वाले तेजोलेश्या युक्त जीव के भाव परिणाम कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य एवं सेव्य-असेव्य के विवेक से युक्तता, दयालुता, दान में रतता, सत्यवादिता, मृदु-स्वभाव, स्वकार्य पटुता, सर्वधर्मसमदर्शित्व आदि रूप में प्रकट होते हैं।[१४७]

5.पद्मलेश्या– मंदतर कषाय वाले पद्मलेश्यी जीव के भाव-परिणाम सत्यवाक्, क्षमाशीलता, त्यागप्रवृत्ति, भद्रता, उत्तमकार्यकर्त्ता, सात्त्विकदान, पाण्डित्य, साधु-सज्जन के गुण पूजन में रत रहना आदि रूप में प्रकट होते हैं।[१४८]

6.शुक्ललेश्या– मंद कषाय वाले शुक्ललेश्यी जीव के भाव परिणाम निर्वेरता, वीतरागता,

परदोषदृष्टि न रखना, परनिन्दा न करना, पापकर्म में औदासीन्य भाव, समभाव, श्रेयमार्ग में रुचि रखना आदि रूप में प्रकट होते हैं।[१४६]

जीवों में लेश्याओं का विभाजन

सूक्ष्म एकेन्द्रिय[१५०], तेजस्काय[१५१], वायुकाय[१५२], विकलेन्द्रिय[१५३], सम्मूर्च्छिम तिर्यंच-पंचेन्द्रिय[१५४], सम्मूर्च्छिम-मनुष्य[१५५] और नारकी[१५६] जीवों में कृष्ण, नील और कापोत तीन लेश्याएँ होती हैं। बादर पृथ्वीकाय[१५७]-अप्काय[१५८], भवनपति[१५९], वाणव्यन्तर[१६०] जीवों में तेजोलेश्या को मिलाकर कुल चार लेश्याएँ होती हैं। प्रत्येक-शरीर-बादरवनस्पतिकाय जीवों में प्रथम चार लेश्याएँ होती हैं तथा साधारण-शरीर-बादर वनस्पतिकाय जीवों में कापोत तक तीन लेश्याएँ होती हैं।[१६१] देवगति से वनस्पतिकाय में आने वाले जीव में प्रथम अन्तर्मुहूर्त तक तेजोलेश्या भी होती है, इसीलिए वनस्पतिकाय में चार लेश्याओं की सत्ता स्वीकार की जाती है-

तेजोलेश्यावतां येषु नाकिनां गतिसंभवः।
आद्यमन्तर्मुहूर्तं स्यात्तेजोलेश्यापि तेषु वै।।[१६२]

ज्योतिषी, सौधर्म एवं ईशान देवों में तेजोलेश्या है। सनत्कुमार, माहेन्द्र एवं ब्रह्मदेवलोक में पद्मलेश्या तथा ऊपरवर्ती देवलोक में शुक्ल लेश्या है।[१६३] गर्भज-तिर्यंच पंचेन्द्रिय[१६४] और गर्भजमनुष्य[१६५] में छहों लेश्याएँ होती हैं।

देवों में रहने वाली तेजो, पद्म एवं शुक्ल लेश्याएँ और नारकी जीवों की कृष्ण, नील एवं कापोत लेश्याएँ भवान्त तक अवस्थित रहती हैं। कहा भी है-

'देवनारकयोर्लेश्या आभवान्तभवस्थिताः।'[१६६]

भावलेश्या के सद्भाव से कुछ आचार्य इनमें छहों लेश्याएँ स्वीकार करते हैं, यथा-

अतएव भावपरावृत्त्या नारकनाकिनोः।
भवन्ति लेश्याः षड्पि तदुक्तं पूर्वसूरिभिः।।[१६७]

तिर्यंच और मनुष्य की लेश्या उत्कृष्ट अन्तर्मुहूर्त तक स्थित रहती है, तत्पश्चात् परिवर्तित हो जाती है। अतः द्रव्य और भाव से इनमें षड् लेश्याएँ होती हैं।

जीवों में लेश्याओं का स्वामित्व

क्र.	जीव	लेश्याएँ
१	सूक्ष्म-एकेन्द्रिय	कृष्ण, नील, कापोत तीन लेश्याएँ।
२	बादर पृथ्वीकाय, अप्काय	प्रथम चार लेश्याएँ।
३	बादर तेजस्काय, वायुकाय एवं साधारण शरीर बादर वनस्पतिकाय	प्रथम तीन लेश्याएँ

४	प्रत्येक शरीर बादर वनस्पतिकाय	प्रथम चार लेश्याएँ
५	विकलेन्द्रिय, सम्मूर्च्छिम तिर्यंच पंचेन्द्रिय एवं सम्मूर्च्छिम मनुष्य तथा नारकी	कृष्ण, नील, कापोत तीन लेश्या।
६	गर्भज तिर्यंच पंचेन्द्रिय एवं गर्भज मनुष्य	छहों लेश्याएँ
७	भवनपति एवं वाणव्यन्तर देव	प्रथम चार लेश्या
८	ज्योतिषी देव, सौधर्म एवं ईशान देवलोक के देव	मात्र तेजोलेश्या
९	सनत्, माहेन्द्र एवं ब्रह्म देवलोक के देव	पद्म लेश्या
१०	छठे देवलोक के अनुत्तरविमान पर्यन्त	शुक्ल लेश्या

लेश्या एवं आभामण्डल

तेज, दीप्ति, ज्योति, किरणमण्डल, ज्वाला आदि शब्दों का अभिधायक शब्द लेश्या यहाँ आभामण्डल अर्थ को द्योतित करता है। जैनदर्शन में आभामण्डल की चर्चा लेश्या के संदर्भ में सूक्ष्म शरीर के साथ की जाती है। आभामण्डल रंगों की भाषा द्वारा पहचाना जाता है, क्योंकि सूक्ष्म शरीर से निकलने वाली विकिरणें रंगीन होती हैं, इन्हीं रंगों के माध्यम से आभामण्डल की गुणात्मकता तथा प्रभावकता जानी जाती है। भावलेश्या प्रतिक्षण बदलती रहती है, इसीलिए आभामण्डल भी बदलता रहता है। जैन दर्शन लेश्या की व्याख्या में कहता है कि कृष्ण, नील और कापोत रंग प्रधान ओरा मनुष्य की दूषित मनोवृत्तियों को दर्शाता है। तेज, पद्म और शुक्ल लेश्या के रंग-प्रधान आभामण्डल मनुष्य की अच्छी मनोवृत्ति को दर्शाता है। इस संदर्भ में फेबर, बिरेन, लीडबीटर और ऑडरे कारगेरे आदि आधुनिक मनोवैज्ञानिकों ने भी आभामण्डल के साथ जुड़े व्यक्तित्व का रंगों के साथ विश्लेषण करने का प्रशंसनीय प्रयास किया है। डॉ. शान्ता जैन ने 'लेश्या और मनोविज्ञान' नामक पुस्तक के पृष्ठ १२१ पर ऑडरे कारगेरे के वक्तव्य को उद्धृत किया है कि ओरा में होने वाला रंग मित्रता, प्रेम, स्वस्थता और शक्ति का, सुनहरा पीला उच्च प्रज्ञा का, नीला आध्यात्मिक और धार्मिक मनोवृत्ति का, नारंगी बुद्धि और न्याय का, हरा सहानुभूति, परोपकारिता, दयालुता का प्रतीक होता है। इसी तरह आभामण्डल में उभरने वाला स्लेटी रंग भय और ईर्ष्या का, काला अभाव का तथा सफेद रंग आध्यात्मिक पूर्णता का सूचक होता है।

जैनदर्शन में लेश्या के आधार पर आभामण्डल के छह प्रकार बन जाते हैं, क्योंकि लेश्या के छह वर्ण निर्धारित हैं और इन्हीं वर्णों के साथ मनुष्य के विचार और भाव बनते हैं, चरित्र निर्मित होता है। वर्ण और भाव परस्पर प्रभावक तत्त्व हैं। वर्ण की विशदता और अविशदता के आधार पर भावों की प्रशस्तता और अप्रशस्तता निर्मित होती है। हम भावधारा को साक्षात् देख नहीं पाते,

इसलिए व्यक्ति के आभामण्डल में उभरने वाले रंगों को देखकर भावों को जानते हैं। लेश्या सम्प्रत्यय अन्तःकरण की सही सूचना का मानक है। इसी दृष्टि से जैनाचार्यों ने लेश्या अथवा आभामण्डल के लिए ध्यान का उपक्रम प्रस्तुत किया है।

विचारों की शुद्धि, भावों की शुद्धि से लेश्या की शुद्धि भी निश्चित हो जाती है। धर्मध्यान और शुक्लध्यान में प्रशस्त विचार प्रवाह चलता है। जिससे धर्मध्यानी में तेज, पद्म एवं शुक्ललेश्या जागती है।[३६८] शुक्लध्यानी में प्रथम दो चरणों में शुक्ललेश्या, तीसरे चरण में परम शुक्ललेश्या और चतुर्थचरण में लेश्या का अभाव हो जाता है। इसलिए जैनाचार्यों ने लेश्या के लिए ध्यान का मार्ग बताया है।

अठारहवां द्वार : दिगाहार निरूपण

जीव द्वारा भिन्न-भिन्न दिशा से पुद्गलों का आहार ग्रहण करना 'दिग्गहार' कहलाता है। जीव पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण, ऊर्ध्व और अधो इन छह दिशाओं से आहार लेते हैं। व्याघात होने पर तीन या चार या पाँच दिशा से आहार करते हैं।

निर्व्याघातं प्रतीत्य स्यादाहारः षड्दिगुद्भवः।
व्याघाते त्वेष जीवानां त्रिचतुष्पंचदिग्भवः।।[३६९]

व्याघात से तात्पर्य अलोकाकाश के कारण पुद्गलाहार का अभाव होना है। कोई जीव तीन या चार या पाँच दिशा से आहार कैसे प्राप्त करता है इसका स्पष्ट उल्लेख 'लोकप्रकाश' ग्रन्थ के तृतीय सर्ग में मिलता है।

तीन दिशाओं से दिगाहार– यदि कोई एकेन्द्रिय जीव नीचे अधोलोक के निष्कूट भाग के आग्नेय कोण (पूर्व और दक्षिण दिशा का मध्य भाग) में चरमान्त पर स्थित हो तो वह तीन दिशाओं- पश्चिम दिशा, उत्तर दिशा और ऊर्ध्व दिशा से निर्व्याघात रूप से पुद्गलों को ग्रहण करते हैं क्योंकि पूर्व दिशा, दक्षिण दिशा और अधः दिशा में अलोक स्थित है।

सर्वाधस्तादधोलोक निष्कूटस्याग्निकोणके।
स्थितो भवेद्यदैकाक्षस्तदासौ त्रिदिगुद्भवः।
पूर्वस्यां च दक्षिणस्यामधस्तादिति दिक् त्रये।
संस्थितत्त्वादलोकस्य ततो नाहारसम्भवः।।[३७०]

निष्कूट के चरमान्त में स्थित एकेन्द्रिय जीव पूर्वोक्त दिशाओं से सभी सूक्ष्म एकेन्द्रिय और बादर वायुकाय पुद्गलों का आहार लेते हैं।[३७१]

'अधोलोक में सूक्ष्म एकेन्द्रिय और बादर वायुकाय जीवों का ही अस्तित्व है' उपाध्याय

विनयविजय इस कथन के प्रमाण में आगम-ग्रन्थ का उल्लेख करते हैं। भगवती सूत्र शतक ३४, प्रथम उद्देशक की वृत्ति के अनुसार लोक के चरमान्त में सभी सूक्ष्म एकेन्द्रिय एवं बादर वायुकाय जीवों का ही अस्तित्व है, यथा-

"इह लोकचरमान्ते बादरपृथिवीकायिकाप्कायिक तेजोवनस्पतयो न सन्ति। सूक्ष्मास्तु पंचापि सन्ति बादरवायुकायिकाश्चेति पर्याप्तापर्याप्तक भेदेन द्वादश स्थानान्यनुसर्त्तव्यानीति।"[१७२]

चार दिशाओं से दिगाहार- यदि वही एकेन्द्रिय जीव नीचे अधोलोक में ही पश्चिम दिशा में स्थित हो तो उसके पूर्व दिशा के अलोक के व्याघात का निवारण हो जाएगा और केवल अधोदिशा व दक्षिण दो दिशा के अलोक का व्याघात रहेगा। अतः अब उसे चार दिशाओं- पूर्व, पश्चिम, उत्तर एवं ऊर्ध्व से निर्व्याघात पुद्गलाहार मिलता रहेगा।[१७३]

पाँच दिशाओं से दिगाहार- जब वही एकेन्द्रिय जीव अधोलोक में दूसरे, तीसरे आदि प्रस्तर में ऊर्ध्व दिशा या पश्चिम दिशा में स्थित हो जाए तो उसे मात्र दक्षिण दिशा के अलोक का व्याघात होगा और शेष पाँच दिशाओं- पूर्व, पश्चिम, उत्तर, अधो एवं ऊर्ध्व दिशा से निर्व्याघात पुद्गलाहार प्राप्त होगा।[१७४]

द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा से दिगाहार स्वरूप

दिगाहार पुद्गल द्रव्य की अपेक्षा अनन्त प्रदेशी होते हैं।[१७५] क्षेत्र की अपेक्षा से ये आहार-पुद्गल असंख्यात आकाश प्रदेशों का अवगाहन करते हैं।[१७६] काल की अपेक्षा से इन पुद्गलों की स्थिति जघन्य एक समय, मध्यम दो समय से असंख्यात समय पर्यन्त और उत्कृष्ट असंख्यात समय होती है।[१७७] भाव से इन आहार पुद्गलों के पाँच वर्ण, पाँच रस, द्विविध गन्ध और आठ प्रकार के स्पर्श होते हैं तथा इनके एक गुणा, दो गुणा इस तरह करते अनन्त गुणा प्रकार होते हैं।[१७८]

जीव कितनी-कितनी दिशाओं से पुद्गलाहार ग्रहण करते हैं इसका उल्लेख इस प्रकार हैं-

सूक्ष्म एकेन्द्रिय- सूक्ष्म एकेन्द्रिय जीवों का निर्व्याघात छः दिशा से और व्याघात की अपेक्षा से तीन या चार या पाँच दिशाओं से आहार होता है।[१७९]

बादर एकेन्द्रिय- बादर वायुकाय का तीन या चार या पाँच दिशा से आहार होता है एवं शेष पृथ्वीकायादि जीवों को छः दिशा से आहार होता है।[१८०]

विकलेन्द्रिय जीव[१८१], सम्मूर्च्छिम व गर्भज पंचेन्द्रिय तिर्यंच[१८२], सम्मूर्च्छिम व गर्भज मनुष्य[१८३], देव[१८४] और नारकी[१८५] इन सभी जीवों को छः दिशा में आहार होता है।

उन्नीसवां द्वार : संहनन-विचार

अस्थियों का विशेष अंग संयोजन 'संहनन' कहलाता है। जिस कर्मोदय से विशेष संयोजन होता है वह 'संहननामकर्म' है। लोकप्रकाशकार के अनुसार अस्थियों का सम्बन्ध विशेष संहनन है।[३८६] पूज्यपादाचार्य अस्थियों के बन्धन-विशेष को संहनन स्वीकार करते हैं[३८७], धवलाटीकाकार हड्डियों के संचय को संहनन मानते हैं[३८८] और तत्त्वार्थ सूत्र भाष्य के टीकाकार सिद्धसेनगणि के अनुसार संहनन नाम शरीर की हड्डी आदि की दृढ़ता का है।[३८९] इन सब कथनों का अभिप्राय समान ही है, जिससे स्पष्ट होता है कि अस्थियों के बन्धन, संयोजन का, दृढता का विचार संहनन के अन्तर्गत होता है। अस्थियों के बन्धन की दृढता भिन्न-भिन्न होती हैं। कोई अधिक दृढ तो कुछ कम दृढता लिए होती है। इस विशिष्टता से संहनन के छः प्रकार हैं।

वज्जरिसहनारायं पढमं बीयं च रिसहनारायं।
नारायमद्धनारायं कीलिया तह य छेवट्ठं।।[३९०]

संहनन के छः प्रकार हैं- १. वज्रऋषभनाराच २. ऋषभनाराच ३. नाराच ४. अर्धनाराच ५. कीलिका ६. सेवार्त।

कर्मग्रन्थकार ने संहनन के लक्षण सहित एक ही गाथा में भेदों को गिनाया है-

संघयणमट्ठिनिचओ, तं छद्धा वज्जरिसहनारायं।
तह य रिसहनारायं, नारायं अद्धनारायं।।[३९१]

वज्रऋषभनाराच संहनन-

बद्धे मर्कटबन्धेन सन्धौ सन्धे यदस्थिनी।
अस्थना च पट्टाकृतिना भवतः परिवेष्टिते।।
तदस्थित्रयमाविद्धय स्थिते नास्थ्ना दृढीकृतम्।
कीलिका कृतिना वज्रर्षभ–नाराचकं स्मृतम्।।[३९२]

अर्थात् सन्धिस्थान पर मर्कट बन्ध से बंधी हुई हड्डी पर एक पट्टी के आकार की लिपटी हुई तीसरी हड्डी हो और तीनों हड्डी एक कील के आकार वाली हड्डी से बींधकर दृढ़ बनी हो ऐसे शरीर का अंग-संयोजन वज्रर्षभनाराच संहनन कहलाता है।

इस संहनन के सम्बन्ध में आचार्यों के विभिन्न मत प्राप्त होते हैं-

सिद्धसेनगणी (विक्रम की 7–8वीं शती) का मत– 'ऋषभः पट्ट वज्रं कीलिका, मर्कटबन्धः य उभयपार्श्वयोरस्थिबन्धः स किल नाराचः। वज्रर्षभनाराचा यत्र संहनने तद् वज्रर्षभनाराचसंहननम्, अस्थनां बन्धविशेष इति।'[३९३]

ऋषभ का अर्थ है पट्ट, वज्र का अर्थ है कीलिका एवं नाराच का तात्पर्य है दो हड्डियों के

ऊपर अस्थिबन्ध। इस प्रकार जिस संहनन में वज्र, पट्ट एवं अस्थिबन्ध हो उसे वज्रऋषभनाराच संहनन कहते हैं।

भट्ट अकलंक (विक्रम की 7–8वीं शती) का मत– 'तत्र वज्राकारोभयास्थिसंधि प्रत्येकं मध्ये वलयबन्धनं सनाराचं सुसंहतं वज्रर्षभनाराचसंहननम्' अर्थात् वज्र आकार की दो हड्डियों के सन्धि-स्थल के बीच वलय के बन्धन से युक्त सुसंहत संहनन वज्रऋषभनाराच कहलाता है।[१६४]

वीरसेनाचार्य (शक संवत् 745) का मत– "ऋषभो–वेष्टनम् वज्रवदभेद्यत्वाद्वज्रऋषभः। वज्रवन्नाराचः वज्रनाराचः तौ द्वावपि यस्मिन् वज्रशरीरसंहनने तद् वज्रऋषभ वज्रनाराचशरीर–संहननम् जस्स कम्मस्स उदएण वज्जहड्डाइं वज्जवेट्ठेण वेट्ठियाइं वज्जणाराएण खीलियाइं च होंति तं वज्जरिसहवइरणारायणसरीरसंघडणमिदि उत्तं होदि।"[१६५]

अर्थात् वेष्टन को ऋषभ कहते हैं। वज्र के समान अभेद्य 'वज्रऋषभ' है। वज्र के समान जो नाराच है वह वज्रऋषभवज्रनाराचशरीर संहनन है। जिस कर्मोदय से वज्रमय हड्डियाँ वज्रमय वेष्टन से वेष्टित और वज्रमय नाराच से कीलित होती हैं वह वज्रऋषभवज्रनाराच शरीर संहनन है।

देवेन्द्रसूरि (13वीं शताब्दी) का मत– "रिसहो पट्टो य कीलिया वज्जं। उभओ मक्कडबंधो नारायं।।"[१६६]

वज्र अर्थात् कील, ऋषभ अर्थात् वेष्टन पट्ट और नाराच अर्थात् मर्कट बन्ध। इन सबके संयोग से वज्रऋषभनाराच संहनन होता है।

उपर्युक्त मतों का अवलोकन करने से यह ज्ञात होता है कि आचार्य सिद्धसेन गणि, भट्ट अकलंक और देवेन्द्रसूरि तीनों का वज्र, ऋषभ एवं नाराच शब्दों से अभिप्राय क्रमशः कील, वेष्टन और मर्कटबंध है। इन्हीं का अनुकरण विनयविजय ने भी किया है–

कीलिका वज्रमृषभः पट्टोऽस्थिद्वयवेष्टकः।
अस्थ्नोर्मर्कटबन्धो यः स नाराच इति स्मृतः।।[१६७]

अतः जिस शरीर में सन्धि स्थान पर मर्कट बन्ध से बंधी हुई दो वज्रमयी हड्डियों के ऊपर एक और हड्डी का वेष्टन हो और इन तीनों को भेदने वाली कील रूपी हड्डी भी वज्रस्वरूपा हो तो वह वज्रऋषभनाराचशरीर संहनन होता है।

ऋषभनाराच संहनन–

इस संहनन को अर्द्धऋषभनाराच एवं वज्रनाराच भी कहा जाता है। लोकप्रकाशकार ने ऋषभनाराच को परिभाषित करते हुए कहा है कि वज्रऋषभनाराच शरीर संहनन में यदि कील के आकार वाली हड्डी न हो तो शरीर का यह अंगसंयोजन ऋषभनाराच कहलाता है।[१६८] इस संहनन के सम्बन्ध में विभिन्न विद्वानों के मत इस प्रकार हैं–

सिद्धसेनगणी (विक्रम की 7–8वीं शताब्दी) का मत–'अर्द्धवज्रर्षभनाराच नाम तु वज्रर्षभनाराचनामर्ध किल सर्वेषां वज्रस्यार्धं ऋषभस्यार्धं नाराचस्यार्धमिति भाष्यकारमतम्। कर्मप्रकृतिग्रन्थेषु वज्रनाराचनामैवं पट्टहीनं पठितं किमत्र तत्त्वमिति सम्पूर्णानुयोगधारिणः कंचित् संविद्रते। अर्धग्रहणाद् वा ऋषभहीनं व्याख्येयम्।'[१९९]

अर्थात् अर्द्धवज्रऋषभनाराच का तात्पर्य है वज्र, ऋषभ और नाराच का अर्ध भाग। वज्र का अर्ध, ऋषभ का अर्ध और नाराच का अर्ध भाग होने पर उस संहनन को अर्द्धवज्रऋषभनाराचसंहनन कहा जाता है। जबकि कर्मप्रकृति ग्रन्थों के अनुसार पट्टहीन तथा वज्र एवं नाराच से युक्त संहनन को अर्द्धवज्रऋषभनाराच संहनन कहा गया है। यहाँ अर्ध शब्द ऋषभ अर्थात् पट्ट से हीन के लिए आया है।[२००]

भट्ट अकलंक का मत– 'तदेव वलयबन्धनविरहितं वज्रनाराचसंहननम्' अर्थात् वज्रऋषभनाराच संहनन ही जब वलयबन्धन से रहित होता है तब उसे वज्रनाराच संहनन कहते हैं।[२०१]

वीरसेनाचार्य का मत– 'एसो चेव हड्डबंधो वज्जरिसहवज्जिओ जस्स कम्मस्स उदएण होदि तं कम्मं वज्जणारायणसरीरसंघडणमिदि भण्णदे।'[२०२]

अर्थात् पूर्वोक्त वज्रऋषभवज्रनाराच अस्थिबन्ध ही जिस कर्म के उदय से वज्रऋषभ से रहित होता है वह कर्म 'वज्रनाराचशरीर संहनन' नाम से कहा जाता है।

देवेन्द्रसूरि का मत– देवेन्द्रसूरि के मत का विवेचन करते हुए पं. सुखलाल संघवी कहते हैं कि दोनों तरफ हाड़ो का मर्कट बन्ध हो, तीसरे हाड़ का बैंठन भी हो लेकिन तीनों को भेदने वाला हाड़ का खीला न हो, तो वह ऋषभनाराच संहनन है।[२०३]

इन विभिन्न मतों से यह निष्कर्ष निकलता है कि दूसरे संहनन के नाम के साथ-साथ लक्षणों में भी विद्वानों का पर्याप्त मतभेद है। आचार्य सिद्धसेन गणि वज्र, ऋषभ व नाराच का अर्ध भाग स्वीकार करते हैं। अतः संहनन का नाम 'अर्द्धवज्रऋषभनाराच संहनन' करते हैं। कर्मप्रकृतिकार इसको पट्ट से रहित एवं वज्र व नाराच से युक्त शरीर संहनन कहते हैं। भट्ट अकलंक और वीरसेनाचार्य वलयबंधन से रहित वज्रनाराच अर्थ करते हैं। उपाध्याय विनयविजय इसे वज्र कील से रहित ऋषभनाराचशरीर संहनन मानते हैं। कहा भी है-

अन्यदृषभनाराचं कीलिकारहितं हि तत्।
केचित्तु वज्रनाराचं पट्टोज्झितमिदं जगुः।।[२०४]

नाराच संहनन–

अस्थनोर्मर्कटबन्धेन केवलेन दृढीकृतम्।

आहुः संहननं पूज्या नाराचाख्यं तृतीयकम्।। [२०५]

कील और पट्ट से रहित मर्कटबन्ध से दो हड्डियों की दृढता जिस शरीर में हो वह नाराचशरीर संहनन है।

सिद्धसेनगणी का मत– 'नाराचनाम्नि तु मर्कटबन्ध एव केवलो न कीलिका न पटः।' नाराच नामक संहनन में केवल मर्कटबन्ध होता है न तो कीलिका होती है न पट्ट। [२०६]

भट्ट अकलंक का मत– 'तदेवोभयवज्राकारबंधनव्यपेतमवलयबन्धनं सनाराचं नाराचसंहननं' दोनों वज्राकार के बन्धन से रहित और वलय बन्धन से हीन नाराच युक्त संहनन को नाराच संहनन कहते हैं। [२०७]

वीरसेनाचार्य का मत– 'जस्स कम्मस्स उदएण वज्जविसेसणरहिदणाराएण खीलियाओ हड्डसंधीओ हंवति तं णारायणसरीरसंघयणं णाम।' अर्थात् जिस कर्म के उदय से वज्रविशेषण से रहित नाराच से कीलित हड्डियों की संधियां होती है वह नाराचशरीरसंहनन नामकर्म है। [२०८]

देवेन्द्रसूरि का मत– जिस शरीर रचना में दोनों ओर मर्कट बन्ध हो, लेकिन बैठन और कीला न हो, उसे नाराचसंहनन कहते हैं। [२०९]

अतः जिस शरीर के सन्धिस्थल पर अस्थियों का संयोजन कील और वेष्टन से रहित मात्र मर्कटबन्ध से दृढ़ होता है वह नाराचशरीरसंहनन कहलाता है।

अर्द्धनाराचशरीरसंहनन–

बद्धमर्कटबन्धेन यद्भवेदेकपार्श्वतः।
अन्यतः कीलिकानद्धमर्ध नाराचकं हि तत्।। [२१०]

दो अस्थियाँ परस्पर एक ओर से मर्कटबन्ध से बंधी हों एवं दूसरी ओर कील से आधी बिंधी हो तो शरीर के इस संहनन को अर्द्धनाराचशरीरसंहनन कहते हैं। सिद्धसेन गणी[२११], देवेन्द्रसूरि[२१२] और उपाध्याय विनयविजय इस संहनन के विषय में समान मत रखते हैं। वीरसेनाचार्य[२१३] नाराच से आधी बिंधी हुई हड्डियों की सन्धियों को 'अर्द्धनाराचशरीरसंहनन' कहते हैं और भट्ट अकलंक[२१४] मानते हैं कि अस्थियों के परस्पर योग में एक ओर नाराच होता है एवं दूसरी ओर नहीं होता है वह अर्द्धनाराचशरीरसंहनन है।

कीलिका संहनन–

जिस शरीर में हड्डियाँ परस्पर केवल कील से जुड़ी होती हैं वह कीलिकाशरीर संहनन कहलाता है- 'तत्कीलिताख्यं यत्रास्थ्नां केवलं कीलिकाबलम्।' [२१५]

यही मत सिद्धसेन गणी[२१६], देवेन्द्रसूरि[२१७] के ग्रन्थों में मिलता है। भट्ट अकलंक[२१८] दो

अस्थियों के अन्त भाग पर्यन्त में कील के होने को कीलिका शरीर संहनन मानते हैं। वीरसेनाचार्य[२१९] के अनुसार शरीर में जब हड्डियाँ और कीलें ही होती हैं तब वह कीलिकाशरीर संहनन होता है।

सेवार्त्त संहनन-

'अस्थ्नां पर्यन्तसम्बन्धरूपं सेवार्त्तमुच्यते।'[२२०]

अर्थात् जिस शरीर में हड्डियाँ परस्पर अन्तिम भाग से केवल मिली हों वह सेवार्त्त संहनन है। सेवा अर्थात् अभ्यंगन या लेप द्वारा हड्डी का जोड़। अतः जिसमें हड्डी का केवल जोड़ हो वह सेवार्त्त शरीर संहनन है।

इस शरीर के सम्बन्ध में विद्वानों के प्राप्त विभिन्न मत इस प्रकार हैं-

सिद्धसेनगणी का मत– 'सृपाटिका नाम कोटिद्वयसंगते ये अस्थिनी चर्मस्नायुमांसावबद्धे तत् सृपाटिका नाम कीर्त्यते। सृपाटिका फलसंपुटकं यत्र तत्र फलकानि परस्परस्पर्शमात्रवृत्त्या वर्तन्ते एवमस्थीन्यत्र संहनने। तदेवमेतान्येवंविधास्थिसङ्घातलक्षणानि संहननानान्यौदारिक शरीर एव संहन्यन्ते, लोहपट्टनाराचकीलिका प्रतिबद्धकपाटवदिति।'[२२१]

अर्थात् दो अस्थियों के मिलने पर चमड़ी, स्नायु और माँस से उनका परस्पर जुड़े रहना सृपाटिका या सेवार्त्त संहनन है। जिस प्रकार फलक परस्पर स्पर्शमात्रवृत्ति से साथ-साथ रहते हैं उसी प्रकार हड्डियाँ भी सेवार्त्त संहनन में साथ-साथ रहती हैं। इस प्रकार अस्थि संघात लक्षण वाला यह संहनन औदारिक शरीर में ही होता है।

भट्ट अकलंक का मत– 'अंतरसंप्राप्तपरस्परास्थिसंधि बहिः शिरास्नायुमांसघटितम् असंप्राप्तासृपाटिका संहननं।'[२२२] अर्थात् जिसमें भीतर हड्डियों का परस्पर बन्ध न हो मात्र बाहर से वे सिरा, स्नायु और माँस आदि से सुघटितता है, उसे असंप्राप्तसृपाटिका संहनन कहते हैं।

वीरसेनाचार्य का मत– 'जस्स कम्मस्स उदएण अण्णोण्णमसंपत्ताइं सरिसिवहड्डाइं व छिराबद्धाइं हड्डाइं तं असंपत्तसेवट्टसरीरसंघडणं णाम।' अर्थात् जिस कर्म के उदय से सरीसर्प की हड्डियों के समान परस्पर में असंप्राप्त और शिराबद्ध हड्डियाँ होती हैं वह असंप्राप्तसृपाटिका शरीर संहनन नामकर्म है।[२२३]

देवेन्द्रसूरि इस संहनन को छेदवृत्त नाम से अभिहित करते हैं।[२२४] उपाध्यायविनयविजय सेवार्त्त और छेदस्पृष्ट दोनों संज्ञाओं को स्पष्ट करते हैं-

सेवयाभ्यंगाद्यया वा रुतं व्याप्तं ततस्तथा।
छेदैः खंडैर्मिथः स्पृष्टं छेदस्पृष्ट मतोऽथवा।।[२२५]

सेवा अर्थात् लेप द्वारा हड्डी का जोड़ मिला होने से शरीर के इस संहनन को 'सेवार्त्त' कहते हैं अथवा जिस शरीर में खंड एक-दूसरे से परस्पर स्पर्श करते हुए रहते हैं उस संहनन को

'छेदस्पृष्ट' कहते हैं।

संहनन के अधिकारी

सूक्ष्म एकेन्द्रिय[२२६] और बादर एकेन्द्रिय[२२७], देव[२२८] और नारकी[२२९] के संहनन सम्भव नहीं हैं, क्योंकि इन जीवों में अस्थियों का अभाव होता है। संहनन की 'अस्थि निचयात्म' परिभाषा के अनुसार ही ये चारों प्रकार के जीव असंहननी है। जीवाजीवाभिगम सूत्र में कहा है-

'छण्हं संघयणाणं असंघयणी णेवट्ठी, णेव छिरा, णेव ण्हारु, णेव संघयणमत्थि जे पोग्गला अणिट्ठा अकंता, अप्पिया, असुभा, अमणुण्णा, अमणामा ते तेसिं संघातत्ताए परिणमंति।'[२३०]

अर्थात् छह प्रकार के संहननो में से एक भी संहनन नारकों के नहीं है, क्योंकि उनके शरीर में न तो हड्डी है, न शिरा है, न स्नायु है। जो पुद्गल अनिष्ट, अकान्त, अप्रिय, अशुभ, अमनोज्ञ और अमनाम होते हैं, वे उनके शरीररूप में इकट्ठे हो जाते हैं।

जीवाजीवाभिगम के उपर्युक्त सूत्र से स्पष्ट है कि नारकों के संहनन नहीं होता है। इसी आगम के अनुसार एकेन्द्रिय जीवों के सेवार्त्त संहनन भी कहा गया है[२३१], क्योंकि उनके औदारिक शरीर होता है। उस शरीर की अपेक्षा से ही औपचारिक सेवार्त्त संहनन निरूपित है। उपाध्याय विनयविजय और संग्रहणीकार भी इसी मत के समर्थक हैं।[२३२] देवों और नारकों के संहनन नहीं होता है, जबकि प्रज्ञापना सूत्र में देवों को वज्रऋषभनाराचशरीर संहनन वाला कहा गया है, क्योंकि देवों के कार्य करने में शारीरिक श्रम और थकावट नहीं होती है इस दृष्टि से उपचार से उन्हें वज्रसंहननी कहा है।

विकलेन्द्रिय (द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय) जीव[२३३], सम्मूर्च्छिम तिर्यंचपंचेन्द्रिय[२३४] और सम्मूर्च्छिम मनुष्य[२३५] तीनों के सेवार्त्त शरीर संहनन होता है। गर्भज तिर्यंचपंचेन्द्रिय[२३६] और गर्भज मनुष्य[२३७] के छहों प्रकार के संहनन होते हैं।

इस प्रकार संहननों के स्वरूप को लेकर जैन दार्शनिकों में परस्पर मतभेद हैं, किन्तु यह स्पष्ट है कि इनका सम्बन्ध शरीर की अस्थियों से है एवं ये संहनन औदारिक शरीरधारी जीवों के ही होता है। इसीलिए वैक्रियशरीरधारी देवों एवं नारकियों के कोई संहनन नहीं होता है।

बीसवां द्वार : कषाय-विवेचन

कष का अर्थ है कर्म या संसार। जो संसार या कर्म की आय कराता है वह कषाय है। कषाय के फलस्वरूप एकेन्द्रियादि जीव विभिन्न परिणामों से परिणमित होते हैं। जिनभद्रगणि कषाय के तीन व्युत्पत्तिपरक अर्थ करते हैं जो इस प्रकार हैं-

१. कर्म, कष एवं भव एकार्थक हैं, जिससे कष अर्थात् भव या कर्म की आय होती है वह कषाय है।[२३८]

२. जो संसार (भव) की आय कराते हैं वे कषाय हैं।[२३९]

३. जो कष (भव) के आय या उपादान कारण हैं वे कषाय हैं। [२४०]

भट्ट अकलंक (७२०-७९० ई.) के अनुसार क्रोधादि रूप कलुषता कषाय है, क्योंकि क्रोधादि परिणाम आत्मा को कुगति में ले जाते हैं और उसके स्वाभाविक रूप को कष देते हैं अर्थात् हिंसा करते हैं। वीरसेनाचार्य (विक्रम ९वीं शताब्दी) और नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती के अनुसार कर्मरूपी ऐसा क्षेत्र जिसमें सुख- दुःख आदि धान्य उत्पन्न होते रहते हैं और संसार जिसकी परिखा (मेड़) है, उस कर्म का जो कर्षण करते हैं वे कषाय कहलाते हैं।[२४१]

उपाध्याय विनयविजय कषाय के सम्बन्ध में कहते हैं कि जिन कारणों से जीव संसार रूपी अटवी में आवागमन करता है, परिभ्रमण करता है और जन्म-मृत्यु के फेरे में पड़ता है वे कषाय (कष+आय) हैं।[२४२] अतः जीव जिन कारणों से आत्मा को कलुषित कर भव का बन्धन करता है वे कषाय हैं।

कषाय भेद

मुख्य रूप से कषाय और नोकषाय भेद से कषाय दो प्रकार का है।[२४३] नोकषाय में 'नो' पद 'किंचित्' अर्थ का द्योतक है। हास्यादि भेद से नोकषाय नौ प्रकार का और क्रोधादि भेद से कषाय चार प्रकार का है।[२४४] ये चारों कषाय आत्मस्वरूप का किस स्तर तक आच्छादन करते हैं उस अपेक्षा से ये क्रोधादि अनन्तानुबंधी आदि चार-चार अवस्थाओं वाले हैं। इन चार-चार अवस्थाओं के कषाय के सोलह प्रकार हैं। नव नोकषाय[२४५] को मिलाकर कषाय पच्चीस प्रकार के होते हैं।

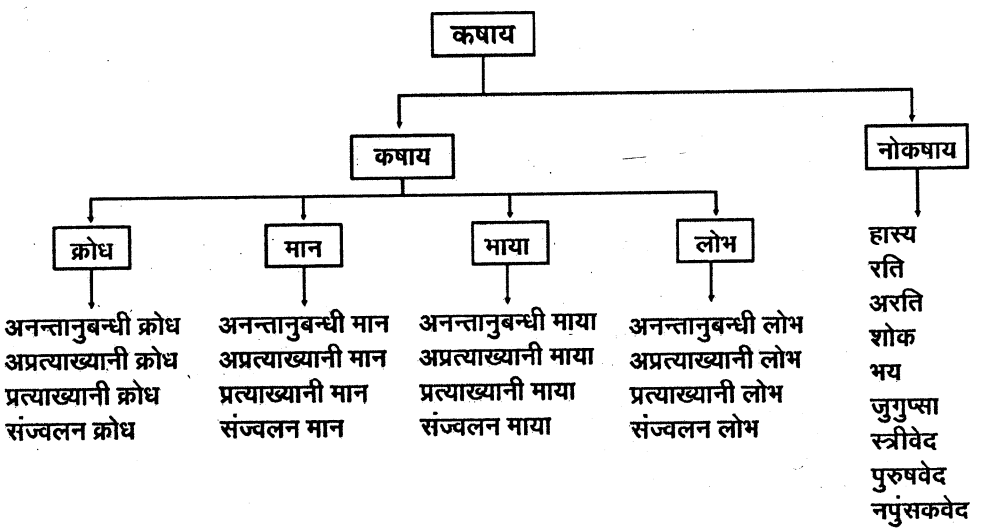

क्रोध- प्रीति का अभाव, रोष, अमर्ष और संरम्भ क्रोध है।[२४६]

मान- विद्या, तप, जाति आदि का मद मान है। अन्य से ईर्ष्या करना, उसकी अवनति एवं स्व उत्कर्ष चाहना भी मान है।[२४७]

माया- अन्य जन की वंचना करना उसे धोखा देना या ठगना माया है।[२४८]

लोभ- तृष्णाओं का अतिशय होना लोभ है।[२४९]

क्रोधादि चारों कषाय आत्मस्वरूप को कितना आवरित करते हैं, इसके चार स्तर हैं-

अनन्तानुबन्धी– अनन्त भव के संस्कारों को या मिथ्यात्व को बाँधने वाला क्रोधादि कषाय अनन्तानुबंधी कषाय होता है। यह कषाय जीव को अनन्त जन्मों के साथ जोड़ता है। अतः लोकप्रकाशकार इसे संयोजन कषाय भी कहते हैं-

संयोजयन्ति यन्नरमनन्तसंख्यैर्भवैः कषायास्ते।
संयोजनतानन्तानुबन्धिता वाप्यतस्तेषाम्।।[२५०]

क्रोधादि स्वरूप या अनन्तानुबंधी कषाय सम्यक्त्व का घात करता है अर्थात् उसे प्रकट नहीं होने देता।

अप्रत्याख्यानावरण– अणुव्रतों का घात करने वाला क्रोधादि कषाय अप्रत्याख्यानावरण कहलाता है। अर्थात् यह कषाय जीव के श्रावकत्व अर्थात् देशविरति प्राप्त करने में बाधा उत्पन्न करता है। विशेषावश्यक भाष्य में कहा भी गया है-

देशविरतिगुणस्याऽवरकत्वाद् ते कषायाः अप्रत्याख्यानावरणकषायाः।[२५१]

इस कषाय में अल्प अंश भी प्रत्याख्यान नहीं हो सकते हैं अतः इसे अप्रत्याख्यावरण कषाय कहते हैं। यहाँ नञ् समास सर्वथा निषेध अर्थ में प्रयुक्त हुआ है-

तत्र नञ् सर्वनिषेध उक्तः[२५२]

यह अर्थ लोकप्रकाशकार सम्मत भी है। यथा-

नाल्पमप्युल्लसेदेषां प्रत्याख्यानमिहोदयात्।
अप्रत्याख्यानसंज्ञातो द्वितीयेषु नियोजिता।।[२५३]

प्रत्याख्यानावरण– सकल चारित्ररूप महाव्रत परिणामों का घात करने वाले क्रोधादि कषाय प्रत्याख्यानावरण कषाय होते हैं। अर्थात् ये कषाय पूर्ण संयम प्राप्ति में बाधा उत्पन्न करते हैं। ये कषाय सावद्य सर्वविरति स्वरूप प्रत्याख्यानों को करने से रोकते हैं अतः इस कषाय का नाम प्रत्याख्यानावरण रखा गया है।[२५४]

मल्लधारी हेमचन्द्रसूरि ने विशेषावश्यक भाष्य पर वृत्ति लिखते हुए स्पष्ट किया है कि पूर्णतः सावद्ययोग विरति का आशय है स्वयं सावद्य क्रिया न करना, दूसरों से सावद्य क्रिया न करवाना तथा किसी अन्य के द्वारा सावद्य क्रिया करने पर उसका समर्थन न करना। इस प्रकार के पूर्ण सावद्यक्रिया विरति को सर्वविरति कहते हैं, यह प्रत्याख्यानावरण इस सर्वविरति को आवरित करने से प्रत्याख्यानावरण कहलाता है।[२५५]

संज्वलन- सम्+ज्वलन् अर्थात् समीचीन रूप से यथाख्यात चारित्र को जो क्रोधादि कषाय बाधित करते हैं अर्थात् जिन कषायों के उदय से आत्मा को यथाख्यात चारित्र की प्राप्ति नहीं होती है वे कषाय संज्वलन कषाय कहलाते हैं। यह कषाय सर्व पाप कार्यों से विरक्त एवं संविग्न पंचमहाव्रतधारी साधु के विशुद्ध संयम-प्राप्ति में बाधा उत्पन्न करता है तथा उन्हें प्रज्वलित अर्थात् उत्तेजित करता है।[२५६]

वीरसेनाचार्य (विक्रम की ९वीं शती) और कर्मप्रकृतिकार अनन्तानुबंधी, अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण और संज्वलन क्रोधादि कषाय को दृष्टान्त सहित बताते हैं। वीरसेनाचार्य के कषायपाहुड की चूर्णि में वृषभाचार्य ने विस्तार से उल्लेख किया है-

णग पुढवि–वालुगोदयराजिईसरियो चउव्विहो कोहो।
सेलघण–अट्ठि–दारुअ–लदासमाणो हवदि माणो।।[२५७]

क्रोधचतुष्क- काल की अपेक्षा से क्रोध चतुर्विध है। दीर्घकाल स्थायी (जन्म-जन्मान्तर तक) रहने वाला नगराजि सदृश अनन्तानुबन्धी क्रोध, गुरु के उपदेश आदि बाह्य निमित्तों से दूर होने वाला पृथ्वी पर बनी रेखा के समान पृथ्वीराज सदृश अप्रत्याख्यानावरण क्रोध और बालू रेत पर बनी रेखा के समान बालुकाराजि सदृश प्रत्याख्यानावरण क्रोध एवं सबसे अल्प काल में शान्त होने वाला जल में खींची रेखा के समान उदकराजि सदृश अन्तिम संज्वलन क्रोध होता है।

मानचतुष्क- गुरु के उपदेश आदि बाह्य निमित्तों से दूर न होने वाला कोमलता रहित शिला स्तम्भ समान अनन्तानुबन्धी मान, कुछ कोमलता वाला अस्थिवत् अप्रत्याख्यानावरण मान, प्रयत्न से कोमल होने वाला काष्ठ समान प्रत्याख्यानावरण मान और शीघ्रता से दूर होने वाला संज्वलन मान होता है।

माया चतुष्क- बांस वृक्ष के जड़ की कुटिलता के समान किसी भी उपाय से दूर न होनेवाली वंशमूलादि के समान प्रथम अनन्तानुबंधी माया, बाह्य निमित्तों से कुटिलता का अल्पांश रूप से दूर होने वाली मैंढे के सींग समान द्वितीय प्रकार की अप्रत्याख्यानावरण माया, भविष्य में गुरु के उपदेश आदि से सरल बनने वाली तृतीय प्रत्याख्यानावरण माया और अवलेखनी (जिह्वा का मैल साफ करने वाली जीभी) के समान अल्पकाल में ही दूर होने वाले कम कुटिलता के भाव चतुर्थ प्रकार की

संज्वलन माया कहलाती है।[२५८]

लोभ चतुष्क- किसी भी उपाय से दूर न होने वाला अत्यन्त तीव्रतम लोभ कृमिरागवत् अनन्तानुबंधी लोभ, कठिनता से शुद्ध होने वाला लोभ अक्षमल के समान अप्रत्याख्यानावरण लोभ, बाह्य निमित्तों के मिलने से सरलता से दूर होने वाला भाव पांशुलेप के समान प्रत्याख्यानावरण लोभ एवं अल्प समय तक हृदय में अवस्थित रहने वाला हारिद्र से रंगे हुए वस्त्र के समान चतुर्थ प्रकार का संज्वलन लोभ होता है।[२५९]

प्रज्ञापना सूत्र एवं लोकप्रकाश में कषायों के आश्रय के आधार पर अन्य चार भेद इस प्रकार किए गए हैं-

आत्मप्रतिष्ठित-

स्वदुश्चेष्ठितः कश्चित् प्रत्यापायमवेक्ष्य यत्।
कुर्यादात्मोपरि क्रोधं स एषः स्वप्रतिष्ठितः।।[२६०]

जब मनुष्य अपने दोषों को जानकर दुःखी होता है और स्वयं पर क्रोध करता है तब वह क्रोध आत्मप्रतिष्ठित क्रोध कहलाता है।

परप्रतिष्ठित-

उदीरयेद्यदा क्रोधं परः सन्तर्जनादिभिः।
तदा तद्विषयक्रोधो भवेदन्यप्रतिष्ठितः।।[२६१]

जो कषाय अन्य मनुष्य के द्वारा उत्पन्न होता है वह परप्रतिष्ठित कषाय कहलाता है।

उभयप्रतिष्ठित-

यश्चात्य परयोस्तादृगपराध कृतो भवेत्।
क्रोधः परस्मिन् स्वस्मिंश्च स स्यादुभयसंश्रितः।।[२६२]

जब कभी किसी दोष के कारण मनुष्य को स्वयं पर और दूसरे पर क्रोध उत्पन्न होता है तब वह उभयप्रतिष्ठित क्रोध कहलाता है।

अप्रतिष्ठित-

बिना पराक्रोशनादि विना च स्वकुचेष्टितम्।
निरालम्बन एव स्यात् केवलं क्रोध-मोहतः।।[२६३]

जब कोई क्रोध अन्य व्यक्ति के निमित्त के बिना स्वयं के निमित्त के बिना क्रोध मोहनीय के उदय से उत्पन्न होता है तो वह क्रोध अप्रतिष्ठित क्रोध कहा जाता है। स्वयं के दुराचार से रहित होने से आत्मप्रतिष्ठित नहीं होता, दूसरे के प्रतिकूल व्यवहार से उत्पन्न न होने से परप्रतिष्ठित नहीं कहलाता और दोनों कारण न होने से उभयप्रतिष्ठित भी नहीं कहलाता है।

इसी तरह जब स्व का आश्रय लेकर मान, माया, लोभ हो तो वह आत्मप्रतिष्ठित; पर को आश्रित बना कर मान, माया, लोभ किया जाए तो वह परप्रतिष्ठित; स्व और पर दोनों का विषय बनाकर मान, माया, लोभ करे तो वह उभयप्रतिष्ठित एवं जब मान-माया-लोभ वेदनीय कर्मोदय से स्वतः कषाय उत्पन्न होता है तब वह अप्रतिष्ठित कषाय कहलाता है।

नौ नोकषाय का स्वरूप

नञ् समास युक्त पद नोकषाय का 'नो' पद निषेधार्थक न होकर ईषत् अर्थ का द्योतक है। यदि ईषत् अर्थ का ग्रहण नहीं हो तो स्त्रीवेदादि नव कषायों की अकषायता का प्रसंग प्राप्त होगा, जो इष्ट नहीं है। अतः यहां ईषत् कषाय को नोकषाय कहा जाता है। स्थिति अनुभाग और उदय की अपेक्षा कषायों से नोकषायों की अल्पता होती है। नव नोकषाय इस प्रकार है[२६४]-

(1) **हास्य**– हंसने को हास्य कहते हैं। जिस कर्म स्कन्ध के उदय से जीव के हास्य निमित्तक राग उत्पन्न होता है। उस कर्मस्कन्ध की 'हास्य' संज्ञा है।

(2) **रति**– रमण करने को रति कहते हैं अथवा जिसके द्वारा जीव विषयों में आसक्त होकर रमता है उसे 'रति' कहते हैं।

(3) **अरति**– जिन कर्म-स्कन्धों के उदय से द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावों में जीव की अरुचि उत्पन्न होती है, उनकी 'अरति' संज्ञा है।

(4) **शोक**– जिन कर्मस्कन्धों के उदय से जीव को विशाद उत्पन्न होता है, उसकी 'शोक' संज्ञा है।

(5) **भय**– जिन कर्मस्कन्धों से जीव को भय उत्पन्न होता है, उनकी 'भय' संज्ञा है।

(6) **जुगुप्सा**– जिन कर्मों के उदय से ग्लानि उत्पन्न होती है, उनकी 'जुगुप्सा' संज्ञा है।

(7) **स्त्रीवेद**– जो दोषों के द्वारा अपने आपको और पर को आच्छादित करती है उसे स्त्री कहते हैं। जिन कर्मस्कन्धों के उदय से पुरुष में आकांक्षा उत्पन्न होती है, उनकी 'स्त्रीवेद' संज्ञा है।

(8) **पुरुषवेद**– जो महान् कर्मों में शयन करता है या प्रमत्त होता है, उसे पुरुष कहते हैं। जिन कर्म-स्कन्धों के उदय से स्त्री पर आकांक्षा उत्पन्न होती है, उनकी 'पुरुषवेद' संज्ञा है।

(9) **नपुंसकवेद**– जो न पुरुषरूप हो और न स्त्रीरूप हो, उसे नपुंसक कहते हैं। जिन कर्मस्कन्धों के उदय से ईंटों के अवा की अग्नि के समान स्त्री और पुरुष इन दोनों पर आकांक्षा उत्पन्न होती है, उनकी 'नपुंसकवेद' संज्ञा है।

क्रोधादि कषायों के शक्ति, लेश्या और आयुबन्धाबन्धगत भेदों से क्रमशः चार, चौदह और बीस स्थान होते हैं अर्थात् क्रोधादि की शक्ति चार, लेश्या चौदह व आयुबन्धाबन्ध स्थान बीस हैं। शक्ति के स्तर इस प्रकार हैं-

क्र.	कषाय	अनन्तानुबन्धी	तीव्र/अनुत्कृष्ट	मन्द/अजघन्य	मन्दतर/जघन्य
१	क्रोध	शिलाभेद सम क्रोध	पृथ्वीभेद सम क्रोध	धूलिरेखा सम क्रोध	जलरेखा सम क्रोध
२	मान	शैलवत् मान	अस्थिवत् मान	काष्ठवत मान	बैंतवत् मान
३	माया	बांस-जड़ समान माया	मैंढे के सींग के समान माया	गोमूत्र समान माया	खुरपा समान माया
४	लोभ	कृमिराग तुल्य लोभ	चक्रमल तुल्य लोभ	शरीरमल तुल्य लोभ	हल्दी के रंग तुल्य लोभ

कषायोत्पत्ति के कारण

चतुर्भिः कारणैरेते प्रायः प्रादुर्भवन्ति च।
क्षेत्रं वास्तुशरीरं च प्रतीत्योपधिमंगिनाम्।।[२६५]

उपाध्याय विनयविजय क्षेत्र, वास्तु, शरीर और वस्तु इन चार कारणों से कषाय की उत्पत्ति बताते हैं। कषायपाहुड के चूर्णिकार अर्थनयों की अपेक्षा राग-द्वेष को एवं शब्दनयों की अपेक्षा स्वयं कषाय को उत्पत्ति के हेतु मानते हैं।[२६६]

कषायों का अल्पबहुत्व

लोक में कषाय रहित अल्पजीव हैं, इससे अनन्त गुना मानी जीव हैं, इससे बहुत अधिक क्रोधी जीव हैं, इससे अधिक मायावी और इससे भी अधिक लोभी जीव हैं।

सूक्ष्म एकेन्द्रिय, बादर एकेन्द्रिय, विकलेन्द्रिय, सम्मूर्च्छिम व गर्भज पंचेन्द्रियतिर्यंच, मनुष्य, देव और नारक सभी जीव सर्व कषायों से पूर्ण होते हैं।

नाना जीवों की अपेक्षा कषाय सर्वकाल होता है और एक जीव की अपेक्षा से कषाय अनादि अनन्त, अनादि सान्त और सादि सान्त है। कषाय विशेष की अपेक्षा जघन्य और उत्कृष्ट काल अन्तर्मुहूर्त्त है।

समीक्षण

इस अध्याय में अवगाहना, समुद्घात, गति, आगति, अनन्तराप्ति, समयसिद्धि, लेश्या, दिगाहार, संहनन और कषाय इन दस द्वारों के आधार पर चार गतियों के जीवों की विभिन्न विशेषताओं पर प्रकाश डाला गया है। विनयविजय कृत लोकप्रकाश ग्रन्थ के द्रव्यलोक प्रकाश के तृतीय सर्ग से नौवें सर्ग तक जीव विषयक वर्णन को मुख्य आधार मानकर यथावसर जैन आगमों, कर्मग्रन्थों एवं जैन दर्शन के प्रमुख ग्रन्थों का भी मन्तव्य दृष्टिपथ में रखकर जीव की विभिन्न अवस्थाओं, किंवा विशेषताओं का निरूपण किया गया है। अवगाहन आदि दस द्वारों के विवेचन से

निम्नांकित निष्कर्ष कहे जा सकते हैं-

१. जीवों का जैन दर्शन में अत्यन्त सूक्ष्म विवेचन हुआ है। लोकप्रकाशकार विनयविजय ने आगमों एवं अन्य प्रामाणिक ग्रन्थों के आधार पर विभिन्न द्वारों से जो विवेचन किया है वह अत्यन्त सारगर्भित एवं व्यवस्थित रीति से किया है।

२. अवगाहन आदि दस द्वारों के विवेचन में उपाध्याय विनयविजय ने स्थानांग सूत्र, प्रज्ञापना सूत्र, जीवाजीवाभिगम सूत्र, उत्तराध्ययन सूत्र, व्याख्याप्रज्ञप्ति सूत्र, तत्त्वार्थराजवार्तिक, सर्वार्थसिद्धि, षट्खण्डागम पर धवला टीका, पंचसंग्रह, तत्त्वार्थसूत्र पर सिद्धसेन गणि विरचित टीका, कषायपाहुड, तिलोयपण्णत्ति आदि अनेक ग्रन्थों को आधार बनाया है।

३. संसारी जीवों के अज्ञान से आच्छन्न होने, चार गतियों में भ्रमण करने, राग-द्वेष से युक्त होने आदि का विवेचन तो अन्य सांख्य, योग, वेदान्त, न्याय, बौद्ध आदि दर्शनों में भी प्राप्त होता है किन्तु जीव की जिन अवस्थाओं का वर्णन जैन ग्रन्थों में हुआ है वे अपने आप में विशिष्ट है। यह अवश्य है कि इनकी प्रामाणिकता आगमों के अधीन है। चर्म चक्षुओं के आधार पर देखने वाले, सीमित बुद्धि एवं तर्क से समझने वालों की अपनी सीमाएँ हैं। उनके लिए सत्य का बहुत सा अंश अनुद्घाटित ही रहता है। अतः जैन दर्शन में प्रतिपादित इन विभिन्न विशेषताओं में कोई बुद्धिगम्य हैं तथा कोई श्रद्धा की विषय हैं।

४. पृथ्वीकायिक आदि एकेन्द्रिय जीवों, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, पंचेन्द्रिय जीवों के पर्याप्त-अपर्याप्त आदि भेदों को आधार बनाकर उनके औदारिक अथवा वैक्रिय शरीर की अवगाहना अर्थात् शरीर की आकार अथवा अंग प्रमाण का विवेचन साधारण जनों को आश्चर्यचकित करने वाला है। अवगाहना से तात्पर्य है वह जीव आकाश के कितने प्रदेशों को अवगाहित करके रहता है। दूसरे शब्दों में उस जीव का स्थूल शरीर कितने आकार का है। इस सम्बन्ध में अवगाहना का दो प्रकार से निरूपण किया गया है- जघन्य एवं उत्कृष्ट। न्यूनतम अवगाहना को जघन्य अवगाहना और उत्कृष्ट अवगाहना को अधिकतम अवगाहना कह सकते हैं। इस दृष्टि से सभी जीवों की जघन्य अवगाहना अंगुल का असंख्यातवां भाग है तथा उत्कृष्ट अवगाहना किसी जीव की अंगुल का असंख्यातवां भाग निरूपित है तो किसी जीव की एक हजार योजन, किसी की पाँच सौ धनुष है एवं कृत्रिम वैक्रिय शरीर धारण करने पर देवों की अवगाहना एक लाख योजन से कुछ अधिक भी कही गई है।

५. समुद्घात जैन दर्शन का पारिभाषिक शब्द है। जो वेदना, कषाय, मारणान्तिक, वैक्रिय,

तैजस्, आहारक एवं केवली के भेद से सात प्रकार का है। इन वेदना आदि स्थितियों में जीव के कुछ आत्मप्रदेश शरीर से बाहर निकलते हैं। इसे ही समुद्घात कहा जाता है। लोकप्रकाशकार के अनुसार समुद्घात की अवस्था में जीव कालान्तर में भोगने योग्य कर्म पुद्गलों को उदीरणा करण से आकर्षित कर उन्हें पहले ही उदय में लाकर भोगता है तथा भोगकर उनका क्षय कर देता है। समुद्घात की यह अवधारणा जैन दर्शन की विशेषता को इंगित करता है। लोकप्रकाश में यह भी निरूपित किया गया है कि कौनसा समुद्घात किस जीव को कितने समय तक के लिए होता है तथा किस कर्म के उदय से अथवा किस परिस्थिति में यह समुद्घात हुआ करता है तथा उसका क्या परिणाम होता है।

६. गति और आगति के निरूपण में यह स्पष्ट किया गया है कि संसार में एक जीव एक गति से दूसरी गति में भ्रमण करता है। जीव का मृत्यु को प्राप्त कर नरक आदि गतियों में जन्म लेने को गति तथा जहाँ से आकर जीव जन्म लेता है उसे आगति कहते हैं। गति-आगति के विवेचन से स्पष्ट होता है कि मनुष्य योनि में नरक, तिर्यंच, मनुष्य और देव इन सभी गतियों से जन्म ले सकता है तथा इन सभी में जाकर उत्पन्न हो सकता है। किन्तु नरक गति का जीव पुनः नरक गति में नहीं जाता तथा वह देव भी नहीं बन सकता। इसी प्रकार देव गति का जीव भी पुनः देव गति में उत्पन्न नहीं होता और न ही नरक में जाता है। देवों और नारक का जन्म मात्र मनुष्य और तिर्यंच गति में ही होता है। जैन दर्शन का यह विधान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। तिर्यंच गति के कुछ जीव चारों गतियों में जा सकते हैं तथा कुछ जीव दो या तीन गति में भी जाते हैं।

७. दूसरे भव में कौनसा जीव समकित प्राप्त कर सकता है तथा मोक्ष में जा सकता है। इसका निरूपण अनन्तराप्ति और समयसिद्धि द्वारों में किया गया है। पृथ्वीकायिक, अप्कायिक और वनस्पतिकायिक जीव भी अनन्तर भव में सम्यक्त्व की प्राप्ति कर सकते हैं। सम्यक्त्व प्राप्त करके वे मोक्ष में जाने की योग्यता भी रखते हैं। इसी प्रकार विकलेन्द्रिय, तिर्यंच पंचेन्द्रिय, मनुष्य, देव तथा नारक के विषय में भी कथन किया गया है। विकलेन्द्रिय जीव दूसरे जन्म में सम्यक्त्व तो प्राप्त कर सकता है किन्तु मोक्ष में नहीं जाता। तिर्यंच पंचेन्द्रिय, मनुष्य, देव और नारक जीव अनन्तर भव में समकित एवं मोक्ष दोनों प्राप्त कर सकते हैं।

८. लेश्या शब्द का प्रयोग जैन आगमों में उपलब्ध है, किन्तु वहाँ इसकी परिभाषा नहीं दी गई है। अभयदेवसूरि के अनुसार कृष्ण आदि द्रव्य वर्गणाओं की सन्निधि से होने वाला जीव का परिणाम लेश्या है। हरिभद्रसूरि कहते हैं कि जो आत्मा को योग और कषाय प्रवृत्ति द्वारा

अष्टविध कर्मों से श्लिष्ट करती है, वह लेश्या है। मन, वचन, काया की प्रवृत्ति रूप योग के परिणाम विशेष को भी लेश्या कहा गया है। भट्ट अकलंक के मत में कषाय के उदय से रंजित प्रवृत्ति लेश्या है। उत्तराध्ययन सूत्र के टीकाकार शांतिसूरि के अनुसार लेश्या का निर्माण कर्मवर्गणा से होता है। लेश्या कर्म रूप होते हुए भी उससे पृथक् है। विनयविजय स्पष्ट करते हैं कि लेश्या के बिना कर्म पुद्गलों का आत्म-प्रदेशों से संयोग नहीं होता। लेश्या भी एक द्रव्य है जिसका समावेश योग वर्गणा में होता है। लेश्या का सम्बन्ध व्यक्ति के आभामण्डल से भी जोड़ा गया है। व्यक्ति के जैसे विचार होते हैं, जैसी उसकी लेश्या होती है, उसी प्रकार का उसका आभामण्डल होता है। लेश्या के द्रव्य एवं भाव भेदों का उल्लेख करने के साथ उसके छह भेद निरूपित हैं- कृष्ण, नील, कापोत, तेजो, पद्म एवं शुक्ल। इन छहों लेश्याओं का नाम, वर्ण, गंध, रस, स्पर्श, प्रदेशावगाह, स्थान, गति, स्थिति आदि पन्द्रह द्वारों से विभिन्न ग्रन्थों के आधार पर निरूपण करते समय लेश्या की अनेक विशेषताएँ प्रकट हुई हैं। इस विवेचन से यह भी ज्ञात होता है कि सूक्ष्म एकेन्द्रिय जीवों में जहाँ प्रथम तीन लेश्याएँ होती हैं वहाँ गर्भज तिर्यंच पंचेन्द्रिय और मनुष्य में छहों लेश्याएँ पाई जाती हैं। भवनपति एवं वाणव्यन्तर देवों में प्रथम चार लेश्याएँ होती हैं। ज्योतिषी देवों में मात्र तेजोलेश्या होती है। जबकि वैमानिक देवों में कहीं मात्र तेजो, कहीं पद्म और कहीं मात्र शुक्ल लेश्या होती है। लेश्या एक प्रकार से व्यक्ति के व्यवहार की नियामक होती है।

९. जीव भिन्न-भिन्न दिशाओं से पुद्गलों का आहार ग्रहण करते हैं। वे पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण, ऊर्ध्व और अधो इन छह दिशाओं से आहार ग्रहण करते हैं, किन्तु व्याघात होने पर ये तीन, चार अथवा पाँच दिशाओं से भी आहार ग्रहण करते हैं।

१०. जीव की अस्थियों के संयोजन पर भी जैन दर्शन विचार करता है तथा इस अस्थि संयोजन को संहनन कहा गया है। वज्रऋषभनाराच आदि छह संहननों में से किस जीव में कौनसा संहनन उपलब्ध होता है, यह निरूपण जीवों की शारीरिक संरचना पर प्रकाश डालता है। यह भी कहा गया है कि सूक्ष्म एकेन्द्रिय, बादर एकेन्द्रिय, देव और नारक जीवों में संहनन नहीं होता है क्योंकि इनमें अस्थियों का अभाव है। कहीं एकेन्द्रिय जीवों में सेवार्त्त संहनन होने का भी उल्लेख प्राप्त होता है। दूसरे शब्दों में कहें तो संहनन का सम्बन्ध औदारिक शरीर से है, वैक्रिय शरीर से नहीं।

११. जैन दर्शन में कषाय के मुख्यतः चार प्रकार हैं- क्रोध, मान, माया और लोभ। फिर इनमें प्रत्येक की चार-चार श्रेणियाँ हैं- अनन्तानुबंधी, अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण और

संज्वलन। जब तक अनन्तानुबंधी क्रोध, मान, माया, और लोभ रहते हैं तब तक सम्यक्त्व की प्राप्ति नहीं होती। अप्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया और लोभ जब तक रहते हैं तब तक देशविरति नहीं होती। इसी प्रकार प्रत्याख्यानावरण चतुष्क के रहते सर्वविरति नहीं होती। संज्वलन कषाय यथाख्यात चारित्र के उत्पन्न नहीं होने देते। ईषत्कषाय को अथवा कषाय में सहायक को जैनदर्शन में 'नो कषाय' कहा गया है। जो संख्या में नौ हैं- हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुरुषवेद और नपुंसकवेद। संसार में सबसे अधिक जीव लोभी हैं।

संदर्भ

१. लोकप्रकाश, 3.211
२. स्थानांग सूत्र, अध्ययन 4, उद्देशक 1, सूक्त 276
३. लोकप्रकाश, 7.10
४. लोकप्रकाश, 7.52
५. लोकप्रकाश, 7.53
६. लोकप्रकाश, 7.54
७. लोकप्रकाश, 7.55
८. लोकप्रकाश, 8.76
९. लोकप्रकाश, 8.77
१०. लोकप्रकाश, 9.9
११. लोकप्रकाश, 9.10
१२. लोकप्रकाश, 5.257
१३. (क) लोकप्रकाश, भाग 5.260–261
(ख) 'मूले कन्दे खंधे तया य साले पवाल पत्ते य।
सत्त सु वि धणुपुहत्तं अंगुल जो पुप्फफल बीए। –भगवती सूत्र, शतक 21, वृत्ति से
१४. लोकप्रकाश, 5.266
१५. लोकप्रकाश, 5.267
१६. लोकप्रकाश, 5.270
१७. लोकप्रकाश, 5.271
१८. लोकप्रकाश, 5.272
१९. लोकप्रकाश, 5.274–275
२०. लोकप्रकाश, 6.147
२१. (अ) लोकप्रकाश,3.212 (आ) प्रज्ञापना सूत्र, 36वां समुद्घात पद, सूत्र 2085 व 2086 (इ) 'अथ समुद्घात इति कः शब्दार्थ? उच्यते– समिति– एकीभावे, उत्प्राबल्ये, एकीभावेन प्राबल्येन घातः समुद्घातः। प्रज्ञापना वृत्ति, उद्धृत अभिधानराजेन्द्रकोष, भाग 7, पृष्ठ 435

२२. (अ) 'हन्तेर्गमिक्रियात्वात् संभूयात्मप्रदेशानां च बहिरुद्हननं समुद्घातः।' –तत्त्वार्थराजवार्तिक, 1. 20 (आ) गोम्मटसार जीवकाण्ड जीवतत्त्वप्रदीपिका, गाथा 543 व 668

२३. 'घातनं घातः स्थित्यनुभवयोर्विनाश इति यावत्। उपरि घातः उद्घातः, समीचीन उद्घातः समुद्घातः।' –षट्खण्डागम, 1/1.1.60

२४. 'समुद्घातगतो जीवः प्रसह्य कर्मपुद्गलान्।
कालान्तरानुभवार्हानपि क्षपयति द्रुतम्।।
कालान्तरवेद्यानयमाकृष्योदीरणेनकर्मांशान्।
उदयावलि कायां च प्रवेश्य परिभुज्य शातयति।।' –लोकप्रकाश, 3.213 और 214

२५. लोकप्रकाश, 3.215

२६. लोकप्रकाश, 3.216

२७. लोकप्रकाश, 3.216

२८. (अ) लोकप्रकाश, 3.217 से 219 (आ) प्रज्ञापना सूत्र, 36वां पद, सूत्र 2086

२९. लोकप्रकाश, 3.275

३०. (अ) लोकप्रकाश, 3.275 (आ) प्रज्ञापना सूत्र, 36वां समुद्घात पद

३१. लोकप्रकाश, 3.220 से 223

३२. (अ) लोकप्रकाश, 3.224 से 227 (आ) प्रज्ञापना सूत्र, 36वां समुद्घात पद सूत्र 2086

३३. "अत्रायं विशेषः। कश्चिज्जीवः एकेनैव मारणान्तिकसमुद्घातेन नरकादिषूत्पद्यते तत्राहारं करोति शरीरं च बध्नान्ति कश्चित्तु समुद्घातान्निवृत्य स्वशरीरमागत्य पुनः समुद्घातं कृत्वात्रोपपद्यते।" –व्याख्याप्रज्ञप्तिसूत्र शतक 6, उद्देशक 6, लोकप्रकाश से उद्धृत, भाग 1, पृष्ठ 102

३४. (अ) लोकप्रकाश, 3.228 से 230 (आ) प्रज्ञापना सूत्र, 36वां समुद्घात पद, सूत्र 2086

३५. (अ) लोकप्रकाश, 3.231 से 233 (आ) प्रज्ञापना सूत्र, 36वां समुद्घात पद सूत्र 2086

३६. (अ) लोकप्रकाश, 3.234 से 236

३७. (अ) लोकप्रकाश, 3.237 (आ) प्रज्ञापना सूत्र, 36वां समुद्घात पद

३८. प्रज्ञापना सूत्र की प्रमेयबोधिनी टीका, भाग 5, पृष्ठ 913 से 914

३९. (अ) लोकप्रकाश, 3.240 से 245 (आ) प्रज्ञापना सूत्र, 36वां समुद्घात पद में प्रमेयबोधिनी टीका भाग 5 से उद्धृत (इ) प्रशमरति ग्रन्थ, गाथा 247 से 248

४०. (अ) लोकप्रकाश, 3.246 (आ) प्रशमरति प्रकरण, गाथा 273 (इ) प्रज्ञापना सूत्र, 36वां समुद्घात पद सूत्र 2170

४१. (अ) लोकप्रकाश, 3.265 (आ) 'यः षण्मासाधिकायुष्को लभते केवलोद्गमम्। करोत्यसौ समुद्घातमन्ये कुर्वन्ति वा न वा।' –गुणस्थान क्रमारोह ग्रन्थ, लोकप्रकाश में उद्धृत 3.265 (इ) प्रज्ञापना सूत्र, 36वां समुद्घात पद सूत्र 2170

४२. (अ) लोकप्रकाश, 3.266 से 268 (आ) प्रज्ञापना सूत्र, 36वां समुद्घात पद सूत्र 2093 से 2096 (इ) प्रज्ञापना, प्रमेयबोधिनी टीका, भाग 5, पृष्ठ 927 से 929

४३. (अ) लोकप्रकाश, 3.269 (आ) प्रज्ञापना सूत्र, 36वां समुद्घात पद सूत्र 2093 से 2096 (इ) प्रमेयबोधिनी टीका, भाग 5

४४. (अ) लोकप्रकाश, 3.270 से 272 (आ) प्रमेयबोधिनी टीका, भाग 5, (इ) प्रज्ञापना सूत्र, 36वां समुद्घात पद सूत्र 2093 से 2096 (ई) अभिधान राजेन्द्र कोष, भाग 7

४५. (अ) लोकप्रकाश, 3.273 (आ) प्रमेयबोधिनी टीका, भाग 5, (इ) प्रज्ञापना सूत्र, 36वां समुद्घात पद सूत्र 2093 से 2096 (ई) अभिधान राजेन्द्र कोष, भाग 7

४६. लोकप्रकाश, 9.11

४७. लोकप्रकाश, 8.78 'आद्याः पंच समुद्घाताः'

४८. (अ) लोकप्रकाश, 5.292 और 4.100 (आ) प्रज्ञापना सूत्र, 36वां समुद्घात पद सूत्र 2091

४९. (अ) लोकप्रकाश, 6.148 'आद्यास्त्रयः समुद्घाताः संमूर्छिम शरीरिणाम्'

५०. (अ) लोकप्रकाश, 6.148 'गर्भजानां तु पंचैते कैवल्याहारकौ विना' (आ) प्रज्ञापना सूत्र, 36वां समुद्घात पद सूत्र 2092

५१. (अ) लोकप्रकाश, 7.56 (आ) प्रज्ञापना सूत्र, 36वां समुद्घात पद 'णवरं मणूसाणं सत्तविहे समुग्घाए पण्णत्ते।'

५२. (अ) लोकप्रकाश, 6.28 (आ) प्रज्ञापना सूत्र, 36वां समुद्घात पद सूत्र 2091

५३. 'गइकम्मविणिवत्ता जा चेट्ठा सा गई मुणेयव्वा।
जीघा हु चाउरंग गच्छंति हु सा गई होई।। –पंचसंग्रह प्राकृत अधिकार, 1.59
जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश, भाग 2, पृष्ठ सं. 236

५४. षट्खण्डागम धवला टीका, 1,1,4 पृष्ठ 134 व 135

५५. तत्त्वार्थराजवार्तिक, 9.7.11

५६. (क) षट्खण्डागम धवला पुस्तक, 1.1.1 / 24वां सूत्र (ख) सर्वार्थसिद्धि, 2.6

५७. स्थानांग सूत्र, पंचम स्थान, तृतीय उद्देशक– "पंच गतीओ पण्णत्ताओ तंजहा– णिरयगती, तिरियगती, मणुयगती, देवगती, सिद्धिगती।"

५८. स्थानांग सूत्र, 10वां स्थान, 18वां सूत्र– "दसविधा गती पण्णत्ता, तंजहा– णिरयगती, णिरयविग्गहगती, तिरियगती, तिरियविग्गहगती, मणुयगती, मणुयविग्गहगती, देवगती, देवतिग्गहगती, सिद्धिगती, सिद्धविग्गहगती।"

५९. स्थानांग सूत्र, षट् स्थान, सूत्र 8

६०. स्थानांग सूत्र, सप्तम स्थान, सूत्र 3

६१. स्थानांग सूत्र, अष्टम स्थान, सूत्र 2

६२. स्थानांग सूत्र, नवम स्थान, सूत्र 7

६३. लोकप्रकाश, 3.280 और 281

६४. (क) लोकप्रकाश, 4.101 से 103 (ख) जीवाजीवाभिगम सूत्र, प्रथम प्रतिपत्ति पृथ्वीकाय वर्णन, सूत्र 22 और 23

६५. (क) लोकप्रकाश, 4.105 (ख) जीवाजीवाभिगम सूत्र, प्रथम प्रतिपत्ति, पृथ्वीकाय वर्णन सूत्र 13

६६. (क) लोकप्रकाश, 4.106 (ख) जीवाजीवाभिगम सूत्र, प्रथम प्रतिपत्ति, पृथ्वीकाय वर्णन, सूत्र 13, 16, 19, 24 और 26

६७. लोकप्रकाश, 5.293 से 295 तक

६८. लोकप्रकाश, 5.296 से 298 तक

६९. जीवाजीवाभिगम सूत्र, प्रथम प्रतिपत्ति, पृथ्वीकायादि वर्णन, सूत्र 14, 17, 20, 25, 27

७०. (क) लोकप्रकाश,6.29 से 33 तक (ख) जीवाजीवाभिगम सूत्र, प्रथम प्रतिपत्ति, सूत्र 28,29 और 30

७१. (क) लोकप्रकाश, 6.149 से 156 (ख) जीवाजीवाभिगम सूत्र, प्रथम प्रतिपत्ति, सूत्र 35, 36
७२. लोकप्रकाश, 6.164
७३. (क) लोकप्रकाश, 6.157 से 163 (ख) जीवाजीवाभिगम सूत्र, प्रथम प्रतिपत्ति, सूत्र 38, 39, 40
७४. "असण्णी खलु पढमं दोच्चं च सरीसवा तइय पक्खी।
सीहा जंति चउत्थं उरगा पुण पंचमिं पुढविं।।1।।
छट्ठिं च इत्थियाउ, मच्छा मणुया य सत्तमिं पुढविं।
एसो परमोववाओ बोद्धव्वो नरयपुढविसु।।2।।
—उद्धृत, जीवाजीवाभिगम सूत्र, आगम समिति ब्यावर, पृष्ठ 80
७५. लोकप्रकाश, 6.157 से 159
७६. लोकप्रकाश, 6.165 से 166
७७. लोकप्रकाश, 7.11 और 12
७८. (क) लोकप्रकाश, 7.57 से 83 (ख) जीवाजीवाभिगम सूत्र, प्रथम प्रतिपत्ति, सूत्र 41
७९. लोकप्रकाश, 7.84 से 92
८०. (क) लोकप्रकाश 8.78 से 82 (ख) जीवाजीवाभिगम सूत्र, प्रथम प्रतिपत्ति, सूत्र 42
८१. (क) लोकप्रकाश, 9.11 और 12 (ख) जीवाजीवाभिगम सूत्र, प्रथम प्रतिपत्ति, सूत्र 32
८२. लोकप्रकाश, 3.282
८३. लोकप्रकाश, 3.283
८४. लोकप्रकाश, 5.307 और 308
८५. लोकप्रकाश, 5.309
८६. लोकप्रकाश, 5.310
८७. लोकप्रकाश, 6.34
८८. लोकप्रकाश, 6.35
८९. लोकप्रकाश, 6.169
९०. लोकप्रकाश, 7.93—94
९१. लोकप्रकाश, 7.104—105
९२. लोकप्रकाश, 8.83
९३. लोकप्रकाश, 8.84
९४. लोकप्रकाश, 8.85—86
९५. भगवती सूत्र, 1.1 प्र. 53 की टीका
९६. 'श्लेषयन्त्यात्मानमष्टविधेन कर्मणा इति लेश्याः' —आवश्यक सूत्र, हरिभद्र टीका, पृष्ठ 645
९७. कृष्णादिद्रव्यसाचिव्यात् परिणामो य आत्मनः।
स्फटिकस्येव तत्रायं, लेश्या शब्दः प्रवर्तते।।—प्रज्ञापना सूत्र मलयगिरि वृत्ति, पद 17, उद्देशक 4
९८. स्थानांग सूत्र, सुधा टीका, भाग 3, पृष्ठ सं. 35
९९. भगवती सूत्र, प्रथम खण्ड, प्रथम शतक की वृत्ति से
१००. आचारांगसूत्र, अध्ययन 1, उद्देशक 6 की वृत्ति से
१०१. षट्खण्डागम, धवला पुस्तक 1,1—1—4

१०२. द्रष्टव्य (क) पंचसंग्रह प्राकृत अधिकार, 1.142–143
(ख) गोम्मटसार जीवकाण्ड, भाग 2, गाथा 489
१०३. कर्मग्रन्थ, भाग 4, भूमिका से उद्धृत
१०४. स्थानांग, 1.51 सूत्र की टीका।
१०५. तत्त्वार्थराजवार्तिक, 2.6
१०६. लोकप्रकाश, 3.284 "कृष्णादिद्रव्य साचिव्यात् परिणामो य आत्मनः।
स्फटिकस्येव तत्रायं लेश्या शब्दः प्रवर्त्तते।।"
१०७. उत्तराध्ययन, 34 टीका, पृ. 650
१०८. लोकप्रकाश, 3.285
१०९. षट्खण्डागम धवला टीका 1–1–4, पृ. 150
११०. लेश्याकोश, पृ. 2
१११. लोकप्रकाश, 3.298
११२. जयसिंहसूरि–सप्तमी संयोगजा इयं च शरीरच्छायात्मिका परिगृह्यते अन्ये त्वौदारिकौदारिकमिश्रेत्यादिभेदतः सप्तविधत्वेन जीवशरीरस्य तच्छायामेव कृष्णादिवर्णरूपां नोकर्माणि सप्तविधां जीवद्रव्यलेश्या मन्यते तथा। –उत्तराध्ययन सूत्र, 24 अगस्त्य चूर्णि, पृ. 350
११३. लोकप्रकाश, 3.299
११४. लोकप्रकाश, 3.300
११५. लोकप्रकाश, 3.301
११६. लोकप्रकाश, 3.302
११७. लोकप्रकाश, 3.303
११८. लोकप्रकाश, 3.304
११९. लोकप्रकाश, 3.311–312
१२०. उत्तराध्ययन सूत्र, 34.16–17
१२१. लोकप्रकाश, 3.305
१२२. लोकप्रकाश, 3.306
१२३. लोकप्रकाश, 3.307
१२४. लोकप्रकाश, 3.308
१२५. लोकप्रकाश, 3.309
१२६. लोकप्रकाश, 3.310
१२७. लोकप्रकाश, 3.311–312
१२८. उत्तराध्ययन सूत्र 34.18
१२९. लोकप्रकाश, 3.361
१३०. गोम्मटसार जीवकाण्ड, गाथा 543
१३१. लोकप्रकाश, 3.360
१३२. लोकप्रकाश, 3.362
१३३. लोकप्रकाश, 3.311–312

१३४. दुर्गतिगामिन्यः संक्लिष्टाध्यवसायहेतुत्वात्।
सुगतिगामिन्यः प्रशस्ताध्यवसायकारणत्वात्।। –प्रज्ञापना सूत्र पद 17, 4 की टीका से
१३५. लोकप्रकाश, 3.332 से 334
१३६. (क) प्रज्ञापना सूत्र, 17वां पद, उद्देशक 4, सूत्र 1222 से 1225 (ख) लोकप्रकाश, 3.313 व 314
१३७. लोकप्रकाश 3.322
१३८. लोकप्रकाश, 3.315 और 319
१३९. (क) लोकप्रकाश, 3.324 से 326 (ख) प्रज्ञापना सूत्र 17वां पद, उद्देशक 4, सूत्र 1242
१४०. (क) लोकप्रकाश, 3.381 और 382 (ख) गोम्मटसार जीवकाण्ड, गाथा 555 (ग) प्रज्ञापना सूत्र , पद 17, उद्देशक 2, सूत्र 1170
१४१. प्रज्ञापना सूत्र , पद 17, उद्देशक 3, सूत्र 1201 से 1207 तक की व्याख्या से उद्धृत पृष्ठ संख्या 286, आगम प्रकाशन समिति,ब्यावर।
१४२. प्रज्ञापना सूत्र , पद 17, उद्देशक 3, सूत्र 1201 से 1207 तक
१४३. (क) उत्तराध्ययन सूत्र, अध्ययन 34, गाथा 21 व 22 (ख) गोम्मटसार जीवकाण्ड, गाथा 509 (ग) षट्खण्डागम 1/1.1.136 (घ) पंचसंग्रह प्राकृत अधिकार, 1.144–145, जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश से उद्धृत
१४४. (क) उत्तराध्ययन सूत्र, अध्ययन 34, गाथा 23–24 (ख) गोम्मटसार, जीवकाण्ड, गाथा 510 और 511 (ग) पंचसंग्रह प्राकृत अधिकार, 1–146, जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश से उद्धृत, (घ) तत्त्वार्थराजवार्तिक, 4.22–11
१४५. (क) पंचसंग्रह प्राकृत अधिकार, 1.147 (ख) तत्त्वार्थराजवार्तिक 4.22 (ग) तिलोयपण्णति 2. 299–301 (घ) धवला पुस्तक 1/9.9.136 (ड़) गोम्मटसार जीवकाण्ड, 512–514 (च) उत्तराध्ययन सूत्र, 34.25–26
१४६. (क) पंचसंग्रह प्राकृत अधिकार, 1.150 (ख) राजवार्तिक, 4.22 (ग) धवला पुस्तक 1/9.9.136 (घ) गोम्मटसार जीवकाण्ड, गाथा 515 (ड़) उत्तराध्ययन सूत्र 34.27–28
१४७. (क) पंचसंग्रह प्राकृत अधिकार, 1.151 (ख) धवला पुस्तक, 1/9.9.136 (ग) राजवार्तिक, 4.22 (घ) गोम्मटसार जीवकाण्ड, 516 (ड़) उत्तराध्ययन सूत्र 34.29–30
१४८. (क) पंचसंग्रह प्राकृत अधिकार, 1.152 (ख) धवला पुस्तक, 1/9.9.136 (ग) राजवार्तिक, 4.22 (घ) गोम्मटसार जीवकाण्ड, 517वीं गाथा (ड़) उत्तराध्ययन सूत्र 34.31–32
१४९. लोकप्रकाश, 4.121
१५०. लोकप्रकाश, 5.311
१५१. लोकप्रकाश, 5.311
१५२. लोकप्रकाश, 6.36
१५३. लोकप्रकाश, 6.170
१५४. लोकप्रकाश, 7.14
१५५. लोकप्रकाश, 9.17
१५६. लोकप्रकाश, 5.311
१५७. लोकप्रकाश, 5.311
१५८. लोकप्रकाश, 3.347

१५६. लोकप्रकाश, 3.347
१६०. लोकप्रकाश, 5.311
१६१. लोकप्रकाश, 5.312
१६२. प्रवचनसारोद्धार, गाथा 1159–1160
१६३. लोकप्रकाश, 6.170
१६४. लोकप्रकाश, 7.106
१६५. लोकप्रकाश, 3.315
१६६. लोकप्रकाश, 3.318
१६७. लोकप्रकाश, 3.323
१६८. झाणज्झयणं, 63
१६९. लोकप्रकाश, 3.383
१७०. लोकप्रकाश, 3.385–386
१७१. लोकप्रकाश, 3.387
१७२. लोकप्रकाश, भाग 1, पृ. 132 पर
१७३. लोकप्रकाश, 3.389–390
१७४. लोकप्रकाश, 3.391–392
१७५. लोकप्रकाश, 3.393
१७६. लोकप्रकाश, 3.394
१७७. लोकप्रकाश, 3.394
१७८. लोकप्रकाश, 3.395
१७९. लोकप्रकाश, 4.122
१८०. लोकप्रकाश, 5.313
१८१. लोकप्रकाश, 6.36
१८२. लोकप्रकाश, 6.171
१८३. लोकप्रकाश, 7.14 और 7.106
१८४. लोकप्रकाश, 8.87
१८५. लोकप्रकाश, 9.17
१८६. 'अस्थि सम्बन्ध रूपाणि तत्र संहनानि तु।' –लोकप्रकाश, 3.398
१८७. 'यस्योदयादस्थिबन्धनविशेषो भवति तत्संहननं नाम' –सर्वार्थसिद्धि, 8/11
१८८. षट्खण्डागम, धवला पुस्तक 6/1–9, 1.36
१८९. तत्त्वार्थाधिगम भाष्य टीकाकार सिद्धसेनगणि, 8.12, पृष्ठ सं. 154
१९०. (क) लोकप्रकाश, 3.398 गाथा में उद्धृत (ख) द्रष्टव्य अपि– (1) सर्वार्थसिद्धि 8.11 (2) षट्खण्डागमं, धवला पुस्तक 6/1–9.1
१९१. कर्मग्रन्थ, भाग 1, गाथा 38
१९२. लोकप्रकाश, 3.400 और 401
१९३. तत्त्वार्थाधिगम सूत्र सिद्धसेनगणि टीका, जीवनचन्द साकरचन्द जवेरी ट्रस्टी सेठ देवचन्द

लालभाई जैन, पुस्तक भण्डार फण्ड, बड़ेखां चकला, सूरत, भाग 2, 8.12, पृष्ठ सं. 154

१९४. तत्त्वार्थराजवार्तिक, 8.31

१९५. षट्खण्डागम धवला टीका, पुस्तक संख्या 6, 1.9.1

१९६. कर्मग्रन्थ, 1.39

१९७. लोकप्रकाश, 3.399

१९८. 'अन्यदृषभनाराचं कीलिका रहितं हि तत्।
केचित्तु वज्रनाराचं पट्टोज्झितमिदं जगुः।' –लोकप्रकाश, 3.402

१९९. तत्त्वार्थाधिगमसूत्र सिद्धसेनगणि कृत टीका, भाग 2, 8.12, पृष्ठ 154

२००. तत्त्वार्थाधिगम भाष्य, 8–12

२०१. तत्त्वार्थराजवार्तिक, 8–11

२०२. षट्खण्डागम धवला टीका, पुस्तक 6, 1/9–1/37

२०३. कर्मग्रन्थ, 1–38 का विवेचन

२०४. लोकप्रकाश, 3.402

२०५. लोकप्रकाश, 3.403

२०६. तत्त्वार्थाधिगमभाष्य सिद्धसेनगणि कृत टीका, 8–12, पृष्ठ 154

२०७. तत्त्वार्थराजवार्तिक, 8–11

२०८. कर्मग्रन्थ, भाग 1, गाथा 38 का विवेचन

२०९. षट्खण्डागम धवला टीका, पुस्तक सं. 6, 1/9–1/37

२१०. लोकप्रकाश, 3.404

२११. तत्त्वार्थाधिगम सूत्र सिद्धसेन गणि टीका सहित, 8.12

२१२. कर्मग्रन्थ, भाग 1, गाथा 38

२१३. षट्खण्डागम धवला टीका, पुस्तक सं. 6, 1/9–1/37

२१४. तत्त्वार्थराजवार्तिक, 8–11

२१५. लोकप्रकाश, 3.405

२१६. 'कीलिकानाम विना मर्कटबन्धेनास्थ्नो मध्ये कीलिकामात्रम्'–तत्त्वार्थाधिगमसूत्र, सिद्धसेनगणिकृत टीका, 8.12

२१७. 'जिस रचना में मर्कटबन्ध और बेंठन न हो, किन्तु खीले से हड्डियां जुड़ी हों वह कीलिका संहनन है।' –कर्मग्रन्थ, भाग 1, गाथा 38 का भावार्थ

२१८. 'तदुभयमंते सकीलकं कीलिकासंहननं' –तत्त्वार्थराजवार्तिक, 8–11

२१९. 'जस्स कम्मस्स उदएण अवज्जहड्डाइं खीलियाइं हंवति तं खीलियसरीरसंघडणं णाम।'
–षट्खण्डागम, धवला टीका, पुस्तक सं. 6,1/9–1/37

२२०. लोकप्रकाश, 3.405

२२१. तत्त्वार्थाधिगम सूत्र, सिद्धसेनगणि कृत टीका, 8.12, पृष्ठ 154

२२२. तत्त्वार्थराजवार्तिक, 8.12

२२३. षट्खण्डागम धवला टीका, पुस्तक संख्या 6, 1.9.1

२२४. कर्मग्रन्थ, 1.38

२२५. लोकप्रकाश, 3.406
२२६. लोकप्रकाश, 4.123
२२७. लोकप्रकाश, 5.314
२२८. लोकप्रकाश, 8.87
२२९. लोकप्रकाश, 9.17
२३०. जीवाजीवाभिगम सूत्र, प्रथम प्रतिपत्ति, नैरयिक वर्णन, पृष्ठ 77
२३१. लोकप्रकाश, 3.407, 3.408 और 3.123 के व्याख्या में उद्धृत
२३२. (क) लोकप्रकाश, 6.37 (ख) जीवाजीवाभिगम सूत्र, प्रथम प्रतिपत्ति, सूत्र 28, 29 व 30
२३३. लोकप्रकाश, 6.171
२३४. लोकप्रकाश, 7.14
२३५. लोकप्रकाश, 6.171
२३६. लोकप्रकाश, 7.106
२३७. कम्मं कसं भवो वा कसमाओ सिं जओ कसाया तो।
२३८. कसमाययंति व जओ गमयंती कसं कसाय त्ति।
२३९. आओ व उवादाणं तेण कसाया जओ कसस्साया। –विशेषावश्यक भाष्य, भाग 1, गाथा 1228 और 1229
२४०. (क)सुखदुःखबहुसस्यकर्मक्षेत्रं कृषन्तीति कषायाः।–षट्खण्डागम पुस्तक संख्या1 / 1,1,4,पृष्ठ 142
(ख) 'सुहदुःखसुबहुसस्सं कम्मक्खेत्तं कसेदि जीवस्स।
संसारदूरमेरं तेण कसाओ त्ति णं वेंति। –गोम्मटसार जीवकाण्ड, गाथा 282
२४१. कषं संसारकान्तारमयन्ते यान्ति यैः जनाः ते कषायाः। –लोकप्रकाश, 3.409
२४२. कषायपाहुड 1 / 1.1, 13–14
२४३. (क) लोकप्रकाश, 3.409 (ख) षट्खण्डागम धवला पुस्तक 1 / 1,1.111 (ग) सर्वार्थसिद्धि 8वां अध्याय सूत्र 9, पृष्ठ 751 कषायाः क्रोधमानमायालोभाः
२४४. (क) चत्वारोऽपि चतुर्भेदाः स्युस्तेऽनन्तानुबन्धिनः।
अप्रत्याख्यानकाः प्रत्याख्यानाः संज्वलना इति। –लोकप्रकाश 3.413
(ख) तत्त्वार्थसूत्र अध्याय 8, सूत्र 9
२४५. 'हास्यरतिशोकभयजुगुप्सास्त्रीपुन्नपुंसकवेदा।' –तत्त्वार्थ सूत्र 8, सूत्र 9
२४६. (क) लोकप्रकाश, 3.410 'क्रोधाऽप्रीत्यात्मको' (ख) षट्खण्डागम धवला पुस्तक 1, / 1,1.111
२४७. (क) मानोऽन्येऽर्ष्या स्वोत्कर्षलक्षणाः' –लोकप्रकाश, 3.410 (ख) रोषेण विद्यातपोजात्यादिमदेनवान्यस्यानवनतिः' –षट्खण्डागम 1 / 1,1.111
२४८. (क) 'मायान्यवंचनारूपा' –लोकप्रकाश, 3.410 (ख) 'निकृतिर्वञ्चना मायाकषायः' –षट्खण्डागम 1, / 1,1.111
२४९. (क) 'लोभस्तृष्णाभिगृध्नुता'–लोकप्रकाश, 3.410 (ख) 'गर्हाऽकाङ्क्षा लोभः'–षट्खण्डागम 1 / 1,1,111
२५०. लोकप्रकाश, 3.417
२५१. विशेषावश्यक भाष्य, भाग 1, गाथा 1231 की व्याख्या से उद्धृत।

२५२. विशेषावश्यक भाष्य, भाग 1, गाथा 1234 की व्याख्या से उद्धृत।

२५३. लोकप्रकाश, 3.418

२५४. 'सर्वसावद्यविरतिः प्रत्याख्यानमिहोदितम्।
तदावरणतः संज्ञा सा तृतीयेषु योजिता।''–लोकप्रकाश, 3.419

२५५. 'आवृण्वन्तीत्यावरणाः, प्रत्याख्यानं सर्वविरतिलक्षणं, तस्याऽऽवरणाः प्रत्याख्यानावरणाः। सावद्ययोगानुमतिमात्रविरतिरूपं प्रत्याख्यानमावृण्वन्तीति प्रत्याख्यानावरणा इति व्युत्पत्तेः सर्वविरतिरूपप्रत्याख्याननिषेधार्थ एवायं वर्तते।' –विशेषावश्यक भाष्य, भाग 1, गाथा 1234 की व्याख्या से उद्धृत

२५६. समज्वलयन्ति यतिं यत्संविग्नं सर्वपापविरतमपि।
तस्मात् संज्वलना इत्यप्रशमकरा निरुच्यन्ते।। –लोकप्रकाश, 3.420

२५७. कषायपाहुड सुत्त, 8वां चतुःस्थान अर्थाधिकार, गाथा 71

२५८. वंसीजण्हुगसरिसी मेंढविसाणसरिसी य गोमुत्ती।
अवलेहणीसमाणा माया वि चउव्विहा भणिदा।–कषायपाहुड सुत्त,8वां चतुःस्थान अर्थाधिकार गाथा72

२५९. किमिरागरत्तसमगो अक्खमलसमो य पंसुलेवसमो।
हालिद्दवत्थसमगो लोभो वि चउव्विहो भणिदो।।
–कसायपाहुड सुत्त, 8वां चतुःस्थान अर्थाधिकार, गाथा 73

२६०. (क) लोकप्रकाश, 3.429 (ख) प्रज्ञापना सूत्र, प्रमेयबोधिनी टीका, पद 14 सूत्र 1
'आत्मन्येव स्थाने प्रतिष्ठितः आत्मप्रतिष्ठितः तथा च यदा खलु आत्मनैवाचरितस्य कर्मण ऐहिकं प्रति विनाशं बुद्ध्वा कश्चिद् विपश्चिदात्मने क्रुध्यति तदा स क्रोध आत्मप्रतिष्ठितो व्यपदिश्यते, तस्य क्रोधस्यात्मोद्देश्यकत्वादित्याशयः।'

२६१. (क) लोकप्रकाश, 3.429 (ख) 'परस्मिन्–अन्यस्मिन् जने प्रतिष्ठितः समुत्पन्नः परप्रतिष्ठितः। यदा परो जन आक्रोशादिना कोपमुदीरयति तदा तद्विषयक उपजायमानः क्रोधः परप्रतिष्ठितो भवतीति भावः।' –प्रज्ञापना सूत्र, प्रमेयबोधिनी टीका, पद 14, सूत्र 1, प्रकाशन–श्री अखिल भारतीय श्वे. स्था. जैन शास्त्रोद्धार समिति, राजकोट, सौराष्ट्र

२६२. (क) लोकप्रकाश, 3.430 (ख) 'आत्मपरोभयप्रतिष्ठितः क्रोधो भवति, तथाहि–यदा स्वपरकृतापराधवशादात्म– परविषयकं क्रोधं कश्चित्करोति तदा स क्रोधस्तदुभयप्रतिष्ठितो व्यपदिश्यते।'' –प्रज्ञापना सूत्र, प्रमेयबोधिनी टीका, पद 14, सूत्र 1

२६३. (क) लोकप्रकाश, 3.432 (ख) 'यदा किल एषः स्वयं दुराचरणाक्रोशादिकञ्च कारणं विनैव निराधार एव केवल क्रोधवेदनीयोदयादुपजायते तदा स नात्मप्रतिष्ठितः आत्मना दुश्चरित्वाभावेन स्वात्मविषयत्वाभावात् नापि परप्रतिष्ठितः स क्रोधः।' –प्रज्ञापना सूत्र, प्रमेयबोधिनी टीका, पद 14, सूत्र 1, कषायस्वरूपनिरूपणम्।

२६४. षट्खण्डागम धवला टीका सहित, 1/1, 9–1, 24, पृष्ठ सं. 46 से 48

२६५. लोकप्रकाश, 3.436

२६६. कषायपाहुड सुत्त, 8वां चतुःस्थान अर्थाधिकार

चतुर्थ अध्याय

जीव–विवेचन (3)

प्रस्तुत अध्याय में जीव का विवेचन संज्ञा, संज्ञित, इन्द्रिय, वेद, दृष्टि, ज्ञान, दर्शन, उपयोग, आहार एवं गुणस्थान द्वारों के आधार पर किया जा रहा है। इससे जीवों की अन्य अनेक विशेषताएँ हो सकेंगी।

इक्कीसवां द्वार : संज्ञा-विवेचन

प्रायः हम आहार, भय, मैथुन एवं परिग्रह इन चार संज्ञाओं से परिचित हैं, किन्तु जैन वाङ्मय में 'संज्ञा' शब्द का प्रयोग विभिन्न अर्थों में हुआ है, यथा-

१. 'संज्ञा' शब्द लौकिक व्यवहार में 'नाम' अर्थ में प्रयुक्त होता है, जिसे पूज्यपाद देवनन्दी ने सर्वार्थसिद्धि टीका में परिभाषित किया है-संज्ञा नामेत्युच्यते'

२. सर्वार्थसिद्धिकार ने संज्ञा का व्युत्पत्तिपरक अर्थ किया है-'संज्ञानं संज्ञा'[२] अर्थात् पहचानना।

३. उमास्वाति ने अपने ग्रन्थ 'तत्त्वार्थ सूत्र' में संज्ञा को मतिज्ञान का पर्यायवाची स्वीकार करते हुए लिखा है- 'मतिःस्मृतिःसंज्ञा चिन्ताऽभिनिबोध इत्यनर्थान्तरम्'[३]

४. गोम्मटसार जीवकाण्ड के अनुसार नोइन्द्रियावरण कर्म का क्षयोपशम या तज्जन्य ज्ञान संज्ञा कहलाता है- णोइंदियआवरणखओवसमं तज्जबोहणं सण्णा[४]

५. तत्त्वार्थसूत्र के टीकाकार पूज्यपाद देवनन्दी ने आहारादि विषयों की अभिलाषा को संज्ञा स्वीकार करते हुए उसे परिभाषित किया है- 'आहारादिविषयाभिलाषः संज्ञेति'[५]

ये संज्ञाएँ इहलोक एवं परलोक में दुःख की कारण बनती हैं, यथा-

इह जाहि बाहिया वि य जीवा पावंति दारुणं दुक्खं।
सेवंता वि य उभए ताओ चत्तारि सण्णाओ।।[६]

अर्थात् जिनसे बाधित होकर जीव इस लोक में दारुण दुःख को प्राप्त करते हैं और जिनका सेवन करने से जीव दोनों ही भवों में दारुण दुःख को पाते हैं, उन्हें संज्ञा कहते हैं।

६. 'आगमप्रसिद्धि वांछा संज्ञा अभिलाष इति'[७] गोम्मटसार जीवकाण्ड की प्रस्तुत गाथा में वांछा, अभिलाषा एवं संज्ञा को पर्यायवाची माना गया है।

तत्त्वार्थवार्तिककार भट्ट अकलंक ने संज्ञा को प्रतिपादित करते हुए बताया कि हित की प्राप्ति में और अहित के परिहार में यह गुण है, यह दोष है, इस प्रकार की विचारात्मक परिणति 'संज्ञा' कहलाती है- 'हिताहितप्राप्तिपरिहारयोर्गुणदोष– विचारणात्मिका संज्ञा।'[८]

प्रस्तुत संदर्भ में संज्ञा शब्द का अर्थ जो हमें अभीष्ट है वह इस प्रकार है- एकेन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय तक सभी संसारी जीवों में आहार, भय, मैथुन व परिग्रह इन चारों के प्रति जो अभिलाषा पायी जाती है उसका नाम संज्ञा है।

आचारांग निर्युक्ति में संज्ञा के दो प्रकार निरूपित हैं[९]- १. ज्ञान संज्ञा २. अनुभव संज्ञा। उपाध्याय विनयविजय ने इनका उल्लेख इस प्रकार किया है-

संज्ञा स्यात् ज्ञानरूपैका द्वितीयानुभवात्मिका।
तत्राद्या पंचधा ज्ञानमन्या च स्यात् स्वरूपतः।।[१०]

वाचक उमास्वाति ने जहाँ तत्त्वार्थसूत्र के प्रथम अध्याय में संज्ञा को मात्र मतिज्ञान का पर्याय स्वीकार किया है वहाँ आचारांग निर्युक्ति में इसे पांचों ज्ञानों का द्योतक प्रतिपादित किया गया है। उपाध्याय विनयविजय (१७वीं शती) ने आचारांग निर्युक्ति को आधार बनाकर ज्ञान संज्ञा के पाँचों भेदों को उपस्थापित किया है। इससे यह स्पष्ट होता है कि विनयविजय भी संज्ञा का अर्थ ज्ञान स्वीकार करते हैं।

ज्ञान संज्ञा एवं अनुभव संज्ञा

ज्ञान संज्ञा– 'संज्ञा' शब्द का प्रयोग ज्ञान के अर्थ में भी हुआ है, इसलिए आचारांग निर्युक्तिकार ने ज्ञानसंज्ञा के पांच प्रकार प्रतिपादित किए हैं- १. मतिज्ञान संज्ञा २. श्रुतज्ञान संज्ञा ३. अवधिज्ञान संज्ञा ४. मनःपर्यवज्ञान संज्ञा ५. केवलज्ञान संज्ञा।[११] केवलज्ञान संज्ञा मात्र क्षायिकी है एवं शेष चारों क्षायोपशमिक हैं।

अनुभव संज्ञा– आहार आदि संज्ञाओं को अनुभव संज्ञा कहते हैं। प्रायः यह अनुभव संज्ञा ही संज्ञा के रूप में प्रसिद्ध है। इसके चार, दस एवं सोलह भेद प्राप्त हैं-

1.चार भेद–आहार संज्ञा, भय संज्ञा, मैथुन संज्ञा व परिग्रह संज्ञा।[१२]

2.दस भेद– आहार संज्ञा, भय संज्ञा, मैथुन संज्ञा, परिग्रह संज्ञा, क्रोध संज्ञा, मान संज्ञा, माया संज्ञा, लोभ संज्ञा, लोक संज्ञा और ओघ संज्ञा।[१३]

3.सोलह भेद– पूर्व की दस और सुख संज्ञा, दुःख संज्ञा, मोह संज्ञा, विचिकित्सा संज्ञा, शोक संज्ञा व धर्म संज्ञा।[१४]

यह संज्ञा जीवों के स्वकृतकर्मोदय से उत्पन्न होती है।

अनुभव संज्ञा के भेदों का स्वरूप

अनुभव संज्ञा के चार, दस एवं सोलह भेद कहे गए हैं, उनका स्वरूप यहाँ प्रतिपादित है।

(1) आहार संज्ञा– 'आहाराभिलाषः आहारसंज्ञा'[१५] अर्थात् आहार ग्रहण करने की अभिलाषा आहारसंज्ञा कहलाती है। यह संज्ञा तैजस शरीर नामकर्म एवं असातावेदनीय कर्मोदय का परिणाम है। इसकी उत्पत्ति अन्तरंग और बाह्य दो कारणों से होती है। असाता रूप क्षुधावेदनीय कर्मोदय अन्तरंग कारण बनता है और बाह्य कारण इस प्रकार हैं[१६]- १. पेट का खाली होना २. आहार विषयक चर्चा के अनन्तर आहार ग्रहणार्थ मति उत्पन्न होना ३. आहार के विषय में चिन्तन करना।

(2) भय संज्ञा– 'भयसंज्ञा त्रासरूपा।'[१७] अर्थात् भयसंज्ञा त्रासस्वरूप है। भयमोहनीय कर्म के उदय से भयभीत प्राणी के नेत्र, मुख में विकारोत्पत्ति, शरीर में रोमांच, कम्पन, घबराहट आदि मनोवृत्ति रूप क्रिया का नाम भयंसंज्ञा है।

सत्त्वहीनता, भयजनक वार्ता, श्रवणानन्तर उत्पन्न मति व भय का सतत चिन्तन ये सभी भयसंज्ञा के बाह्य कारण हैं और मोहनीय कर्मोदय अन्तरंग कारण है।[१८]

(3) मैथुन संज्ञा– 'मैथुनसंज्ञा स्त्रयादिवेदोदयरूपा'[१९] मोहनीय कर्मोदय के कारण पुरुषवेद से स्त्री प्राप्ति की अभिलाषा रूप क्रिया, स्त्रीवेद से पुरुष प्राप्ति की अभिलाषा रूप क्रिया एवं नपुंसक वेद से दोनों की अभिलाषा रूप क्रिया का नाम मैथुनसंज्ञा है। इस संज्ञा उत्पत्ति के तीन मुख्य बाह्य कारण दृष्टिगोचर होते हैं[२०]- १. अत्यधिक मांस शोणित का उपचय २. काम-कथा श्रवणानन्तर उत्पन्न मति ३. मैथुन का सतत चिन्तन।

(4) परिग्रह संज्ञा– 'परिग्रहसंज्ञा मूर्च्छारूपा'[२१] अर्थात् लोभ मोहनीय कर्मोदय से संसार के सचित्त-अचित्त पदार्थों को आसक्तिपूर्वक ग्रहण करने की अभिलाषा का नाम परिग्रहसंज्ञा है। परिग्रह पास में रहने से, परिग्रह-कथा श्रवण पश्चात् उत्पन्न मति से और परिग्रह का सतत चिन्तन करने से परिग्रह संज्ञा का उद्भव होता है।[२२]

(5) क्रोध संज्ञा– 'क्रोधसंज्ञा अप्रीतिरूपा'[२३] क्रोधमोहनीय कर्मोदय से प्राणी के शरीर में मुख का फूलना, नेत्रों का लाल होना, होंठ का फड़कना आदि रूपों में विकृति आती है इसी का नाम क्रोधसंज्ञा है।

(6) मानसंज्ञा– 'मानसंज्ञा गर्वरूपा'[२४] अर्थात् मानमोहनीय के उदय से जीव के भावों की अहंकार, दर्प, गर्व आदि में परिणति मानसंज्ञा कहलाती है।

(7) मायासंज्ञा– 'मायासंज्ञा वक्रतारूपा'[२५] अर्थात् मायामोहनीय कर्मोदय से जीव की वक्रता पूर्वक

छल-कपट की अभिवृत्ति का नाम मायासंज्ञा है।

(8) लोभ संज्ञा– 'लोभसंज्ञा गृद्धिरूपा'[२६] अर्थात् लोभमोहनीय के उदय से सचित्त-अचित्त पदार्थों की लालसा लोभसंज्ञा कहलाती है। परिग्रह संज्ञा से लोभसंज्ञा में यह भेद है कि परिग्रह संज्ञा में प्राप्त वस्तु, व्यक्ति आदि के प्रति ममत्व एवं आसक्ति भाव होता है, जबकि लोभसंज्ञा में अधिकाधिक तृष्णा या पाने की अभिलाषा रहती है।

(9) लोकसंज्ञा– 'लोकसंज्ञा स्वछन्दघटितविकल्परूपा लौकिकाचरिता, यथा न सन्त्यनपत्यस्य लोकाः, श्वानो यक्षाः, विप्राः देवाः, काकाः पितामहः, बर्हिणां पक्षपातेन गर्भ इत्येवमादिका।'[२७]

स्वच्छन्द रूप से घटित-विकल्पस्वरूप, लोक में आचरित वृत्ति लोकसंज्ञा कहलाती है। दूसरे शब्दों में लोक की अनुपादेय रूढ़ प्रवृत्तियों का अनुसरण करने की वृत्ति लोकसंज्ञा कहलाती है। उदाहरण के लिए सन्तानहीन की सद्गति नहीं है, कुत्ते यक्ष होते हैं, ब्राह्मण देव होते हैं, कौन पितामह होते हैं, मयूरों के पंख गिरने से गर्भ होता है इत्यादि कथन लोकसंज्ञा को इंगित करते हैं। यह संज्ञा ज्ञानावरण के क्षयोपशम एवं मोह के उदय से उत्पन्न होती है।

(10) ओघसंज्ञा– 'ओघसंज्ञा तु अव्यक्तोपयोगरूपा वल्लिवितानारोहणादि लिंगा ज्ञानावरणीयाल्पक्षयोपशमसमुत्था द्रष्टव्येति।'[२८] बिना उपयोग के अर्थात् सोच विचार के बिना ही किसी कार्य को करने की वृत्ति या प्रवृत्ति अथवा सनक ओघसंज्ञा है। ज्ञानावरण कर्म के अल्प क्षयोपशम से यह संज्ञा प्रकट होती है। यथा वल्ली का वृक्ष पर आरोहण करना, बैठे-बैठे पैर हिलाना, चलते-चलते फूल-पत्ती तोड़ना आदि।

(11–12)सुख संज्ञा एवं दुःख संज्ञा– 'सुखदुःखसंज्ञे सातासातानुभवरूपे वेदनीयोदयजे।'[२९] साता और असाता की अनुभूति स्वरूप संज्ञा क्रमशः सुख संज्ञा एवं दुःख संज्ञा कहलाती है। ये दोनों वेदनीय के उदय से उद्भूत होती हैं।

(13) मोहसंज्ञा– 'मोहसंज्ञा मिथ्यादर्शनरूपा मोहोदयात्'[३०] मोहसंज्ञा मिथ्यादर्शनरूप होती है। मोहनीय के उदय से उत्पन्न मोहसंज्ञा पदार्थ के सत् स्वरूप को प्रकट नहीं होने देती है।

(14) विचिकित्सा संज्ञा– 'विचिकित्सा संज्ञा चित्तविलुप्तिरूपा मोहोदयात् ज्ञानावरणीयोदयाच्च'[३१] अर्थात् मोह के उदय से ज्ञान के आवरित होने पर चित्त का विक्षिप्त रूप विचिकित्सा संज्ञा कहलाता है, यथा- कई बार माताएँ संतान के मोह में विवेकपूर्वक कार्य नहीं कर पाती हैं। यह विचिकित्सा संज्ञा का ही परिणाम है।

(15) शोकसंज्ञा– 'शोकसंज्ञा विप्रलापवैमनस्य रूपा'[३२] अर्थात् किसी के वियोग में विप्रलाप करना अथवा खिन्न मन होना शोकसंज्ञा कहलाती है। यह भी मोहोदयजा है।

(16) धर्मसंज्ञा– 'क्षमाद्यासेवनरूपा मोहनीयक्षयोपशमाज्जायते, एताश्च विशेषोपादाना–

त्पंचेन्द्रियाणां सम्यग्मिथ्यादृशां द्रष्टव्याः।'[33] क्षमा, मार्दव, आर्जव, शौच, सत्य, संयम, तप, त्याग, आकिंचन्य एवं ब्रह्मचर्य के आचरण का नाम धर्मसंज्ञा[३४] है। मोहनीय के क्षयोपशम से स्वतः यह धर्म प्रभूत होता है। यह संज्ञा प्रायः सम्यग्मिथ्या दृष्टि पंचेन्द्रियों में पाई जाती है। इस संज्ञा के पश्चात् ही आत्मा का शुद्ध स्वभाव प्रकट होने में सक्षम हो पाता है और आत्मा अपने अन्तर में प्रवाहित आनन्द का उपभोग करता है।

उपर्युक्त १६ संज्ञाओं में से १५ संज्ञाएँ हेय हैं, जबकि धर्मसंज्ञा उपादेय है। मुक्ति में सहायक होने से धर्मसंज्ञा की उपादेयता है।

उपाध्याय विनयविजय संज्ञा का अर्थ ज्ञान स्वीकार करते हैं। संज्ञा का यह अर्थ उनके द्वारा मान्य संज्ञा-भेदों में भी पूर्णतः घटित होता है। विनयविजय के अनुसार संज्ञा के तीन भेद हैं- १. दीर्घकालिकी संज्ञा २. हेतुवाद संज्ञा ३. दृष्टिवाद संज्ञा।

अथवा त्रिविधाः संज्ञाः प्रथमा दीर्घकालिकी।
द्वितीया हेतुवादाख्या, दृष्टिवादाभिधा परा।।[३५]

दीर्घकालिकी संज्ञा– अतीत, अनागत एवं वर्तमान वस्तुविषयक ज्ञान दीर्घकालिकी संज्ञा कहलाती है। यथा भूतकाल में क्या किया इसका स्मरण करना, भविष्य में क्या करूँगा इसका चिन्तन करना और वर्तमान में क्या करना है, ये सभी त्रैकालिक वस्तु विषयक ज्ञान दीर्घकालिकी संज्ञा है।[३६] यह संज्ञा मनपर्याप्ति युक्त, गर्भज तिर्यंच, गर्भज मनुष्य, देव और नारकियों को होती है। इस संज्ञा वाले जीवों को सभी पदार्थ स्पष्ट परिलक्षित होते हैं। इस संज्ञा से रहित सम्मूर्च्छिम तिर्यंच पंचेन्द्रिय, सम्मूर्च्छिम मनुष्य, विकलेन्द्रिय आदि अपेक्षाकृत असंज्ञी हैं। इनमें मनोलब्धि अल्प, अल्पतर होती है, अतः इनका ज्ञान भी अस्फुट, अस्फुटतर होता है।

हेतुवाद संज्ञा– जिस ज्ञान द्वारा जीव हित में प्रवृत्त और अहित से निवृत्त होता है, वह ज्ञान हेतुवाद संज्ञा कहलाती है। कहा भी है-

तथा विचिन्त्येष्टानिष्टच्छायातपादिवस्तुषु।
द्वितीयया स्व सौख्यार्थं स्यात्प्रवृत्तिनिवृत्तिमान्।।[३७]

जो जीव अपने देह की सुरक्षा हेतु चिन्तनपूर्वक इष्ट, अनिष्ट में प्रवृत्ति या निवृत्ति करता है, वह संज्ञी है। द्वीन्द्रिय आदि जीव वर्तमानकालीन प्रवृत्ति-निवृत्ति विषयक चिन्तन करते हैं, अतः वे संज्ञी हैं और पृथ्वी एकेन्द्रिय जीव असंज्ञी हैं। आहार आदि संज्ञा की अपेक्षा से एकेन्द्रिय जीव संज्ञी कहे जाते हैं, परन्तु उनमें ये संज्ञाएँ अव्यक्त रूप से होती हैं।

दृष्टिवाद संज्ञा– जिस ज्ञान से जीव वस्तु का यथार्थ निरूपण करता है वह ज्ञान दृष्टिवाद संज्ञा

कहलाती है। वस्तु का यथार्थ निरूपण सम्यग्ज्ञान से युक्त सम्यग्दृष्टि ही कर सकता है। इसलिए इस संज्ञा की अपेक्षा से सम्यग्दृष्टि जीव संज्ञी होते हैं और मिथ्यादृष्टि सम्यग्ज्ञान रहित होने से असंज्ञी होते हैं। अतः लोकप्रकाशकार कहते हैं-

भवेतम्सम्यग्दृशामेव दृष्टिवादोपदेशिकी।
एतामपेक्ष्य सर्वेऽपि मिथ्यादृशो ह्यसंज्ञिनः।।[35]

जैन आगम वाङ्मय में प्रायः इनमें आहारादि चार संज्ञाओं के विषय में और भी प्ररूपणाएँ मिलती हैं। यथा-

संज्ञाकरण एवं संज्ञानिर्वृत्ति

संज्ञा की क्रिया का करण संज्ञाकरण और संज्ञा की रचना को संज्ञानिर्वृत्ति कहा जाता है। करण से तात्पर्य है जिसके द्वारा कोई क्रिया की जाए या क्रिया का साधन। निर्वृत्ति भी क्रिया रूप है, परन्तु करण और निर्वृत्ति में प्रारम्भिक एवं अन्तिम अवस्था का अन्तर होता है। क्रिया का प्रारम्भ तो करण कहलाता है और क्रिया की निष्पत्ति (पूर्णता) निर्वृत्ति कहलाती है।

सामान्यतः संज्ञाएँ चार मानी गई हैं, अतः संज्ञाकरण व संज्ञानिर्वृत्ति भी चार-चार प्रकार की स्वीकार की गई हैं-

चार संज्ञाकरण[39]— १. आहारसंज्ञाकरण २. भयसंज्ञाकरण ३. मैथुनसंज्ञाकरण ४. परिग्रहसंज्ञाकरण

चार संज्ञानिर्वृत्ति[40]— १. आहारसंज्ञानिर्वृत्ति २. भयसंज्ञानिर्वृत्ति ३. मैथुनसंज्ञानिर्वृत्ति ४. परिग्रहसंज्ञानिर्वृत्ति

चौबीस दण्डकों में वैमानिक पर्यन्त जीवों में ये चारों संज्ञाकरण व संज्ञानिर्वृत्ति पाई जाती हैं।

चार गति व चौबीस दण्डकवर्ती जीवों में संज्ञा

सामान्य रूप से चार गति व चौबीस दण्डकवर्ती प्रत्येक जीव में दसों ही संज्ञाएँ पाई जाती हैं।[41] एकेन्द्रिय जीवों में ये संज्ञाएँ अव्यक्त रूप से रहती हैं और तीन विकलेन्द्रिय (द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय) में व्यक्ताव्यक्त रूप से दृष्टिगोचर होती हैं। जबकि पंचेन्द्रिय में ये स्पष्टतः देखी जाती हैं। प्रज्ञापना सूत्र के अष्टम पद में नारकादि पंचेन्द्रिय जीवों को लेकर संज्ञा का विचार किया गया है। बाह्य कारणों की अपेक्षा से सभी पंचेन्द्रिय जीवों में कम से कम एक संज्ञा प्रभूत मात्रा में होती है, जबकि आन्तरिक अनुभव रूप मनोभाव की अपेक्षा से वे चारों संज्ञाओं से युक्त होते हैं।

नारकों में संज्ञा विचार— दुःख की ज्वाला से संतप्त नारकों में सबसे अल्प मैथुन संज्ञा होती है। मैथुन संज्ञक नारकों से आहारसंज्ञक नारक अधिक हैं एवं परिग्रह संज्ञा इन दोनों से अधिक होती है।

भयसंज्ञा सर्वाधिक मात्रा में होती है।

तिर्यंच में संज्ञा विचार– परिग्रह संज्ञा युक्त तिर्यंच सबसे कम होते हैं। इनकी अपेक्षा मैथुन संज्ञा संख्यात गुणा अधिक होती है। सजातीय और विजातीय तिर्यंचों के भय के कारण भयसंज्ञाधारक तिर्यंच मैथुन संज्ञकों से संख्यात गुणा अधिक होते हैं। सर्वाधिक तिर्यंच आहारसंज्ञोपयुक्त होते हैं।

मनुष्य में संज्ञा विचार– मनुष्य में सबसे कम भयसंज्ञा, उससे संख्यातगुणा अधिक आहार संज्ञा एवं उन दोनों से संख्यात गुणा अधिक परिग्रह संज्ञा होती है। सबसे प्रभूत मात्रा में मैथुन संज्ञा पाई जाती है।

देवता में संज्ञा विचार– देवताओं में आहारसंज्ञा सबसे कम होती है। इसकी अपेक्षा भयसंज्ञा संख्यातगुणा अधिक होती है और उससे भी संख्यात गुणा अधिक मैथुनसंज्ञा होती है। परिग्रह संज्ञा सबसे अधिक होती है।

बाईसवां द्वार : इन्द्रिय-विवेचन

'इन्दतीति इन्द्र' इन्द्र शब्द का यह व्युत्पत्तिपरक अर्थ आध्यात्मिक क्षेत्र में 'आत्मा' का द्योतक है। कहा भी है-

इन्दः स्यात् परमैश्वर्ये धातोरस्य प्रयोगतः।
इन्दनात्परमैश्वर्यादिन्द्र आत्माभिधीयते।।[89]

आत्मा यद्यपि ज्ञ स्वभाव है तथापि कर्म के आवरण से हम स्वयं उसको जानने में असमर्थ होते हैं। उस इन्द्र (आत्मा) के अस्तित्व का ज्ञान कराने में जो लिंग निमित्त बनता है वह 'इन्द्रिय' कहलाता है।

तत्त्वार्थसूत्र के टीकाकार पूज्यपादाचार्य सर्वार्थसिद्धि[90] में 'इन्द्रिय' शब्द के तीन लक्षण करते हैं-

१. "तदावरणक्षयोपशमे सति स्वयमर्थान् ग्रहीतुमसमर्थस्य यदर्थोपलब्धिलिंगं तदिन्द्रस्य लिंगमिन्द्रियमित्युच्यते।" अर्थात् मतिज्ञानावरण के क्षयोपशम से आत्मा द्वारा पदार्थ को जानने में जो लिंग होता है, वह इन्द्र (आत्मा) का लिंग इन्द्रिय है।
२. 'अथवा लीनमर्थं गमयतीति लिंगम्।' अर्थात् जो लीन-गूढ़ पदार्थ का ज्ञान करवाता है उसे लिंग कहते हैं।
३. 'अथवा इन्द्र इति नामकर्मोच्यते। तेन सृष्टमिन्द्रियमिति।' इन्द्र शब्द नामकर्म का वाची है, अतः इन्द्र से रची गई इन्द्रिय होती है।

नेमिचन्द्रसिद्धान्तचक्रवर्ती ने भी इन्द्रिय शब्द की विविध निरुक्तियों का उल्लेख किया है[४६]-

1. **प्रत्यक्षनिरतानि इन्द्रियाणि**– अक्ष अर्थात् इन्द्रिय। अक्ष अक्ष के प्रति जो प्रवृत्त हो वह प्रत्यक्ष है। प्रत्यक्ष का अर्थ विषय और इन्द्रियजन्य ज्ञान है। अतः इन्द्रियजन्य ज्ञान में जो निरत अर्थात् व्यापार युक्त है, वह इन्द्रिय है।
2. **अर्यते इति अर्थः स्वार्थनिरतानीन्द्रियाणि**– अर्थात् जो जाना जाए वह अर्थ है। अपने अर्थ में जो निरत हैं वे इन्द्रियाँ हैं।
3. **इन्दनादाधिपत्यात् इन्द्रियाणि**– अर्थात् स्वामित्व के कारण इन्द्रियाँ हैं। स्पर्श, रस, गन्ध, रूप और शब्द सम्बन्धी ज्ञानावरण कर्मों के जो क्षयोपशम द्रव्येन्द्रिय के कारण हैं वे इन्द्रियाँ हैं।
4. **इन्द्रस्य आत्मनो लिंगं**– अर्थात् जो इन्द्र (आत्मा) का लिंग है वह इन्द्रिय है।
5. **यदि वा इन्द्रेण कर्मणा सृष्टं जुष्टं तथा दृष्टं दत्तं चेति तदिन्द्रियम्**– अथवा इन्द्र अर्थात् कर्म के द्वारा रची गयी है, सेवित है, दृष्ट अथवा दत्त है वह इन्द्रिय है। इस प्रकार इन्द्रियाँ कर्मविद्ध आत्मा की ही विविध प्रकार से अभिव्यक्तियाँ हैं।

इन्द्रिय भेद

'श्रोत्राक्षि-घ्राण-रसन-स्पर्शनानीति पंचधा'[४७] अर्थात् श्रोत्र, अक्षि, घ्राण, रसना और स्पर्शन ये पांच इन्द्रियाँ हैं। इन पाँचों इन्द्रियों के अवान्तर भेद भी हैं। पाँचों इन्द्रियाँ अन्वर्थ हैं और इनमें कर्तृसाधनता और करणसाधनता दोनों लक्षित होती हैं।[४९]

कर्तृसाधनता	करणसाधनता
१. स्पृशति इति स्पर्शनम्।	स्पृश्यते अनेन इति स्पर्शनम्।
२. रसतीति रसनम्।	रस्यते अनेन इति रसनम्।
३. जिघ्रतीति घ्राणम्।	जिघ्रति अनेन इति घ्राणम्।
४. चष्टे इति चक्षुः।	चष्टे अनेन इति चक्षुः।
५. शृणोतीति श्रोत्रम्।	श्रूयते अनेन इति श्रोत्रम्।

"जो स्पर्शादि करे या स्पर्श आदि गुण को विषय करे वह स्पर्शन आदि तथा जिसके द्वारा स्पर्शादि किया जाए या जिसके आश्रय से शीत, उष्ण आदि स्पर्शादि की पर्याय जानी जाए वह स्पर्शन आदि 'इन्द्रिय' कहलाती है" इस अपेक्षा से सभी इन्द्रियाँ अन्वयार्थक हैं।

ये पाँचों इन्द्रियाँ द्रव्येन्द्रिय और भावेन्द्रिय भेद से विभाजित होती हैं।[५२] द्रव्येन्द्रिय और भावेन्द्रिय दोनों क्रमशः निर्वृत्ति और उपकरण तथा लब्धि और उपयोग से अवान्तर भेदों वाली होती

हैं।[५३]

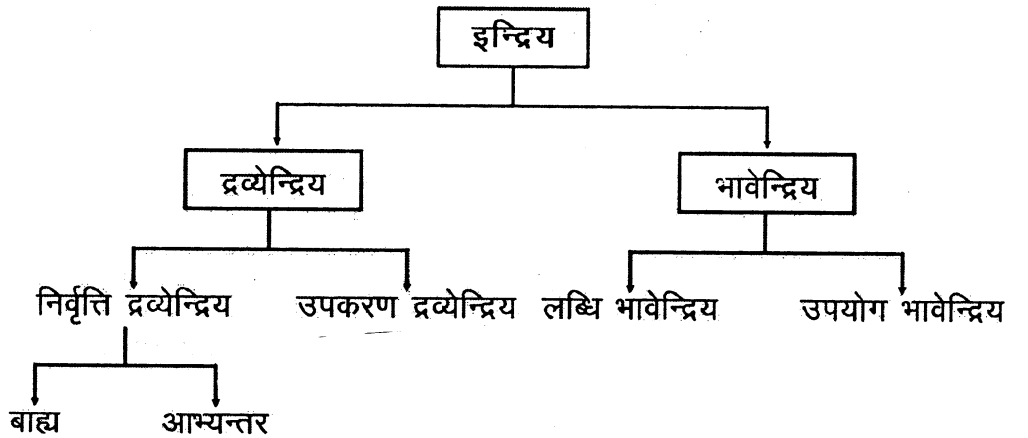

भावेन्द्रिय की सहायिका 'द्रव्येन्द्रिय' कहलाती है। द्रव्येन्द्रिय पुद्गलों से निर्मित होती है जबकि भावेन्द्रिय आत्मप्रदेशों से सम्बन्धित होती हैं।[५४] द्रव्येन्द्रियों के आधार पर ही जीवों का नामकरण होता है, भावेन्द्रियों के आधार पर नहीं। जाति-नाम कर्म और शरीर नाम-कर्म के उदय से पुद्गल द्रव्यों की रचना का नाम 'निर्वृत्ति द्रव्येन्द्रिय' है और उस पुद्गलस्कन्ध को अपने कार्य में प्रवृत्त करने वाली या उपयोग में सहायक बनने वाले तत्त्व को 'उपकरण द्रव्येन्द्रिय' कहते हैं।[५५] निर्वृत्ति द्रव्येन्द्रिय के भी बाह्य और आभ्यन्तर दो अवान्तर भेद हैं। स्थूल पुद्गल रचना बाह्य निर्वृत्ति एवं सूक्ष्म पुद्गल रचना आभ्यन्तर निर्वृत्ति द्रव्येन्द्रिय होती है।[५६]

आत्मा के परिणाम को भाव कहते हैं उन भावों को ग्रहण करने वाली इन्द्रिय 'भावेन्द्रिय' कहलाती है। मतिज्ञानावरण के क्षयोपशम से उत्पन्न हुई विशुद्धि जो जीव की अर्थ ग्राहकता शक्ति है उसे 'लब्धि भावेन्द्रिय' कहते हैं और अर्थ ग्रहण करने के व्यापार को 'उपयोग भावेन्द्रिय कहते हैं।[५७]

'श्रोत्रादि पाँच इन्द्रियों के शब्द, स्पर्श, रस, गंध और वर्ण रूप प्रतिनियत विषयों को ग्रहण करने वाला मतिज्ञान और श्रुतज्ञान का व्यापार उपयोगभावेन्द्रिय है। यहाँ मतिज्ञान और श्रुतज्ञान के कथन से अतीन्द्रिय अवधिज्ञान, मनःपर्यवज्ञान और केवलज्ञान का तत्त्वार्थभाष्यकार निषेध करते हैं क्योंकि अतीन्द्रिय ज्ञान इन्द्रियों की अपेक्षा से उत्पन्न नहीं होते हैं। विज्ञान रूप और अनुभव रूप से उपयोग द्विविध होता है। घटादि पदार्थों की उपलब्धि को विज्ञान रूप और सुखदुःखादि के वेदन को अनुभव रूप कहते हैं। यह उपयोग पांचों इन्द्रियों से होता है, परन्तु एक समय में एक ही इन्द्रिय द्वारा उपयोग होता है। उपयोग की गति अति सूक्ष्म होने से विषय का ज्ञान पांचों इन्द्रियों से एक ही समय में होता हुआ प्रतीत होता है, परन्तु वास्तव में उनका समय भिन्न-भिन्न है।

इन्द्रिय प्रवृत्ति क्रम

निर्वृत्ति, उपकरण, लब्धि और उपयोग इन्द्रियाँ क्रम पूर्वक अर्थबोध करती हैं। निर्वृत्ति के बिना उपकरण की रचना नहीं हो सकती और उपकरण के बिना उपयोग की प्रवृत्ति नहीं हो सकती। इसी प्रकार लब्धि के बिना निर्वृत्ति, उपकरण और उपयोग प्रवृत्त नहीं होते हैं। तत्तद् इन्द्रिय नामकर्म के बिना इन्द्रियों के आकार की रचना नहीं हो सकती और मतिज्ञानावरण के क्षयोपशम के बिना ज्ञान अपने-अपने विषय में प्रवृत्त नहीं होता। अतएव इन चारों के समूह की इन्द्रिय संज्ञा होती है, इनमें से अन्यतम की नहीं। चारों में से एक के भी बिना विषय का ग्रहण नहीं हो सकता।[५८] उपाध्याय विनयविजय का भी इस विषय में स्पष्ट मत मिलता है कि आभ्यन्तर निर्वृत्ति के सद्भाव होने पर भी उपकरणेन्द्रिय द्रव्यादि द्वारा पराघात होने से अर्थज्ञान में बाधा उत्पन्न होती है।[५९]

इन्द्रिय आकार और अवगाहना मान

इन्द्रिय के आकारों की भिन्न-भिन्न उपमाएँ जैन ग्रन्थों में मिलती हैं, जो इस प्रकार है[६०]-

कर्णेन्द्रिय– दो कदम्ब पुष्प के समान गोलाकार।

चक्षुरिन्द्रिय– मसूर नामक अनाज के समान।

नासिका– अतिमुक्तक पुष्प समान और काहल नामक बाजे समान।

जिह्वा– क्षुर अस्त्र के समान।

स्पर्शनेन्द्रिय– अनेक आकार वाली।

चक्षुइन्द्रिय की अवगाहना सबसे कम संख्यात गुणा है। उससे संख्यातगुणा अधिक प्रमाण अवगाहना श्रोत्रेन्द्रिय की, उससे घ्राणेन्द्रिय की, उससे अधिक रसनेन्द्रिय की असंख्यातगुणा और स्पर्शनेन्द्रिय की सर्वाधिक अवगाहना है।[६१]

श्रोत्र, चक्षु और घ्राण इन्द्रिय की चौड़ाई एक अंगुल के असंख्यातवें भाग प्रमाण, जिह्वा इन्द्रिय की चौड़ाई पृथक्त्व अंगुल (दो से नौ अंगुल) प्रमाण और स्पर्शन इन्द्रिय की चौड़ाई अपने अपने शरीर प्रमाण होती है।[६२]

इन्द्रियों द्वारा विषय ग्रहण

उत्कृष्टतया श्रोत्रेन्द्रिय बारह योजन दूर से आए शब्द का श्रवण कर सकती है, चक्षुइन्द्रिय एक लाख योजन से कुछ अधिक दूर पदार्थ का स्वरूप देख सकती है, शेष इन्द्रियाँ घ्राण, जिह्वा और स्पर्शन इन्द्रियाँ नौ योजन दूर से आए विषय को ग्रहण कर सकती हैं।[६३]

चक्षुइन्द्रिय के अतिरिक्त शेष चारों इन्द्रियाँ जघन्यतः अंगुल के असंख्यातवें भाग जितनी दूर

से अपने-अपने विषय को ग्रहण करती हैं और चक्षु स्वयं अंगुल के संख्यातवें भाग जितनी दूर से अपना विषय ग्रहण करती है।[६४]

शब्द श्रोत्रइन्द्रिय से स्पृष्ट होकर सुना जाता है, रूप के स्पृष्ट बिना चक्षुइन्द्रिय उसका ग्रहण करती है और घ्राण-रसना-स्पर्शन इन्द्रिय गंध-रस-स्पर्श के बद्धस्पृष्ट होने पर उनका बोध करती है।[६५] यहाँ स्पृष्टता से तात्पर्य रज के समान शरीर पर चिपकना है और बद्धस्पृष्ट अर्थात् आत्मप्रदेश रूप हो जाना है।[६६]

जैन दर्शन में चक्षुइन्द्रिय को अप्राप्यकारी और श्रोत्र, घ्राण, रसना व जिह्वा को प्राप्यकारी माना जाता है। यदि चक्षुइन्द्रिय प्राप्यकारी होती तो स्पर्शनेन्द्रिय के समान अपने आँखों में लगे हुए अंजन को जान लेती, परन्तु वह नहीं जानती अतः मन के समान चक्षु अप्राप्यकारी है। बौद्ध दार्शनिक चक्षु और श्रोत्र दोनों इन्द्रियों को अप्राप्यकारी स्वीकार करते हैं।

चक्षु से भिन्न चारों इन्द्रियों में प्राप्यकारिता की योग्यता समान होते हुए भी स्पृष्टता और बद्ध स्पृष्टता की अपेक्षा से भेद है। यह भेद इन्द्रियों की विशेष सामर्थ्य शक्ति के कारण है। स्पर्शात्मक, रसात्मक और गंधात्मक पदार्थ शब्दात्मक पदार्थ से अल्प और बादर हैं तथा स्पर्शनेन्द्रिय, घ्राणेन्द्रिय व रसना इन्द्रिय ये तीनों श्रोत्रेन्द्रिय की अपेक्षा मंद शक्ति वाली हैं। अतः वे बद्धस्पृष्ट विषय का ग्रहण करती हैं। शब्दसमूह बहुत सूक्ष्म होने से केवल स्पृष्ट होकर ही श्रोत्रेन्द्रिय द्वारा ग्रहण किया जाता है।

एकेन्द्रियादि जीवों में इन्द्रिय

जीवों के वर्गीकरण का एक आधार इन्द्रिय है। द्रव्येन्द्रिय के आश्रय से उनका नामकरण किया जाता है। द्रव्येन्द्रियों की संख्या पर भावेन्द्रियों की संख्या निर्धारित होती है। सूक्ष्म और बादर एकेन्द्रिय[६७] जीवों में मात्र स्पर्शन इन्द्रिय, द्वीन्द्रिय[६८] में स्पर्श और जिह्वा दो इन्द्रिय, त्रीन्द्रिय[६९] जीवों में तीन स्पर्शन, जिह्वा और घ्राण इन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय[७०] जीवों में पूर्व की तीन और चक्षु इन्द्रिय कुल चार इन्द्रिय होती हैं। सम्मूर्च्छिम और गर्भज तिर्यंच पंचेन्द्रिय[७१] तथा गर्भज और सम्मूर्च्छिम मनुष्य[७२], देव[७३] तथा नारकी[७४] सभी में सम्पूर्ण इन्द्रियाँ होती है।

इन्द्रिययुक्त जीवों की संख्या

मन इन्द्रिय वाले सबसे अल्प जीव, इससे असंख्य गुणा श्रोत्रइन्द्रिय वाले जीव हैं। इससे चक्षुइन्द्रिय वाले, घ्राणइन्द्रिय वाले और रसनाइन्द्रिय वाले अनुक्रम से अधिकाधिक हैं। अनन्तगुण इन्द्रिय रहित सिद्ध जीव और इनसे अनन्त गुणा स्पर्शनेन्द्रिय वाले जीव हैं।[७५]

तैईसवां द्वार : संज्ञी विषयक विचार

संज्ञी का कथन लोकप्रकाशकार ने २३वें 'संज्ञित' द्वार में किया है। संज्ञा को धारण करने वाले संज्ञी कहलाते हैं।[४२] संज्ञा शब्द से नाम, इच्छा, सम्यग्ज्ञान आदि कई अर्थों का ग्रहण होता है। मनः पर्याप्ति और पाँच इन्द्रिय रूप संज्ञा के सद्भाव वाला जीव संज्ञी होता है। विशेषावश्यक सूत्रानुसार प्रकट, चैतन्यवान् और कर्म क्षयोपशम से उत्पन्न हुई आहारादि संज्ञा से युक्त जीव संज्ञी कहलाता है।[४३] उमास्वाति[४४] समनस्क को संज्ञी मानते हैं और उपाध्याय विनयविजय[४५] दीर्घकालिक संज्ञा युक्त जीव को संज्ञी स्वीकारते हैं। दोनों के कथन में साम्य है, क्योंकि दीर्घकालिकी संज्ञा मन वाले जीवों को होती है। हेय-उपादेय की विवेक-शक्ति मन सहित जीवों में होती है। अतएव ईहा-अपोह की अपेक्षा से गुण-दोषों के विवेक रूप संज्ञा को धारण करने वाले 'संज्ञी' कहलाते हैं, शेष सभी असंज्ञी होते हैं।

देव, नारकी और मनुष्य सब समनस्क(संज्ञी) होते हैं और तिर्यंच समनस्क तथा अमनस्क द्विविध होते हैं, शेष सभी एकेन्द्रिय विकलेन्द्रियादि जीव असंज्ञी होते हैं।[४६]

चौबीसवां द्वार : वेद विषयक अवधारणा

जैन दार्शनिक मोहनीय कर्म के अन्तर्गत तीन वेद (स्त्री, पुरुष एवं नपुंसक) स्वीकार करते हैं। अतः इस परिप्रेक्ष्य में वे 'विद्+घञ्' से निष्पन्न 'वेद' शब्द का अर्थ जानना नहीं करके अनुभव अथवा भोग करना करते हैं। सर्वार्थसिद्धिकार और षट्खण्डागम धवलाटीकाकार के अनुसार जो वेदा जाए अथवा जिसका अनुभव किया जाए उसे वेद कहते हैं और इसी का द्रव्य अपेक्षा से दूसरा नाम लिंग है-

'वेद्यत इति वेदः लिंगमित्यर्थः।'[७६]

पंचसंग्रहकार[७७] के अनुसार वेदकर्म की उदीरणा होने पर यह जीव नाना प्रकार के चांचल्यभाव को प्राप्त होता है और स्त्रीभाव, पुरुषभाव एवं नपुंसकभाव का वेदन करता है। अतएव वेदकर्म के उदय से होने वाले भाव को वेद कहा जाता है। धवलाटीकाकार[७८] भी एक और ऐसा ही अर्थ करते हैं कि आत्मा की चैतन्यरूप पर्याय में मैथुन रूप चित्तविक्षेप का उत्पन्न होना वेद कहलाता है। मोहनीय कर्म के उदय से यह मैथुन भाव उत्पन्न होता है। स्त्रीवेद, पुरुषवेद एवं नपुंसकवेद के भेद से वेद तीन प्रकार के होते हैं-

'वेदस्त्रिधा स्यात्पुंवेदः स्त्रीवेदश्च तथापरः।'[७९]

ये तीनों वेद निश्चय से द्रव्य और भाव की अपेक्षा से दो प्रकार के होते हैं। नामकर्म के उदय से योनि आदि बाह्यलिंग द्रव्य रूप वेद है और नोकषायचारित्र-मोहनीय के उदय से स्त्री-पुरुष आदि

से मैथुन की अभिलाषा भावरूप वेद है।

स्त्री द्वारा पुरुष की अभिलाषा करना स्त्रीवेद है, पुरुष द्वारा स्त्री की अभिलाषा करना पुरुषवेद है और स्त्री-पुरुष दोनों की अभिलाषा करना नपुंसकवेद होता है।[८०]

द्रव्य और भाव की अपेक्षा सभी जीव तीनों वेद वाले होते हैं और यथाक्रम से विपरीत वेदवाले भी सम्भव हैं। अर्थात् कभी द्रव्य से पुरुष होता हुआ भी भाव से स्त्री और कभी द्रव्य से स्त्री होता हुआ भी भाव से पुरुष हो सकता है। द्रव्यवेद और भाववेद प्रायः देव, नारकियों और अकर्मभूमिज मनुष्य व तिर्यंचों में समान होते हैं। अर्थात् यदि द्रव्य से पुरुष है तो भाव से भी पुरुषवेद होगा तथा यदि द्रव्य से स्त्री है तो भाव से भी स्त्रीवेद ही होगा। परन्तु कर्मभूमिज मनुष्य और तिर्यंच इन दो गतियों में वेदों की विषमता होती है। अर्थात् द्रव्यवेद से पुरुष होकर भाववेद से पुरुष, स्त्री एवं नपुंसक तीनों प्रकार का हो सकता है। इसी प्रकार द्रव्य से स्त्री और भाव से स्त्री, पुरुष एवं नपुंसक तथा द्रव्य से नपुंसक वेद और भाव से पुरुष, स्त्री एवं नपुंसक हो सकता है। इस प्रकार की विसदृशता होने से कर्मभूमि में द्रव्य और भाव वेद का कोई नियम नहीं है।[८१]

लोकप्रकाशकार ने तीनों वेदों को उपमा देकर उपमित किया है कि पुरुषवेद तृण की अग्नि के समान है, स्त्रीवेद गोबर के कंडे की अग्नि के समान है और नपुंसकवेद नगर दाह की अग्नि के समान होता है- 'तृणफुंफुमकद्रंगज्वलनोपमिता इमे।'[८२]

एकेन्द्रियादि जीवों में वेद- सूक्ष्म एकेन्द्रिय[८३] जीवों में नपुसंकवेद अप्रकट रूप में होता है और बादर एकेन्द्रिय[८४] जीवों में कामवासना नपुंसकवेद के रूप में होती है। इसी प्रकार तीन विकलेन्द्रियों[८५], सम्मूर्च्छिम तिर्यंचपंचेन्द्रिय[८६], सम्मूर्च्छिम मनुष्य[८७] एवं समस्त नारकी[८८] जीवों में नपुंसकवेद होता है। देवों[८९] में स्त्रीवेद और पुरुषवेद होता है। गर्भजतिर्यंचपंचेन्द्रिय[९०] और गर्भज मनुष्य[९१] में तीनों वेद होते हैं। असंख्यात आयुष्य वाले (अर्थात् युगलिक मनुष्य) मनुष्य को पुरुषवेद और स्त्रीवेद ये दो वेद ही होते हैं।[९२] गर्भज मनुष्य अवेदी भी हो सकता है अर्थात् कामवासना का क्षय मात्र गर्भज मनुष्य में ही होता है।

अल्पबहुत्व- संख्या की अपेक्षा से सबसे अल्प पुरुषवेद जीव, उससे संख्यातगुणा स्त्रीवेद जीव, इससे अनन्तगुणा अवेदी सिद्ध जीव और इससे अनन्त गुणा अधिक नपुंसकवेद जीव एवं सबसे अधिक सवेदी जीव है।[९३]

स्थिति- पुरुषवेद की कायस्थिति जघन्यतः अन्तर्मुहूर्त्त और उत्कृष्ट दो सौ सागरोपम से लेकर नौ सौ सागरोपम है। स्त्रीत्व की कायस्थिति जघन्य एक समय और उत्कृष्ट चौदह पल्योपम या अठारह

पल्योपम है। किसी अपेक्षा से जघन्य स्थिति एक सौ दस या एक सौ है तथा उत्कृष्ट स्थिति दो से लेकर नौ पल्योपम तक है।[६४]

पच्चीसवां द्वार : दृष्टि-विमर्श

जगत् में दृश्य पदार्थों को देखने पर उनके प्रति जो समझ अथवा विवेकबुद्धि या अविवेक बुद्धि उत्पन्न होती है वह दृष्टि है। यह दृष्टि कर्म पुद्गलों के आवरण से कभी मिथ्या बन जाती है, उसके क्षयोपशम से मिश्र स्वरूपा बन जाती है तथा उसके क्षय से सम्यक् स्वरूपा बन जाती है। अतः दृष्टि त्रिविधा कही गई है[६५]- सम्यग्दृष्टि, मिथ्यादृष्टि और मिश्रदृष्टि।

सम्यग्दृष्टि का तात्पर्य है जो वस्तु जिस रूप में है उसे ठीक उसी रूप में समझना अर्थात् अच्छे को अच्छा और बुरे को बुरा समझना। रात को रात और दिन को दिन समझना। इसी तरह समझता हुआ जीव जिस दिन बुराई को बुराई समझ लेगा तब वह सम्यग्दृष्टि बन जायेगा। लोकप्रकाशकार कहते हैं-

जिनोक्तादविपर्यस्ता सम्यग्दृष्टिर्निगद्यते।
सम्यकत्वशालिनां सा स्यात्तच्चैवं जायतेंऽगिनाम्।।[६६]

अर्थात् जिन भगवन्तों के वचनानुसार, जरा भी विपरीत आचरण नहीं करने वाला सम्यग्दृष्टि कहलाता है।

मिथ्यादृष्टि से तात्पर्य है यथार्थ वस्तु को अयथार्थ समझना। अर्थात् अच्छे को बुरा समझना और बुरे को अच्छा समझना। उपाध्याय विनयविजय मिथ्यादृष्टि के सम्बन्ध में कहते हैं-

मिथ्यादृष्टिर्विपर्यस्ता जिनोक्ताद्वस्तुतत्त्वतः।
सा स्यान्मिथ्यात्विनां तच्च मिथ्यात्वं पंचधा मतम्।।[६७]

अर्थात् जिन भगवन्त द्वारा कथित वस्तु स्वरूप से विपरीत रूप में आचरण करना मिथ्यादृष्टि है।

जिनोक्त तत्त्वों में रुचि और अरुचि दोनों भावों का न होना अर्थात् तत्त्वज्ञान को सम्यक् न समझना और असम्यक् भी न समझना, यह दृष्टि मिश्र दृष्टि कहलाती है। उपाध्याय विनयविजय के अनुसार जिनोक्त तत्त्वों में राग-द्वेष भाव का न होना मिश्रदृष्टि है। मिश्रदृष्टि को एक उदाहरण से स्पष्ट करते हैं कि जैसे नारियल की अधिकता वाले द्वीप में रहने वाले को अनाज के प्रति राग अथवा द्वेष नहीं होता है, ठीक उसी प्रकार तत्त्व के प्रति राग-द्वेष का भाव न रहना ही मिश्र दृष्टि कहलाती है[६८]-

सम्यग्दृष्टि सम्यक्त्वधारी प्राणियों को और मिथ्यादृष्टि मिथ्यात्वी को होती है। सम्यग्दृष्टि

सम्यक्त्वी जीव में होती है तो सम्यक्त्व क्या है?अतः सम्यक्त्व का स्वरूप इस प्रकार है- वस्तु का यथार्थ स्वरूप पर श्रद्धान करना सम्यक्त्व है। यह सम्यक्त्व व्यवहार और निश्चय भेद से दो प्रकार का[९९], कारक, रोचक व दीपक भेद से तीन प्रकार का[१००]; क्षायिक, औपशमिक, क्षायोपशमिक एवं सास्वादन भेद से चार प्रकार का[१०१] तथा पूर्वोक्त चार के साथ वेदक को जोड़ने पर सम्यक्त्व पांच प्रकार[१०२] का होता है।

(1) व्यवहार सम्यक्त्व– सुदेव, सुगुरु और सुमार्ग को स्वीकार करना, श्रद्धा करना व्यवहार सम्यक्त्व है।

(2) निश्चय सम्यक्त्व– निश्चय में आत्मा की अनुभूति अर्थात् जड़ चेतन का भेद ज्ञान होना सम्यग्दर्शन है।

(3) कारक सम्यक्त्व– जिनेश्वर द्वारा उपदिष्ट क्रियाओं का आचरण करना कारक सम्यक्त्व है।

(4) रोचक सम्यक्त्व– जिनोक्त क्रियाओं के आचरण में रुचि रखना रोचक सम्यक्त्व है।

(5) दीपक सम्यक्त्व– जिनोक्त क्रियाओं के आचरण से होने वाले लाभों को प्रकट करना दीपक सम्यक्त्व है।

(6) क्षायिक सम्यक्त्व– सम्यक्त्वमोहनीय, मिथ्यात्वमोहनीय एवं मिश्रमोहनीय, इन तीन प्रकृतियों और अनन्तानुबंधी क्रोध, मान, माया एवं लोभ इन दर्शन सप्तक के क्षय होने पर आत्मा का परिणाम विशेष क्षायिक सम्यक्त्व कहलाता है।

(7) उपशम सम्यक्त्व– दर्शनमोहनीय के दर्शन सप्तक के उपशम से आत्मा में जो परिणाम होता है उसे उपशम सम्यक्त्व कहते हैं। यह सम्यक्त्व प्रतिपाती गुणस्थान तक होता है।

(8) क्षयोपशम सम्यक्त्व– मिथ्यात्वमोहनीय कर्म के क्षय तथा उपशम से और सम्यक्त्व मोहनीय कर्म के उदय से आत्मा में जो परिणाम होता है उसे क्षायोपशमिक सम्यक्त्व कहते हैं।

(9) सास्वादन सम्यक्त्व– उपशम सम्यक्त्व से च्युत होकर मिथ्यात्व के अभिमुख हुआ जीव, जब तक मिथ्यात्व को प्राप्त नहीं करता तब तक उसके परिणाम विशेष को सास्वादन अथवा सासादन सम्यक्त्व कहते हैं।

(10) वेदक सम्यक्त्व– क्षायोपशमिक सम्यक्त्व वाला जीव जब सम्यक्त्वमोहनीय के अन्तिम पुद्गल के रस का अनुभव करता है उस समय के परिणाम विशेष को वेदक सम्यक्त्व कहते हैं। वेदक सम्यक्त्व के बाद क्षायिक सम्यक्त्व ही प्राप्त होता है।

उपशम और सास्वादन सम्यक्त्व जीव को उत्कृष्टतः पांच बार, वेदक सम्यक्त्व एक बार और क्षयोपशम सम्यक्त्व असंख्यात बार उत्पन्न होता है।

मिथ्यात्व भेद

अतत्त्वश्रद्धान रूप मिथ्यात्व के पांच भेद हैं[१०३]- आभिग्राहिक, अनाभिग्राहिक, आभिनिवेशिक, सांशयिक और अनाभोगिक। प्रतिपक्ष से निरपेक्ष एकान्त अभिप्राय को स्वीकार करने वाला आभिग्राहिक मिथ्यात्व है।[१०४] अहिंसादि लक्षणवाले समीचीन धर्म और असमीचीन धर्म दोनों में मध्यस्थता स्वीकार करना अनाभिग्राहिक मिथ्यात्व है।[१०५] सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र की उपेक्षा करके पूजा आदि रूप विनय के द्वारा ही मुक्ति मानना और कुदर्शन में आसक्ति आभिनिवेशिक मिथ्यात्व है।[१०६] जिनेश्वर प्रणीत तत्त्वों में संशय करना सांशयिक मिथ्यात्व[१०७] और ज्ञानावरण व दर्शनावरण कर्मोदय से अज्ञानमूलक श्रद्धान अनाभोगिक मिथ्यात्व[१०८] कहलाता है।

सम्यक्मिथ्यादृष्टि जीव जगत् में सबसे अल्प, इनसे अनन्त गुना अधिक सम्यक्दृष्टि जीव और सम्यग्दृष्टि जीव से भी अनन्तगुना अधिक मिथ्यादृष्टि जीव हैं।[१०९]

संक्लिष्ट परिणाम वाले सूक्ष्म और बादर एकेन्द्रिय जीव मिथ्यादृष्टि होते हैं।[११०] विकलेन्द्रिय जीव पर्याप्त अवस्था में मिथ्यादृष्टि ही होते हैं, परन्तु सासादन समकित शेष रहने की स्थिति में मृत्यु प्राप्त कर विकलेन्द्रिय गति में आया जीव अपर्याप्तावस्था में सम्यग्दृष्टि भी हो सकता है।[१११] सम्मूर्च्छिम तिर्यंच पंचेन्द्रिय को सम्यक् दृष्टि और मिथ्यादृष्टि होती है और गर्भज को तीनों दृष्टियाँ होती हैं। सम्यक्दृष्टि तिर्यंच पंचेन्द्रिय देशविरति और अविरति हो सकते हैं, सर्वविरति नहीं।[११२] सम्मूर्च्छिम मनुष्य[११३] मिथ्यादृष्टि होते हैं और गर्भज मनुष्य[११४], देव[११५] एवं नारकी[११६] तीनों दृष्टियों के धारक होते हैं।

छब्बीसवां द्वार : ज्ञान-विवेचन

ज्ञान का अर्थ है जानना। दर्शन द्वारा जिन जीवादि तत्त्वों में श्रद्धान उत्पन्न हुआ है उनका विधिवत् यथार्थ बोध करना ही ज्ञान है। यही सम्यक् ज्ञान है। दर्शन और ज्ञान में सूक्ष्म भेद यह है कि दर्शन का क्षेत्र है अन्तरंग और ज्ञान का क्षेत्र है बहिरंग। दर्शन आत्मा की सत्ता का भान कराता है और ज्ञान बाह्य पदार्थों का बोध उत्पन्न करता है। दोनों में परस्पर सम्बन्ध कारण और कार्य का है। जब तक आत्मावधान नहीं होगा तब तक बाह्य पदार्थों का इन्द्रियों से सन्निकर्ष होने पर भी बोध नहीं हो सकता। अतएव उमास्वाति ने मोक्षमार्ग के साधनों में दर्शन को ज्ञान से पूर्व रखा है- 'सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः।'[११७]

जानने की क्रिया कभी इन्द्रिय और मन के माध्यम से होती है और कभी सीधी आत्मा से होती है। इस आधार पर सीधा आत्मा से होने वाला ज्ञान प्रत्यक्ष ज्ञान तथा इन्द्रियादि की सहायता से

होने वाला ज्ञान परोक्षज्ञान कहलाता है। न्याय-व्यवस्था के अनुसार ज्ञान इन दो रूपों में प्रतिष्ठित होता है और स्वरूपगत भेद के आधार पर ज्ञान के पांच प्रकार प्रतिपादित हैं[११८]- मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्यवज्ञान और केवलज्ञान। इन पांच ज्ञानों में प्रथम दो को परोक्ष और शेष तीन को प्रत्यक्ष कहते हैं।[११९] ज्ञान के स्वरूपगत भेद का वर्णन इस प्रकार है-

1. मतिज्ञान

मतिज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम से और इन्द्रिय तथा मन के द्वारा पदार्थों को जानना 'मतिज्ञान' कहलाता है।[१२०] ज्ञेयपदार्थ और इन्द्रिय विशेष का सन्निकर्ष होने पर मन की सहायता से जो वस्तुबोध उत्पन्न होता है वह मतिज्ञान है। पदार्थों का यह ज्ञान चार प्रकार से होता है- अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा। कहा भी है-

अवग्रहेहावायाख्या धारणा चेति तीर्थपैः।
मतिज्ञानस्य चत्वारो मूलभेदाः प्रकीर्तिताः।।[१२१]

अवग्रह— किसी भी पदार्थ के स्वरूपमात्र के ग्रहण अर्थात् दर्शन के पश्चात् इन्द्रियों के द्वारा यथायोग्य विषयों का अव्यक्त रूप से जो आलोचनात्मक ग्रहण होता है वह अवग्रह कहलाता है।[१२२] यथा- सामान्य अवबोध 'यह कुछ है' के पश्चात् होने वाला ज्ञान। अवग्रह, ग्रहण, आलोचन और अवधारण ये सभी एकार्थक शब्द हैं। अर्थावग्रह और व्यंजनावग्रह ये अवग्रह के दो प्रकार हैं।

अव्यक्त शब्दादि का समूह व्यंजन होता है। अतः अव्यक्त पदार्थ का ग्रहण व्यंजनावग्रह कहलाता है।[१२३] अव्यक्त के ग्रहण के अनन्तर ईहा, अवाय व धारणा मतिज्ञान नहीं होते हैं। व्यंजनावग्रह के अनन्तर मात्र अर्थावग्रह मतिज्ञान ही होता है।[१२४] अप्राप्त अर्थात् अस्पृष्ट पदार्थ को ग्रहण न करने के कारण व्यंजनावग्रह अप्राप्यकारी चक्षुइन्द्रिय और मन से नहीं होता है जबकि अर्थावग्रह प्राप्त और अप्राप्त दोनों के ग्रहण करने से पांचों इन्द्रियों एवं मन से होता है।[१२५]

ईहा— अवग्रह के द्वारा पदार्थ के एक देश का ग्रहण करने के पश्चात् उसके शेष अंश को जानने के लिए या निश्चय करने के लिए की गई चेष्टा विशेष ईहा होती है।[१२६] यथा- 'यदि वह वस्तु श्वेत है तो श्वेत ध्वजा होनी चाहिए' यह जिज्ञासा ईहा है। ईहा, तर्क, परीक्षा, विचारणा और जिज्ञासा ये सभी शब्द पर्यायवाची हैं।

अवाय— अवग्रह और ईहा के द्वारा जाने गए पदार्थ के विषय में सम्यक्-असम्यक् का विचार करने की निश्चयात्मक ज्ञान की प्रवृत्ति अवाय कहलाती है।[१२७] जैसे 'वह श्वेत वस्तु ध्वजा ही है' यह अवाय मतिज्ञान है। अवाय, अपगम, अपनोद, अपव्याध, अपेत, अपगत, अपविद्ध और अपनुत्त ये सभी शब्द एकार्थक हैं।

धारणा– अवग्रह, ईहा और अवाय द्वारा प्राप्त बोध को स्मृति में रखना और विस्मृत न होने देना धारणा मतिज्ञान है।[१२८] प्रतिपत्ति, अवधारण, अवस्थान, निश्चय, अवगम और अवबोध ये सभी शब्द धारणा के पर्यायवाची हैं।

अवग्रह ज्ञान एक समय के लिए होता है, ईहा ज्ञान और अवाय ज्ञान अन्तर्मुहूर्त्त के लिए तथा धारणा ज्ञान संख्यात और असंख्यात समय के लिए होता है।[१२९]

मतिज्ञान के भेद– अर्थावग्रह, ईहा, अवाय और धारणा मतिज्ञान पांच इन्द्रियों और मन से होता है अतः इन छह से गुणा करने पर मतिज्ञान के २४ भेद होते हैं। व्यंजनावग्रह मतिज्ञान चक्षुरिन्द्रिय के अतिरिक्त चार इन्द्रियों से होता है। अतः इसके चार भेद मिलाने पर २८ भेद होते हैं। इन २८ भेदों के बहु-बहुविधादि बारह-बारह उपभेद होते हैं। इस प्रकार मतिज्ञान के ३३६ (२८ ग १२) भेद होते हैं और औत्पत्तिकी, वैनयिकी, कार्मिकी और पारिणामिकी इन चार प्रकार की बुद्धियों को मिलाने पर मतिज्ञान के ३४० भेद होते हैं।

मतिज्ञान के भेद–प्रभेद

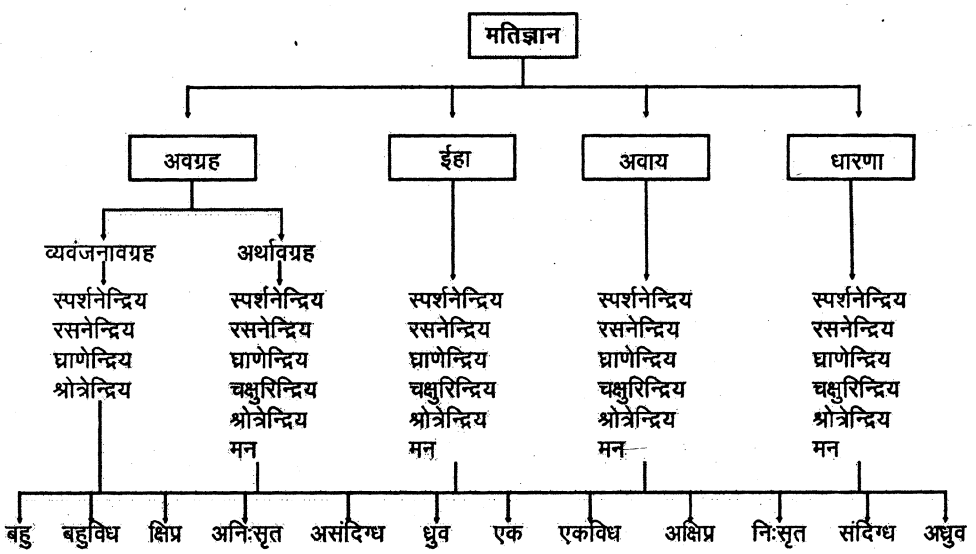

2. श्रुतज्ञान–

मतिज्ञानपूर्वक उत्पन्न होने वाला ज्ञान श्रुतज्ञान है। मति और श्रुत इन दोनों में कारणकार्य भाव पाया जाता है। मतिज्ञान के आश्रय से युक्ति, तर्क अनुमान व शब्दार्थ द्वारा जो परोक्ष पदार्थों का ज्ञान होता है, वह श्रुतज्ञान है। यथा धूम को देखकर अग्नि के अस्तित्व की, शास्त्र को पढ़कर तत्त्वों की, लोक-परलोक की, आत्मा-परमात्मा आदि की जानकारी, यह सब श्रुतज्ञान है। इसकी उत्पत्ति

का अन्तरंग कारण श्रुतज्ञानावरण और वीर्यान्तराय का क्षयोपशम है। शब्द या संकेत इसमें निमित्त मात्र होता है। वस्तुतः ज्ञान तो आत्मा में ही प्रकट होता है। इस दृष्टि से जीव ही श्रुत है, परन्तु श्रुतज्ञान का कारणभूत शब्द उपचार से श्रुतज्ञान कहलाता है।

श्रुतज्ञान श्रोत्रेन्द्रिय निमित्त रूप है फिर भी वह मतिज्ञान से भिन्न है, क्योंकि मतिज्ञान वर्तमान कालवर्ती एवं स्थूल विषय को ग्रहण करता है जबकि श्रुतज्ञान त्रिकालविषयक है और सूक्ष्म अर्थ को ग्रहण करता है। श्रुतज्ञान मतिज्ञान से अत्यधिक विस्तृत एवं विशुद्ध है।[१३०]

श्रुतज्ञान के भेदविषयक अनेक मत सम्प्राप्त होते हैं। अनुयोगद्वारसूत्र में नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव के भेद से श्रुतज्ञान चार प्रकार का कहा गया है। नन्दीसूत्र में इस ज्ञान के १४ भेदों का वर्णन समुपलब्ध होता है। श्रुतज्ञान के दो भेद- द्रव्यश्रुत और भावश्रुत भी कहे गए हैं। लोकप्रकाशकार ने आगम सम्मत १४ भेदों के वर्णन के साथ श्रुतज्ञान के अन्य बीस भेदों का भी उल्लेख किया है।[१३१] चौदह भेद नामोल्लेख सहित इस प्रकार हैं-

वर्णों के निमित्त से उत्पन्न श्रुतज्ञान अक्षरश्रुतज्ञान कहलाता है। यह संज्ञा, व्यंजन और लब्ध्यक्षर के भेद से तीन प्रकार का है।[१३२] उच्च श्वासोच्छ्वास, थूकना, खांसना, छींकना आदि अवर्णात्मक संकेतों से उत्पन्न श्रुतज्ञान अनक्षरश्रुतज्ञान होता है।[१३३] दीर्घकालिकी संज्ञा से युक्त संज्ञी का श्रुतज्ञान संज्ञिश्रुत है। संज्ञिश्रुत से भिन्न असंज्ञी जीवों में होने वाला श्रुतज्ञान असंज्ञिश्रुत कहलाता है। सर्वज्ञ और अर्हत् द्वारा उपदिष्ट द्वादशांग रूप गणिपिटक सम्यक् श्रुत कहलाता है और मिथ्यादृष्टि एवं अज्ञानियों द्वारा विपरीत बुद्धि से कल्पित ग्रन्थ मिथ्याश्रुत कहलाता है। यह भेद वक्ता की विशिष्टता के आधार पर किए गए हैं।[१३४] श्रुतज्ञान द्रव्य अपेक्षा से एक पुरुष के आश्रित सादि-सान्त और अनेक के आश्रित अनादि-अनन्त होता है। क्षेत्र के अन्तर्गत भरत और ऐरवत क्षेत्र की अपेक्षा से साद्यन्त है और महाविदेह की अपेक्षा से अनादि अनन्त है। अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी काल की अपेक्षा से सादि-सान्त और महाविदेह के काल की अपेक्षा से अनादि-अनन्त है। भवसिद्धिक जीव की दृष्टि से श्रुतज्ञान सादि-सान्त और अभवी जीव के आश्रित अनादि अनन्त है। इस तरह श्रुतज्ञान सादि, अनादि, सान्त और अनन्त भेदों वाला है।[१३५] जहाँ पाठों की सदृशता होती है वह गमिकश्रुत कहलाता है। द्वादशांगों में दृष्टिवाद गमिकश्रुत है। गमिक से भिन्न अगमिकश्रुत होता है। आचारांग आदि १२ अंग आगमों को अंगप्रविष्ट कहते हैं और आवश्यकसूत्र एवं आवश्यक से व्यतिरिक्त अंगबाह्य आगमों को अनंगप्रविष्ट कहा जाता है।[१३६]

पर्याय, अक्षर, पद, संघात, प्रतिपत्ति, अनुयोग, प्राभृत-प्राभृत, प्राभृत, वस्तु और पूर्व ये दस एवं 'समान' शब्द से युक्त पर्याय समान आदि अन्य दस भेद मिलकर श्रुतज्ञान के बीस अन्य भेदों

का भी उपाध्याय विनयविजय ने उल्लेख किया है।[१३७]

मति और श्रुत में भेद- मति और श्रुत इन दोनों में यह भेद है कि मतिज्ञान में प्रत्यक्ष के विषय की उपस्थिति आवश्यक है, किन्तु 'श्रुतज्ञान' में भूत, वर्तमान तथा भविष्य सभी प्रकार के विषय रहते हैं। मतिज्ञान में परिणाम का प्रभाव रहता है, किन्तु श्रुतज्ञान तो आप्त वचन होने के कारण परिणाम से परे और विशुद्ध है।

3. अवधिज्ञान

'अवाग्धानादवच्छिन्नविषयाद्वा अवधिः।(सर्वार्थसिद्धि) अर्थात् अधिकतर नीचे के विषय को जानने वाला होने से परिमित विषयवाला ज्ञान अवधिज्ञान कहलाता है। आत्मा में एक ऐसी शक्ति मानी गयी है जिसके द्वारा उसे इन्द्रियों के अगोचर, अतिसूक्ष्म, तिरोहित एवं इन्द्रिय सन्निकर्ष के परे दूरस्थ पदार्थों का भी ज्ञान हो सकता है अर्थात् इन्द्रिय और मन की सहायता के बिना एक निश्चित सीमागत रूपी पदार्थों को स्पष्ट जानने वाला ज्ञान अवधिज्ञान है। एक निश्चित अवधि/मर्यादा में स्थित पदार्थों को ही जानने से इस ज्ञान को अवधिज्ञान कहते हैं। मात्र रूपी पदार्थों को विषय करने पर इसे देशप्रत्यक्ष भी कहते हैं। यह दो प्रकार का है- भवप्रत्यय और क्षायोपशमिक (गुण प्रत्यय)। जन्म से ही प्राप्त होने वाला अवधिज्ञान भवप्रत्यय अवधिज्ञान होता है। देवों और नारकों को भवप्रत्यय अवधिज्ञान होता है। जन्म से प्राप्त न होकर अवधिज्ञानावरण के क्षयोपशम से उत्पन्न अवधिज्ञान क्षायोपशमिक अवधिज्ञान कहलाता है। क्षायोपशमिक (गुण प्रत्यय) अवधिज्ञान छह प्रकार का होता है[१३८]-

(1) अनुगामी अवधिज्ञान– जो अवधिज्ञान नेत्र के समान ज्ञाता के साथ-साथ अनुगमन करे उसे आनुगमिक अवधिज्ञान कहते हैं।

(2) अननुगामी अवधिज्ञान– जिस क्षेत्र में ज्ञाता को अवधिज्ञान उत्पन्न हुआ है उसी क्षेत्र में स्थित होकर संख्यात एवं असंख्यात योजन तक के रूपी पदार्थों को विषय करने वाला ज्ञान अननुगामी अवधिज्ञान है। अन्य क्षेत्र में यह ज्ञान सक्षम नहीं होता है।

(3) वर्द्धमान अवधिज्ञान– अध्यवसायों के विशुद्ध होने पर, चारित्र की वृद्धि होने पर तथा कर्म आवरण से रहित होने पर जो अवधिज्ञान दिशाओं और विदिशाओं में चारों और बढ़ता है वह वर्द्धमान अवधिज्ञान है।

(4) हीयमान अवधिज्ञान– जो अवधिज्ञान अशुभ अध्यवसायों एवं संक्लिष्ट चारित्र के कारण निरन्तर ह्रास को प्राप्त होता है वह हीयमान अवधिज्ञान है।

(5) प्रतिपाती अवधिज्ञान– प्रमाद के कारण या अन्य जन्म धारण करने से जो अवधिज्ञान एक

बार प्रकट होकर नष्ट हो जाता है वह प्रतिपाती अवधिज्ञान कहलाता है।

(6) अप्रतिपाती अवधिज्ञान– जिस अवधिज्ञान से अलोक के एक आकाश प्रदेश को जाना जाता है और वह केवलज्ञान प्राप्ति तक विद्यमान रहता है, उसे अप्रतिपाती अवधिज्ञान कहते हैं।

4. मनःपर्यवज्ञान–

'परकीयमनोगतोऽर्थो मन इत्युच्यते' (सर्वार्थसिद्धि) अर्थात् दूसरे के मनोगत अर्थ को मन कहते हैं। इन्द्रिय और मन की सहायता के बिना दूसरों के मन में स्थित पर्यायों को स्पष्ट जानने वाला मनःपर्ययज्ञान कहलाता है। जीव मनःपर्यव ज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम से द्रव्यविशेषरूप मनोवर्गणाओं से विचाररूप पर्यायों को इन्द्रिय और मन की अपेक्षा के बिना ही साक्षात् जानता है, वह मनःपर्ययज्ञान कहलाता है। इस ज्ञान के सम्बन्ध में जैन दार्शनिकों की दो धाराएँ प्रचलित हैं। प्रथम धारा आवश्यकनिर्युक्ति[१३९] तथा तत्त्वार्थभाष्य[१४०] सम्मत है। जिसमें मनःपर्ययज्ञान परकीय मन में चिन्त्यमान पदार्थों को जानता है। दूसरी धारा के अनुसार मनःपर्ययज्ञान चिन्तन में लगी मनोद्रव्य की पर्यायों को जानता है, परन्तु अनुमान से जानता है। यह परम्परा विशेषावश्यक भाष्य[१४१] (गाथा ८१४) एवं नन्दीचूर्णि[१४२] सम्मत है। इस ज्ञान की उत्पत्ति और प्रवृत्ति मनुष्य क्षेत्र में ही होती है और मात्र संयमी मनुष्य ही इसके अधिकारी होते हैं।

मनःपर्ययज्ञान और अवधिज्ञान दोनों देशप्रत्यक्ष होते हुए भी परस्पर विशुद्धि, क्षेत्र विस्तार, स्वामी और विषय की अपेक्षा से भिन्न-भिन्न हैं। जिन रूपी द्रव्यों को अवधिज्ञानी जानता है उसे ही मनःपर्यायज्ञानी अधिक स्पष्टतया से मनोगत होने पर भी जान लेता है। क्षेत्र की अपेक्षा से अवधिज्ञान सम्पूर्ण लोकपर्यन्त रूपी द्रव्यों को जानता है। जबकि मनःपर्ययज्ञान मनुष्य लोक प्रमाण है। अवधिज्ञान संयमी-असंयमी मनुष्य और तिर्यंच व देव को होता है, जबकि मनःपर्यय ज्ञान अप्रमत्त संयमी मुनि को ही होता है। अवधिज्ञान का विषय रूपी द्रव्यों की असम्पूर्ण पर्याय होती हैं और मनःपर्ययज्ञान अवधिज्ञान के विषय के अनन्तवें भाग को विषय बनाता है। अतः अवधिज्ञान की अपेक्षा मनःपर्ययज्ञान अधिक विशुद्ध और सूक्ष्म है।

मनःपर्ययज्ञान ऋजुमति और विपुलमति भेद से दो प्रकार का है।[१४३] ऋजुमति मनःपर्ययज्ञान एक, दो या तीन विषयों को अधिक से अधिक ग्रहण कर सकता है और विपुलमति मनःपर्ययज्ञान नाना प्रकार के विषय पर्यायों को ग्रहण करता है। ऋजुमति मनःपर्ययज्ञान प्रतिपाती है और विपुलमति मनःपर्ययज्ञान केवलज्ञान की प्राप्ति तक स्थिर रहता है।

5. केवलज्ञान

ज्ञानावरण का सर्वथा क्षय होने से प्रकट होने वाला ज्ञान 'केवलज्ञान' कहलाता है। अनन्त

द्रव्य और उनकी त्रिकालवर्ती सम्पूर्ण सूक्ष्म और स्थूल पर्यायें इस ज्ञान के विषय हैं। यह क्षायिक ज्ञान सर्वोत्कृष्ट है।

संसारी और मुक्त जीव की अपेक्षा से केवलज्ञान की भेदद्वयी है- भवस्थ केवलज्ञान और सिद्ध केवलज्ञान।[१४४] केवलज्ञानावरण का क्षय होने पर संसारस्थ वीतरागियों (अरिहन्तों) को होने वाला केवलज्ञान 'भवस्थ केवलज्ञान' कहलाता है और आठ कर्मों से मुक्त सिद्ध जीवों का केवलज्ञान 'सिद्ध केवलज्ञान' होता है। सिद्ध और भवस्थ केवली दोनों के केवलज्ञान में मूलतः कोई अन्तर नहीं है। दोनों समान रूप से विषय को ग्रहण करते हैं। दोनों में अघाती कर्मों के क्षय का ही अन्तर है। भवस्थ केवलज्ञानियों के जहाँ चार घाती कर्मों (ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय एवं अन्तराय) का क्षय होता है वहाँ सिद्धों के शेष चार अघाती कर्मों (वेदनीय, नाम, गोत्र एवं आयुष्य) का भी क्षय हो जाता है।

द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा से ज्ञान का विवेचन

मतिज्ञानी किसी अपेक्षा से द्रव्य से सर्वद्रव्यों को, क्षेत्र से लोकालोक को, काल से सर्वकाल को और भाव से सर्वभावों को जानता-देखता है। मतिज्ञानी ओघ से सर्वद्रव्य जानता है, परन्तु सर्व पर्याय सहित नहीं जानता है।[१४५] श्रुतज्ञानी उपयोग युक्त होने पर द्रव्य से सर्वद्रव्यों को, क्षेत्र से सर्वक्षेत्र को, काल से सर्वकाल को और भाव से सर्वभावों को विषय करता है। श्रुतज्ञानी केवल अभिलाप्य (कथन करने योग्य) द्रव्यों को ही जान सकते हैं।[१४६] अवधिज्ञानी द्रव्य से जघन्य से भाषा एवं तेज के रूपी द्रव्यों को उत्कृष्ट समस्त रूपी द्रव्यों को, क्षेत्र से जघन्य अंगुल के असंख्यातवें भाग को उत्कृष्ट लोकाकाश जितने असंख्य खण्डों को, काल से जघन्य एक आवलिका के असंख्यातवें भाग व उत्कृष्ट वर्तमान के साथ असंख्यात भूत और भावी उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी परिणाम काल को एवं भाव से जघन्य व उत्कृष्ट अनन्त भावों को जानता है।[१४७] ऋजुमति मनःपर्ययज्ञानी द्रव्य से अनन्त अनन्त प्रदेशिक स्कन्धों को जानता है और विपुलमति उन्हीं स्कन्धों को अधिक विपुल, विशुद्ध और स्पष्ट जानता है। क्षेत्र से ऋजुमति ज्ञानी जघन्य अंगुल के असंख्यातवें भाग को एवं उत्कृष्ट नीचे रत्नप्रभा पृथ्वी के प्रतर, ऊँचे ज्योतिषचक्र पर्यन्त, मनुष्य क्षेत्र के अन्दर अढ़ाई द्वीप समुद्र पर्यन्त, पन्द्रह कर्मभूमि, तीस अकर्म-भूमि और छप्पन अन्तर्द्वीपों में विद्यमान संज्ञी पंचेन्द्रिय जीवों के मनोगत भावों को जानता है और विपुलमति उन्हीं क्षेत्रों को अढाई अंगुल अधिक विपुल, विशुद्ध और स्पष्ट जानता है। काल से ऋजुमति जघन्य पल्योपम के असंख्यातवें भाग को तथा उत्कृष्ट पल्योपम के असंख्यातवें भाग भूत-भविष्यत् काल को जानता है और विपुलमति उसी काल को कुछ अधिक सुस्पष्ट जानता है। भाव से ऋजुमति अनन्त भावों के अनन्तवें भाग को जानता है

और विपुलमति उन्हीं भावों को कुछ अधिक सुस्पष्ट जानता है।[१४८] केवलज्ञानी द्रव्य से सर्वद्रव्य को, क्षेत्र से सर्व (लोक-अलोक) क्षेत्र को, काल से भूत, भविष्य और वर्तमान तीनों कालों को तथा भाव से सर्वद्रव्यों के सर्वभावों या सर्वपर्यायों को जानता है।[१४९]

ज्ञान की न्यूनाधिकता

संसार के कुछ जीव दो ज्ञान वाले हैं, कुछ तीन ज्ञान वाले, कुछ चार ज्ञान वाले और कुछ एक ज्ञान वाले हैं।[१५०] दो ज्ञान वाले जीव मतिज्ञान और श्रुतज्ञान युक्त होते हैं। तीन ज्ञान वाले जीव मति और श्रुत के साथ अवधिज्ञान या मनःपर्ययज्ञान से युक्त होते हैं। चार ज्ञान वाले में मनःपर्यय पर्यन्त चारों ज्ञान होते हैं और एक ज्ञान वाला जीव केवलज्ञान से युक्त होता है। केवलज्ञानी जीव के सम्मुख शेष चारों ज्ञान व्यर्थ हो जाते हैं। अज्ञानी जीवों में से कुछ जीव दो अज्ञान वाले मतिअज्ञानी व श्रुतअज्ञानी तथा कुछ तीन अज्ञान-विभंगज्ञान पर्यन्त वाले होते हैं।

अज्ञान स्वरूप

ज्ञान का अशुद्ध रूप ही अज्ञान है। अज्ञान शब्द में 'अ' उपसर्ग निषेधार्थक न होकर कुत्सित अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। अतः अज्ञान का अर्थ ज्ञान का अभाव नहीं है, अपितु मिथ्या ज्ञान है। यह मिथ्याज्ञान मिथ्यात्व के योग से उत्पन्न होता है। प्रत्येक जीव या तो ज्ञानी है या अज्ञानी, कोई इनसे मुक्त नहीं। यदि मुक्त होगा तो वह जीव नहीं, अजीव होगा। अज्ञान तीन प्रकार का है- मतिअज्ञान, श्रुतअज्ञान और विभंगज्ञान। मिथ्यादृष्टि जीव के मतिअज्ञान, श्रुतअज्ञान और विभंगज्ञान होते हैं। विभंग से यहाँ तात्पर्य है ज्ञान का विपरीत अज्ञान।[१५१]

जीवों में होने वाला ज्ञान और अज्ञान

सूक्ष्म और बादर एकेन्द्रिय जीवों में शेष जीवों की अपेक्षा से अत्यन्त अल्प मतिअज्ञान और श्रुतअज्ञान होते हैं।[१५२] सम्यक्दृष्टि विकलेन्द्रिय जीव मतिज्ञान व श्रुतज्ञान के धारक होते हैं और मिथ्यादृष्टि विकलेन्द्रिय जीव मतिअज्ञानी और श्रुतअज्ञानी होते हैं।[१५३] सम्मूर्च्छिम तिर्यंच पंचेन्द्रिय में कुछ दो ज्ञान वाले और कुछ दो अज्ञान वाले होते हैं। गर्भज तिर्यंच पंचेन्द्रिय में कुछ दो या तीन ज्ञान से युक्त होते हैं तथा कुछ दो या तीन अज्ञान से युक्त होते हैं।[१५४] सम्मूर्च्छिम मनुष्य को प्रथम दो अज्ञान होते हैं[१५५] और गर्भज मनुष्य सभी ज्ञान अथवा अज्ञान का धारक होता है।[१५६] सम्यक्दृष्टि देव[१५७] व नारकी[१५८] को प्रथम तीन ज्ञान होते हैं तथा मिथ्यादृष्टि देव व नारकी को तीनों अज्ञान होते हैं।

अल्पबहुत्व

अल्पबहुत्व की दृष्टि से ज्ञानी जीव अज्ञानियों की अपेक्षा कम हैं। ज्ञानी जीवों में मनःपर्यवज्ञानी सबसे कम और अवधिज्ञानी उनसे असंख्यात गुणे अधिक हैं। अवधिज्ञानी से मतिज्ञानी और श्रुतज्ञानी विशेष अधिक हैं। केवलज्ञानी अनन्तगुणे हैं। अज्ञानियों में विभंगज्ञानी अल्प हैं तथा उनसे मतिअज्ञानी व श्रुताज्ञानी अनन्तगुणे अधिक हैं।[१५८]

स्थिति काल

ज्ञान की स्थिति द्विविध है- सादि अनन्त और सादि सान्त। केवलज्ञान सादि अनन्त और शेष चार सादि सान्त है।[१६०] प्रथम दो ज्ञान की जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त्त और उत्कृष्ट स्थिति ६६ सागरोपम है।[१६१] अवधिज्ञान और मनःपर्यवज्ञान की जघन्य स्थिति एक समय और उत्कृष्ट स्थिति क्रमशः ६६ सागरोपम एवं पूर्वकोटि से कुछ कम है।[१६२]

मतिअज्ञान और श्रुतअज्ञान अनादि अनन्त, अनादि सान्त और सादि सान्त तीन प्रकार के होते हैं। विभंग ज्ञान की जघन्य स्थिति एक समय तथा उत्कृष्ट देशोन पूर्वकोटि अधिक तैंतीस सागरोपम है।[१६३]

सत्ताइसवां द्वार : दर्शन-निरूपण

'दृश्' (दृश+ल्युट्) धातु से बना 'दर्शन' शब्द यहाँ 'जानना' अर्थ का द्योतक है। यहाँ यह धातु 'आलोक' अर्थ की वाचक नहीं है। सर्वार्थसिद्धिकार ने दर्शन शब्द की कर्तृ, कर्म और भाववाच्य परक व्युत्पत्ति की है।[१६४] सामान्य विशेषात्मक वस्तु के विकल्प से पूर्व स्वरूप मात्र का सामान्य ग्रहण 'दर्शन' कहलाता है।[१६५] दर्शन भी जीव का एक लक्षण है जो सभी जीवों में पाया जाता है। यह निर्विकल्पक होता है तथा ज्ञान सविकल्पक। यह अनाकार होता है जबकि ज्ञान को साकार माना गया है। उपचार नय से सामान्य ग्रहण को दर्शन कहा जाता है जबकि विशुद्ध नय की अपेक्षा से दर्शन पर्याय से परिणत आत्मा ही दर्शन है अर्थात् अनाकारक ज्ञान।[१६६] संक्षेप में कह सकते हैं कि सामान्य-विशेषात्मक पदार्थ को देखने पर निर्विकल्पक और निश्चयात्मक सत्तामात्र का ग्रहण करना दर्शन है।

दर्शन और अवग्रहज्ञान में भिन्नता- विषय और विषयी का सन्निपात होने पर इन्द्रिय से उत्पन्न 'यह कुछ है' ऐसा निर्विकल्प आलोकन 'दर्शन' है और तदनन्तर दूसरे क्षण में 'यह रूप है' 'यह पुरुष है' इत्यादि विशेषांश का सविकल्प ज्ञान 'अवग्रह ज्ञान' होता है।[१६७]

जीवों को दर्शन चार प्रकार से होता है। वह इस प्रकार है-

1. चक्षुदर्शन– दर्शनावरण कर्म के क्षयोपशम से और चक्षु इन्द्रिय द्वारा मूर्त्तद्रव्य का विकलरूप (एकदेश) जो सामान्य बोध होता है वह चक्षुदर्शन है।[१६८] चक्षु इन्द्रिय चतुरिन्द्रिय जीवों से प्रारम्भ होती है, अतः पंचेन्द्रियों में तो इसकी प्राप्ति होती ही है।

2. अचक्षुदर्शन– दर्शनावरण कर्म के क्षयोपशम से और चक्षु से भिन्न शेष चार इन्द्रियों एवं मन से मूर्त्त और अमूर्त्त द्रव्यों का विकलरूप जो सामान्य प्रतिभास होता है वह अचक्षुदर्शन कहलाता है।[१६९]

3. अवधिदर्शन– दर्शनावरण कर्म के क्षयोपशम से बिना किसी इन्द्रिय की सहायता के मूर्त्त द्रव्य को विकलरूप से जो सामान्य अवबोधन करता है वह अवधिदर्शन कहलाता है। यह दर्शन मात्र अवधिज्ञानी जीव को ही प्राप्त होता है।

जिस तरह अवधिज्ञान के पूर्व अवधिदर्शन होता है उसी तरह उसकी सत्ता विभंग ज्ञान में भी होती है। सम्यक् दृष्टि जीव में यह दर्शन अवधिज्ञान से पूर्व होता है और मिथ्यादृष्टि जीव में विभंगज्ञान से पूर्व होता है। वस्तुतः दर्शन अनाकार रूप है और वह दोनों में समान है। अतः विभंगदर्शन नाम अलग से नहीं कहा गया है।[१७०] परन्तु कुछ विद्वान तत्त्वार्थवृत्तिकार और कर्मप्रकृतिकार विभंगज्ञान में अवधिदर्शन का अस्तित्व स्वीकार नहीं करते हैं उनके अनुसार यह दर्शन तो मात्र सम्यग्दृष्टि जीवों को ही होता है, शेष को नहीं।[१७१]

4. केवलदर्शन– समस्त कर्म आवरणों के क्षय से मूर्त्त-अमूर्त्त द्रव्यों का सकलरूप से जो सामान्य अवबोध होता है वह 'केवलदर्शन' है। यह केवलज्ञानी को होता है।

अल्पबहुत्व– अवधिदर्शन वाले जीव सबसे अल्प हैं, इससे असंख्य गुना चक्षुदर्शन वाले, इससे अनन्त गुणा केवलदर्शन वाले जीव और सर्वाधिक जीव अचक्षुदर्शन वाले हैं।[१७२]

अट्ठाइसवां द्वार : उपयोग विचार

'उपयोगो लक्षणम्'[१७३] अर्थात् जीव का लक्षण उपयोग है। जैन आगमों में ज्ञान एवं दर्शन को उपयोग कहा गया है।[१७४] ज्ञान एवं दर्शन दोनों जीव के शाश्वत गुण हैं। ये गुण जीव को अजीवों से भिन्न प्रतिपादित करते हैं। सदैव जीव के साथ रहते हुए भी ये अपनी भिन्न-भिन्न विशेषताएँ रखते हैं अर्थात् जीव को एक समय में एक ही उपयोग होता है ज्ञान या दर्शन। उपयोग के रूप में ज्ञान एवं दर्शन युगपद्भावी नहीं होते हैं, अपितु क्रमभावी होते हैं।

उपयोग के दो भेद किए जाते हैं- साकारोपयोग और अनाकारोपयोग। साकारोपयोग के अन्तर्गत पांच ज्ञान और तीन अज्ञान को ग्रहण किया जाता है, यथा- मतिज्ञान, श्रुतज्ञान,

अवधिज्ञान, मनःपर्यव ज्ञान, केवलज्ञान, मति अज्ञान, श्रुत अज्ञान एवं विभंग ज्ञान।[१७५] अनाकारोपयोग में चार दर्शन को सम्मिलित किया जाता है, यथा- चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन, अवधिदर्शन और केवलदर्शन।[१७६] इस प्रकार साकारोपयोग ज्ञानात्मक और अनाकारोपयोग दर्शनात्मक होता है। ये दोनों उपयोग वर्ण, गंध, रस, स्पर्श रहित[१७७] और अगुरुलघु होते हैं।[१७८]

सूक्ष्म एकेन्द्रिय[१७९] और बादर एकेन्द्रिय[१८०] जीवों में तीन उपयोग के अन्तर्गत दो अज्ञान (मतिअज्ञान व श्रुत अज्ञान) और एक दर्शन (अचक्षुदर्शन) होता है। विकलेन्द्रिय जीवों में पांच उपयोग होते हैं।[१८१] चतुरिन्द्रिय जीव में विशेषतः छह उपयोग होते हैं।[१८२] पाँच उपयोगों में चार 'साकारोपयोग'- मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, मतिअज्ञान व श्रुतअज्ञान और एक 'अनाकारोपयोग'- अचक्षुदर्शन होता है। चतुरिन्द्रिय के छह उपयोगों में पूर्व के पाँच और छठा अचक्षुदर्शन को सम्मिलित किया जाता है। सम्मूर्च्छिम तिर्यंच पंचेन्द्रिय[१८३] और मनुष्य[१८४] को चार उपयोग (दो अज्ञान एवं दो दर्शन) और गर्भज तिर्यंच पंचेन्द्रिय को चार, पाँच, छह और ओघ से नौ उपयोग होते हैं। गर्भज तिर्यंच पंचेन्द्रिय को केवलज्ञान, केवलदर्शन और मनःपर्यव ज्ञान के अलावा सभी उपयोग हो सकते हैं।

गर्भज मनुष्य[१८५] को बारह उपयोग होते हैं। सम्यग्दृष्टि देवों को तीन ज्ञान (मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान) और तीन दर्शन (चक्षु, अचक्षु, अवधि) मिलाकर छह उपयोग होते हैं, जबकि मिथ्यादृष्टि देवों को तीन अज्ञान (मति, श्रुत, विभंग) एवं दो दर्शन (चक्षु व अचक्षु) मिलाकर पाँच उपयोग होते हैं।[१८६] नारकों को देवों के तुल्य ही छह एवं पाँच उपयोग होते हैं।[१८७]

साकारोपयोग एवं अनाकारोपयोग में प्रत्येक की स्थिति जघन्य एवं उत्कृष्ट अन्तर्मुहूर्त्त है। इनका परस्पर अन्तरकाल भी अन्तर्मुहूर्त्त ही है। एक अन्तर्मुहूर्त्त के अनन्तर ये क्रमशः बदलते रहते हैं। अल्पबहुत्व की अपेक्षा से अनाकारोपयोग युक्त जीव अल्प हैं तथा साकारोपयोग युक्त जीव उनसे संख्यातगुणे हैं।

उनतीसवां द्वार : आहार-विचार

'आहार' शब्द की निष्पत्ति 'आ' समन्तात् अर्थक उपसर्ग युक्त 'हृ' हरणार्थक धातु से घञ् प्रत्यय लगकर हुई है। अतः चारों ओर से ग्रहण करना या ले लेना आहार है। आहार संसारी जीवों की प्रथम आवश्यकता है। इससे ही औदारिक, वैक्रिय और आहारक शरीरों, पर्याप्तियों और इन्द्रियों का निर्माण होता है। विग्रह गति के अतिरिक्त जीव आहारयोग्य पुद्गलों को निरन्तर ग्रहण करते रहते हैं। आहार ग्रहण करने वाले जीव 'आहारक' और नहीं करने वाले 'अनाहारक' कहलाते हैं।

कोई जीव चार अवस्थाओं में ही अनाहारक होता है[१८८]-१. विग्रह गति की अवस्था में २. केवलिसमुद्घात की अवस्था में ३. शैलेषी अवस्था में ४. सिद्ध अवस्था में।

आहार ग्रहण करने की विधियाँ

जीव के आहार ग्रहण करने की तीन विधियाँ-लोमाहार, प्रक्षेपाहार व ओजाहार प्रमुख रूप से प्रचलित हैं।[१८६] कहीं-कहीं इसकी चार विधियों (पूर्ववत् तीन और मनोभक्षी आहार) का भी वर्णन मिलता है। इन्द्रियों के लोमों या रोमों के द्वारा किया गया आहार लोमाहार कहलाता है।[१९०] कवल या ग्रास के रूप में मुख के द्वारा जो आहार किया जाता है उसे कवलाहार या प्रक्षेपाहार कहते हैं।[१९१] सम्पूर्ण शरीर के द्वारा आहार के योग्य पुद्गलों का ग्रहण करना ओजाहार कहलाता है।[१९२] मन के द्वारा आहार ग्रहण करना मनोभक्षी आहार है।[१९३]

लोमाहार २४ दण्डक के सभी जीव करते हैं। द्वीन्द्रिय से लेकर मनुष्य तक के सभी पर्याप्तक औदारिक शरीरी जीव प्रक्षेपाहार करते हैं। नैरयिक एवं देवगति के जीव वैक्रियशरीर धारी होने के कारण कवलाहार नहीं करते हैं। मात्र स्पर्शन इन्द्रिय होने से एकेन्द्रिय जीव भी कवलाहार नहीं करते हैं। ओजाहार सभी अपर्याप्तक जीव करते हैं। पर्याप्तक होने पर वे लोमाहार या कवलाहार करते हैं। जैन सम्प्रदाय की दिगम्बर मान्यता के अनुसार केवली मनुष्य कवलाहारी नहीं होते,अपितु मात्र लोमाहारी होते हैं, जबकि श्वेताम्बर मान्यता के आधार पर वे कवलाहारी भी होते हैं। मनोभक्षी आहार मात्र देवों को ही होता है।

आहार करने की इच्छा कितने काल में उत्पन्न होती है, इस आधार पर आहार के दो प्रकार- आभोगनिर्वर्तित और अनाभोगनिर्वर्तित किए गए हैं।[१९४] आभोगनिर्वर्तित का अर्थ है- इच्छायुक्त होकर उपयोगपूर्वक होने वाला आहार।[१९५] अनाभोगनिर्वर्तित से तात्पर्य है- इच्छा रहित उपयोगपूर्वक होने वाला आहार। यह आहार प्रतिसमय विरह रहित निरन्तर होता है जबकि आभोगनिर्वर्तित आहार के लिए जघन्य एवं उत्कृष्ट अलग-अलग काल निर्धारित है।[१९६] एकेन्द्रिय जीव बिना विरह के निरन्तर प्रतिसमय अनाभोगनिर्वर्तित आहार करता है। शेष सभी जीव दोनों आहार करते हैं।[१९७]

जीव एक जन्म का आयुष्य पूर्ण कर अन्य जन्म ग्रहण करते समय जो गति करता है वह विग्रहगति कहलाती है। जीव की यह गति आकाश प्रदेश की पंक्ति में श्रेणीबद्ध होती है। जीव जब श्रेणि के अनुसार सीधी-सरल रेखा में गमन कर गन्तव्य स्थान पर पहुँचता है तो वह ऋजुगति या ऋजुश्रेणि कहलाती है और जब जीव मोड़ खाते हुए अथवा वक्रता पूर्वक गन्तव्य स्थान पर पहुँचता

है तब वह वक्रगति कहलाती है। ऋजुगति मात्र एक समय की होती है अर्थात् एक समय में ही जीव अन्य स्थान पर पहुँच जाता है और परजन्म सम्बन्धित आयुष्य और आहार भोगता है। इस गति में आयुष्य और आहार व्यवहार नय एवं निश्चय नय की अपेक्षा से समान होते हैं। जबकि वक्रगति में व्यवहार नय से दूसरे समय में जीव की आयुष्य उदय में आती है और वह जीव दूसरे, तीसरे या चौथे समय में आहार ग्रहण करता है।[१९८] निश्चय नय की अपेक्षा से वक्रगति का जीव भवान्त में पूर्वजन्म के सम्मुख होता है और पूर्वजन्म सम्बन्धित संघात और परिशाट (पूर्वजन्म का ग्रहण और परजन्म का त्याग) करता है।[१९९] मोड़ के आधार पर वक्रगति के चार भेद किए गए हैं- एक वक्र, द्विवक्र, तीन वक्र और चार वक्र। इन चारों में क्रमशः दो, तीन, चार और पाँच समय लगते हैं।[२००] स्थावर जीव की अपेक्षा से पाँच समय का कथन किया गया है अन्यथा शेष सभी जीवों को चार समय पर्याप्त है।[२०१] पाँचवें अंग 'व्याख्याप्रज्ञप्ति' सूत्र में वक्र गति के भेदों के भिन्न नामों का उल्लेख मिलता है। जो इस प्रकार है- एकतोवक्रा, उभयतोवक्रा, एकतःखा और उभयतःखा।[२०२]

एकवक्र— जब जीव ऊर्ध्वलोक की पूर्व दिशा से अधोलोक की पश्चिम दिशा में गमन करता है तब वक्रगति एकवक्र कहलाती है और यह गति दो समय की होती है। इस गति में जीव समश्रेणि में गमन कर प्रथम समय में सीधा अधोलोक में पहुँचता है और वहाँ से दूसरे समय में तिरछे अपने उत्पत्ति प्रदेश में पहुँचता है।[२०३]

द्विवक्र— आग्नेय दिशा कोण के ऊर्ध्वप्रदेश से यदि कोई जीव अधोदिशा के वायव्य कोण में जाता है तो वह गति द्विवक्र होती है। इस गति में जीव को तीन समय लगते हैं। प्रथम समय में जीव आग्नेय कोण से सप्तश्रेणी करके ऊर्ध्वदिशा में जाता है। दूसरे समय में वहाँ से तिरछा होकर उत्तर-पश्चिम कोण अर्थात् वायव्य दिशा की ओर जाता है। तदनन्तर तीसरे समय में वायव्यी दिशा के नीचे की ओर जाता है।[२०४]

त्रस जीवों की वक्र गति अधिकाधिक तीन समय की होती है और स्थावर जीवों की चार अथवा पाँच समय की भी होती है।[२०५]

तीन वक्र— इस गति वाला जीव चार समय में गन्तव्य स्थान पर पहुँचता है। प्रथम समय में जीव त्रसनाड़ी के बाहर स्थित अधोलोक की विदिशा के किसी कोने में से दिशा में जाता है, दूसरे समय में त्रसनाड़ी के अन्दर प्रवेश करता है, तीसरे समय में ऊर्ध्वगति करता है और चौथे समय में पुनः त्रसनाड़ी से बाहर निकल कर दिशा में स्थित (विदिशा के कोने में नहीं) अपने निश्चित स्थान का आश्रय ग्रहण करता है।[२०६]

चार वक्र— इस वक्रगति में जीव को निश्चित स्थान पर पहुँचने में पाँच समय लगते हैं। एक विदिशा से निकलकर अन्य विदिशा में उत्पत्ति की स्थिति में यह गति होती है। तीन वक्र की गति के समान ही चार समय तक गति कर पाँचवें समय में विदिशा में स्थित उत्पत्ति स्थान में पहुँचता है। इस प्रकार पाँच समय की विग्रहगति कही गई है।[२०७]

सामान्यदृष्टि से उत्पत्ति के प्रथम समय में जीव कभी आहारक होता है, कभी अनाहारक। द्वितीय और तृतीय समयों में भी कभी आहारक एवं अनाहारक होता है, किन्तु चतुर्थ समय में तो नियम से आहारक होता है।[२०८] निराहारी जीव अल्प हैं और आहारी जीव असंख्य गुणा हैं।[२०९]

सूक्ष्म और बादर जीव- विग्रह गति में तीन या चार क्षण के लिए ये दोनों जीव आहार रहित होते हैं शेष भवपर्यन्त निरन्तर आहारक होते हैं। उत्पन्न होने के साथ से ही इनको ओज आहार होता है फिर लोमाहार होता है। ये सचित्त, अचित्त और मिश्र तीनों प्रकार का आहार करते हैं।[२१०]

विकलेन्द्रिय— विग्रहगति के अतिरिक्त शेष सम्पूर्ण भव में द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय जीव आहारक होते हैं। प्रथम इनको ओज आहार तत्पश्चात् लोमाहार और कवलाहार होते हैं। सचित्तादि तीनों प्रकार के आहार होते हैं। इनके दो आहार के मध्य का उत्कृष्ट अन्तर अन्तर्मुहूर्त्त काल है।[२११]

तिर्यंच पंचेन्द्रिय— तिर्यंच पंचेन्द्रिय को ओजाहारादि तीनों और सचित्ताहारादि तीनों कुल छहों प्रकार के आहार होते हैं। तीन पल्योपम आयुष्य वाले तिर्यंच की अपेक्षा से कवलाहार का उत्कृष्ट अन्तर दो दिन और जघन्य अन्तर अन्तर्मुहूर्त्त का होता है।[२१२]

मनुष्य— गर्भज मनुष्य को तीनों प्रकार के (ओजाहारादि) के आहार होते हैं। कवलाहार का उत्कृष्ट अन्तर तीन दिन का होता है। ये जीव विग्रहगति में दो समय, सातवें केवलिसमुद्घात में तीन, चार एवं पाँचवें क्षण और अयोगित्व में असंख्य समय तक अनाहारक रहते हैं।[२१३] सम्मूर्च्छिम मनुष्य को कवलाहार से भिन्न आहार होते हैं।[२१४]

देव— देवों को ओज और लोम दो प्रकार के आहार होते हैं, कावलिक आहार नहीं होता। मन से प्राशन करने वाला मनोभक्षी आहार होता है। इनके आहार का जघन्य अन्तर चौथ भाक्तप्रमाण और उत्कृष्ट अन्तर ३३ हजार वर्ष होता है।[२१५]

नारक— इन्हें भी ओज और लोम ये दो प्रकार के आहार ही होते हैं। आभोग और अनाभोग पूर्वक लोमाहार होता है। प्रथम ओजाहार अन्तर्मुहूर्त्त में एवं दूसरा समय-समय पर होता है।[२१६]

आहारक एवं अनाहारकों की तुलना करने पर ज्ञात होता है कि अनाहारकों की अपेक्षा आहारक जीव असंख्यातगुणे हैं। आहार ही इन्द्रियादि के रूप में परिणत होता है और इन्द्रियादि की

शक्ति बनाए रखने के लिए आहार की निरन्तर आवश्यकता रहती है।

तीसवां द्वार : गुणस्थान-विवेचन

मोक्ष-प्राप्ति भारतीय दर्शन का प्रमुख लक्ष्य है। इसके लिए साधक को साधना की विभिन्न श्रेणियों से गुजरना होता है। ये विभिन्न श्रेणियां आध्यात्मिक विशुद्धि के विभिन्न स्तर बन जाती हैं, जिन्हें जैन दार्शनिकों ने 'गुणस्थान' की अवधारणा से प्रस्तुत किया है। इस अवधारणा के आधार पर किसी भी व्यक्ति के आध्यात्मिक विकास का मूल्यांकन किया जा सकता है। जैनाचार्यों ने आध्यात्मिक विकास के इन विभिन्न स्तरों का विवेचन व्यवहार नय से ही किया है, निश्चय नय से तो आत्मा सदैव अविकारी है, अतः उसमें कोई विकास प्रक्रिया नहीं होती है। वह बन्धन एवं मुक्ति तथा विकास एवं पतन से निरपेक्ष है।

ज्ञान, दर्शन और चारित्र जीव के स्वाभाविक गुण हैं। इन गुणों के शुद्धि-अशुद्धि कृत स्वरूपविशेष को 'गुणस्थान' कहते हैं। गुणों की दृष्टि से सभी आत्माएँ समान हैं, परन्तु ये गुण-आवरक कर्मों द्वारा आच्छादित हैं। आवरक कर्मों की आच्छादन शक्ति की तरतमता और अल्पाधिकता से गुणों का स्थानभेद होता है। अतः यह स्थानभेदगत स्वरूपविशेष ही 'गुणस्थान' कहा जाता है। षट्खण्डागम के धवलाटीकाकार का कहना है कि जीव जिन गुणों में सहजता से रहता है वही जीवसमास अर्थात् गुणस्थान हैं।

आत्मगुणों में शुद्धि का अपकर्ष और अशुद्धि का उत्कर्ष आस्रव और बन्ध इन दो कारणों से होता है। आस्रव के द्वारा कर्मों का आगमन और बंध के कारण दूध-पानी के समान कर्मों की आत्मा के साथ सम्बद्धता होती है। इस तरह आत्मगुणों पर आवरण गाढ़ा होता जाता है जिससे अशुद्धि का उत्कर्ष होता है। आत्मगुणों में अशुद्धि के अपकर्ष और शुद्धि के उत्कर्ष के हेतु संवर और निर्जरा है। संवर द्वारा नवीन कर्मों के आगमन का निरोध होता है तथा निर्जरा के द्वारा पूर्वसम्बद्ध कर्ममलों का क्षय होता जाता है जिससे आत्मगुणों की शुद्धि में उत्कर्षता एवं अशुद्धि में न्यूनता बढ़ती रहती है। आत्मगुणों का यही विकासक्रम 'गुणस्थान' है।

आत्मगुणों को आवरित करने में मोह प्रधान आवरक है। मोह जितना अधिक तीव्र होगा तो गुणों का आवरण भी उतना ही अधिक तीव्र होगा। अतः जैन दार्शनिकों ने आध्यात्मिक उत्क्रान्ति को अभिव्यक्त करने वाले गुणस्थान सिद्धान्त की विवेचना इसी मोहशक्ति की उत्कटता, मन्दता तथा अभाव के आधार पर की है। जैन दर्शन में मोह की दो शक्तियों का उल्लेख मिलता है- १. दर्शन मोह और २. चारित्र मोह। दर्शन-मोह की शक्ति जीव को स्व स्वरूप की यथार्थता का बोध नहीं होने देती और इसी के कारण कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य का विवेक उत्पन्न नहीं हो पाता। जिस मोह शक्ति के

कारण जीव स्वस्वरूप में स्थित होने का प्रयास नहीं कर पाता और नैतिक आचरण नहीं कर पाता वह चारित्र-मोह कहलाता है। इस प्रकार दर्शनमोह विवेक बुद्धि को कुण्ठित करता है और चारित्र मोह सत्प्रवृत्ति को अवरुद्ध करता है। आध्यात्मिक विकास की प्रक्रिया में आत्मा दो प्रमुख कार्य करती है- १. स्वरूप और पररूप का यथार्थ दर्शन करना २. स्वरूप में स्थित होना। दर्शनमोह, चारित्रमोह की अपेक्षा अधिक प्रबल होता है। अतः दर्शन-मोह का क्षय करके जो स्वरूप का यथार्थ दर्शन कर लेता है, वह स्वशक्ति से चारित्रमोह को समाप्त कर स्वरूप लाभ भी कर ही लेता है।

आत्मा के ये दोनों कार्य ग्रन्थि-भेद की प्रक्रिया से पूर्ण होते हैं। मोह के दर्शनमोह और चारित्र मोह इन दो भेदों के आधार पर ग्रन्थिभेद की प्रक्रिया दो बार मानी गई है। प्रथम गुणस्थान के अन्त में होने वाली ग्रन्थि भेद की प्रक्रिया का सम्बन्ध दर्शनमोह के आवरण की समाप्ति करने से है, जबकि सातवें, आठवें और नवें गुणस्थानों में होने वाली ग्रन्थिभेद की प्रक्रिया का सम्बन्ध चारित्रमोह को समाप्त करने से है। पहली बार होने वाली प्रक्रिया से सम्यग्दर्शन का लाभ होता है तथा दूसरी बार होने वाली प्रक्रिया से सम्यक् चारित्र का उदय होता है। एक से दर्शन शुद्धि होती है और दूसरी से चारित्र शुद्धि। दर्शनविशुद्धि के पश्चात् यदि उसमें टिकाव रहता है तो चारित्रविशुद्धि अनिवार्यतः होती है। सम्यग्दर्शन का स्पर्श कर लेने पर आत्मा की चारित्रिक विशुद्धि और उसके फलस्वरूप मुक्ति अवश्य ही होती है।

ग्रन्थिभेद की प्रक्रिया तीन करण से पूर्ण होती है- यथाप्रवृत्तकरण, अपूर्वकरण और अनिवृत्तकरण। इसी सम्बन्ध में लोकप्रकाशकार कहते हैं-

तं त्रिधा तत्र चाद्यं स्याद्यथाप्रवृत्तनामकम्।
अपूर्वकरणं नामानिवृत्तिकरणं तथा।।[२१७]

करण से अभिप्राय मन का परिणाम है- परिणामविशेषोऽत्र करणं प्राणिनां मतम्।[२१८] मिथ्यात्व, नौ नोकषाय और चार मूलकषाय इन कुल चौदह की अभ्यन्तर ग्रन्थि आगम में स्वीकार की जाती है।[२१९] प्रथम करण से ग्रन्थिदेश तक पहुँचा जाता है, द्वितीय करण से ग्रन्थि का भेदन होता है और तीसरा करण ग्रन्थि भेदन के अनन्तर होने वाला परिणाम है, कहा भी है-

वक्ष्यमाणग्रन्थिदेशावधि प्रथममीरितम्।
द्वितीयं भिद्यमानेऽस्मिन् भिन्ने ग्रन्थौ तृतीयकम्।।[२२०]

यथाप्रवृत्तिकरण- यथा अर्थात् सहजतया प्रवृत्ति अर्थात् कार्य तथा करण अर्थात् जीव का परिणाम। सहजतापूर्वक किए गए कार्यों से जीव के परिणामों में शिथिलता आना यथाप्रवृत्तिकरण कहलाता है। प. सुखलाल जी के शब्दों में अज्ञानपूर्वक दुःख-संवेदनाजनित अत्यल्प आत्म-विशुद्धि

को यथाप्रवृत्तिकरण कहते हैं।[२२१] जैसे पहाड़ी नदी के प्रवाह में गिरा हुआ पाषाणखण्ड प्रवाह के कारण अचेतन रूप में ही आकृति रूप को धारण कर लेता है, वैसे ही शारीरिक एवं मानसिक दुःखों की संवेदना को झेलते-झेलते इस संसार में परिभ्रमण करते हुए जब कर्मावरण का बहुलांश शिथिल हो जाता है, तो आत्मा यथाप्रवृत्तिकरण की शक्ति को प्राप्त करता है। यथाप्रवृत्तिकरण एक स्वाभाविक घटना के परिणामस्वरूप होता है, लेकिन इस अवस्था को प्राप्त करने पर आत्मा में आत्म-नियन्त्रण की क्षमता प्राप्त हो जाती है। आत्मशक्ति के प्रकटन को रोकने वाले सर्वाधिक ७० कोटाकोटि सागरोपम की स्थिति वाले मोहनीय कर्म की स्थिति जब घटकर मात्र एक कोटाकोटि सागरोपम जितनी रह जाती है तब आत्मा यथाप्रवृत्तिकरण भाव को प्राप्त करती है-

अथैतेषु कश्चिदंगी कर्माणि निखिलान्यपि।
कुर्याद्यथाप्रवृत्ताख्यकरणेन स्वभावतः।
पल्यासंख्यलवोनैक कोट्याब्धिस्थितिकानि वै।।[२२२]

यथाप्रवृत्तिकरण भव्य और अभव्य दोनों प्रकार के जीव करते हैं।[२२३] अभव्य जीव यथाप्रवृत्तिकरण करके जहाँ होते हैं, वहीं रह जाते हैं, जबकि भव्य जीवों में अनेक जीव तो पतित हो जाते हैं और कुछ जीव अधिक वीर्योल्लास अर्थात् आत्म-पुरुषार्थ से अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण करके आगे बढ़ जाते हैं।

अपूर्वकरण- यथाप्रवृत्तिकरण से उत्पन्न आत्म-सजगता के कारण आत्मविशुद्धि के प्रति वीर्योल्लास बढ़ता है, आत्मशक्ति का प्रकटन होता है और राग-द्वेष की दुर्भेद्य ग्रन्थि के भेदन का पुरुषार्थ किया जाता है, ऐसा करण-परिणाम विकासगामी आत्मा के लिए प्रथम बार होता है, अतः यह आत्म-परिणाम अपूर्वकरण कहलाता है।[२२४]

यथाप्रवृत्तिकरण भाव में जीव अत्यल्प आत्मविशुद्धि के कारण राग-द्वेष रूपी शत्रुओं से युद्ध करता है, परन्तु मिथ्यात्व मोह के पुनः जाग्रत होने से जीव वहाँ से पलायन कर लेता है लेकिन कुछ जीव जिनका आत्मिक वीर्योल्लास बढ़ जाता है वे राग-द्वेष का भेदन करते हैं। भेदन की इस प्रक्रिया को 'अपूर्वकरण' कहते हैं। राग-द्वेष का भेदन करने से आत्मा को जो आनन्द प्राप्त होता हे, वह शेष सभी अनुभूतियों से अपूर्व होता है। इस अपूर्वकरण में जीव का मानसिक तनाव और संशय समाप्त हो जाता है और सम्यक्त्व की प्राप्ति होती है। अपूर्वकरण प्रक्रिया करते हुए जीव निम्नलिखित पाँच चरण भी पूर्ण करता है-

(1) **स्थितिघात**– कर्मविपाक की अवधि में परिवर्तन करना अर्थात् स्थिति कम करना।

(2) **रसघात**– कर्मविपाक एवं बन्धन की तीव्रता में कमी करना।

(3) **गुणश्रेणी**– कर्मों के क्रम में ऐसा परिवर्तन करना जिससे विपाक काल के पूर्व ही उनका फलभोग किया जा सके।

(4) **गुणसंक्रमण**– कर्मों का उनकी अवान्तर प्रकृतियों में रूपान्तर करना अर्थात् दुःखद वेदना को सुखद वेदना में बदल देना।

(5) **अपूर्वबन्ध**– क्रियमाण क्रियाओं के परिणामस्वरूप होने वाले बन्ध का अत्यन्त अल्पकालिक और अल्पतर मात्रा में होना।

यह अपूर्वकरण की प्रक्रिया अभव्य जीव कभी भी नहीं कर सकता है, भव्य जीव ही कर सकता है, किन्तु वह भी पुनः पुनः नहीं कर सकता। प्रथम गुणस्थान में होने वाले अपूर्वकरण में स्थितिघात और रसघात दो प्रक्रिया ही होती है तथा सातवें, आठवें और नौवें गुणस्थान मे होने वाले अपूर्वकरण में स्थितिघात, रसघात, गुणश्रेणी, गुणसंक्रमण और अपूर्वबन्ध पाँचों प्रक्रियाएँ होती हैं।

अनिवृत्तिकरण- अपूर्वकरण की प्रक्रिया के द्वारा राग और द्वेष की ग्रन्थियों का भेदन कर आत्मा अग्रिम प्रक्रिया अनिवृत्तिकरण करता है। इस प्रक्रिया में आत्मा मोह के आवरण को अनावृत्त कर अपने यथार्थ स्वरूप में अभिव्यक्त होती है। ऐसा विशुद्ध अध्यवसाय जिससे सम्यक्त्व प्राप्त किए बिना जीव निवृत्त नहीं होता है, उसे 'अनिवृत्तिकरण' कहते हैं।[२२५] अनिवृत्तिकरण में पुनः स्थितिघात, रसघात आदि पाँचों प्रक्रियाएँ अन्तर्मुहूर्त्त प्रमाण के लिए होती हैं।

यद्यपि गुणस्थान की अवधारणा जैनधर्म की एक प्रमुख अवधारणा है तथापि प्राचीन जैन आगम साहित्य यथा- आचारांग, सूत्रकृतांग, उत्तराध्ययन, ऋषिभाषित, दशवैकालिक, भगवती आदि में इसका कोई उल्लेख उपलब्ध नहीं होता है। मात्र समवायांग आगम ग्रन्थ में १४ गुणस्थानों के नामों का निर्देश हुआ है, परन्तु यहाँ गुणस्थान 'जीवस्थान' नाम से अभिहित हैं- "कम्मविसोहिमग्गणं पडुच्च चउद्दस जीवट्ठाणा पण्णत्ता, तं जहा– मिच्छादिट्ठी, सासायणसम्मदिट्ठी, सम्मामिच्छादिट्ठी, अविरय–सम्मदिट्ठी, विरयाविरए, पमत्तसंजए, अप्पमत्तसंजए, निअट्टिबायरे, अनियट्ठिबायरे, सुहुमसंपराए–उवसामए वा खवए वा, उवसंतमोहे, खीणमोहे, सजोगीकेवली, अयोगीकेवली।"[२२६]

समवायांग के पश्चात् 'आवश्यकनिर्युक्ति'[२२७] में गुणस्थानों के १४ नामों का निर्देश मिलता है, परन्तु वहाँ भी इन्हें गुणस्थान नहीं कहा गया है। श्वेताम्बर परम्परा में इन १४ अवस्थाओं के लिए गुणस्थान शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग 'आवश्यकचूर्णि'[२२८] में मिलता है। दिगम्बर परम्परा में कषायपाहुड[२२९] के अतिरिक्त षट्खण्डागम[२३०], मूलाचार[२३१], भगवती आराधना[२३२] एवं समयसार[२३३] जैसे आध्यात्मिक ग्रन्थों में तथा तत्त्वार्थसूत्र की पूज्यपाद देवनन्दी की सर्वार्थसिद्धि[२३४], भट्ट अकलंक

के राजवार्तिक[२३५], विद्यानन्द के श्लोकवार्तिक[२३६] आदि दिगम्बर आचार्यों की टीकाओं में इस सिद्धान्त का विस्तृत विवेचन हुआ है।

ज्ञानादि गुणों की अपेक्षा से जीवों की असंख्य प्रकार की विभिन्नताओं को जैन दार्शनिकों ने एक-एक वर्ग में विभाजित करके गुणस्थान नामक चौदह भेदों में व्यवस्थापित किया है। चौदह गुणस्थानों के नाम इस प्रकार हैं-

मित्थे सासणमीसे अविरय देसे पमत्त अपमत्ते।
नियट्टी अनियट्टी सुहुमुवसमखीण संजोग अजोगिगुणा।।[२३७]

चौदह गुणस्थान हैं- १. मिथ्यात्व २. सास्वादन ३. मिश्र ४. अविरत सम्यग्दृष्टि ५. देशविरत ६. प्रमत्तसंयत ७. अप्रमत्तसंयत ८. निवृत्त बादर ९. अनिवृत्त बादर १०. सूक्ष्म संपराय ११. उपशांत मोह १२. क्षीण मोह १३. सयोगी केवली १४. अयोगी केवली।

चौदह गुणस्थानों में प्रथम से चतुर्थ गुणस्थान तक का क्रम दर्शन की अवस्थाओं को प्रकट करता है, जबकि पाँचवें से बारहवें गुणस्थान तक का विकासक्रम सम्यक्चारित्र से सम्बन्धित है। तेरहवां एवं चौदहवां गुणस्थान आध्यात्मिक पूर्णता का द्योतक है। दूसरा और तीसरा गुणस्थान मात्र चतुर्थगुणस्थान से प्रथम गुणस्थान की ओर होने वाले पतन को सूचित करता है।

चौदह गुणस्थानों की कुछ अन्य विशेषताएँ

१. पहला, दूसरा और चौथा गुणस्थान मृत्यु के अनन्तर परजन्म में भी जीव के साथ चलता है, जबकि मिश्र और देशविरति से लेकर ग्यारहवें गुणस्थान को जीव इस लोक में ही छोड़कर परजन्म ग्रहण करते हैं।[२३८]

२. तीसरे, बारहवें और तेरहवें गुणस्थान मे जीव मृत्यु प्राप्त नहीं करता है तथा शेष ग्यारह गुणस्थानों में रहकर जीव मृत्यु प्राप्त कर सकता है।[२३९]

३. ग्यारहवें गुणस्थान मे सबसे अल्प जीव होते हैं। यहाँ एक समय में उत्कृष्ट चौपन जीव होते हैं। बारहवें गुणस्थान में संख्यात गुना जीव होते हैं। क्षपक श्रेणी की अपेक्षा वे एक समय में एक सौ आठ होते हैं और पूर्व प्रतिपन्न पृथक्त्व सौ पाये जाते हैं। इनसे अधिक आठवें, नौवें और दसवें गुणस्थानक में जीव होते हैं। इन गुणस्थानों में दोनों श्रेणियों के मिलाकर उत्कृष्ट एक सौ बहत्तर जीव एक समय में होते हैं। पाँचवें, दूसरे, तीसरे और चौथे गुणस्थान में अनुक्रम से असंख्य-असंख्य गुणा जीव होते हैं। चौदहवें गुणस्थान में अनन्त गुना और इससे अनन्त गुना अधिक मिथ्यादृष्टि गुणस्थान में जीव होते हैं।[२४०]

४. प्रथम गुणस्थान का स्थिति काल अनादि सांत, सादि सांत और अनादि अनन्त है।[२४१] दूसरे

गुणस्थान का काल छह आवलिका होता है।[२४२] चौथे गुणस्थान का समय तैंतीस सागरोपम से कुछ अधिक है।[२४३] पाँचवें और तेरहवें गुणस्थानकों का स्थिति काल नौ वर्ष कम कोटि पूर्व है।[२४४] चौदहवें गुणस्थानक का स्थितिकाल विलम्ब किए बिना ञ, म, ङ, ण, न - इन पाँच अक्षरों के उच्चारण काल जितना है।[२४५] शेष आठ गुणस्थानकों का काल अन्तर्मुहूर्त्त है।[२४६]

५. जैन दर्शन नियति और पुरुषार्थ के सिद्धान्तों के संदर्भ में एकान्तिक दृष्टिकोण नहीं अपनाता है, फिर भी यदि पुरुषार्थ और नियति के प्राधान्य की दृष्टि से गुणस्थान-सिद्धान्त पर विचार करें तो प्रथम से सातवें गुणस्थान तक की सात श्रेणियों में नियति की प्रधानता प्रतीत होती है और आठवें से चौदहवें गुणस्थान तक की सात श्रेणियों में पुरुषार्थ का प्राधान्य प्रतीत होता है।

अब प्रस्तुत है चौदह गुणस्थानों का विशेष स्वरूप-

1. मिथ्यात्व गुणस्थान– दर्शन मोहनीय के भेद मिथ्यात्व-मोहनीय के कर्मोदय से जीव-अजीव, धर्म-अधर्म, पाप-पुण्य आदि के सम्बन्ध में सम्यक् समझ न होने की अवस्था को मिथ्यात्व गुणस्थान कहा जाता है। मिथ्यात्व गुणस्थान की अवस्था में जीव मिथ्यादृष्टि कहलाता है। मिथ्यात्व अज्ञान स्वरूप होते हुए भी गुणस्थान की कोटि में परिगणित होता है क्योंकि मिथ्यादर्शन और मिथ्याज्ञान भी कर्मों के क्षयोपशम से होते हैं। जिस प्रकार सघन बादलों के आवरण से सूर्य की प्रभा सर्वथा आच्छादित नहीं होती है, दिन-रात का पता चलता है उसी प्रकार मिथ्यात्व मोहनीय के उदय से जीव का उपयोग सर्वथा आवरित नहीं होता है। अन्यथा निगोदिया जीव भी अजीव कहे जायेंगे। इसी कारण से मिथ्यात्व को गुणस्थान की कोटि में रखा है।[२४७] प्रथम गुणस्थान आत्मा की सर्वथा अधःपतित अवस्था है। इस गुणस्थान में मोह की दोनों शक्तियाँ प्रबल होती हैं, फलस्वरूप आध्यात्मिक स्थिति निम्न होती है। कुछ विद्वान् इसे 'मिथ्यादृष्टि' गुणस्थान भी कहते हैं।

मिथ्या, वितथ, व्यलीक और असत्य ये सभी एकार्थक शब्द हैं। मिथ्यात्व काल की अपेक्षा से तीन प्रकार का है- अनादि-अनन्त, अनादि-सान्त और सादि-सान्त।[२४८] प्रथम भेद अभव्य जीवों की अपेक्षा से है जो कभी मुक्त नहीं होते, दूसरा भेद भव्य जीवों की अपेक्षा से है जो अनादिकालीन मिथ्यादर्शन रूप ग्रन्थि का भेदन करके सम्यग्दृष्टि बन जाते हैं और तीसरा भेद उन जीवों की अपेक्षा से है जो एक बार सम्यक्त्व प्राप्त करने के बाद पुनः मिथ्यात्वी हो जाते हैं। तीसरे भेद की अपेक्षा से मिथ्यात्व गुणस्थान की जघन्य और उत्कृष्ट स्थिति क्रमशः अन्तर्मुहूर्त्त और देशोन अर्ध पुद्गल परावर्त है। गोम्मटसार के अनुसार विपरीत, एकान्त, विनय, संशय और अज्ञान रूप मिथ्यात्व के

पाँच भेद हैं।[२४६] धवलाटीकाकार मिथ्यात्व के संशयित, अभिगृहीत और अनभिगृहीत ये तीन भेद स्वीकार करते हैं-

संसइदमभिग्गहियं अणभिग्गहिदं ति तं तिविहं।।[२५०]

प्रथम गुणस्थान की अवस्था में जीव के कुछ आन्तरिक और बाह्य लक्षण प्रकट होते हैं-

आन्तरिक लक्षण

१. आध्यात्मिक दृष्टि से यह आत्मा की बहिर्मुखी अवस्था है।
२. आत्मा यथार्थ ज्ञान और सत्यानुभूति से वंचित रहती है।
३. ज्ञानावरण के क्षयोपशम से होने वाले तीनों ज्ञान मिथ्यात्व गुणस्थान में मिथ्याज्ञान होते हैं।

बाह्य लक्षण

१. मिथ्यात्व गुणस्थान वाला जीव आप्त, आगम और पदार्थ तीनों पर श्रद्धान नहीं करता है।
२. अयथार्थ दृष्टिकोण के कारण असत्य को सत्य और अधर्म को धर्म मानकर चलता है।
३. प्रथम भूमिका वाला जीव पररूप को स्व-रूप समझकर उसी की प्राप्ति के लिए प्रतिक्षण लालायित रहता है और राग-द्वेष की प्रबल चोटों का शिकार बनकर तात्त्विक सुख से वंचित रहता है।
४. प्रथम अवस्था का जीव तत्त्व की अश्रद्धा के साथ अनेकान्तात्मक धर्म वाली वस्तु के स्वभाव को भी पसन्द नहीं करता। पारिभाषिक शब्दों में कहें तो रत्नत्रयात्मक धर्म को पसन्द नहीं करता। गोम्मटसार जीवकाण्ड में नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती इसे दृष्टान्त के साथ प्रस्तुत करते हैं, यथा- पित्त ज्वर से ग्रस्त व्यक्ति मीठे दूध आदि रस को पसन्द नहीं करता, उसी तरह मिथ्यात्व गुणस्थानक जीव होता है।
५. नैतिक दृष्टि से इस अवस्था में जीव को शुभाशुभ अथवा कर्त्तव्याकर्त्तव्य का विवेक नहीं होता।
६. यह जीव नैतिक विवेक और आचरण से शून्य होता है।
७. मानसिक दृष्टि से मिथ्यात्व गुणस्थान में प्राणी तीव्रतम क्रोध, मान, माया और लोभ कषायों के वशीभूत रहता है।
८. वासनात्मक प्रवृत्तियाँ उस जीव पर पूर्ण रूप से हावी होती है।

प्रथम गुणस्थान वाली आत्मा भव्य और अभव्य के भेद से दो प्रकार की होती हैं।

भव्य आत्मा– जो आत्मा भविष्य में कभी न कभी यथार्थ दृष्टिकोण से युक्त हो सम्यक् आचरण से आध्यात्मिक विकास कर पूर्णत्व प्राप्त कर सकेगा वह 'भव्यात्मा' है।

अभव्य आत्मा- वह आत्मा जो कभी भी आध्यात्मिक विकास नहीं कर सकेगी और न यथार्थ बोध ही प्राप्त कर सकेगी, वह अभव्य आत्मा होती है।

प्रबल मिथ्यात्व मोह के उदय से सम्यक्त्व रूप आत्मा आच्छादित होते हुए भी कुछ अंशों में अनावृत्त रहती है। उसी से मनुष्य, पशु आदि विषयों के अविपरीत प्रतीति भी प्रत्येक आत्मा को होती है। अतः इस अंशतः गुण की अपेक्षा से मिथ्यात्व को गुणस्थान की श्रेणी में रखा जाता है।

सम्यक्त्वी जीव का सर्वज्ञ कथन पर अखण्ड विश्वास होता है, किन्तु मिथ्यात्वी को नहीं होता है। इसीलिए मिथ्यात्वी को सम्यग्दृष्टि नहीं कहा जा सकता है।

एक द्रव्य या पर्याय के विषय में बुद्धि की मंदता के कारण सम्यग्ज्ञान या मिथ्याज्ञान का अभाव होने से न तो एकान्त श्रद्धा होती है और न एकान्त अश्रद्धा, तब जीव मिथ्यादृष्टि कहलाता है। परन्तु प्रत्येक वस्तु या पर्याय के विषय में एकान्त अश्रद्धा होने से मिथ्यात्वी जीव को मिश्रदृष्टि भी नहीं कह सकते।

काल की अपेक्षा से मिथ्यात्व के तीन भेद स्वीकार किए जाते हैं- १. अनादि अनन्त, २. अनादि सान्त और ३. सादि सान्त।[२५१] प्रथम भेद के अधिकारी अभव्य जीव अथवा जाति भव्य (जो जीव भव्य होकर भी कभी मुक्त नहीं होता) जीव हैं। ये जीव सदा मिथ्यात्व में ही रहते हैं। दूसरा भेद उन जीवों की अपेक्षा से है, जो जीव अनादिकालीन मिथ्यादर्शन रूप ग्रन्थि का भेदन करके सम्यग्दृष्टि बन जाते हैं। ये जीव भव्य कहलाते हैं। तीसरा भेद उन जीवों की अपेक्षा से है जो एक बार सम्यक्त्व प्राप्त करने के बाद पुनः मिथ्यात्वी हो जाते हैं। इन जीवों की अपेक्षा से प्रथम मिथ्यात्व गुणस्थान की आदि तब होती है, जब वे सम्यक्त्व से पतित होकर प्रथम मिथ्यात्व गुणस्थान में आते हैं अथवा उपरिम गुणस्थानों से पतित होकर गिरते हुए मिथ्यात्व गुणस्थान को प्राप्त करते हैं। ऐसे जीवों की अपेक्षा से सादि-सान्त विकल्प है, क्योंकि जिसको एक बार सम्यक्त्व की प्राप्ति हो गई है, वह निश्चित मोक्षगामी होता है।

2. सास्वादन गुणस्थान

सम्यक्त्व की विराधना आसादन कहलाती है। कोई भी जीव जब इस सम्यक्त्व विराधना रूपी आसादन भावों से युक्त होता है तब वह 'सासादन' कहलाता है।[२५२] आसादन शब्द 'आयसादन' से बना है। प्राकृत भाषा में इसे सासायण कहते हैं तथा संस्कृत में यह सास्वादन और सासादन दो रूपों में मिलता है। आयसादन से तात्पर्य है उपशम सम्यक्त्व के लाभ का नाश करना।[२५३] व्याकरणशास्त्र के 'पृषोदरादि' नियम से आयसादन शब्द के यकार का लोप होने पर आसादन शब्द निष्पन्न होता है।[२५४]

तत्त्वज्ञानवाली चतुर्थ, पंचम आदि औपशमिक श्रेणियों से च्युत होकर जब कोई आत्मा तत्त्वज्ञानशून्य मिथ्यादृष्टि वाली प्रथम भूमिका के उन्मार्ग की ओर झुकती है, परन्तु मिथ्यात्व को प्राप्त नहीं करती, ऐसे मिथ्यात्व की ओर अभिमुख जीव को सम्यक्त्व का जो आंशिक आस्वादन शेष रहता है, उसी आंशिक आस्वादन के कारण आत्मा की यह अवस्था सासादन गुणस्थान कहलाती है।

इस गुणस्थान में प्रथम गुणस्थान की अपेक्षा आत्मशुद्धि अवश्य कुछ अधिक होती है अतः इसकी गणना प्रथम के पश्चात् की जाती है। यद्यपि यह गुणस्थान क्रम की अपेक्षा से विकासशील कहा जा सकता है, परन्तु वस्तुतः यह गुणस्थान आत्मा की पतनोन्मुख अवस्था का द्योतक है।

सरल शब्दों में यह कहा जा सकता है कि जैसे खीर का भोजन करने के बाद वमन करने वाले को खीर का आंशिक स्वाद आता रहता है, वैसे ही सम्यक्त्व के परिणामों का त्याग करने के पश्चात् मिथ्यात्व की ओर अभिमुख जीव को कुछ समय पर्यन्त सम्यक्त्व का आस्वाद अनुभव में रहता है। इसीलिए जीव की यह अवस्था सास्वादन गुणस्थान कहलाती है।[२५५]

सास्वादन गुणस्थान वाला जीव मिथ्यात्व का उदय न होने से मिथ्यादृष्टि नहीं है, सम्यक् रुचि का अभाव होने से सम्यग्दृष्टि भी नहीं है तथा सम्यग्मिथ्यात्वरूप रुचि का अभाव होने से सम्यग्मिथ्यादृष्टि भी नहीं है, परन्तु सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्र का प्रतिबन्ध करने वाले अनन्तानुबंधी कषाय के उदय से उस जीव में विपर्ययज्ञान (विपरीताभिनिवेश/मिथ्याज्ञान) रहता है। वह जीव मिथ्यात्व की ओर अभिमुख हो रहा है वह मिथ्यात्वी के तुल्य कर्म करता है। यह विपर्यय ज्ञान दो प्रकार का होता है- अनन्तानुबन्धिजनित और मिथ्यात्वजनित। अनन्तानुबन्धिजनित विपर्ययज्ञान दूसरे गुणस्थान में पाया जाता है। अतः यह गुणस्थान मिथ्यात्वगुणस्थान से स्वतंत्र गुणस्थान है।[२५६]

प्रथमोपशम सम्यक्त्व के काल में जब जघन्य से एक समय और उत्कृष्ट से छह आवलिका शेष रहने पर अनन्तानुबंधी क्रोध, मान, माया, लोभ में से किसी एक कषाय का उदय होने पर सम्यक्त्व नष्ट हो जाता है तब जीव सासादन गुणस्थान में आ जाता है। पतनोन्मुख आत्मा की इस गुणस्थान तक पहुँचने की मध्यावधि (एक समय से छह आवलिका) ही इसका स्थितिकाल है।[२५७]

3. सम्यक्–मिथ्यादृष्टि गुणस्थान

जब किसी जीव का तत्त्वार्थश्रद्धान रूप सम्यक्त्व और तत्त्वार्थअश्रद्धान रूप मिथ्यात्व दोनों का मिला हुआ परिणाम द्रष्टव्य होता है तो वह आत्मविकास का तृतीय स्तर 'सम्यक्मिथ्यादृष्टि' गुणस्थान कहलाता है। सम्यक्त्व और मिथ्यात्व दोनों का मिश्रण होने से इसे 'मिश्र' गुणस्थान भी कहते हैं। उपाध्याय विनयविजय इसका लक्षण करते हैं कि जब दर्शन-मोहनीय के तीन पुंजों- शुद्ध

(सम्यक्त्व), अशुद्ध (मिथ्यात्व) और अर्द्धविशुद्ध (सम्यग्मिथ्यात्व) में से अर्द्धविशुद्ध पुंज का उदय होता है तब जिनप्रणीत तत्त्व पर श्रद्धा या अश्रद्धा नहीं होती है। इस प्रकार की मिश्रश्रद्धा वाले जीव को सम्यग्मिथ्यादृष्टि कहते हैं और उसका स्वरूपविशेष मिश्रगुणस्थान कहलाता है। कहा भी है-

पूर्वोक्तपुंजत्रितये स यद्यर्थविशुद्धकः,
समुदेति तदा तस्योदयेन स्याच्छरीरिणः।
श्रद्धा जिनोक्ततत्त्वेऽर्धविशुद्धासौ तदोच्यते,
सम्यग्मिथ्यादृष्टिरिति गुणस्थानं च तस्य तत्।।[२५८]

नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती के अनुसार पहले ग्रहण किए हुए अतत्त्वश्रद्धान को त्यागे बिना उसके साथ ही तत्त्वश्रद्धान होता है क्योंकि तत्त्वश्रद्धान का भी सद्भाव है। अतः यह सम्यग्मिथ्यादृष्टि गुणस्थान है।[२५९] दृष्टान्त पूर्वक सरल शब्दों में इसे समझाते हुए पंचसंग्रहकार और नेमिचन्द्र कहते हैं कि जिस प्रकार दही और गुड़ को मिला देने पर उनका अलग-अलग अनुभव नहीं किया जा सकता है, परन्तु उनका मिश्रभाव ही प्राप्त होता है। उसी प्रकार एक ही काल में सम्यक्त्व और मिथ्यात्व रूप मिला हुआ परिणाम मिश्र गुणस्थान कहलाता है-

दहिगुडमिव वा मिस्सं पुहभावं णेव कारिदुं सक्कं।
एवं मिस्सयभावो सम्मामिच्छो त्ति णादव्वो।।[२६०]

पारिभाषिक शब्दावली में सम्यग्मिथ्यात्व गुणस्थान सम्यक् प्रकृति कर्म के देशघाति स्पर्धकों का उदय-क्षय होने से, सत्ता में स्थित उन्हीं देशघाती स्पर्धकों उदयाभाव लक्षण रूप उपशम होने से और सम्यग्मिथ्यात्व कर्म के सर्वघाती स्पर्धकों का उदय होने से उत्पन्न होता है। कर्मों के क्षय एवं उपशम होने से यह गुणस्थान क्षायोपशमिक होता है।[२६१]

मनोवैज्ञानिक दृष्टि से तृतीय गुणस्थान जीव में निहित पाशविक एवं वासनात्मक जीवन के प्रतिनिधि इदम् (अबोधात्मा) और आदर्श एवं मूल्यात्मक जीवन के प्रतिनिधि नैतिक मन (आदर्शात्मा) के मध्य संघर्ष की वह अवस्था है जिसमें चेतन मन (बोधात्मा) अपना निर्णय देने में असमर्थता का अनुभव करता है और निर्णय को स्वल्प समय के लिए स्थगित रखता है। यह संघर्ष सत्य-असत्य, शुभ-अशुभ अथवा पाशविक वृत्तियों और आध्यात्मिक वृत्तियों के मध्य चलता रहता है। इस संघर्ष के दो परिणाम उभर कर आते हैं- प्रथम परिणाम- यदि संघर्ष में आध्यात्मिक एवं नैतिक पक्ष विजयी होता है तब व्यक्ति आध्यात्मिक विकास की दिशा में आगे बढ़कर यथार्थ दृष्टिकोण को प्राप्त कर चतुर्थ अविरत सम्यग्दृष्टि गुणस्थान में चला जाता है। द्वितीय परिणाम- यदि पाशविक वृत्तियां विजयी होती हैं तो व्यक्ति वासनाओं के प्रबलतम आवेगों के फलस्वरूप यथार्थ दृष्टिकोण से वंचित होकर पुनः पतित होकर प्रथम मिथ्यात्व गुणस्थान में चला जाता है।[२६२]

इस गुणस्थान का जघन्य और उत्कृष्ट काल अन्तर्मुहूर्त्त का होता है।[२६३]

तृतीय गुणस्थान में क्षायोपशमिक भाव होता है। मिथ्यात्व प्रकृति के उदय से जिस प्रकार सम्यक्त्व का निरन्वय नाश होता है, उसी प्रकार सम्यग्मिथ्यात्व प्रकृति के उदय से सम्यक्त्व का निरन्वय नाश नहीं पाया जाता है, क्योंकि सम्यग्मिथ्यात्व प्रकृति निरन्वयरूप से आप्त, आगम और पदार्थविषयक श्रद्धा का नाश करने के प्रति असमर्थ होती है। अतः उसके उदय से सत्-समीचीन और असत्-असमीचीन पदार्थ को युगपत् विषय करने वाली श्रद्धा उत्पन्न होती है। इसलिए यहाँ औदयिक भाव न कहकर क्षायोपशमिक भाव कहा जाता है।[२६४]

जो साधक मुक्ति पथ पर आगे बढ़ते हुए अपने लक्ष्य के प्रति संशयित हो जाता है वह पतनोन्मुख आत्मा चतुर्थ श्रेणी से पतित होकर इस अवस्था में आती है। चतुर्थ गुणस्थान में यथार्थ का बोध कर पुनः पतित होकर वह आत्मा अपने अपक्रान्ति काल में आदि में प्रथम गुणस्थान को प्राप्त करती है और उत्क्रान्ति काल में प्रथम से सीधे तृतीय गुणस्थान में आती है। प्रथम और चतुर्थ दोनों गुणस्थानों से आने के कारण तृतीय गुणस्थानवर्ती जीव में अर्धविशुद्ध श्रद्धा का भाव रहता है। प्रथम गुणस्थान से आने वाले जीव में रुचि का अभाव होता है और अरुचि का भाव भी दूर हो जाता है। इसी प्रकार चतुर्थ गुणस्थान से आने वाले जीव की जो रुचि होती है वह दूर हो जाती है और अरुचि का अभाव होता है। अतएव तृतीय गुणस्थान में रुचि-अरुचि दोनों का अभाव होता है। इसी का नाम अर्धविशुद्ध श्रद्धा है।[२६५]

लक्षण–

तृतीय गुणस्थान में आने पर जीव में जो परिवर्तन आते हैं, जिनसे यह ज्ञात होता है कि जीव तृतीय गुणस्थान की स्थिति में है, वे इस प्रकार हैं-

१. यह गुणस्थान भ्रान्ति की ऐसी अवस्था है जिसमें सत्य और असत्य इस रूप में प्रस्तुत होते हैं कि जीव यह बोध नहीं कर पाता है कि इसमें से सत्य क्या है और असत्य क्या?अतः वह पूर्णतः न तो भ्रान्त कहा जा सकता है एवं न अभ्रान्त।
२. यथार्थ बोध या शुभाशुभ के सम्बन्ध में सम्यक् विवेक जागृत नहीं होने से व्यक्ति नैतिक आचरण नहीं कर पाता है।
३. यह गुणस्थान आयुकर्म का बंध नहीं करता है। अतः इस अनिश्चित अवस्था में जीव मृत्यु को प्राप्त नहीं होता है, क्योंकि नेमिचन्द्र[२६६] के कथनानुसार मृत्यु उसी स्थिति में सम्भव है जिसमें भावी आयुकर्म का बन्ध हो सके। कलघाटगी[२६७] के अनुसार भी इस अवस्था में मृत्यु सम्भव नहीं हो सकती, क्योंकि मृत्यु के समय इस संघर्ष की शक्ति चेतना में नहीं होती।

अतः मृत्यु के समय यह संघर्ष समाप्त होकर या तो मिथ्यादृष्टिकोण को स्वीकार करता है अथवा सम्यक् दृष्टिकोण को।

४. सम्यग्मिथ्यादृष्टि जीव सकल संयम अथवा देशसंयम को ग्रहण नहीं करता, क्योंकि उनको ग्रहण करने योग्य परिणाम उसमें नहीं होते।

4. अविरत सम्यग्दृष्टि गुणस्थान

सम्यक्त्ववान होने पर भी जीव का सावद्ययोगों से त्याग न होने का भाव अथवा परिणाम आत्मविकास की चतुर्थ अवस्था 'अविरत सम्यग्दृष्टि' गुणस्थान कहलाती है।[२६८] हिंसादि सावद्य व्यापारों और पापजनक प्रयत्नों का त्याग 'विरति' कहलाती है और पापयुक्त व्यापार एवं प्रयत्न का त्याग नहीं होना 'अविरति' कहलाता है। औपशमिक[२६९], क्षायिक[२७०] एवं क्षायोपशमिक[२७१] तीन सम्यक्त्वों में से कोई एक सम्यक्त्व निश्चय से इस चतुर्थ अवस्था में होता है। अतः सम्यग्दृष्टि होकर भी जो जीव चारित्र मोह के उदय से व्रत को धारण नहीं कर सकता है उसे 'अविरतिसम्यग्दृष्टि' कहते हैं और यह स्वरूपविशेष 'अविरतसम्यग्दृष्टि गुणस्थान' होता है।[२७२] गोम्मटसार[२७३], षट्खण्डागम[२७४], तत्त्वार्थराजवार्तिक[२७५] और मूलाचार[२७६] में इस गुणस्थान की अपार संज्ञा 'असंयत सम्यग्दृष्टि' मिलती है।

इस सूत्र में प्रयुक्त सम्यग्दृष्टि पद आगे के समस्त गुणस्थानों में अनुवृत्ति को प्राप्त होता है अर्थात् पांचवें आदि समस्त गुणस्थानों में सम्यग्दर्शन पाया जाता है। आचार्य हरिभद्र ने सम्यग्दृष्टि अवस्था की तुलना स्थविरवादी बौद्ध परम्परा में महायान के 'बोधिसत्त्व' पद से की है।[२७७] क्योंकि बोधिसत्त्व का साधारण अर्थ है- ज्ञानप्राप्ति का इच्छुक। अतः इस अर्थ की अपेक्षा से बोधिसत्त्व सम्यग्दृष्टि से तुलनीय है। यदि बोधिसत्त्व के लोककल्याण के आदर्श को सामने रखकर तुलना करें तो वह बोधिसत्त्व उस सम्यग्दृष्टि जीव के तुल्य होता है जो भावी तीर्थंकर हो।

लक्षण—

इस अवस्था तक आने पर जीव के आत्मीय भावों में कुछ परिवर्तन दृष्टिगोचर होते हैं जो इस प्रकार हैं-

१. इस गुणस्थान में औपशमिक, क्षायोपशमिक, क्षायिक इन तीन में से कोई एक सम्यक्त्व होने से हेयोपादेय का विवेक होता है।

२. जीव की संसार के प्रति आसक्ति भाव में न्यूनता आती है।

३. आत्महितकारी प्रवृत्ति में उल्लास-वृद्धि होती है।

४. संयमविघातक अप्रत्याख्यानावरणकषाय का उदय रहने से आंशिक संयम का भी पालन

नहीं किया जा सकता है।

५. सम्यक्त्व होते हुए भी अप्रत्याख्यानावरण कषाय के उदय से जीव मोक्ष महल में जाने के लिए सोपान तुल्य व्रत-प्रत्याख्यान रूपी धर्म को जानते हुए भी ग्रहण नहीं कर सकता।

६. प्रथम तीन गुणस्थानों की अपेक्षा अनन्त गुणा विशुद्धि होती है।

७. यह गुणस्थान आध्यात्मिक विकास की वह अवस्था है जिसमें साधक को यथार्थता का बोध या सत्य का दर्शन हो जाता है। वह सत्य को सत्य रूप में और असत्य को असत्य रूप में जानता है।

८. जीव का इस अवस्था में दृष्टिकोण सम्यक् होता है, परन्तु उसका आचरण नैतिक नहीं होता है।

९. अशुभ को अशुभ मानते हुए भी जीव अशुभ के आचरण से बच नहीं पाता।

१०. इस अवस्था के साधक में वासनाओं पर अंकुश लगाने की अथवा संयम की क्षमता क्षीण होती है।

११. महाभारत के भीष्म पितामह के चरित्र समान इस अवस्था का साधक सत्य, शुभ और न्याय के पक्ष को समझते हुए भी असत्य, अशुभ और अन्याय का साथ छोड़ नहीं पाता।

आध्यात्मिक विकास के तीन चरण हैं- दर्शन, ज्ञान एवं चारित्र। अविरतसम्यग्दृष्टि गुणस्थान की भूमिका में दर्शन एवं ज्ञान दो चरण तो सम्यक् हो जाते हैं, किन्तु चारित्र या आचरण में पर्याप्त विकास नहीं होता है। इस गुणस्थानवर्ती जीव में संयमघातक अप्रत्याख्यानावरणीय कषाय का उदय रहता है, जिससे वह अशुभ को अशुभ मानते हुए भी उस अशुभ आचरण से बच नहीं पाता है। पारिभाषिक शब्दावली में अविरतसम्यग्दृष्टि गुणस्थान का तात्पर्य है कि दर्शनमोहनीय कर्म शक्ति के उपशमित हो जाने अथवा उसके आवरण के क्षीण हो जाने के कारण व्यक्ति को यथार्थ बोध हो जाता है, लेकिन चारित्र मोहनीय कर्म की सत्ता रहने के कारण व्यक्ति सम्यक् आचरण नहीं कर पाता।[२७८] सम्यक् श्रद्धान दर्शनमोहनीय के क्षय, उपशम अथवा क्षयोपशम से होता है। दर्शनमोहनीय के क्षय आदि कार्य करने के लिए यथाप्रवृत्तिकरण, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण ये तीन करण करने पड़ते हैं।

5. देशविरत गुणस्थान

देशविरत शब्द में 'देश' शब्द 'अल्प' अर्थ का और 'विरत' शब्द 'त्याग' का द्योतक है। अतः देशविरत से तात्पर्य है अल्प अंशों में त्याग करना। जो सम्यग्दृष्टि जीव सर्वविरति की आकांक्षा होने पर भी सर्व सावद्य का त्याग न कर सावद्यों की आंशिक मात्रा में निवृत्ति करते हैं वे 'देशविरति'

कहलाते हैं और जीव का यह स्वरूपविशेष 'देशविरत' गुणस्थान कहलाता है।[२७६] सामान्य भाषा में हिंसा, झूठ, चोरी, परस्त्रीगमन, अशुभाचार, क्रोध, लोभ आदि कषायों से आंशिक निवृत्ति देशविरत है। पारिभाषिक शब्दावली में अनन्तानुबन्धिकषाय चतुष्क एवं अप्रत्याख्यानावरण कषाय चतुष्क दोनों के सर्वघाती स्पर्धकों के उदयाभाव क्षय तथा इन्हीं का सदवस्थारूप उपशम होने पर एवं प्रत्याख्यानावरणकषाय चतुष्क के उदय होने से जीव में उत्पन्न होने वाले आत्मिक भावों की स्थिति है।

प्रत्याख्यानावरण कषाय का उदय होने से इस गुणस्थान में जीव पाप-क्रियाओं से सर्वथा निवृत्त नहीं होता है, किन्तु अप्रत्याख्यानावरण का उदय न होने से देश (अंश) से पाप क्रियाओं से निवृत्त होता है। इस आंशिक त्यागमयी अवस्था के कारण ही यह आत्मिक भाव देशविरत गुणस्थान कहा जाता है और देशविरत गुणस्थानवर्ती जीव को 'देशविरति श्रावक' भी कहते हैं।[२८०] इस गुणस्थानवर्ती जीव को संयत और असंयत की मिश्र अवस्था के कारण 'संयतासंयत' और 'विरताविरत' संज्ञा भी देते हैं। एक ही समय में जीव त्रसहिंसा से विरत और स्थावर हिंसा से अविरत होने के कारण विरताविरत अथवा संयतासंयत अथवा देशसंयत कहलाता है।[२८१]

अनन्तानुबन्धि-कषाय एवं अप्रत्याख्यानावरणकषाय दोनों के सर्वघाती स्पर्धकों के उदयाभाव क्षय और उन्हीं दोनों कषायों के सदवस्थारूप उपशम होने से जीव में संयम होता है तथा प्रत्याख्यानावरण कषाय चतुष्क के देशघाती स्पर्धकों के उदय से जीव में असंयम होता है। अतः पंचम गुणस्थान में जीव संयमासंयम गुण परिणाम वाला होता है। यह संयमासंयम भाव क्षायोपशमिक है। अतः जीव में संयमासंयम रूप अप्रत्याख्यानचारित्र उत्पन्न होता है।

लक्षण—

१. यह गुणस्थान आध्यात्मिक विकास की पांचवीं श्रेणी है, परन्तु सम्यक् आचरण की दृष्टि से यह प्रथम सोपान है।
२. चतुर्थ अविरत-सम्यग्दृष्टि गुणस्थान में साधक कर्त्तव्याकर्त्तव्य का विवेक रखते हुए भी कर्त्तव्य पथ पर आरूढ़ नहीं हो पाता है, जबकि पंचम गुणस्थानवर्ती साधक कर्त्तव्यपथ पर यथाशक्ति चलने का प्रयास प्रारम्भ कर देता है।
३. इस गुणस्थान का साधक श्रावक के बारह व्रतों का आचरण करता है। कुछ एक व्रत लेते हैं और कुछ सर्वव्रत विषयक सावद्य योगों का त्याग करते हैं।
४. अधिकाधिक व्रतों का पालन करने वाले कुछ श्रावक तीन प्रकार की अनुमति को छोड़कर सावद्ययोगों का सर्वथा त्याग करते हैं।

५. इस गुणस्थान में साधक गृहस्थाश्रम में रहता हुआ भी वासनाओं पर यथाशक्ति नियन्त्रण करने का प्रयास करता है।

६. पंचम गुणस्थानवर्ती साधक यदि साधना पथ पर फिसलता है तो उसमें संभलने की क्षमता भी होती है। यदि साधक प्रमाद के वशीभूत न हो तो वह विकास क्रम में आगे बढ़ता है, अन्यथा प्रमाद के वशीभूत होने पर वह अपने स्थान से पतित हो जाता है।

७. पंचम गुणस्थानवर्ती आत्मा वासनामय जीवन से आंशिक निवृत्ति लेता है तथा यथाशक्ति अहिंसा, सत्य, अचौर्य आदि अणुव्रतों को ग्रहण करता है।

इस पंचम गुणस्थान का काल जघन्यतः अन्तर्मुहूर्त्त और उत्कृष्टतः देशोन पूर्वकोटि परिमाण है। प्रथम के चार गुणस्थान चारों गति- देव, मनुष्य, तिर्यंच और नरक के जीवों में पाए जाते हैं, किन्तु पाँचवां गुणस्थान मनुष्य और तिर्यंचों में ही होता है।

6. प्रमत्तसंयत गुणस्थान

अल्पविरति से अपेक्षाकृत शान्ति लाभ होता है तब तो सर्वविरति से और भी अधिक लाभ होना चाहिए, इस विचार से प्रेरित होकर जीव जब चारित्रमोह को और अधिक शिथिल करके 'स्व' रूप स्थिरता और 'स्व' रूप लाभ प्राप्त करने की चेष्टा करता है[२८२] तब वह सर्वविरति संयम प्राप्त करता है। संयम प्राप्त कर लेने पर भी जीव कषाय, निद्रा, विकथा आदि प्रमाद में रहता है। ऐसी स्थिति में 'जीव प्रमत्तसंयत' कहलाता है और आत्मा का यह गुणपरिणाम 'प्रमत्तसंयम' कहलाता है-

संयतस्सर्वसावद्ययोगेभ्यो विरतोऽपि यः।
कषाय–निद्रा–विकथादि–प्रमादैः प्रमाद्यति।।
स प्रमत्तः संयतोऽस्य प्रमत्तसंयताभिधम्।
गुणस्थानं प्राक्तनेभ्यः स्याद्विशुद्धिप्रकर्षभृत्।।[२८३]

पाँचवें गुणस्थान की अपेक्षा जीव के अध्यवसाय की धारा में जब अधिक विशुद्धता आती है, तब जीव छठे गुणस्थान को प्राप्त होता है। इस गुणस्थान में प्रत्याख्यानावरणीय कषायचतुष्क का क्षयोपशम हो जाने से जीव निर्ग्रन्थ मुनि अवस्था को स्वीकार करता है।

धवलाटीकाकार के अनुसार जो प्रमत्त होते हुए भी संयत होते हैं उन्हें प्रमत्तसंयत कहते हैं- "प्रकर्षेण मत्ताः प्रमत्ताः, सम्यग्यताः विरताः संयताः। प्रमत्ताश्च ते संयताश्च प्रमत्तसंयताः।"[२८४] प्रमत्त और संयत दो शब्दों के योग से निष्पन्न प्रमत्तसंयत शब्द में प्रमत्त और संयत दोनों ही शब्द भिन्न-भिन्न अर्थ के द्योतक हैं। 'प्रमत्त' शब्द से तात्पर्य है जो प्रकर्षरूप से प्रमादवान है। जैन ग्रन्थों में संयत शब्द के भिन्न-भिन्न अर्थ प्राप्त हैं- १. षट्खण्डागम की धवला टीका के अनुसार भले

प्रकार से जानकर और श्रद्धान कर जो जीव यमसहित होता है वह संयत है।[२८५] २. मूलाचार के अनुसार जो जीव सम्यक् प्रकार से प्रयत्नशील है अथवा व्रत सहित है वह संयत है।[२८६] ३. पंचसंग्रह के आधार पर सर्वसंयम घातक प्रत्याख्यानावरण कषाय के उदय न होने से जो जीव तीन करण तीनयोग से सर्वसावद्य व्यापारों से सर्वथा निवृत्त हो जाता है वह संयत है।[२८७]

आप्त, आगम और पदार्थों में यथार्थ श्रद्धा उत्पन्न होने पर जीव में स्वतः संयम की उत्पत्ति होती है और जीव हिंसा, असत्य, चौर्य, अब्रह्म और परिग्रह इन पापों से विरत होने लगता है। विरति से उसके कषायों में मन्दता आती है और वह निर्ग्रन्थ मुनि अवस्था को स्वीकार करता है। इस निर्ग्रन्थ अवस्था में जीव बाह्य परिग्रह से परिपूर्ण निवृत्त होता है, परन्तु आभ्यन्तर परिग्रह की निवृत्ति के लिए वह प्रयत्न करता है। जब तक अध्यवसायों में अप्रमत्तभाव रूप स्व स्वरूप रमण की तीव्रता नहीं आती, तब तक वह प्रमत्त संज्ञा को प्राप्त रहता है। प्रमत्त अवस्था में रहने पर उसके संयम का नाश नहीं होता है, बल्कि मलदोष उत्पन्न होता है। जब उसके अध्यवसायों में अप्रमत्तता आती है, उस समय वह अप्रमत्त अवस्था का वरण कर सातवें गुणस्थान अप्रमत्तसंयत में चला जाता है। परन्तु देहभाव रूप प्रमाद का पुनः सेवन करने से वह जीव छठे गुणस्थान में आ जाता है। इस प्रकार श्रमण छठे से सातवें तथा सातवें से छठे गुणस्थान में दोलायमान स्थिति में रहते हैं।

षट्खण्डागम के धवलाटीकाकार ने प्रमत्तसंयत को चित्रलाचरण भी कहा है। वह संयम के साथ-साथ प्रमाद मिश्रित आचरण करता है अतः वह प्रमत्त-संयत एवं चित्रलाचरण युक्त कहा जाता है।[२८८]

पारिभाषिक शब्दावली में प्रमत्तसंयत गुणस्थान की स्थिति तब बनती है, जब अनन्तानुबन्धि-कषाय, अप्रत्याख्यानावरण कषाय एवं प्रत्याख्यानावरण कषाय का उदयाभावी क्षय होता है अथवा सदवस्थारूप उपशम होता है। साथ ही संज्वलन कषाय और नोकषाय के सर्वघाती स्पर्धकों का उदयाभाव रूप क्षय होता है और देशघाती स्पर्धकों का तीव्र उदय होता है। इस प्रकार कषायों के उपशमन से संयम की लब्धि होती है और उदय से संयम में मलदोष उत्पन्न करने वाला प्रमाद भी उत्पन्न हो जाता है। अतएव इन स्थितियों में उत्पन्न होने वाला भाव प्रमत्त होते हुए भी संयत होता है।[२८९]

इस गुणस्थान में सम्यक्त्व और चारित्र दोनों का क्षयोपशम होता है, अतः यह गुणस्थान क्षायोपशमिक भाव रूप है।[२९०] देशविरत गुणस्थान की अपेक्षा से इस गुणस्थान में विशुद्धि का प्रकर्ष और अविशुद्धि का अपकर्ष होता है और अप्रमत्तसंयत गुणस्थान की दृष्टि से विशुद्धि का अपकर्ष एवं अविशुद्धि का उत्कर्ष होता है।

प्रमत्तसंयत गुणस्थानवर्ती जीव संयमी होते हुए भी प्रमत्त होता है। संयमी होने पर भी जीव प्रमादों में रहता है। गोम्मटसार जीवकाण्ड[२६१] और षट्खण्डागम की धवला टीका[२६२] में पन्द्रह प्रकार के प्रमादों की चर्चा मिलती है। जीव चार प्रकार की विकथा, चार प्रकार के कषाय, पाँच इन्द्रियाँ, एक निद्रा और स्नेह कुल पन्द्रह प्रकार के प्रमाद में रत रहता है-

विकहा तहा कसाया इंदियणिद्दा तहेव पणयो य।
चदु चदु पणमेगेगं होंति पमादा हु पण्णरसा।।[२६३]

लोकप्रकाशकार ने पन्द्रह प्रमादों में से कुछ ही प्रमादों जैसे विकथा, कषाय, निद्रा आदि का उल्लेख किया है- 'कषायनिद्राविकथादिप्रमादैः प्रमाद्यति।'[२६४]

लक्षण–

छठे प्रमत्तसंयत गुणस्थान प्राप्त करने वाले जीव के कुछ लक्षण इस प्रकार हैं-

१. यथार्थ बोध के पश्चात् जो साधक हिंसा, झूठ, मैथुन आदि अनैतिक आचरण से पूरी तरह निवृत्त होकर नैतिकता के मार्ग पर दृढ़ कदम रखकर बढ़ना चाहते हैं, वे इस वर्ग में आते हैं।[२६५]

२. इस गुणस्थान में प्रत्याख्यानावरण कषाय का क्षयोपशम होने से जीव सामायिक अथवा छेदोपस्थापनीय चारित्र प्राप्त करता है।

३. इस गुणस्थान में स्थित साधक में क्रोधादि कषायों की बाह्य अभिव्यक्ति का अभाव होता है यद्यपि बीज रूप में वे बनी रहती हैं।

४. साधक इस गुणस्थान में पहुँचकर अशुभाचरण से अधिकांश रूप में विरत हो जाता है और अशुभ मनोवृत्तियों को क्षीण करने का भरसक प्रयास करता है।

५. इस अवस्था में आचरण शुद्धि तो हो जाती है, परन्तु विचारशुद्धि का प्रयास चलता रहता है।

६. इस गुणस्थानवर्ती साधक को साधना के लक्ष्य का भान तो रहता है, परन्तु लक्ष्य के प्रति सतत जागरूकता का अपेक्षाकृत अभाव रहता है।

७. इस अवस्था में आत्मकल्याण के साथ लोककल्याण की भावना और तदनुकूल प्रवृत्ति होती है।

८. इस अवस्था में पूर्ण आत्म-जागृति सम्भव नहीं है।

7. अप्रमत्तसंयत गुणस्थान

अप्रमाद जनित विशिष्ट शान्ति का अनुभव करने की प्रबल लालसा से प्रेरित होकर

विकासगामी आत्मा प्रमाद का सर्वथा त्याग करता है और स्वरूप की अभिव्यक्ति के अनुकूल मनन-चिन्तन के सिवाय अन्य सभी व्यापारों का त्याग कर देता है। आत्मा का यह गुण परिणाम 'अप्रमत्तसंयम' गुणस्थान कहलाता है और इस गुणस्थान को प्राप्त जीव भी 'अप्रमत्तसंयत' कहलाता है।[२६६] इस गुणस्थान में सभी पन्द्रह प्रकार के प्रमादों का सर्वथा अभाव हो जाता है, अतः संयमी जीव 'अप्रमत्तसंयत' कहलाता है।

यश्च निद्राकषायादिप्रमादरहितो यतिः।
गुणस्थानं भवेत्तस्याप्रमत्तसंयताभिमध्।।[२६७]

यहाँ प्रयुक्त 'अप्रमत्त' शब्द आदि दीपक है अर्थात् आगे आने वाले सभी गुणस्थानों में जीव की अप्रमत्त अवस्था होती है। जो देह में रहते हुए भी देहातीत भाव से युक्त आत्मस्वरूप में रमण करते हैं और प्रमाद पर नियन्त्रण करते हैं, वे ही सजग साधक सप्तम गुणस्थान में आते हैं।

पारिभाषिक शब्दावली में प्रत्याख्यानावरण कषाय के सर्वघाती स्पर्धकों का उदयाभाव रूप क्षय अथवा सदवस्था रूप उपशम और संज्वलन कषाय एवं नौ नोकषाय का उदय मन्द होने से इस गुणस्थान में भी संयम की उत्पत्ति होती है।[२६८]

आत्मा का यह गुण परिणाम भी क्षायोपशमिक भावरूप है तथा सम्यक्त्व के प्रतिबन्धक कर्मों के क्षय, क्षयोपशम और उपशम से यह गुणस्थान क्षायिक, क्षायोपशमिक और औपशमिक भाव रूप वाला भी है।[२६९]

लक्षण–

अप्रमत्तसंयत गुणस्थान प्राप्त जीव के कुछ लक्षण इस प्रकार हैं-

१. सप्तम गुणस्थानवर्ती आत्मा व्रत, गुण और शील से मण्डित होता है।
२. सप्तम गुणस्थानवर्ती जीव निरन्तर आत्मा और शरीर के भेद-विज्ञान से युक्त होता है।
३. इस गुणस्थान को प्राप्त जीव ध्यान में ही लवलीन रहता है।
४. यह अवस्था पूर्ण सजगता की स्थिति है।
५. इस गुणस्थान में भी साधक को शारीरिक व्याधियाँ उत्पन्न हो सकती हैं।

इस गुणस्थान में साधक अल्पकाल अर्थात् अन्तर्मुहूर्त तक ही रहता है। भगवतीसूत्र में एक जीव के एक भव में अप्रमत्तसंयत गुणस्थान की समग्र स्थिति देशोनकोटि पूर्व मानी गई है-

'अपमत्तसंजयस्स णं भंते! अपमत्तसंजमे वट्टमाणस्स सव्वा वि य णं अप्पमत्तद्धा कालतो केवच्चिरं होंति?मंडियपुत्ता! एग जीवं पडुच्च जहन्नेणं अन्तोमुहुत्तं उक्कोसेणं पुव्वकोडी देसूणा! णाणा जीवे पडुच्च सव्वद्धं।'[२७०]

जो साधक अन्तर्मुहूर्त्त से अधिक देहातीत भाव में रहता है तो वह विकास की अग्रिम श्रेणि में प्रस्थान कर जाता है अथवा देहभाव की जागृति होने पर पुनः छठे गुणस्थान में चला जाता है।

इस गुणस्थान से आगे की विकास यात्रा जीव दो प्रकार से करता है। एक तो वह जिसमें कर्मदलिकों का उपशम किया जाता है और दूसरा वह जिसमें कर्मदलिकों को पूर्ण विनष्ट कर आगे बढ़ जाता है। पारिभाषिक शब्दावली में इन्हें क्रमशः उपशम श्रेणि और क्षपक श्रेणि कहा जाता है। सातवें गुणस्थान के अन्तिम समय में साधक इन दोनों श्रेणियों में से किसी एक का चयन करता है अथवा पुनः छठे गुणस्थान में लौट जाता है। उपशम श्रेणी से आरोहण करने वाला जीव अवश्य ही निम्न स्तर के गुणस्थानों में पुनः आता है, जबकि क्षपक श्रेणी वाला जीव लक्ष्य को प्राप्त कर लेता है।

8. अपूर्वकरण गुणस्थान

विकासोन्मुखी आत्मा जब प्रमाद को सर्वथा पराभूत कर देती है, तब वह आठवें गुणस्थान में आरोहण करती है। पूर्व गुणस्थानों की अपेक्षा इस गुणस्थान में आत्मिक परिणामों की अधिक विशुद्धता के कारण इसे अपूर्वकरण कहा जाता है।[३०१] 'अपूर्वकरण' शब्द 'अपूर्व' और 'करण' इन दो शब्दों से निष्पन्न है। अपूर्व से तात्पर्य है जो पूर्व में न हुआ हो और करण अर्थात् परिणाम। जो आत्मिक परिणाम पूर्व में प्राप्त न हुआ हो वह अपूर्वकरण कहलाता है- करणाः परिणामाः न पूर्वाः अपूर्वाः।[३०२] लोकप्रकाशकार के अनुसार स्थितिघात, रसघात, गुणश्रेणि, गुणसंक्रम और अपूर्वबन्ध इन पाँचों के जब पूर्व की अपेक्षा अधिक विशुद्ध परिणाम होते हैं तो वह आत्मिकगुण परिणाम अपूर्वकरण गुणस्थान होता है-

स्थितिघातो रसघातो गुणश्रेणिस्तथा परा।
गुणानां संक्रमश्चैव बन्धो भवति पंचमः।।
एषां पंचानामपूर्वकरणं प्रागपेक्षया।
भवेद्यस्यासावपूर्वकरणो नाम कीर्तितः।।[३०३]

अभिधानराजेन्द्रकोश में गुणस्थान की दृष्टि से अपूर्वकरण शब्द के व्युत्पत्त्यर्थ का उल्लेख मिलता है-"अपूर्वामपूर्वां क्रियां गच्छतीत्यपूर्वकरणम्। तत्र च प्रथमसमय एव स्थितिघातरसघातगुणश्रेणिगुणसंक्रमाः अन्यश्च स्थितिबन्धः इत्येते पंचाप्यधिकारा यौगपद्येन पूर्वमप्रवृत्ताः प्रवर्तन्ते इत्यपूर्वकरणम्।"[३०४]

तीन बादर कषायों अनन्तानुबंधी, अप्रत्याख्यानावरण व प्रत्याख्यानावरण की और संज्वलन क्रोध एवं मान कषायों की इस गुणस्थान में निवृत्ति हो जाती है, इसीलिए इसे निवृत्तिबादर गुणस्थान की संज्ञा से भी अभिहित किया जाता है।[३०५]

प्रो. सागरमल जैन के अनुसार इस अवस्था में कर्मावरण के काफी हल्का हो जाने के कारण

आत्मा एक विशिष्ट प्रकार के आध्यात्मिक आनन्द की अनुभूति करती है। ऐसी अनुभूतिपूर्व में कभी नहीं हुई होती है, अतः यह अपूर्व कही जाती है।[३०६]

ग्रन्थिभेद की प्रक्रिया से कर्मावरणों के क्षीण होने से जीव में एक प्रकार की आत्मशक्ति का प्रकटन हो जाता है, जिसके फलस्वरूप वह पूर्वबद्ध कर्मों की स्थिति और तीव्रता को कम करता है और साथ ही नवीन कर्मों का बंध भी अल्पकालिक एवं अल्पमात्रा में ही करता है। इस अवस्था में साधक उस प्रकटित आत्मशक्ति के द्वारा पूर्वबद्ध कर्मों की कालस्थिति एवं तीव्रता को कम करता है तथा कर्म-वर्गणाओं को ऐसे क्रम में रख देता है जिसके फलस्वरूप उनका समय के पूर्व ही फल भोग किया जा सके। साथ ही वह अशुभ फल देने वाली कर्म प्रकृतियों को शुभ फल देने वाली कर्म प्रकृतियों में परिवर्तित करता है एवं उनका मात्र अल्पकालीन बन्ध करता है। इस प्रक्रिया को पारिभाषिक शब्दावली में स्थितिघात, रसघात, गुणश्रेणी, गुणसंक्रमण और अपूर्वस्थितिबन्ध कहा जाता है।

आठवें गुणस्थान का काल जघन्य एक समय और उत्कृष्ट अन्तर्मुहूर्त्त मात्र है। अन्तर्मुहूर्त्त के काल में इस गुणस्थान में प्रतिसमय जीवों के अध्यवसाय स्थान परिवर्तित होते रहते हैं, इसलिए आठवें गुणस्थान के अध्यवसाय स्थान असंख्यात लोकाकाश प्रदेश परिमाण वाले होते हैं। इस गुणस्थान में भिन्न-भिन्न समय में जीव, जो परिणाम पूर्व में कभी भी नहीं प्राप्त हुए थे ऐसे अपूर्व परिणामों को धारण करते रहते हैं। अतएव अपूर्वकरण गुणस्थान में भिन्न-भिन्न समयवर्ती जीवों के परिणामों में कभी भी सदृशता नहीं पाई जाती है, किन्तु एक समसमयवर्ती जीवों के परिणामों में सदृशता और विसदृशता दोनों ही पाई जाती है-

एदम्हि गुणट्ठाणे विसरिस–समय–ट्ठिएहि जीवेहि।
पुव्वमपत्ता जम्हा होंति अपुव्वा हु परिणामा।।
भिण्णेसमय–ट्ठिएहि दु जीवेहि ण होइ सव्वदा सरिसो।
करणेहि एक्क–समय–ट्ठिएहि सरिसो विसरिसो य।।[३०७]

इस गुणस्थान में साधक अधिकांश वासनाओं से मुक्त हो जाते हैं और मुक्ति को अपने अधिकार क्षेत्र की वस्तु मान लेते हैं। सदाचरण की दृष्टि से सच्चे पुरुषार्थ भाव का प्रकटीकरण इसी अवस्था में होता है। विकास की चौदह श्रेणियों में प्रथम सात श्रेणियों में अनात्म का आत्म पर अधिशासन होता है और अन्तिम सात श्रेणियों में आत्म का अनात्म पर अधिशासन हो जाता है।

सातवें गुणस्थान से जीव अपनी विकास यात्रा दो मार्गों- उपशमश्रेणी और क्षपक श्रेणी से आरम्भ करते हैं। इसलिए अपूर्वकरण गुणस्थान में चारित्र मोहनीय के क्षय की अपेक्षा से क्षपक श्रेणी जीव के क्षायिकभाव होता है और चारित्र मोहनीय के उपशम की अपेक्षा से उपशमक श्रेणी जीव के

औपशमिक भाव होता है।[३०८] इस तरह आठवें गुणस्थान में क्षायिक और औपशमिक भाव दोनों होते हैं।

9. अनिवृत्तिबादरसम्पराय गुणस्थान

अष्टम गुणस्थान के पश्चात् जब जीव के सम समयवर्ती परिणामों में भिन्नता नहीं रहती है तब उसे नवम गुणस्थान कहा जाता है। अनन्तानुबंधी आदि तीनों कषायों का क्षय अथवा उपशम होने पर और संज्वलन कषाय में से मात्र सूक्ष्म लोभ का उदय रहने से उत्पन्न आत्मिक गुण परिणाम 'अनिवृत्तिबादर सम्पराय' गुणस्थान कहलाता है। अनिवृत्त, बादर और सम्पराय इन तीन पदों का समस्त पद अनिवृत्तबादर सम्पराय होता है। अनिवृत्त पद में प्रयुक्त निवृत्त शब्द से तात्पर्य है व्यावृत्ति अर्थात् भिन्नता। सम समयवर्ती जीवों के जिन परिणामों में भिन्नता नहीं होती है वे परिणाम अनिवृत्तकरण कहलाते हैं-

परस्पराध्यवसायस्थानव्यावृत्ति लक्षणा।
निवृत्तिर्यस्य नास्त्येषोऽनिवृत्ताख्योऽसुमान् भवेत्।।[३०९]

बादर स्थूल को कहते हैं और 'संपराय' शब्द का अर्थ कषाय है, इसलिए स्थूल कषायों को बादरसम्पराय कहते हैं-

तथा किट्टीकृतसूक्ष्मसम्परायव्यपेक्षया।
स्थूलो यस्यास्त्यसौ स स्याद् बादरसंपरायकः।।[३१०]

इस प्रकार अनिवृत्ति रूप बादर सम्पराय को अनिवृत्तिबादर-सम्पराय गुणस्थान कहते हैं।

इस गुणस्थान में कषायों का अंश जैसे-जैसे कम होता जाता है, वैसे-वैसे परिणामों की विशुद्धि बढ़ती जाती है।[३११] इस गुणस्थान में उत्पन्न परिणामों से आयु कर्म को छोड़कर शेष सातों कर्मों की गुणश्रेणि-निर्जरा, गुणसंक्रमण, स्थितिघात और रसघात होता है। कर्मों की सत्ता का भी अत्यधिक परिमाण में नाश हो जाता है। प्रतिसमय कर्मप्रदेशों की निर्जरा भी असंख्यातगुणा बढ़ जाती है।

इस गुणस्थान का काल जघन्य और उत्कृष्ट से अन्तर्मुहूर्त्त प्रमाण है। एक अन्तर्मुहूर्त्त में जितने समय होते हैं, उतने ही अध्यवसाय स्थान इस गुणस्थान के होते हैं।[३१२] इस गुणस्थान के समसमयवर्ती जीवों के अध्यवसाय एक तुल्य शुद्धिवाले होते हैं। गुणस्थान में प्रविष्टि काल से लेकर दूसरे, तीसरे आदि क्रम से अन्तिम समय तक समान समय में अध्यवसाय भी समान ही होते हैं, इसलिए समान अध्यवसायों को एक ही अध्यवसाय स्थान माना जाता है।[३१३] इस प्रकार भिन्न समयवर्ती परिणामों में सर्वथा विसदृशता और एक समयवर्ती परिणामों में सदृशता ही होती है।

नववें गुणस्थान को प्राप्त करने वाले जीव उपशमक और क्षपक दो प्रकार के होते हैं।[३१४] जो चारित्र मोहनीय कर्म का उपशमन करते हैं, वे उपशमक जीव हैं और जो चारित्रमोहनीय कर्म का क्षय करते हैं वे क्षपक जीव हैं। इस गुणस्थान के अन्तिम समय तक संज्वलन लोभ को छोड़कर सभी कषाय और नोकषाय समाप्त हो जाते हैं।

10. सूक्ष्म सम्पराय गुणस्थान

मोहनीय कर्म की अट्ठाईस प्रकृतियों में से मात्र संज्वलन लोभ कषाय के सूक्ष्म खण्डों का उदय रहने पर और शेष सत्ताईस प्रकृतियों के क्षय अथवा उपशम से होने वाला आत्मिक गुण परिणाम दसवें गुणस्थान में पहुँच जाता है। लोभ का सूक्ष्म अंश रहने से इसका नाम सूक्ष्म सम्पराय गुणस्थान है-

सूक्ष्म कीट्टीकृतो लोभकषायोदयलक्षणः।
संपरायो यस्य सूक्ष्मसंपराय स उच्यते।।[३१५]

जिस प्रकार धुले हुए गुलाबी रंग के वस्त्र में लालिमा की सूक्ष्म सी आभा रह जाती है, उसी प्रकार दशम गुणस्थानवर्ती जीव संज्वलन लोभ के सूक्ष्म खण्डों का वेदन करता है।[३१६]

संज्वलन लोभ कषाय का भी क्षय हो जाने पर जीव दसवें गुणस्थान से सीधे बारहवें क्षीणमोह गुणस्थान में चला जाता है तथा जब संज्वलन लोभ कषाय का उपशम होता है तब वह जीव ग्यारहवें उपशान्त मोह नामक गुणस्थान में आरोहण कर जाता है।

11. उपशान्त मोह गुणस्थान

अध्यात्म मार्ग का साधक जब पूर्व अवस्था में रहे हुए सूक्ष्म लोभ को भी उपशान्त कर देता है, तब वह दसवें से ग्यारहवें गुणस्थान में आरोहण कर लेता है। इस अवस्था में पहुँच कर जीव कषायों का सर्वथा उपशमन करता है अर्थात् कषायों की सत्ता होने पर भी उनकी ऐसी स्थिति बनाता है कि उनमें संक्रमण, उद्वर्तनादिकरण, विपाकोदय अथवा प्रदेशोदय कुछ भी नहीं हो सकता। इस तरह जीव के कषायों की यह उपशमित अवस्था उपशान्त मोह अथवा उपशान्तमोहनीय गुणस्थान कहलाती है और वह जीव उपशान्तकषायवीतरागछद्मस्थ कहलाता है-

येनोपशमिता विद्यमाना अपि कषायकाः।
नीता विपाकप्रदेशोदयादीनामयोग्यताम्।।
उपशान्तकषायस्य वीतरागस्य तस्य यत्।
छद्मस्थस्य गुणस्थानं तदाख्यातं तदाख्यया।।[३१७]

उपशम विधि से वासनाओं एवं कषायों को दबाकर आगे बढ़ने वाले साधकों के लिए यह गुणस्थान उपशम श्रेणी का अन्तिम स्थान है अर्थात् इस गुणस्थान में विद्यमान जीव आगे के

गुणस्थानों को प्राप्त करने में समर्थ नहीं होते हैं और निश्चय ही उनका यहाँ से निम्न गुणस्थानों की ओर पतन होता है। अतः उपशम या निरोध साधना का सच्चा मार्ग नहीं है क्योंकि उसमें स्थायित्व नहीं होता है।

आचार्य नेमिचन्द्र गोम्मटसार में दृष्टान्त द्वारा ग्यारहवें गुणस्थान का स्पष्टीकरण करते हैं कि जिस प्रकार कतकफल से युक्त जल का मल तल में दब जाता है अथवा शरद ऋतु में सरोवर का पानी जैसे मिट्टी के नीचे जम जाने से स्वच्छ दिखाई देता है, किन्तु उनकी निर्मलता स्थायी नहीं होती, समय आने पर वह पानी पुनः मलिन हो जाता है, उसी प्रकार जो आत्माएँ कर्ममल के दब जाने से नैतिक प्रगति एवं आत्मशुद्धि की इस अवस्था को प्राप्त करती हैं वे एक समयावधि के पश्चात् पुनः पतित हो जाती हैं।

इसी विषय में गीता कहती है- दमन या निरोध से विषयों का निवर्तन तो हो जाता है, लेकिन विषयों का रस अर्थात् वैषयिक वृत्ति का निवर्तन नहीं होता। वस्तुतः उपशमन की प्रक्रिया में संस्कार निर्मूल नहीं होने से उनकी परम्परा समय पाकर पुनः प्रवृद्ध हो जाती है।

उपशान्त मोहगुणस्थान के अधिकारी-अविरत, देशविरत, प्रमत्त अथवा अप्रमत्तसंयतगुणस्थानवर्ती जीव, प्रथम तीन कषायचतुष्क कर्मों को शान्त करने वाला जीव उपशम श्रेणी में चढ़ सकता है-

असौ ह्युपशमश्रेण्यारम्भेऽनन्तानुबन्धिनः।
कषायान् द्रागविरतो देशेन विरतोऽथवा।।
प्रमत्तो वाऽप्रमत्तः सन् शमयित्वा ततः परम्।
दर्शनमोहत्रितयं शमयेदथ शुद्धधीः।।[318]

'कर्मग्रन्थावचूरौ तु इहोपशमश्रेणिकृत अप्रमत्तयतिरेव।'[319]

कर्मग्रन्थ की अवचूरि टीकाकार के अनुसार केवल अप्रमत्तसाधु ही उपशमश्रेणि में चढ़ सकता है।

प्रथम तीन संहनन[320] वज्रऋषभ नाराच, ऋषभनाराच और नाराच धारक जीव ही उपशम श्रेणि का आश्रय करता है। शेष तीन (अर्धनाराच, कीलिका और सेवार्त्त) संहननधारी जीव नहीं करते हैं। उपाध्याय विनयविजय भी कहते हैं-

श्रयन्त्युपशमश्रेणिमाद्यं संहननत्रयम्।
दधाना नार्धनाराचादिकं संहननत्रयम्।।[321]

उपशमश्रेणि जीव की विकास यात्रा– उपशम श्रेणि वाला निर्ग्रन्थ संयमी जीव प्रमत्त और अप्रमत्त संयत गुणस्थान के बीच सैंकड़ों बार गमन करके अपूर्वकरण गुणस्थान में पहुँचता है। आठवें में पहुँचने के पश्चात् प्रत्याख्यानी, अप्रत्याख्यानी कषाय, संज्वलन क्रोध, मान व माया तथा

नौ नोकषाय इन कुल बीस (४+४+३+९) प्रकृतियों का नौवें गुणस्थान में उपशमन करता है। तदनन्तर संज्वलन लोभ का दसवें गुणस्थान में उपशमन होता है। संज्वलन लोभ के उपशमन होने से जीव ग्यारहवें उपशान्तमोह नामक गुणस्थान में पहुँच जाता है। यहाँ जघन्य एक समय से लेकर उत्कृष्ट अन्तर्मुहूर्त्त तक कषाय उपशान्त रहते हैं। इस गुणस्थान की कालस्थिति पूर्ण होने पर अथवा भव का अन्त आने पर वह जीव निश्चय ही पतित होता है। पतित होते हुए वह पश्चानुपूर्वी क्रम से प्रमत्तसंयत गुणस्थान तक आ जाता है। कुछ जीव प्रथम गुणस्थान तक पहुँच जाते हैं। इस तरह पतित होता हुआ जीव तद्भव मोक्षगामी नहीं होता है और अर्धपुद्गलपरावर्त से कुछ कम समय तक संसार में भ्रमण करता है।

एक जन्म में जीव उत्कृष्टतः दो बार उपशमश्रेणि कर सकता है और उसके सभी भवों को मिलाकर उत्कृष्टतः चार बार उपशमश्रेणि करता है। कर्मग्रन्थ के वृत्तिकार के अनुसार एक जन्म में एक ही बार उपशमश्रेणि करने वाला क्षपक श्रेणि में जाता है। परन्तु यदि वह वर्तमान जन्म में ही दो बार उपशमश्रेणि करे तो क्षपक श्रेणि ग्रहण नहीं करता है-

कृतैकोपशमश्रेणिः क्षपकश्रेणिमाश्रयेत्।
भवेत् तत्र द्विः कृतोपशमश्रेणिस्तु नैव ताम्।।[३२२]

12. क्षीण कषाय गुणस्थान

जो साधक क्षायिक विधि से कषायों का निर्मूलन करते हुए विकास करते हैं, वे दसवें गुणस्थान में अवशिष्ट सूक्ष्म लोभ को भी नष्ट कर सीधे बारहवें गुणस्थान में आरोहण कर लेते हैं। इस वर्ग में आने वाला साधक मोहनीय कर्म की अट्ठाईस प्रकृतियों का सर्वथा क्षय कर देता है और उनकी सत्ता मात्र भी शेष नहीं रहती है, अतः इस गुणस्थान का नाम क्षीणकषाय अथवा क्षीणमोह है। इस गुणस्थान के प्राप्तकर्ता को क्षीणकषाय-छद्मस्थ वीतराग कहते हैं-

क्षीणाः कषाया यस्य स्युः स स्यात्क्षीणकषायकः।
वीतरागः छद्मस्थश्च गुणस्थानं यदस्य तत्।।
क्षीणकषायछद्मस्थ वीतरागाह्वयं भवेत्।।[३२३]

आचार्य नेमिचन्द्र गोम्मटसार में इसका पारिभाषिक लक्षण करते हैं कि जिस जीव की मोहनीय कर्म की प्रकृतियाँ निःशेष क्षीण अर्थात् प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश से रहित हो गयी हैं, वह निःशेष क्षीणमोह अथवा क्षीणकषाय है।[३२४]

क्षपकश्रेणि– उपाध्यायविनयविजय के अनुसार श्रेष्ठ संहनन वाला और आठ वर्ष से अधिक वय वाला मनुष्य अप्रमत्त रूप सद्ध्यान (धर्मध्यान व शुक्लध्यान) करते हुए क्षपक श्रेणि आरम्भ करता है।

इस विषय में कर्मग्रन्थ के लघुवृत्तिकार का कथन है कि जो जीव अत्यन्त शुद्ध परिणामी हो, उत्तम संहनन वाला हो, पूर्व से ही ज्ञान वाला हो, अप्रमत्त हो, शुक्लध्यानोपगत अथवा धर्मध्यानोपगत हो वही क्षपक श्रेणि प्रारम्भ करता है-

तथोक्तं कर्मग्रन्थलघुवृत्तौ– 'क्षपकश्रेणिप्रतिपन्नः मनुष्यः वर्षाष्टकोपरिवर्त्ती अविरतादीनां अन्यतमः अत्यन्तशुद्धपरिणामः उत्तमसंहननः तत्र पूर्वविद् अप्रमत्तः शुक्लध्यानोपगतोऽपि केचन धर्मध्यानोपगतः इत्याहुः।'[३२५]

विशेषावश्यक वृत्ति के अनुसार पूर्वधर और अप्रमत्त संयमी शुक्ल ध्यान में रहकर अथवा अविरति आदि धर्मध्यान में रहकर भी क्षपक श्रेणि आरम्भ करते हैं-'विशेषावश्यक वृत्तौ च पूर्वधरः अप्रमत्तः शुक्लध्यानोपगतः अपि एतां प्रतिपद्यते शेषास्तु अविरतादयः धर्मध्यानोपगता इति निर्णयः।'[३२६]

क्षपकश्रेणी का जीव चतुर्थ से सप्तम तक के किसी भी एक गुणस्थान में रहते हुए अन्तर्मुहूर्त्त में एक साथ अनन्तानुबन्धी कषाय चतुष्क और मिथ्यात्व, मिश्र एवं समकित मोहनीय इस दर्शन सप्तक का नाश करता है। तत्पश्चात् जिस तरह अग्नि एक काष्ठ को आधा दग्ध कर प्रायः अन्य काष्ठ में पहुँच कर उसे भी जलाती है उसी तरह क्षपक श्रेणी का जीव आठवें गुणस्थान में प्रत्याख्यानी और अप्रत्याख्यानी कषाय चतुष्कों के क्षय के साथ-साथ अन्य कर्मों की प्रकृतियों का भी क्षय करता है। नवें गुणस्थान में पहुँचकर सूक्ष्म संज्वलन लोभ को छोड़कर शेष कषाय चतुष्क और नोकषाय के तीनों वेद (स्त्री, पुरुष, नपुंसक) का क्षय करता है। दसवें गुणस्थान में वह साधक संज्वलन लोभ का भी निर्मूलन कर देता है। लोभ नाश के पश्चात् क्षपक मुनि मोह सागर को पार कर लेते हैं। फिर अन्तर्मुहूर्त्त विश्राम कर क्षीणकषाय नामक बारहवें गुणस्थान में पहुँच जाते हैं। यहाँ पहुँच कर प्रथम क्षण में निद्रा और प्रचला का नाश करते हैं और अन्तिम समय में पाँच ज्ञान के आवरण, चार दर्शन के आवरण तथा पाँच अन्तराय- कुल चौदह कर्म प्रकृतियों का विनाश कर 'जिन' हो जाते हैं। अतः लोकप्रकाशकार कहते हैं- ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय कर्मों का क्षय करने वाला जिन कहलाता है-

पंचज्ञानावरणानि चतस्रो दर्शनावृतीः।
पंचविघ्नांश्च क्षणेऽन्त्ये क्षपयित्वा जिनो भवेत्।।[३२७]

बारहवें गुणस्थान का जघन्य और उत्कृष्ट काल अन्तर्मुहूर्त्त है। इस अन्तर्मुहूर्त्त काल के अन्तिम समय में ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय नामक तीनों कर्मों के आवरणों को नष्ट कर क्षपक श्रेणि साधक अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन और अनन्तशक्ति से युक्त हो विकास की अग्रिम श्रेणी में चले जाते हैं।

13. सयोगीकेवली गुणस्थान

क्षीणकषाय गुणस्थान में अन्तर्मुहूर्त्त रहने के पश्चात् क्षपक श्रेणी का साधक तेरहवें गुणस्थान में आ जाता है। यह साधक और सिद्ध के बीच की कैवल्य अवस्था है। जीव के इस गुणस्थान में पहुँचने पर बन्धन के मिथ्यात्व, अविरति, कषाय, प्रमाद और योग इन पाँच कारणों में से योग के अतिरिक्त चार कारणों की भी समाप्ति हो जाती है। आयु, नाम, गोत्र और वेदनीय इन अघाती कर्मों की स्थिति रहने से आत्मा और देह के साथ सम्बन्ध बना रहता है। फलस्वरूप कायिक, वाचिक और मानसिक व्यापार जिन्हें जैन दर्शन में योग कहते हैं, वे भी यथावत् बने रहते हैं। इस प्रकार योग की सत्ता विद्यमान होने से जीव 'सयोगी' कहलाता है। घाती कर्मों (ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय एवं अन्तराय) के क्षय से जीव 'केवली' संज्ञा से अभिहित होता है। अतः योग वाले केवली जीव को सयोगी केवली कहते हैं और उसके गुणस्थान को सयोगीकेवली गुणस्थान कहते हैं-

कैवल्युपेतस्तैर्योगैः सयोगी केवली भवेत्।
सयोगिकेवल्याख्यं स्यात् गुणस्थानं च तस्य यत्।।[३२८]

इस गुणस्थान में मानसिक, वाचिक और कायिक क्रियाएँ होती हैं और इनके कारण बन्धन भी होता है, लेकिन कषायों के अभाव के कारण इनकी स्थिति नहीं बन पाती है। पहले क्षण में उनका बन्ध होता है, दूसरे क्षण में उनका प्रदेशोदय के रूप में विपाक होता है और तीसरे क्षण में वे कर्म परमाणु निर्जरित हो जाते हैं। अतः इस अवस्था में योग के कारण होने वाले बन्धन और विपाक की प्रक्रिया को कर्म-सिद्धान्त की मात्र औपचारिकता ही समझना चाहिए।

इस अवस्था में स्थित व्यक्ति को जैनदर्शन में अर्हत्, सर्वज्ञ अथवा केवली कहा जाता है। वेदान्त के अनुसार यही अवस्था जीवन्मुक्ति अथवा सदेह मुक्ति की अवस्था है।

केवली जीव सयोगी अवस्था में जघन्य से अन्तर्मुहूर्त्त और उत्कृष्ट से कुछ कम करोड़ पूर्व वर्ष तक रहते हैं। सयोगी केवली यदि तीर्थंकर हो तो वे तीर्थ की स्थापना करते हैं। यद्यपि क्षायिक सम्यक्त्व की प्राप्ति चौथे या सातवें गुणस्थान में ही हो जाती है तथापि उसमें परिपूर्णता ज्ञानावरण और दर्शनावरण के पूर्णतया क्षय होने पर तेरहवें गुणस्थान में ही आती है, जो सिद्धि पर्यन्त बनी रहती है। इस अपेक्षा से क्षायिकसम्यक्त्व 'सादि-अनन्त' है।

इस गुणस्थानवर्ती केवली भगवन्तों को मन, वचन एवं काया- इन तीनों योगों की प्रवृत्ति रहती है। अनुत्तरविमानवासी देवों अथवा मनःपर्यवज्ञानी द्वारा मन से पूछें गए प्रश्न का समाधान करने के लिए ये मनोवर्गणा रूप मनोयोग का प्रयोग करते हैं, उपदेश देने के लिए वचनयोग का तथा हलन-चलनादि क्रियाएँ करने के लिए काययोग का प्रयोग करते हैं-

मनोवाक्कायजाश्चैवं योगाः केवलिनोऽपि हि।
भवन्ति कायिकस्तत्र गमनागमनादिषु।।
वाचिको यतमानानां जिनानां देशनादिषु।
भवत्येवं मनोयोगोऽप्येषां विश्वोपकारिणाम्।।
मनः पर्यायवद्भिर्वा दैवैर्वानुत्तरादिभिः।
पृष्टस्य मनसार्थस्य कुर्वतां मनसोत्तरम्।।[३२९]

सयोगी केवली जीव में यदि वेदनीय, नाम और गोत्र कर्म की स्थिति अधिक हो और आयुष्य कर्म की स्थिति कम हो, तो इन चारों अघाती कर्मों की स्थिति समान करने के लिए वे केवलीसमुद्घात करते हैं, किन्तु यदि चारों की स्थिति समान हो तो समुद्घात नहीं करते हैं।[३३०]

तेरहवें गुणस्थान के अन्त में अघाती कर्मों का क्षय करने के लिए वे जीव लेश्यातीत शुक्लध्यान को स्वीकार करते हैं और योगनिरोध के लिए उपक्रम करते हैं। पहले बादर काययोग से बादर मनोयोग का एवं तत्पश्चात् बादर वचनयोग का निरोध करते हैं। तदनन्तर क्रमशः सूक्ष्म काययोग, सूक्ष्म मनोयोग और सूक्ष्म वचनयोग का निरोध करके चौदहवें गुणस्थान को प्राप्त करते हैं।

14. अयोगीकेवली गुणस्थान

आत्मविकास के साधक सयोगीकेवली जब योगों से रहित हो जाते है तब वे अयोगीकेवली कहलाते हैं और उनका यह गुणस्थान अयोगी केवली गुणस्थान कहा जाता है-

नास्ति योगोऽस्येत्ययोगी तादृशो यश्च केवली।
गुणस्थानं भवेत्तस्यायोगि केवलिनामकम्।।[३३१]

यह गुणस्थान चारित्र विकास और स्वरूप स्थिरता की चरम अवस्था है। सयोगीकेवली गुणस्थान में यद्यपि आत्मा आध्यात्मिक पूर्णता को प्राप्त कर लेती है, फिर भी आत्मा का शरीर के साथ सम्बन्ध बना रहने के कारण शारीरिक उपाधियाँ लगी रहती हैं। तेरहवें गुणस्थान में तो वह जीव निष्काम भाव से उनका भोग करता है। लेकिन जब वह अपना आयुष्य पूर्ण होते देखता है तब आवश्यक होने पर केवलीसमुद्घात करता है और तत्पश्चात् सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाती शुक्लध्यान के द्वारा क्रमशः बादर और सूक्ष्म काययोग, मनोयोग और वचनयोग का निरोध करता है। तदनन्तर सूक्ष्मक्रियानिवृत्ति शुक्लध्यान से अपने शरीर के मुख, उदर आदि पोले भागों को पूर्ण करते हुए शरीर के तृतीय भाग परिमाण आत्मप्रदेशों का संकुचन कर उन्हें वर्तमान शरीर के दो तिहाई भाग जितने आकार का कर लेता है। इसके बाद वह अयोगी केवली समुच्छिन्नक्रियाअप्रतिपातिशुक्लध्यान को प्राप्त करता है और पाँच ह्रस्वाक्षर (अ, इ, उ, ऋ और लृ) के उच्चारण जितने समय में शैलेषीकरण के द्वारा चारों अघाती कर्मों का सर्वथा क्षय करके एक समय में ऋजुगति से ऊर्ध्वगमन कर लोक के

अग्रभाग में स्थित मोक्ष या सिद्धालय को प्राप्त कर लेता है।[३३२]

चौदहवें गुणस्थान में समग्र कायिक, वाचिक और मानसिक व्यापार अर्थात् योग का पूर्णतः निरोध हो जाता है। यह योग संन्यास है, यही सर्वांगीण पूर्णता है, चरम आदर्श की उपलब्धि है। इसके पश्चात् की अवस्था को जैन-विचारकों ने मोक्ष, निर्वाण, शिवपद एवं निर्गुण ब्रह्म स्थिति कहा है।

समीक्षण

१. संज्ञा शब्द का प्रयोग जैन दर्शन में जानना, विचार करना, अभिलाषा होना, पहचानना, नाम आदि अनेक अर्थों में हुआ है। किन्तु इसका विशेष प्रयोग आहार, भय, मैथुन एवं परिग्रह की अभिलाषा के लिए हुआ है। इसके आधार पर संज्ञा के चार प्रकार किए गए हैं। इनमें क्रोध, मान, माया, लोभ, लोक और ओघ संज्ञाओं को मिलाने पर संज्ञाएँ दस प्रकार की होती हैं तथा इन दस प्रकारों में सुख, दुःख, मोह, विचिकित्सा, शोक एवं धर्म संज्ञा को मिलाने पर संज्ञाओं की संख्या सोलह हो जाती है। ये सभी सोलह भेद अनुभव में आने के कारण अनुभव संज्ञा के अन्तर्गत आते हैं। जब जानने को संज्ञा कहा जाता है तो उसके मतिज्ञान आदि पाँच भेद किए जाते हैं। उपाध्याय विनयविजय ने ज्ञान संज्ञा और अनुभव संज्ञा दोनों का विवेचन करने के साथ संज्ञा के तीन भेद भी प्रतिपादित किए हैं- १. दीर्घकालिकी संज्ञा २. हेतुवाद संज्ञा ३. दृष्टिवाद संज्ञा। अतीत, अनागत एवं वर्तमान वस्तु विषयक ज्ञान दीर्घकालिकी संज्ञा कहलाती है। जीव जिस ज्ञान के द्वारा हित में प्रवृत्त और अहित से निवृत्त होता है उसे हेतुवाद संज्ञा कहते हैं। सम्यग्ज्ञान पूर्वक यथार्थ निरूपण करना दृष्टिवाद संज्ञा का कार्य है। इस प्रकार ये तीनों संज्ञाएँ ज्ञान से सम्बद्ध है। आहार आदि चार संज्ञाएँ प्रायः सभी संसारी जीवों में तब तक पाई जाती हैं जब तक वे मोह का क्षय नहीं कर दें। नारक जीवों में भय संज्ञा, तिर्यंचों में आहार संज्ञा, मनुष्यों में मैथुन संज्ञा और देवों में परिग्रह संज्ञा अधिक होती है।

संज्ञाओं से युक्त जीवों को संज्ञी कहते हैं किन्तु जैन दर्शन में एक विशेष संदर्भ में बिना मन वाले को असंज्ञी कहा गया है एवं समनस्क को संज्ञी। उपाध्याय विनयविजय दीर्घकालिकी संज्ञा युक्त जीव को संज्ञी स्वीकार करते हैं, क्योंकि हेय-उपादेय की विवेक शक्ति समनस्क जीवों में ही होती है।

२. जैन दर्शन में इन्द्रिय के मुख्यतः दो प्रकार प्रतिपादित हैं- द्रव्येन्द्रिय और भावेन्द्रिय। पुद्गलों से निर्मित इन्द्रियों को द्रव्येन्द्रिय तथा आत्मप्रदेशों में रही जानने की शक्ति एवं व्यापार को

भावेन्द्रिय कहते हैं। द्रव्येन्द्रिय के दो प्रकार हैं- निर्वृत्ति और उपकरण। पुद्गलों से बाह्य एवं आभ्यन्तर इन्द्रिय रचना को निर्वृत्ति द्रव्येन्द्रिय तथा उपयोग में सहायक बनने पर उसको उपकरण द्रव्येन्द्रिय कहा जाता है। भावेन्द्रिय भी दो प्रकार की हैं- लब्धि और उपयोग। मतिज्ञानावरण के क्षयोपशम से जीव में अर्थ (पदार्थ) को जानने की शक्ति प्रकट होती है उसे लब्धि भावेन्द्रिय कहते हैं तथा उस पदार्थ को जानने के व्यापार को उपयोग भावेन्द्रिय कहा जाता है। श्रोत्र, चक्षु आदि पाँच इन्द्रियों का निर्माण नामकर्म से सम्बद्ध है, जबकि उसमें जानने का कार्य मतिज्ञानावरण के क्षयोपशम से होता है। इन्द्रियों की ग्रहण शक्ति के सम्बन्ध में यह तथ्य आकर्षक है कि श्रोत्रेन्द्रिय अधिकतम १२ योजन दूर से आए शब्द को सुन सकती है, चक्षुइन्द्रिय अधिकतमक १ लाख योजन दूर स्थित पदार्थ को देख सकती है जबकि शेष इन्द्रियाँ नौ योजन दूर से आए विषयों को ग्रहण कर सकती हैं।

३. वेद शब्द का प्रयोग जैन दर्शन में स्त्री, पुरुष एवं नपुंसक को उत्पन्न होने वाली मैथुन अभिलाषा के अर्थ में हुआ है। इसे भी द्रव्य ओर भाव दो प्रकार का निरूपित किया गया है। नामकर्म के उदय से प्राप्त योनि एवं बाह्य लिंग द्रव्यवेद है ओर नोकषाय चारित्रमोहनीय कर्म के उदय से मैथुन की अभिलाषा भाववेद है। यह एक विचित्र तथ्य अभिव्यक्त हुआ है कि कोई व्यक्ति द्रव्य से पुरुषवेद वाला होकर भाववेद से पुरुष, स्त्री एवं नपुंसक तीनों प्रकार का हो सकता है। इसी प्रकार द्रव्य से स्त्रीवेद भी भाव से तीनों वेद वाला सम्भव है। जीवों के काम भाव को अथवा वासना को भाववेद कह सकते हैं। एकेन्द्रिय, विकलेन्द्रिय, सम्मूर्च्छिम तिर्यंच पंचेन्द्रिय, सम्मूर्च्छिम मनुष्य एवं समस्त नारक जीवों में नपुंसक वेद होता है। देवों में स्त्रीवेद और पुरुषवेद दो ही वेद होते हैं। गर्भज तिर्यंच पंचेन्द्रिय ओर गर्भज मनुष्य में तीनों वेद होते हैं। गर्भज मनुष्य अवेदी अर्थात् कामवासना रहित भी हो सकता है।

४. जीवों की आभ्यन्तर दृष्टि भिन्न-भिन्न होती है। कोई जीव सम्यग्दृष्टि होता है तो कोई मिथ्यादृष्टि और कोई मिश्रदृष्टि। जो वस्तु जैसी है उसे ठीक उसी रूप में समझना सम्यग्दृष्टि का स्वरूप है, मिथ्यादृष्टि ठीक इसके विपरीत है तथा मिश्रदृष्टि में दोनों का मिश्रित रूप रहता है। मनुष्य, देव और नारकी तीनों दृष्टियों में से किसी भी एक दृष्टि से युक्त हो सकते हैं, जबकि तिर्यंच पंचेन्द्रिय में कोई जीव सम्यग्दृष्टि भी हो सकता है, किन्तु शेष तिर्यंच जीव प्रायः मिथ्यादृष्टि ही होते हैं।

५. जैन दर्शन में निरूपित ज्ञान के स्वरूप एवं भेदों का प्रतिपादन विनयविजय ने लोकप्रकाश में

भी किया है। जैन दर्शन में ज्ञान के पाँच प्रकार मान्य हैं- मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्यवज्ञान और केवलज्ञान। इनमें मति और श्रुतज्ञान को परोक्ष एवं अवधि, मनःपर्यव और केवलज्ञान को प्रत्यक्ष की श्रेणि में रखा जाता है। मतिज्ञान की चार अवस्थाएँ हैं- अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा। इनका एक निश्चित क्रम है। अवग्रह के अनन्तर ईहा, ईहा के अनन्तर अवाय, फिर धारणा ज्ञान होता है। ज्ञान की प्रक्रिया का अत्यन्त सूक्ष्म एवं मनोवैज्ञानिक विवेचन जैन दर्शन की विशेषता है। श्रुतज्ञान मतिज्ञान की अपेक्षा विस्तृत एवं विशुद्ध है। इसके अक्षरश्रुत आदि अनेक भेद किए गए हैं। ज्ञानावरण का सर्वथा क्षय होने पर केवलज्ञान प्रकट होता है। केवलज्ञान के अन्तर्गत सभी द्रव्यों की सभी पर्यायों का साक्षात् प्रत्यक्ष होता है। मतिज्ञानी किसी अपेक्षा से द्रव्य से सर्व द्रव्य को, क्षेत्र से लोकालोक को, काल से सर्वकाल को और भाव से सर्व भावों को जानता-देखता है, किन्तु वह सर्व द्रव्यों की सर्व पर्यायों को नहीं देखता। इसी प्रकार श्रुतज्ञानी, अवधिज्ञानी, मनःपर्यवज्ञानी और केवलज्ञानी के सम्बन्ध में भी विशेष कथन किए गए हैं जो जैन दर्शन की ज्ञान सम्बद्ध की धारणा को स्पष्ट करते हैं।

६. जैन दर्शन की यह मान्यता है कि ज्ञान गुण जीव का स्वभाव है। ज्ञानावरण कर्म के कारण उसकी ज्ञान शक्ति बाधित होती है। ज्ञानावरण कर्म का पूर्ण क्षय होने पर जीव में पूर्ण ज्ञान प्रकट हो जता है जिसे केवलज्ञान भी कहा गया है। जब मिथ्यादृष्टि से कोई जीव युक्त होता है तो उसका समस्त ज्ञान अज्ञान में परिणत हो जाता है। अज्ञान के तीन ही प्रकार बताए हैं, मतिअज्ञान, श्रुतअज्ञान और विभंगज्ञान।

७. विनयविजय ने जीवों का वर्णन दर्शन के आधार पर भी किया है। दृष्टि द्वार में जहाँ सम्यग्दृष्टि, मिथ्यादृष्टि, मिश्र दृष्टि की चर्चा की गई है वहाँ दर्शन द्वार में ज्ञान के पूर्व होने वाले दर्शन का भी निरूपण किया गया है। यह दर्शन चार प्रकार का प्रतिपादित है- चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन, अवधिदर्शन और केवलदर्शन।

८. जीव का लक्षण उपयोग है। ज्ञान एवं दर्शन के व्यापार को उपयोग कहा गया है। ज्ञान को साकारोपयोग और दर्शन को अनाकारोपयोग कहा गया है। दर्शन के पश्चात् ज्ञानोपयोग होता है। अतः इनका क्रमभाव स्वीकार किया गया है। इनमें प्रत्येक की जघन्य एवं उत्कृष्ट स्थिति अन्तर्मुहूर्त्त है। अन्तर्मुहूर्त्त में ही ये क्रमशः बदलते रहते हैं।

९. जीव के लिए आहार अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। आहार से ही औदारिक, वैक्रिय और आहारक शरीर, पर्याप्तियों और इन्द्रियों का निर्माण होता है। विधि के आधार पर आहार के तीन

प्रकार हैं- लोमाहार, प्रक्षेपाहार (कवलाहार) और ओजाहार। कहीं कहीं चतुर्थ विधि मनोभक्षी आहार का भी वर्णन मिलता है। रोमों के द्वारा किया गया आहार लोमाहार, कवल या ग्रास के रूप में ग्रहण किया आहार प्रक्षेपाहार, सम्पूर्ण शरीर के द्वारा ग्रहण किया आहार ओजाहार तथा मन के द्वारा गृहीत आहार मनोभक्षी आहार कहलाता है। जन्म के समय सभी जीव ओजाहार ग्रहण करते हैं। फिर पर्याप्त अवस्था में आने पर वे लोमाहार ओर कवलहार करते हैं। चार अवस्थाओं में जीव अनाहारक होता है- विग्रह गति की अवस्था में, केवलि समुद्घात की अवस्था में, शैलेषी अवस्था में और सिद्धावस्था में।

१०. गुणस्थान सिद्धान्त जीवों के आत्मिक विकास की अवस्थाओं का द्योतक है। इन अवस्थाओं की भिन्नता के आधार पर मिथ्यात्व, सास्वादन, मिश्र, सम्यग्दृष्टि, देशविरति आदि चौदह गुणस्थान प्रतिपादित हैं। प्रायः मिथ्यादृष्टि संसारी जीव मिथ्यात्व गुणस्थान में रहते हैं। सम्यक्त्व का प्रारम्भ चौथे गुणस्थान से होता है तथा तेरहवें, चौदहवें गुणस्थान में सम्पूर्ण मोह का क्षय होने से केवलज्ञान प्रकट हो जाता है। डॉ. सागरमल जैन का मन्तव्य है कि गुणस्थान सिद्धान्त का विकास शनैः शनैः हुआ है।

संदर्भ

१. सर्वार्थसिद्धि, भारतीय ज्ञानपीठ, सूत्र 2.24, पृष्ठ 132
२. सर्वार्थसिद्धि, सूत्र 1.13, पृष्ठ 76
३. तत्त्वार्थसूत्र, प्रथम अध्याय, सूत्र 13
४. गोम्मटसार, जीवकाण्ड, मूलगाथा 659
५. सर्वार्थसिद्धि, सूत्र 2.24 पृष्ठ 132
६. गोम्मटसार जीवकाण्ड, मूलगाथा 134, पृष्ठ 269
७. गोम्मटसार जीवकाण्ड, जीवतत्त्वप्रदीपिका संस्कृत टीका, प्रथम महाधिकार, मूलगाथा 2, पृष्ठ 34
८. तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, 2.24
९. आचारांगनिर्युक्ति टीका, 1.1.38, पृष्ठ 8
१०. लोकप्रकाश, 3.442, पृष्ठ 142
११. आचारांग निर्युक्ति टीका, 1.1.38
१२. 'चत्तारि सण्णाओ पण्णत्ताओ, तंजहा–आहारसण्णा, भयसण्णा, मेहुणसण्णा, परिग्गहसण्णा।
–स्थानांग सूत्र, चतुर्थ स्थान, चतुर्थ उद्देशक, सूत्र 578
१३. भगवती सूत्र 7 वाँ शतक, 8वां उद्देशक
१४. आचारांगनिर्युक्ति टीका, अध्ययन 1, उद्देशक 1, निर्युक्ति गाथा 38, पृष्ठ 8
१५. आचारांगनिर्युक्ति टीका, 1.1.38, पृष्ठ 8
१६. स्थानांगसूत्र, अध्ययन 4, उद्देशक 4, सूत्र 579
१७. आचारांग निर्युक्ति टीका, अध्ययन 1, उद्देशक 1, निर्युक्ति गाथा 38, पृष्ठ 8
१८. स्थानांग सूत्र, अध्ययन 4, उद्देशक 4, सूत्र 580

१६. आचारांग निर्युक्ति टीका, 1.1.38, पृष्ठ 8
२०. स्थानांग सूत्र, अध्ययन 4, उद्देशक 4, सूत्र 581
२१. आचारांग निर्युक्ति टीका, 1.1.38, पृष्ठ 8
२२. स्थानांग सूत्र, अध्ययन 4, उद्देशक 4, सूत्र 582
२३. आचारांग निर्युक्ति टीका, 1.1.38, पृष्ठ 8
२४. आचारांग निर्युक्ति टीका, 1.1.38, पृष्ठ 8
२५. आचारांग निर्युक्ति टीका, 1.1.38, पृष्ठ 8
२६. आचारांग निर्युक्ति टीका, 1.1.38, पृष्ठ 8
२७. आचारांग निर्युक्ति टीका, 1.1.38, पृष्ठ 8
२८. आचारांग निर्युक्ति टीका, 1.1.38, पृष्ठ 8
२९. आचारांग निर्युक्ति टीका, 1.1.38, पृष्ठ 8
३०. आचारांग निर्युक्ति टीका, 1.1.38, पृष्ठ 8
३१. आचारांग निर्युक्ति टीका, 1.1.38, पृष्ठ 8
३२. आचारांग निर्युक्ति टीका, 1.1.38, पृष्ठ 8
३३. आचारांग निर्युक्ति टीका, 1.1.38, पृष्ठ 8
३४. आचारांग निर्युक्ति टीका, 1.1.38, पृष्ठ 8
३५. लोकप्रकाश, 3.445
३६. (क) लोकप्रकाश, 3.459
(ख) प्रवचनसारोद्धार, गाथा 919
३७. (क) लोकप्रकाश, 3.460, (ख) द्रष्टव्य– प्रवचनसारोद्धार, गाथा 920–921
३८. (क) लोकप्रकाश, 3.461 (ख) द्रष्टव्य – प्रवचनसारोद्धार, गाथा 922
३९. व्याख्याप्रज्ञप्ति शतक 19, उद्देशक 9, सूत्र 8
४०. व्याख्याप्रज्ञप्ति शतक 19, उद्देशक 9, सूत्र 32–33
४१. (क) प्रज्ञापना सूत्र, पद 8, सूत्र 725
(ख) स्थानांग सूत्र, दशम स्थान, सूत्र 105
४२. लोकप्रकाश, 3.580
४३. लोकप्रकाश, 3.587
४४. तत्त्वार्थसूत्र, 2.25
४५. लोकप्रकाश, 3.588
४६. लोकप्रकाश, 8.88, 9.18, 7.108, 6.172, 6.39 व 40, 5.134 तथा 4.122
४७. लोकप्रकाश, 3.464
४८. सर्वार्थसिद्धि, 1.14, पृष्ठ सं. 77
४९. गोम्मटसार जीवकाण्ड जीवतत्त्वप्रदीपिका कर्णाटवृत्ति सहित, पृष्ठ 295–296
५०. (क) लोकप्रकाश, 3.465
(ख) तत्त्वार्थ सूत्र, 2.19 'स्पर्शनरसनघ्राणचक्षुःश्रोत्राणि'।
(ग) प्रज्ञापना सूत्र, प्रमेयबोधिनी टीका, पद 15, सूत्र 1, कषायस्वरूपनिरूपण।
५१. तत्त्वार्थाधिगम भाष्य, 2.20 व्याख्या से उद्धृत।
५२. तत्त्वार्थसूत्र, 2.16 की व्याख्या में उद्धृत– 'दौ प्रकारौ द्रव्येन्द्रियभावेन्द्रियमिति।'
५३. लोकप्रकाश, 3.467–468
५४. लोकप्रकाश, भाग 1, पृष्ठ सं. 151 पर

५५. (क) लोकप्रकाश, 3.476
५६. लोकप्रकाश, 3.469–471
५७. लोकप्रकाश, 3.479–481
५८. 'एषां च सत्यां निर्वृत्तावुपकरणपयोगौ भवतः। सत्यां च लब्धौ निर्वृत्युपकरणोपयोगा भवन्ति। निर्वृत्यादीनामेकतराभावेऽपि विषयालोचनं न भवति।' – तत्त्वार्थाधिगमभाष्य, 2.19 के भाष्य से उद्धृत
५९. 'तस्यामान्तरनिवृत्तौ सत्यामपि पराहते। द्रव्यादिनोपकरणेन्द्रियेऽर्थाज्ञानदर्शनात्। –लोकप्रकाश, 3. 478
६०. (क) श्रोत्रं कदम्बपुष्पाभ्यां सैक गोलकात्यमकम्।
मसूरधान्यतुल्या स्याच्चक्षुषोऽन्तर्गताकृतिः।।
अतिमुक्तकपुष्पाभं घ्राणं च काहलाकृति।
जिह्वा क्षुरं प्राकारा स्यात् स्पर्शनं विविधाकृति।। –लोकप्रकाश, 3.472 और 473
(ख) गोम्मटसार जीवकाण्ड, जीवतत्त्वप्रदीपिका, गाथा 171
६१. स्तोकावगाहा दक् श्रोत्रघ्राणे संख्यगुणे क्रमात्। ततोऽसंख्यगुणजिह्वा संख्यघ्नं स्पर्शनं ततः।।
–लोकप्रकाश, 3.543
६२. पृथुत्वमंगुलासंख्यभागोऽतीन्द्रियवेदिभिः। त्रयाणामपि निर्दिष्टः श्रवणघ्राणचक्षुषाम्।।
अंगुलानां पृथक्त्वं च पृथुत्वं रसनेन्द्रिये। स्व स्व देहप्रमाणं च भवति स्पर्शनेन्द्रियम्।।
–लोकप्रकाश, 3.497 और 498
६३. लोकप्रकाश, 3.514–515
६४. लोकप्रकाश, 3.507
६५. लोकप्रकाश, 3.523
६६. लोकप्रकाश 3.524
६७. लोकप्रकाश, 4.124
६८. लोकप्रकाश, 6.38
६९. लोकप्रकाश, 6.39
७०. लोकप्रकाश, 6.39
७१. लोकप्रकाश, 6.172
७२. लोकप्रकाश, 7.106
७३. लोकप्रकाश, 8.87
७४. लोकप्रकाश, 9.18
७५. लोकप्रकाश, 3.578–579
७६. (क) सर्वार्थसिद्धि, 2.52
(ख) षट्खण्डागम धवला टीका, पुस्तक सं. 1/1,1,4
७७. पंचसंग्रह प्राकृत अधिकार, 1.101
७८. 'आत्मप्रवृत्तेर्मैथुनसंमोहोत्पादो वेदः – षट्खण्डागम धवलाटीका, 1/1,1,4/पृष्ठ 141
७९. लोकप्रकाश, 3.589
८०. पुंसा यतो योषिदिच्छा स पुंवेदोऽभिधीयते।
पुरुषेच्छा यतः स्त्रीणां स स्त्रीवेद इति स्मृतः।
यतो द्वयाभिलाषः स्यात् क्लीबवेदः स उच्यते।। –लोकप्रकाश, 3.590–591
८१. गोम्मटसार जीवकाण्ड, जीवतत्त्वप्रदीपिका, गाथा 271
८२. लोकप्रकाश, 3.591
८३. लोकप्रकाश, 4.126

८४. लोकप्रकाश, 5.314
८५. लोकप्रकाश, 6.41
८६. लोकप्रकाश, 6.173
८७. लोकप्रकाश, 7.14
८८. लोकप्रकाश, 9.19
८९. लोकप्रकाश, 8.88
९०. लोकप्रकाश, 6.174
९१. लोकप्रकाश, 7.110
९२. लोकप्रकाश, 7.109
९३. लोकप्रकाश, 3.596
९४. लोकप्रकाश, 3.596 की व्याख्या से उद्धृत
९५. द्रष्टव्य (क) तत्र दर्शनमोहनीयं त्रिभेदं सम्यक्त्वं मिथ्यात्वं तदुभयमिति।–सर्वार्थसिद्धि, 8.9
(ख) दंसणमोहं तिविहं सम्मं मीसं तहेव मिच्छत्तं,
सुद्धं अद्धविसुद्धं अविसुद्धं तं हवइ कमसो।। –कर्मग्रन्थ, भाग 1 गाथा 14
९६. लोकप्रकाश, 3.597
९७. लोकप्रकाश, 3.688
९८. यस्यां जिनोक्ततत्त्वेषु न रागो नापि मत्सरः।
सम्यग्मिथ्यात्वसंज्ञा सा मिश्रदृष्टिः प्रकीर्तिता।
धान्येष्विव नरा नालिकेरद्वीपनिवासितः।
जिनोक्तेषु मिश्रदृशौ न द्विष्टा नापि रागिणः।।–लोकप्रकाश, 3.696–697
९९. लोकप्रकाश, 3.665
१००. प्रवचनसारोद्धार, द्वितीय भाग, 149 सम्यक्त्व प्रकार नामक द्वार
१०१. (क) जिनवाणी, सम्यग्दर्शन विशेषांक, अगस्त 1996, सम्यक्त्व का स्पर्श श्री गौतममुनि, पृ.
(ख) प्रवचनसारोद्धार, भाग द्वितीय, गाथा 947
१०२. प्रवचनसारोद्धार, भाग द्वितीय, गाथा 948
१०३. लोकप्रकाश, 3.689
१०४. लोकप्रकाश, 3.690
१०५. लोकप्रकाश, 3.692
१०६. लोकप्रकाश, 3.693
१०७. लोकप्रकाश, 3.694
१०८. लोकप्रकाश, 3.695
१०९. लोकप्रकाश, 3.700
११०. लोकप्रकाश, 4.127 और 5.314
१११. लोकप्रकाश, 6.41, 42 और 43
११२. लोकप्रकाश, 6.175 और 176
११३. लोकप्रकाश, 7.15
११४. लोकप्रकाश, 7.111
११५. लोकप्रकाश, 8.89
११६. लोकप्रकाश, 9.19
११७. तत्त्वार्थसूत्र 1.1
११८. मतिश्रुतावधिमनःपर्यायाण्यथकेवलम्। ज्ञानानि पंच.... –लोकप्रकाश, 3.701
११९. (क) लोकप्रकाश, 3.944 (ख) 'आद्ये परोक्षम्', 'प्रत्यक्षमन्यत्' –तत्त्वार्थसूत्र, 1.11, 12
१२०. सर्वार्थसिद्धि, 1.9 की टीका से उद्धृत

१२१. लोकप्रकाश, 3.702
१२२. द्रष्टव्य– (क) लोकप्रकाश, 3.703
(ख) तत्त्वार्थसूत्र, 1.15
(ग) सर्वार्थसिद्धि 1.15 की टीका से उद्धृत
(घ) नन्दीसूत्र, सूत्र 27
(ड़) तत्त्वार्थाधिगमभाष्य, सूत्र 1.15
१२३. द्रष्टव्य (क) लोकप्रकाश, 3.706
(ख) सर्वार्थसिद्धि, 1.18 की टीका से उद्धृत
१२४. तत्त्वार्थसूत्र 1.18
१२५. द्रष्टव्य– (क) लोकप्रकाश, 3.708
(ख) सर्वार्थसिद्धि 1.19 की टीका से उद्धृत
(ग) तत्त्वार्थसूत्र 1.19
१२६. द्रष्टव्य– (क) लोकप्रकाश, 3.711
(ख) तत्त्वार्थसूत्र 1.15
(ग) सर्वार्थसिद्धि 1.15 की टीका में उद्धृत
(घ) तत्त्वार्थाधिगमभाष्य, सूत्र 1.15
१२७. द्रष्टव्य– (क) लोकप्रकाश, 3.712
(ख) तत्त्वार्थसूत्र 1.15
(ग) सर्वार्थसिद्धि 1.15 की टीका से
(घ) तत्त्वार्थाधिगमभाष्य सूत्र 1.15
१२८. द्रष्टव्य– (क) लोकप्रकाश, 3.713
(ख) तत्त्वार्थसूत्र 1.15
(ग) सर्वार्थसिद्धि 1.15 की टीका से
(घ) तत्त्वार्थाधिगमभाष्य सूत्र 1.15
१२९. द्रष्टव्य– (क) लोकप्रकाश, 3.707, 710, 711, 712 व 713
(ख) नन्दीसूत्र सूत्र 35
१३०. लोकप्रकाश, 3.768–769
१३१. लोकप्रकाश, 3.774
१३२. लोकप्रकाश, 3.784
१३३. लोकप्रकाश, 3.785
१३४. लोकप्रकाश, 3.787–88
१३५. लोकप्रकाश, 3.809–816
१३६. लोकप्रकाश, 3.817–818
१३७. लोकप्रकाश, 3.820
१३८. लोकप्रकाश, 3.839
१३९. आवश्यनिर्युक्ति गाथा 76
१४०. तत्त्वार्थ भाष्य 1.29
१४१. विशेषावश्यक भाष्य, गाथा 814
१४२. नन्दिसूत्र, सुत्त 38 की चूर्णि
१४३. लोकप्रकाश, 3.889–905
१४४. नन्दीसूत्र, सुत्त 39
१४५. लोकप्रकाश, 3.876 और 879
१४६. लोकप्रकाश, 3.882 और 888

१४७. लोकप्रकाश, 3.889 से 905
१४८. लोकप्रकाश, 3.924 से 933
१४९. लोकप्रकाश, 3.934 से 936
१५०. लोकप्रकाश, 3.964–965
१५१. लोकप्रकाश, 870 से 873
१५२. लोकप्रकाश, 4.128 और 5.314
१५३. लोकप्रकाश, 6.44
१५४. लोकप्रकाश, 6.177
१५५. लोकप्रकाश, 7.15
१५६. लोकप्रकाश, 7.111
१५७. लोकप्रकाश, 8.89
१५८. लोकप्रकाश, 9.19
१५९. लोकप्रकाश, 3.1009–1010
१६०. लोकप्रकाश, 3.983
१६१. लोकप्रकाश, 3.984
१६२. लोकप्रकाश, 3.987 और 991
१६३. लोकप्रकाश, 3.994 और 1000–1002
१६४. सर्वार्थसिद्धि टीका, 1,1,6
१६५. (क) लोकप्रकाश, 3.1049 (ख) षट्खण्डागम 1/1,1,4
(ग) पंचसंग्रह मूल गाथा 1.138 (घ) द्रव्यसंग्रह टीका, 43.186
१६६. द्रष्टव्य– (क) लोकप्रकाश, 3.1051 (ख) तत्त्वार्थराजवार्तिक 1,1,24
१६७. (क) तत्त्वार्थराजवार्तिक, पृष्ठ सं. 169, (ख) प्रमाणनयतत्त्वालोक 2.7
१६८. लोकप्रकाश, 3.1054
१६९. लोकप्रकाश, 3.1055
१७०. द्रष्टव्य
(क) लोकप्रकाश, 3.1056 से 1059
(ख) सिद्धिविनिश्चय में भी कहा गया है– अवधिज्ञान व विभंगज्ञान के अवधिदर्शन ही होता है। जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश, पृष्ठ 415 पर श्रुत, विभंग व मनःपर्यय दर्शन सम्बन्धी विचार बिन्दु से उद्धृत
१७१. लोकप्रकाश, 3.1063 की व्याख्या से उद्धृत, पृष्ठ 265
१७२. लोकप्रकाश, 3.1066–1067
१७३. तत्त्वार्थसूत्र 2.8
१७४. (क) भगवती सूत्र, शतक 2, उद्देशक 10 (ख) उत्तराध्ययन सूत्र 28.10
(ग) अन्तरंग और बहिरंग दोनों प्रकार के निमित्त से होने वाला चैतन्य का अन्वयी उपयोग कहलाता है– सर्वार्थसिद्धि 2.8 की टीका से उद्धृत।
(घ) स्व और पर को ग्रहण करने वाला परिणाम उपयोग है। षट्खण्डागम, धवला पुस्तक सं. 2/1,1
१७५. लोकप्रकाश, 3.1074
१७६. द्रष्टव्य– (क) लोकप्रकाश, 3.1075(ख) प्रज्ञापना सूत्र, प्रतिपत्ति 29, सूत्र 1908, 1909
(ग) सर्वार्थसिद्धि 2.9 की टीका से उद्धृत (घ) पंचास्तिकाय, गाथा 40
(ड़) गोम्मटसार जीवकाण्ड, गाथा 672
१७७. व्याख्याप्रज्ञप्ति, सं. 12, उद्देशक 5, सूत्र 32

१७८. व्याख्याप्रज्ञप्ति सं. 1, उद्देशक 9, सूत्र 14
१७९. लोकप्रकाश, 4.129 और 130
१८०. लोकप्रकाश, 5.314
१८१. लोकप्रकाश, 6.46
१८२. लोकप्रकाश, 6.179
१८३. लोकप्रकाश, 6.180
१८४. लोकप्रकाश, 7.15 और 16
१८५. लोकप्रकाश, 7.111
१८६. लोकप्रकाश, 8.90
१८७. लोकप्रकाश, 9.19
१८८. 'विग्गहगइमावन्ना केवलिणो समोहया अजोगी य।
सिद्धा य अणाहारा सेसा आहारगा जीवा।। –प्रवचनसारोद्धार, गाथा 1319
१८९. लोकप्रकाश, 3.1120
१९०. शरीरोपष्टम्भकानां पुद्गलानां समाहृतिः।
त्वगिन्द्रियादिस्पर्शेन लोमाहारः स उच्यते।।–लोकप्रकाश, 3.1126
१९१. 'मुखे कवलनिक्षेपादसौ कावलिकाभिधः।' – लोकप्रकाश, 3.1127
१९२. 'स सर्वोप्योज आहार ओजो देहार्हपुद्गलाः।
ओजो वा तैजसः कायस्तद्रूपस्तेन वा कृतः।। – लोकप्रकाश, 3.1125
१९३. प्रज्ञापना सूत्र, 28वां आहार पद, प्रथम उद्देशक
१९४. प्रज्ञापना सूत्र, 18वां आहार पद, प्रथम उद्देशक सूत्र 1796
१९५. प्रज्ञापना सूत्र, 18वां आहार पद, प्रथम उद्देशक, सूत्र 1796 के विवेचन से उद्धृत
१९६. द्रव्यानुयोग, प्रथम खण्ड, 13वां आहार अध्ययन के आमुख से उद्धृत, पृष्ठ 349
१९७. लोकप्रकाश, 3.1129
१९८. लोकप्रकाश, 3.1083
१९९. लोकप्रकाश, 3.1084
२००. (क) वही, 3.1096 (ख) तत्त्वार्थसूत्र 2.30
२०१. द्रष्टव्य (क) लोकप्रकाश, 3.1105
(ख) विदिसाउ दिसि पढमे, बीए पइ सरइ नाडिमज्झंमि।
उड्ढं तइए तुरिए उ नीइ, विदिसं तु पंचमए।।
–व्याख्याप्रप्ति शतक 14, उद्देशक 1, सूत्र 7 के हिन्दी विवेचन से उद्धृत, पृष्ठ 3591
२०२. व्याख्याप्रज्ञप्तिसूत्र, शतक 34, उद्देशक 1, सूत्र 2, 2
२०३. लोकप्रकाश, 3.1098
२०४. (क) लोकप्रकाश, 3.1099 और 1100
(ख) व्याख्याप्रज्ञप्ति, शतक 34, उद्देशक 1, सूत्र 2.2,
२०५. (क) लोकप्रकाश, 3.1101
(ख) व्याख्याप्रज्ञप्ति, शतक 14, उद्देशक 1, सूत्र 7, पृष्ठ सं. 359
२०६. (क) लोकप्रकाश, 3.1102 और 1103
२०७. (क) लोकप्रकाश, 3.1105
(ख) व्याख्याप्रज्ञप्ति, शतक 14, उद्देशक 1, सूत्र 7, पृष्ठ सं. 359
२०८. (क) लोकप्रकाश, 3.1107, 1112, 1113, 1115 से 1117
(ख) द्रव्यानुयोग, प्रथम भाग, अध्ययन 13 के आमुख से उद्धृत, पृष्ठ सं. 350
२०९. (क) लोकप्रकाश, 3.1119
(ख) द्रव्यानुयोग, भाग 1, अध्ययन 13 के आमुख से उद्धृत, पृष्ठ सं. 350

२१०. लोकप्रकाश, 4.131 से 133 और 5.314
२११. लोकप्रकाश, 6.49 और 50
२१२. लोकप्रकाश, 6.181 से 183
२१३. लोकप्रकाश, 7.112 से 114
२१४. लोकप्रकाश, 7.16
२१५. लोकप्रकाश, 8.92 और 93
२१६. लोकप्रकाश, 9.20 और 21
२१७. लोकप्रकाश, 3.601
२१८. लोकप्रकाश, 3.600
२१९. लोकप्रकाश, पृष्ठ सं. 177 से उद्धृत
२२०. लोकप्रकाश, 3.602
२२१. गुणस्थान सिद्धान्त : एक विश्लेषण, पंचम अध्याय, पृष्ठ सं. 46
२२२. लोकप्रकाश, 3.599–600
२२३. लोकप्रकाश, 3.603
२२४. गुणस्थान सिद्धान्त : एक विश्लेषण, पंचम अध्याय, पृष्ठ 48
२२५. लोकप्रकाश, 3.628
२२६. समवायांग सूत्र, चतुर्दशस्थानक, समवाय, सूत्र 95 पृष्ठ सं. 41
२२७. 'मिच्छादिट्ठी सासायणे य तह सम्ममिच्छादिट्ठी य।
अविरसम्मटिट्ठी विरयाविरए पमत्ते य।।
तत्ते य अप्पमत्तो नियट्टिअनियट्टिबायरे सुहुमे।
उवसंत खीणमोहे होइ सजोगी अजोगी य।। –निर्युक्तिसंग्रह
(आवश्यकनिर्युक्ति पृ. 149) भद्रबाहु विरचित, संपादक विजयजिनेन्द्रसूरि, प्रकाशक– श्री हर्ष पुष्पामृत जैन ग्रन्थमाला, लाखाबावल, शान्तिपुरी, सौराष्ट्र
२२८. आवश्यकचूर्णि, उत्तरभाग, पृ. 133–136, जिनदासगणि महत्तर, ऋषभदेव केशरीमल संस्था, रतलाम, सं. 1929
२२९. कषायपाहुड, 1.1 की व्याख्या।
२३०. षट्खण्डागम धवला टीका, संतप्ररूपणानुयोगद्वार, 1.1.8, पृष्ठ 161
२३१. मूलाचार, भाग 2, गाथा 1197–1198
२३२. भगवती आराधना, गाथा 1 पर अपराजितसूरिकृत टीका
२३३. समयसार, प्रथम अधिकार, गाथा 55 की टीका
२३४. सर्वार्थसिद्धि भारतीय ज्ञानपीठ, 9.1, पृष्ठ सं. 318–320
२३५. तत्त्वार्थराजवार्तिक, सं. प्रो. महेन्द्रकुमार जैन, भारतीय ज्ञानपीठ, भाग 2,9.1, पृष्ठ 588
२३६. तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, सं. – पं. मनोहरलाल, रामचन्द्रनाथारंगजी, मुम्बई,9.1, पृष्ठ 486
२३७. लोकप्रकाश, 3.1132
२३८. सव्व जीवाणं वि य, अक्खरस्स अणंतमो भागो निच्च उग्घाडियो चिट्ठइ।
जइ पुण सो वि आवरिज्जा, तेण जीवो अजीवत्तणं पाउणिज्जा।। –नन्दीसूत्र 75
२३९. लोकप्रकाश, 3.1277–1278
२४०. लोकप्रकाश, 3.1279–1280
२४१. लोकप्रकाश, 3.1281–1286
२४२. लोकप्रकाश, 3.1288–1290
२४३. लोकप्रकाश, 3.1291
२४४. लोकप्रकाश, 3.1291

२४५. लोकप्रकाश, 3.1294
२४६. लोकप्रकाश, 3.1295
२४७. लोकप्रकाश, 3.1296
२४८. स्थानांग सूत्र, 10/734
२४९. गोम्मटसार जीवकाण्ड, गाथा 15
२५०. षट्खण्डागम धवला टीका, जीवस्थान, 1.1.10, पृष्ठ सं. 164
२५१. (क) स्थानांग सूत्र 10.734
(ख) लोकप्रकाश, 3.1288
२५२. लोकप्रकाश, 3.1150 और 1151
२५३. (क) लोकप्रकाश, 3.1141 (ख)पंचसंग्रह, भाग 1, योगोपयोग मार्गणा अधिकार, गाथा 16–18 की व्याख्या, पृष्ठ सं. 139
२५४. पृषोदरादित्वाद्यशब्दलोपः कृद्बहुलमिति कर्तर्यनट्। –अभिधानराजेन्द्रकोश, भाग–सासणसम्मद्दिट्ठिगुणट्ठाण
२५५. 'यथा हि भुक्तक्षीरान्नविषयव्यलीकचित्तः पुरुषस्तद्वमनकाले क्षीरान्नरसमास्वादयति तथैषोऽपि मिथ्यात्वाभिमुखतया सम्यक्त्वस्योपरि व्यलीकचित्तः सम्यक्त्वमुद्वहन् तद्रसमास्वादयति। ततः स चासौ सम्यग्दृष्टिश्च तस्य गुणस्थानं सास्वादनसम्यग्दृष्टिगुणस्थानम्। –अभिधानराजेन्द्रकोश, सासणसम्मद्दिट्ठिगुणट्ठाण
२५६. षट्खण्डागम 1,1,10 की व्याख्या, पृष्ठ 165
२५७. गोम्मटसार, जीवकाण्ड, गाथा 19, पृष्ठ 50
२५८. (अ) लोकप्रकाश, 3.1154–1155
(ब) सम्मामिच्छुदयेण य, जत्तंतर सव्वघादिकज्जेण।
न य सम्मं मिच्छं पि य, सम्मिस्सो होदि परिणामो।।–गोम्मटसार जीवकाण्ड, गाथा 21
२५९. समीचीनासौ मिथ्या च सम्यग्मिथ्या, सा दृष्टिः– श्रद्धानं यस्यासौ सम्यग्मिथ्यादृष्टिरिति व्युत्पत्तेरपि पूर्वपरिगृहीतातत्त्वश्रद्धानापरित्यागेन सह तत्त्वश्रद्धानं भवति तथासंभवकारणसद्भावात्। –गोम्मटसार जीवकाण्ड, कर्णाटवृत्ति, जीवतत्त्वप्रदीपिका, गाथा 22 की टीका, पृष्ठ सं. 52
२६०. (अ) गोम्मटसार जीवकाण्ड, गाथा 22
(ब) पंचसंग्रह, योगोपयोग मार्गणा अधिकार, गाथा 16–18, पृष्ठ सं. 140
२६१. (अ) षट्खण्डागम जीवस्थान, 1.1.11, पृष्ठ सं. 170
(ब) मूलाचार, भाग 2, पृष्ठ सं. 314
२६२. गुणस्थान सिद्धान्तः एक विश्लेषण, प्रो. सागरमल जैन, अध्याय षष्ठ, पृष्ठ सं. 55
२६३. पंचसंग्रह, योगोपयोगमार्गणा अधिकार, गाथा 16–18, पृष्ठ 141
२६४. षट्खण्डागम जीवस्थान, 1.1.11, पृष्ठ सं. 170
२६५. पंचसंग्रह, भाग 1, योगोपयोगमार्गणा अधिकार, गाथा 16–18, पृष्ठ सं. 140–141
२६६. गोम्मटसार जीवकाण्ड, भाग 1, गाथा 23, पृष्ठ सं. 52–53
२६७. गुणस्थान सिद्धान्त : एक विश्लेषण, प्रो. सागरमल जैन, अध्याय षष्ठ, पृष्ठ सं. 56
२६८. (अ) सावद्ययोगाविरतो यः स्यात्तस्म्यकत्ववानपि।
गुणस्थानमविरतसम्यग्दृष्ट्याख्यमस्य तत्।। –लोकप्रकाश, द्रव्यलोक, 3.1157
(ब) प्रवचनसारोद्धार, प्राकृत भारती अकादमी, जयपुर, द्वार 224, पृष्ठ संख्या 297।
२६९. औपशमिक सम्यक्त्व–मिथ्यात्व का आश्रय पाकर बंधने वाले अनन्तानुबंधी क्रोध, मान, माया, लोभ तथा मिथ्यात्व, सम्यक्त्व एवं सम्यक् मिथ्यात्व प्रकृति नामक तीन दर्शनमोह इन कुल सात

प्रकृतियों के उपशम से औपशमिक सम्यक्त्व उत्पन्न होता है।

२७०. दर्शन सप्तक के क्षय से क्षायिक सम्यक्त्व उत्पन्न होता है।

२७१. दर्शन सप्तक के आंशिक क्षय और उपशम से क्षायोपशमिक सम्यक्त्व उत्पन्न होता है।

२७२. पंचसंग्रह, भाग 1, योगोपयोग मार्गणा अधिकार, गाथा 16–18, पृष्ठ 141

२७३. गोम्मटसार, जीवकाण्ड, गाथा 26

२७४. षट्खण्डागम, धवला टीका, जीवस्थान, 1.1.12

२७५. तत्त्वार्थराजवार्तिक, भाग 2, अध्याय 9, पृष्ठ 761

२७६. 'असंयतश्चासौ सम्यग्दृष्टि.....उपशमेन च स्यात्।' –मूलाचार, भाग 2, पृष्ठ सं. 314

२७७. गुणस्थान सिद्धान्त : एक विश्लेषण, डॉ. सागरमल जैन, अध्याय षष्ठ, पृष्ठ सं. 58

२७८. गुणस्थान सिद्धान्तः एक विश्लेषण, प्रो. सागरमल जैन, पृष्ठ सं. 57

२७९. 'स्थूलसावद्यविरताद्यो देशविरतिं श्रयेत्।
स देशविरतस्तस्य गुणस्थानं तदुच्यते।। –लोकप्रकाश, भाग 1, 3.1161

२८०. पच्चक्खाणुदयादो, संजमभावो ण होदि णवरिं तु।
थोववदो होदि तदो, देसवदो होदि पंचमओ।। –गोम्मटसार जीवकाण्ड, गाथा 30

२८१. जो तसवहाउ विरदो, अविरदो तह य थावरवहादो।
एक्कसमयम्हि जीवो, विरदाविरदो निसेक्कमइ। –गोम्मटसार, जीवकाण्ड, गाथा 31

२८२. कर्मग्रन्थ भाग 4 की भूमिका में 'गुणस्थान का विशेष स्वरूप' से उद्धृत, पृ.सं. 22

२८३. लोकप्रकाश, 3.1163–1164

२८४. षट्खण्डागम, जीवस्थान, धवला टीका, 1.1.14, पृष्ठ सं. 176

२८५. 'सम्यक् ज्ञात्वा श्रद्धाय यतः संयत इति व्युत्पत्तितस्तदवगतेः'– षट्खण्डागम, जीवस्थान, धवलाटीका, 1.1.14, पृष्ठ 178

२८६. मूलाचार भाग 2, गाथा 1197–1198 की व्याख्या, पृष्ठ सं. 314

२८७. पंचमसंग्रह भाग 1, योगोपयोग मार्गणा अधिकार, गाथा 16–18, पृष्ठ 142–143

२८८. ''वत्तावत्त–पमाए जो वसइ पमत्तसंजदो होइ।
सयल–गुण–सील–कलिओ महव्वई चित्तलायरणो।।
–षट्खण्डागम धवला टीका, जीवस्थान, 1.1.14, पृष्ठ सं. 179

२८९. द्रष्टव्य– (क) तत्त्वार्थराजवार्तिक, 9.1.17,पृष्ठ सं. 762
(ख) संजलंणणोकसायाणुदयादो संजमो हवे जम्हा।
मलजणणपमादो वि य तम्हा हु पमत्तविरदो सो।
–गोम्मटसार जीवकाण्ड, जीवतत्त्वप्रदीपिकाकर्णाटवृत्ति, गाथा 32, पृष्ठ सं. 60

२९०. मूलाचार, गाथा 1197–1198 की व्याख्या से उद्धृत, पृष्ठ सं. 314

२९१. गोम्मटसार जीवकाण्ड, गाथा 34, पृष्ठ सं. 62

२९२. षट्खण्डागम जीवस्थान, 1.1.14, पृष्ठ सं. 179

२९३. गोम्मटसार जीवकाण्ड, गाथा 34, पृष्ठ 62

२९४. लोकप्रकाश, 3.1163

२९५. गुणस्थान सिद्धान्त : एक विश्लेषण, प्रो. सागरमल जैन, षष्ठ अध्याय, पृष्ठ सं. 59

२९६. कर्मग्रन्थ भाग 4 की भूमिका से उद्धृत, पृष्ठ सं. 23

२९७. (क) लोकप्रकाश, 3.1166
(ख) द्रष्टव्य – 'न प्रमत्तसंयताः अप्रमत्तसंयताः पंचदशप्रमादरहितसंयता इति यावत्।'–षट्खण्डागम धवला टीका, जीवस्थान 1.1.15, पृष्ठ सं. 179

२९८. षट्खण्डागम जीवस्थान धवला टीका, 1.1.15 पृष्ठ सं. 179–180

२९९. 'संयमनिबन्धनसम्यक्त्वापेक्षया सम्यक्त्वप्रतिबन्धककर्मणां क्षयक्षयोपशमोपशम– जगुणनिबन्धनः' –

षट्खण्डागम जीवस्थान, धवलाटीका, 1.1.15, पृष्ठ 180

३००. व्याख्याप्रज्ञप्ति सूत्र, सूत्र 3.3.154

३०१. गोम्मटसार जीवकाण्ड, गाथा 51

३०२. षट्खण्डागम धवला टीका, जीवस्थान, 1.1.16, पृष्ठ सं. 181

३०३. लोकप्रकाश, 3.1167–1168

३०४. पंचसंग्रह, भाग 1, योगोपयोग मार्गणा अधिकार, गाथा 16–18, पृष्ठ सं. 144

३०५. (क) लोकप्रकाश, 3.1186

(ख) प्राकृत एवं संस्कृत साहित्य में गुणस्थान की अवधारणा, साध्वी डॉ. दर्शनकला श्री, प्रथम अध्याय, पृष्ठ सं. 16

३०६. गुणस्थान सिद्धान्त : एक विश्लेषण, प्रो. सागरमल जैन, अध्याय षष्ठ, पृष्ठ सं. 62

३०७. (क) गोम्मटसार जीवकाण्ड, गाथा 51–52

(ख) षट्खण्डागम धवलाटीका, जीवस्थान, 1.1.16, पृष्ठ 184

३०८. 'सम्यक्त्वापेक्षया तु क्षपकस्य क्षायिको भावः, दर्शनमोहनीयक्षयमविधाय क्षपकश्रेण्यारोहणानुपपत्तेः। उपशमकस्यौपशमिकः क्षायिको वा भावः, दर्शनमोहोपशमक्षयाभ्यां विनोपशमश्रेण्यारोहणानुपलम्भात्।'

–षट्खण्डागम जीवस्थान, धवलाटीका, 1.1.17, पृष्ठ 183–184

३०९. (क) लोकप्रकाश, 3.1187

(ख) समानसमयावस्थितजीवपरिणामानां निर्भेदेन वृत्तिः निवृत्तिः। अथवा निवृत्तिः व्यावृत्तिः न विद्यते निवृत्तिर्येषां तेऽनिवृत्तयः। –षट्खण्डागम धवलाटीका, जीवस्थान 1.1.17, पृष्ठ सं. 184–185

३१०. (क) लोकप्रकाश, 3.1188

(ख) साम्परायाः कषायाः, बादराः स्थूलाः बादराश्च ते सम्परायाश्च बादरसाम्परायाः।'

–षट्खण्डागम धवलाटीका, जीवस्थान, 1.1.17, पृष्ठ सं. 185

३११. लोकप्रकाश, 3.1191

३१२. लोकप्रकाश, 3.1192

३१३. लोकप्रकाश, 3.1193

३१४. लोकप्रकाश, 3.1194

३१५. (क) लोकप्रकाश, 3.1195

(ख) पंचसंग्रह, भाग 1, योगोपयोगमार्गणा अधिकार, गाथा 16–18,

(ग) गुणस्थान सिद्धान्त : एक विश्लेषण, प्रो. सागरमल जैन, षष्ठ अध्याय,

३१६. 'लोभः संज्वलनः सूक्ष्मः, शमं यत्र प्रपद्यते।
क्षयं वा संयतः सूक्ष्मः, सम्परायः स कथ्यते।।
कौसुम्भोन्तर्गतो रागो, यथा वस्त्रे तिष्ठते।
सूक्ष्मःलोभगुणे लोभः शोध्यमानस्तथा तनुः।। –पंचसंग्रह, भाग 1, गाथा 43–44

३१७. (क) लोकप्रकाश, 3.1197–1198

(ख) षट्खण्डागम धवला टीका, जीवस्थान, 1.1.19, पृष्ठ 189

(ग) उपशांताः साकल्येनोदयाऽयोग्याः कृताः कषायनोकषायाः येनासावुपशांतकषायः

–गोम्मटसार जीवकाण्ड कर्णाटवृत्ति जीवतत्त्वप्रदीपिका, गाथा 61, पृष्ठ सं. 126

३१८. लोकप्रकाश, 3.1199–1200

३१९. लोकप्रकाश, 3.398, पृष्ठ सं. 134

३२०. लोकप्रकाश, 3.1201

३२१. लोकप्रकाश, 3.1201

३२२. लोकप्रकाश, 3.1215

३२३. (क) लोकप्रकाश, 3.1216–1217
(ख) षट्खण्डागम धवला टीका, जीवस्थानं, 1.1.20, पृष्ठ सं. 190–191
३२४. गोम्मटसार जीवकाण्ड, कर्णाटवृत्ति जीवतत्त्वप्रदीपिका, गाथा 62 की टीका, पृष्ठ सं. 127
३२५. लोकप्रकाश, पृष्ठ सं. 292
३२६. लोकप्रकाश, पृष्ठ सं. 292
३२७. लोकप्रकाश, 3.1219–1238
३२८. (क) लोकप्रकाश, 3.1248
(ख) मनोवाक्कायप्रवृत्तिर्योगः योगेन सह वर्तन्त इति सयोगाः। सयोगाश्च ते केवलिनश्च सयोगकेवलिनः
–षट्खण्डागम धवला टीका, जीवस्थान, 1.1.21, पृष्ठ सं. 192
३२९. लोकप्रकाश 3.1249–1251
३३०. (क) लोकप्रकाश, 3.246
(ख) प्रशमरति प्रकरण, गाथा 273
(ग) प्रज्ञापना सूत्र, 36वां समुद्घात पद सूत्र 2170
३३२. (क) लोकप्रकाश, 3.1261
(ख) 'प्रदाह्य घातिकर्माणि, शुक्लध्यानकृशानुना।
अयोगो याति शैलेशो, मोक्षलक्ष्मी निरास्रवः।। –पंचसंग्रह (संस्कृत) 1.50
३३३. (क) लोकप्रकाश, 3.1262–126
(ख) विशेषावश्यक भाष्य, 3059, 3064, 3068, 3069, 3082 और 3089

पंचम अध्याय

जीव–विवेचन (4)

इस अध्याय में योग, मान (मापन), दिशा एवं गति के आधार पर जीवों के अल्पबहुत्व, अन्तर एवं भवसंवेध का निरूपण है। इनके विवेचन से भी जीवों की विभिन्न विशेषताएँ व्यक्त हुई हैं।

इकतीसवां द्वार : योग-विमर्श

'युज्' धातु से निष्पन्न योग शब्द धात्वर्थ योजन का अनुगमन करते हुए जीव को संसार और मोक्ष दोनों से जोड़ता है। भारतीय योग परम्परा में 'पातंजल योगसूत्र' चित्तवृत्तियों के निरोध द्वारा प्रायोगिक रीति से आध्यात्मिक उन्नयन का मार्ग प्रशस्त करता है और कैवल्य पद की प्राप्ति कराता है। यम, नियम, आसन, प्राणायाम आदि सात अंगों से युक्त समाधि, जो योग का आठवां अंग है, को भी योगदर्शन में एक प्रकार से योग कहा गया है।[1] बौद्ध एवं जैन दर्शन में भी योग की प्रायोगिक साधना का स्वरूप द्रष्टव्य है। बौद्धदर्शन में अभिधर्मकोश और विसुद्धिमग्गो इस दृष्टि से महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ हैं। जैनदर्शन में आचारांगसूत्र में इसके लोगविपस्सी, कोहदंसी, माणदंसी, मायादंसी, लोभदंसी आदि शब्दों से कतिपय संकेत मिलते हैं।

जैनदर्शन में योग विषयक दो प्रमुख चिन्तनधाराएँ चलती हैं। एक विचारधारा के अनुसार योग संसार की ओर ले जाने वाले कर्मबन्ध का हेतु बनता है और दूसरी विचारधारा के अनुसार सम्यक् दर्शन, ज्ञान एवं चारित्र स्वरूप सम्पूर्ण मोक्ष मार्ग का सहायक कारण योग है।

पंचसंग्रह में योग के नामान्तरों का उल्लेख मिलता है-

जोगो विरियं थामो उच्छाह परक्कमो तहा चिट्ठा।
सत्ती सामत्थं चिय जोगस्स हवन्ति पज्जाया।।[2]

अर्थात् योग, वीर्य, स्थाम, उत्साह, पराक्रम, चेष्टा, शक्ति, सामर्थ्य ये योग के नामान्तर हैं।

यहाँ प्रथम विचारधारा के अनुसार योग का विचार किया जा रहा है, जिसके अन्तर्गत मन, वचन और काया के निमित्त से होने वाले आत्मप्रदेशों का परिस्पन्दन योग कहलाता है।[3] कर्मप्रकृतिकार पुद्गलों के परिणमन, आलम्बन और ग्रहण के साधन को योग कहंते हैं। इनके अनुसार योग वह शक्ति है जिससे जीव मन,वचन और काय का निर्माण करता है और वह मन, वचन और काय जिसका आलम्बन लेते हैं। यथा- वीर्यान्तराय के क्षय अथवा क्षयोपशम से आत्मा में

वीर्य प्रकट होता है, उससे जीव औदारिक आदि शरीरों के योग्य पुद्गलों को ग्रहण करता है तत्पश्चात् औदारिक आदि शरीर पर्याप्ति रूप में परिणमित करता है। श्वासोच्छ्वास, भाषा और मन के योग्य पुद्गलों को ग्रहण करके उन्हें श्वासोच्छ्वास आदि रूप में परिणमन करता है।

योग के भेद

प्रवृत्ति के प्रति उन्मुख शरीर, वचन और मन के कारण आत्मप्रदेशों में आन्तरिक और बाह्य दो कारणों से स्पन्दन-कम्पन होता है। आन्तरिक कारण है वीर्यान्तराय कर्म का क्षय अथवा क्षयोपशम और बाह्य कारण है शरीर आदि की चेष्टा। तीन प्रकार के बाह्य निमित्तों के कारण योग तीन प्रकार का है- काययोग, वचनयोग और मनोयोग।[४]

काययोग— वीर्यान्तराय कर्म के क्षयोपशम से आत्मा में वीर्य प्रकट होता है। उससे जीव औदारिक आदि शरीर के योग्य पुद्गलों को ग्रहण करता है। तत्पश्चात् शरीर की चेष्टा से आत्मप्रदेशों में कम्पन होता है,यह कम्पन काययोग कहलाता है।[५]

वचनयोग— वीर्यान्तराय कर्म के क्षयोपशम से उत्पन्न आत्मशक्ति से और मत्यक्षरादि ज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम से प्राप्त वाग्लब्धि द्वारा जीव वचन बोलने को उद्यत होता है यही वचनयोग है।[६]

मनोयोग— वीर्यान्तराय कर्म और अनिन्द्रियावरण कर्म के क्षयोपशम से मनोलब्धि से मनन रूप क्रिया करने को जीव जब उद्यत होता है तब वह मनोवर्गणाओं को ग्रहण कर उन्हें मन रूप में परिणत करता है और चिन्तन-मनन करता है, यही 'मनोयोग' है।[७]

व्यवहार में मन-वचन-काया की प्रवृत्ति ही मन-वचन-कायं योग कहलाती है।

योग के उपभेद

तीन प्रकार के योगों के उपभेदों की गणना करने पर योग के पन्द्रह भेद भी होते हैं। उनमें सात भेद काययोग के, चार भेद मनयोग के और चार ही भेद वचनयोग के गिने जाते हैं।[८] काययोग के सात प्रकार हैं- औदारिक, मिश्र औदारिक, वैक्रिय, मिश्र वैक्रिय, आहारक, मिश्र आहारक और तैजसकार्मण।[९] सत्य, मृषा, सत्यमृषा, न सत्य न मृषा (असत्यामृषा) इस तरह मनोयोग के चार प्रकार हैं। वचन योग के भी इसी प्रकार से चार भेद होते हैं।[१०]

द्रव्यानुयोग भाग प्रथम के 'योग' अध्ययन के आमुख में मन, वचन और काया के विषय से सम्बन्धित विशेष निरूपण मिलता है। मन आत्मा से भिन्न रूपी एवं अचित्त है। वह अजीव होकर भी जीवों में होता है, अजीवों में नहीं। भगवतीसूत्र में मन का स्वरूप इस प्रकार प्रतिपादित हुआ है- "नो पुव्विं मणे, मणिज्जमाणे मणे, नो मणसमयवीइक्कंते मणे।।"[११] अर्थात् मनन करते समय ही मन

'मन' कहलाता है उससे पूर्व और पश्चात् नहीं।

आगम ग्रन्थों में सत्य मन, असत्य मन आदि चार भेदों से अतिरिक्त मन के तन्मन, तदन्यमन और नोअमन, ये तीन भेद भी मिलते हैं- 'तिविहे मणे पण्णत्ते, तं जहा- १. तम्मणे २. तदन्नमणे ३. णोअमणे।'[१२]

वचन के भेदों का निरूपण तीन प्रकार से किया जा सकता है[१३]-

१. संख्या अर्थ में- एकवचन, द्विवचनादि रूप में वचन शब्द।

२. लिंग अर्थ में- स्त्रीवचन, पुरुषवचन, नपुसंकवचन के रूप में वचन शब्द।

३. काल अर्थ में- अतीत, प्रत्युत्पन्न और अनागत वचन रूप में वचन शब्द।

मन की भांति वचन के तद्वचन, तदन्यवचन और नोअवचन भेद भी आगम ग्रन्थ में मिलते हैं।[१४]

काया मन के समान पूर्णतः अजीव नहीं है। अनैकान्तिक शैली में यह जीवरूप, अजीवरूप, आत्मरूप, अनात्मरूप, रूपी, अरूपी, सचित्त और अचित्त सभी है। संसारी जीवों में कार्मण काया के सदैव रहने से काया का ऐसा प्रतिपादन किया गया है। धर्मास्तिकाय आदि में प्रयुक्त काय शब्द काया का द्योतक है। अतः अजीवों में भी इसके अस्तित्व को स्वीकार किया जाता है।

मन, वचन और काया इन तीन योगों में प्रथम दो योग अगुरुलघु हैं और काययोग गुरुलघु होता है। अतः लोकप्रकाशकार ने योग-भेद विवेचन में सर्वप्रथम काययोग का उल्लेख किया है और बाद में शेष दो का। जबकि आगम-ग्रन्थ एवं अन्य ग्रन्थों में मन-वचन-काय इस क्रम से योग-भेदों का वर्णन मिलता है।

काययोग

काययोग के उपभेदों का स्वरूप इस प्रकार है-

औदारिक काययोग– औदारिक शरीर द्वारा आत्मप्रदेशों के कर्म और नोकर्म को आकर्षित करने के व्यापार की वीर्य शक्ति का नाम औदारिक काययोग है। औदारिक वर्गणा के स्कन्धों का औदारिक कायरूप परिणमन में कारणभूत आत्मप्रदेशों का परिस्पन्दन भी औदारिक काययोग ही है। अतः कारण में कार्य का उपचार करने से औदारिक काय को ही औदारिक काययोग कहा जाता है। यह योग औदारिक शरीरधारी तिर्यंच और मनुष्य गति के जीवों को पर्याप्त दशा में ही होता है।[१५]

औदारिक मिश्र काययोग– मिश्र अर्थात् मेल। जो आत्मप्रदेशों का परिस्पन्दन औदारिक और कार्मण दो शरीरों की सहायता से होता है वह औदारिक मिश्र काययोग कहलाता है।[१६] यह योग जीव के उत्पत्ति के दूसरे समय से लेकर अपर्याप्त अवस्था पर्यन्त सभी औदारिक शरीरी जीवों को होता

है। पर्याप्त और अपर्याप्त जीवों को भी मिश्र औदारिक काययोग होता है। यह काययोग तीन प्रकार से होता है[१७]- १. औदारिक की कार्मण काय से मिश्रता २. औदारिक की वैक्रिय काय से मिश्रता ३. औदारिक की आहारक काय से मिश्रता।

(1) औदारिक की कार्मण काय से मिश्रता– तिर्यंच और मनुष्य जीव औदारिकशरीरनामकर्म के योग से औदारिक शरीर का आरम्भ करते हैं। जब तक औदारिक शरीर पूर्ण नहीं होता तब तक कार्मण के साथ औदारिक की मिश्रता रहती है।[१८] इस सम्बन्ध में कहा भी गया है कि तैजस और कार्मण शरीर से जीव अन्तर रहित लगातार आहार करता है और जब तक शरीर की निष्पत्ति होती है तब तक वह मिश्र से आहार करता है।

यहाँ शंका उपस्थित होती है कि औदारिक की कार्मण के साथ में मिश्रता है अथवा कार्मण की औदारिक के साथ?कार्मण शरीर संसार पर्यन्त रहता है, अतः इसकी मिश्रता तो सभी शरीरों के साथ स्वतः होती है और उत्पत्ति की अपेक्षा से औदारिक की प्रधानता में औदारिक के साथ, वैक्रिय एवं आहारक की प्रधानता होने पर क्रमशः वैक्रिय एवं आहारक के साथ कार्मण की मिश्रता होती है। इसलिए उपाध्याय विनयविजय कार्मण के साथ में मिश्रत्व का कथन न कर औदारिक, वैक्रिय या आहारक के साथ में कार्मण मिश्रत्व का कथन करते हैं।[१९]

(2) औदारिक की वैक्रिय मिश्रता– वैक्रिय लब्धिमान औदारिक शरीरधारी तिर्यंच पंचेन्द्रिय, मनुष्य तथा बादर वायुकाय जब वैक्रिय शरीर आरम्भ करते हैं तब शरीर की पूर्णता तक औदारिक के साथ वैक्रिय की मिश्रता रहती है। यही औदारिक की वैक्रिय मिश्रता है।[२०]

(3) औदारिक की आहारक मिश्रता– आहारकलब्धिप्राप्त औदारिक शरीरधारी जीव जब आहारक शरीर प्रारम्भ करता है तब पूर्णता की प्राप्ति तक उस औदारिक की आहारक के साथ मिश्रता रहती है और यही औदारिक की आहारक मिश्रता कहलाती है।[२१]

कर्मग्रन्थकार औदारिक की वैक्रिय और आहारक से मिश्रता के सम्बन्ध में भिन्न मत रखते हैं। उनके अनुसार औदारिक शरीरधारी जीव का वैक्रिय और आहारक शरीर के आरम्भिक समय और परित्याग में समान मिश्रता रहती है। परित्याग समय में अनुक्रम से वैक्रिय और आहारक की प्रधानता नहीं रहती है। अतः औदारिक का अनुक्रम से वैक्रिय एवं आहारक के साथ में मिश्रत्व है।[२२]

वैक्रिय काययोग– वैक्रियशरीरनामकर्म के योग से वैक्रियवर्गणा के स्कन्धों से बने वैक्रिय शरीरमात्र द्वारा वीर्यशक्ति का जो व्यापार होता है, वह वैक्रियकाययोग कहलाता है।[२३] यह योग देवों तथा नारकों को पर्याप्त अवस्था में सदैव होता है। वैक्रिय लब्धि प्राप्त करने पर ही मनुष्य और तिर्यंचों को वैक्रिय शरीर धारण करने की शक्ति प्राप्त होती है। जो शरीर कभी एकरूप और

कभी-कभी अनेक रूप, कभी छोटा, कभी बड़ा, कभी आकाशगामी, कभी भूमिगामी, कभी दृश्य एवं कभी अदृश्य होता है वह शरीर वैक्रिय शरीर कहलाता है। देवों और नारकी जीवों को जन्म से प्राप्त वैक्रिय शरीर 'औपपातिक' होता है तथा मनुष्यों और तिर्यंचों का वैक्रिय शरीर 'लब्धिप्रत्यय' कहलाता है।[२४]

वैक्रिय मिश्रकाययोग– वैक्रिय और कार्मण तथा वैक्रिय और औदारिक इन दो-दो शरीरों के योग द्वारा होने वाले वीर्य शक्ति का व्यापार "वैक्रियमिश्रकाययोग" कहलाता है।[२५]

(1) वैक्रिय–कार्मण मिश्रता– प्रथम प्रकार का यह वैक्रियमिश्रकाययोग देवों तथा नारकी जीवों को उत्पत्ति के दूसरे समय से लेकर अपर्याप्त अवस्था तक रहता है।[२६]

(2) वैक्रिय–औदारिक मिश्रता– वैक्रिय-औदारिक मिश्रत्व वाला यह शरीर बादर पर्याप्त वायुकाय और वैक्रिय लब्धि प्रत्यय गर्भज तिर्यंच पंचेन्द्रिय एवं मनुष्य को वैक्रिय शरीर द्वारा विविध क्रियाओं के सम्पन्न होने पर परित्याग के समय होता है।[२७]

आहारक काययोग- आहारक शरीरनामकर्म के क्षयोपशम से उत्पन्न वीर्यशक्ति के योग से एवं आहारक वर्गणाओं द्वारा आहारक शरीर मात्र से आत्मप्रदेशों का परिस्पन्दन व्यापार आहारककाययोग होता है।[२८] यह योग चौदह पूर्वधर महात्माओं को ही होता है। चतुर्दश पूर्वधर मुनि संशय दूर करने, किसी सूक्ष्म विषय को जानने अथवा समृद्धि देखने के निमित्त दूसरे क्षेत्र में तीर्थंकर के पास जाने के लिए विशिष्ट लब्धि द्वारा आहारक शरीर बनाते हैं।

आहारक मिश्र काययोग– आहारक और औदारिक इन दो शरीरों के द्वारा होने वाला वीर्य शक्ति का व्यापार आहारकमिश्रकाययोग कहलाता है। आहारकवर्गणाओं से गृहीत पुद्गल-स्कन्धों को आहारक शरीर रूप परिणमन से पूर्व तक तथा परित्याग करने के समय औदारिक शरीर से मिश्रता 'आहारकमिश्रकाययोग' कही जाती है।[२९]

कार्मण काययोग–कार्मण शरीर नामकर्म के क्षयोपशम से उत्पन्न वीर्यशक्ति द्वारा एवं कार्मण-पुद्गल स्कन्धों से बने कार्मण शरीर द्वारा आत्मप्रदेशों का परिस्पन्दन रूप योग 'कार्मणकाययोग' कहलाता है।[३०] यह योग विग्रह गति और जीव-उत्पत्ति के प्रथम समय में सभी जीवों को होता है एवं केवलीसमुद्घात के तीसरे, चतुर्थ और पाँचवें समय में केवलियों को भी होता है।[३१] सभी शरीरों का मूल कार्मण शरीर है। इसके क्षय होने पर ही संसार का उच्छेद होता है। जीव विग्रह गति में भी इसी शरीर से वेष्टित रहता है। यह शरीर इतना सूक्ष्म होता है कि रूपवान् होने पर भी नेत्र का विषय नहीं बनता है। अन्य दार्शनिक ग्रन्थों में इसे 'सूक्ष्म शरीर' और 'लिंग शरीर' कहा गया

है।[३२]

तैजस शरीर और कार्मण शरीर के सदा सहचारित्व के कारण तैजस शरीरकाययोग की पृथक गणना न कर उसे कार्मणकाययोग में ही समाविष्ट किया जाता है।[३३]

मनोयोग

मनोयोग एवं वचनयोग के सत्यता और असत्यता के आधार पर चार-चार उपभेद किए गए हैं। सत्यता और असत्यता से यहाँ तात्पर्य सर्वज्ञ के वचनानुसार वस्तु के यथार्थ और अयथार्थ स्वरूप से है।[३४] मनोयोग के उपभेद इस प्रकार हैं-

सत्यमनोयोग– जिस मनोयोग द्वारा वस्तु का चिन्तन सर्वज्ञ प्रणीत वचनानुसार होता है अर्थात् वस्तु के यथार्थ स्वरूप पर विचार किया जाता है वह सत्यमनोयोग कहलाता है।[३५] यथा- जीव द्रव्यार्थिक नय से नित्य है और पर्यायार्थिकनय से अनित्य है। यह चिन्तन सत्यमनोयोग है।

असत्यमनोयोग–जिस मनोयोग से वस्तु की जिनवचन से विपरीत कल्पना की जाए वह असत्यमनोयोग होता है।[३६] जैसे- जीव एक ही है, नित्य ही है, बड़ा है, छोटा है, कर्ता है तथा निर्गुणी है इत्यादि चिन्तन करना असत्यमनोयोग है।

सत्यमृषामनोयोग– वस्तु का कुछ अंश यथार्थ और कुछ अंश अयथार्थ, ऐसा मिश्रित चिन्तन जिस मनोयोग द्वारा होता है वह सत्यमृषामनोयाग अथवा मिश्रमनोयोग कहलाता है।[३७] गोम्मटसार[३८] में इसे उभयमनोयोग भी कहा गया है। उदाहरणार्थ उद्यान में लगे बहुत से अशोक वृक्षों के साथ अल्प संख्या में अन्य वृक्ष भी हैं फिर भी 'सभी अशोक वृक्ष ही हैं' ऐसा विचार करना सत्यमृषामनोयोग कहलाता है। यहाँ अशोक वृक्षों के सद्भाव से सत्यता है और अन्य वृक्षों के होने पर भी 'सभी अशोक वृक्ष है' ऐसा विचार करना असत्य है। अतः यहाँ सत्यमृषामनोयोग है।[३९]

असत्यामृषामनोयोग– अर्थ संयोग के अभाव में जिस मनोयोग द्वारा विधि-निषेध शून्य कल्पना की जाती है वह असत्यअमृषामनोयोग कहलाता है।[४०] इस मनोयोग की भिन्न-भिन्न संज्ञाएँ प्राप्त होती हैं- न सत्य न झूठ, असत्यामृषामनोयोग, अनुभय मनोयोग इत्यादि।

उपाध्याय विनयविजय[४१], सुखलाल संघवी[४२] आदि विद्वान् उक्त चार भेद व्यवहारनय की अपेक्षा से मानते हैं। निश्चय नय की दृष्टि से सभी का समावेश सत्य और असत्य इन दो भेदों में ही हो जाता है।

वचनयोग

मनोयोग के समान ही वचनयोग का स्वरूप होता है। मनोयोग में चिन्तन होता है और

वचनयोग में मुख से कथन होता है, यही स्वरूपगत भेद है।[४३] वचनयोग के भी चार भेद हैं।[४४] वचनयोग के द्वारा जब वस्तु का यथार्थ कथन किया जाए तब वह 'सत्यवचनयोग', अयथार्थता सिद्ध करने वाला वचन 'असत्यवचनयोग', अनेक रूप वस्तु का एकरूपता से प्रतिपादन करने वाला वचनयोग 'मिश्रवचनयोग' तथा अर्थप्रतिष्ठा के बिना वस्तु का कथन करने वाला वचनयोग 'असत्यामृषावचनयोग' कहलाता है।

योग सम्बन्धित शंका-समाधान

योग के सम्बन्ध में तीन शंकाएँ मुख्य रूप से उठती हैं-

१. वचनयोग और भाषा में क्या अन्तर है?
२. श्वासोच्छ्वास को भी योग का भेद क्यों नहीं गिना जाता है?
३. क्या मनोयोग और वचनयोग काययोग से भिन्न है अथवा नहीं?

इन शंकाओं के समाधान क्रमशः इस प्रकार हैं-

१. भाषात्व गुण वाला द्रव्य 'भाषा' कहलाता है और भाषा प्रवर्तन का प्रयत्न विशेष वचनयोग होता है। इस तरह भाषा और वचनयोग में अस्फुट भेद है। आवश्यक सूत्र की बृहद्वृत्ति में कहा गया है कि- 'प्राणी भाषा के पुद्गलों को काययोग से ग्रहण करता है और वचनयोग से छोड़ता है।[४५]
२. व्यवहार में शरीर का वचन और मन के साथ जैसा विशिष्ट प्रयोजन द्रष्टव्य है वैसा सम्बन्ध शरीर और श्वासोच्छ्वास के मध्य नहीं होता है। अतः श्वासोच्छ्वास को पृथक् योग भेद स्वीकार न कर तीन योगों की गणना की जाती है।[४६]
३. मनोयोग और वचनयोग, काययोग से भिन्न नहीं है, अपितु काययोग विशेष ही है। जो काययोग मनन करने में सहायक बनता है वह उस समय मनोयोग कहलाता है और जो काययोग भाषा के बोलने मे सहकारी बनता है वह उस समय वचनयोग होता है। अतः व्यवहार नय के लिए काययोग के तीन भेद किए हैं, निश्चय नय से ये दोनों काययोग से अभिन्न हैं।[४७]

मन, वचन एवं काया के कुल १५ योगों का यह निरूपण जैन दर्शन का वैशिष्ट्य है। योग का अर्थ यहाँ मन, वचन एवं काया की प्रवृत्ति है, जिससे आत्मप्रदेशों में स्पन्दन होता है। औदारिक मिश्र आदि योग के प्रकार ऐसे भी हैं जो नामकर्म के उदय से होते हैं। योग के सभी प्रकारों में वीर्यान्तराय कर्म का क्षयोपशम भी निमित्त बनता है।

बत्तीसवां मान द्वार : जीवों का मापन

मान अर्थात् माप। वस्तु जिससे सीमा में बांधी जाती है वह मान है। यह परिसीमन द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव चार प्रकार से होता है। द्रव्य से कोई वस्तु या जीव आदि की कितनी संख्या है, क्षेत्र से वह कितना स्थान घेरता है, काल से वह कितने समय पर्यन्त अवस्थित रहता है और भाव से उसके स्वभाव का क्या स्वरूप है, यह जाना जाता है। इन चारों अपेक्षाओं से किसी भी पदार्थ का अस्तित्व सम्पूर्ण रूप से जाना जा सकता है। स्थानांग सूत्र[४८], अनुयोग द्वार सूत्र[४९], व्याख्याप्रज्ञप्ति[५०] और सूत्रकृतांग[५१] आगम ग्रन्थों में 'मान' शब्द की पर्याप्त चर्चा और भेदों का नामोल्लेख भी मिलता है। लोकप्रकाशकार के अनुसार लोक में जीवों की संख्या का निरूपण करना 'मान' है।[५२]

सूक्ष्म एकेन्द्रिय

सूक्ष्म अग्निकाय, पृथ्वीकाय, अप्काय और वायुकाय के जीव सम्पूर्ण लोक प्रमाण के असंख्य आकाशखण्ड के प्रदेशों की संख्या के बराबर हैं अर्थात् सम्पूर्ण लोक में व्याप्त हैं। इन चारों सूक्ष्म जीवों में भी लोकाकाश के समान असंख्य खण्ड हैं। सूक्ष्म अग्निकायादि जीवों में अनुक्रम से अधिकाधिक हैं।[५३] सूक्ष्म पर्याप्त एवं अपर्याप्त और बादर पर्याप्त एवं अपर्याप्त अनन्तकाय जीव अनन्त लोकाकाश के प्रदेशों के जितने हैं। लोकाकाश के प्रत्येक प्रदेश में निगोद के एक-एक जीव को स्थापित करने की प्रक्रिया को अनन्त बार करने पर जैसे लोकाकाश अनन्त बार निगोद जीवों से व्याप्त होता है, उतनी संख्या में यह अनन्तकाय जीव होते हैं।[५४] बादर साधारण पर्याप्त वनस्पतिकाय से बादर अपर्याप्त जीव असंख्य गुणा होते हैं। इनसे असंख्य गुणा सूक्ष्म अपर्याप्त अनन्तकाय और सर्वाधिक सूक्ष्म पर्याप्त जीव हैं।[५५]

बादर एकेन्द्रिय

पर्याप्त प्रत्येक वनस्पतिकाय, पृथ्वीकाय और अप्काय के जीव लोकाकाश में एक प्रतर[५६] के अन्दर सूच्य रूप अंगुल[५७] के असंख्यातवें भाग प्रमाण अंश की संख्या वाले होते हैं। आवली के सदृश घन समय से कुछ कम अग्निकाय के जीव होते हैं।[५८] घनरूप वाले लोकाकाश में असंख्य प्रतर में जितने आकाश प्रदेश होते हैं उतने पर्याप्त बादर वायुकाय के जीव होते हैं।[५९]

विकलेन्द्रिय

एक अंगुल के संख्यातवें और असंख्यातवें भाग जितनी लम्बाई वाले एक प्रतर में जितनी सूचियां होती हैं उतने पर्याप्त और अपर्याप्त द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय जीव होते हैं।[६०]

तिर्यंच पंचेन्द्रिय

एक प्रतर के असंख्यातवें भाग में जितने आकाश प्रदेश होते हैं उतने खेचर तिर्यंच हैं और स्थलचर एवं जलचर इससे अनुक्रम से संख्यात गुणा अधिक हैं। एक प्रतर के अन्दर २५६ अंगुल प्रमाण वाले सूचीखण्डों के समान अनुक्रम से संख्यातगुणाधिक नपुंसक खेचर, स्थलचर और जलचर जीव होते हैं।[६१]

मनुष्य

सम्मूर्च्छिम और गर्भज मनुष्य की एकत्रित संख्या उत्कृष्ट असंख्यात कालचक्र में होने वाले समय के समान है।[६२] एक प्रदेशी[६३] के एक श्रेणी में जितने खण्ड होते हैं उतने सम्मूर्च्छिम मनुष्य होते हैं।[६४]

देव

देवों की संख्या सामान्यतः प्रतर के असंख्यात भाग में रहने वाली असंख्य श्रेणियों में रहे आकाश प्रदेश के समान है। देवों की संख्या क्रमशः इस प्रकार है-

१. अनुत्तरवैमानिक देव पल्योपम के असंख्यात भाग के आकाश-प्रदेशों के बराबर हैं।[६५]
२. ऊपर के तीन ग्रैवेयक के देव पल्योपम के बृहत् असंख्यात भाग के आकाशप्रदेश समान हैं।[६६]
३. ग्रैवेयक के मध्यमत्रिक और नीचे की त्रिक के देव तथा अच्युत, आरण, प्राणत एवं आनत देवलोक के देव पल्योपम के असंख्यातवें भाग से विशेष गुणा अधिक हैं।[६७]
४. सहस्रार, महाशुक्र, लांतक, ब्रह्म, माहेन्द्र और सनत्कुमार देवलोक के देव घनकृत लोक की श्रेणि के असंख्यात भाग में रहे आकाश-प्रदेश के बराबर हैं।[६८]
५. ईशान देवलोक से लेकर सौधर्म देवलोक तक के देव-देवियों की संख्या एक-दूसरे से संख्यात गुणा अधिक है।[६९]
६. तीन वर्गमूलों में विभाजित एक अंगुल प्रमाण क्षेत्र प्रदेश की राशि को द्वितीय वर्गमूल से गुणा करने पर प्राप्त परिणाम, प्रथम वर्गमूल के प्रदेश राशि के मान वाली एक प्रदेश श्रेणियों में घनकृत लोकाकाश के आकाश प्रदेशों की संख्या के बराबर भवनपति देव-देवियों की कुल संख्या है।[७०]
७. एक प्रतर के अन्दर संख्यात कोटि योजन की लम्बाई वाले सूचिखण्डों की संख्या के बराबर व्यन्तर देव-देवियां होती हैं।[७१]

८. एक प्रतर के अन्दर २५६ अंगुल लम्बाई वाले जितने सूचिखण्ड होते हैं उतनी संख्या में ज्योतिष्क देव-देवियाँ होती हैं।[७२]

नारक

अंगुल प्रमाण क्षेत्र प्रदेश की राशि को तीसरे वर्गमूल से गुणा करने पर प्रथम वर्गमूल में जितनी प्रदेश राशि होती है उतने प्रमाण वाले एक प्रदेशी की श्रेणि में होने वाले आकाश प्रदेश की संख्या के समान प्रथम नरक में नारकी जीव होते हैं। शेष छह नरक में घनकृत लोक की श्रेणि के असंख्यातवें भाग समान आकाश प्रदेशों के बराबर जीव होते हैं और सातवें नरक से लेकर दूसरे नरक तक उत्तरोत्तर असंख्य गुणा नारकी जीव बढ़ते रहते हैं।[७३]

जीवों की संख्या एवं उनके द्वारा गृहीत आकाश प्रदेश आदि के आधार पर कृत यह निरूपण जैन-चिन्तन की सूक्ष्मेक्षिका को प्रकाशित करता है।

चौतीसवां द्वार : जीवों में परस्पर एवं दिशा की अपेक्षा अल्पबहुत्व विधान

अल्प-बहुत्व शब्द से तात्पर्य है एक ही जीव का भिन्न-भिन्न दृष्टियों से दूसरे जीव से अल्प (कम) और बहु (अधिक) होना। दिशा का अनुपात, गतिद्वार, इन्द्रिय, काय, लेश्या, दृष्टि, ज्ञान, उपयोग, आहार, संयम, भाषा, भव्य-अभव्य, क्षेत्र आदि कई ऐसी दृष्टियाँ हैं जिनके आधार पर जीवों का अल्प-बहुत्व स्पष्ट किया जा सकता है। प्रज्ञापना सूत्र के तृतीय पद में जीवों के अल्प-बहुत्व की विस्तृत चर्चा लगभग इन सभी दृष्टियों से की गई है।[७४] उपाध्याय विनयविजय ने सजातियों की अपेक्षा से लघु, समस्त जीवों की अपेक्षा से महा और दिशा इन तीन द्वारों से जीवों के अल्प-बहुत्व का वर्णन किया है।[७५] लघुता और क्षेत्र की अपेक्षा से जीवों का यह वर्णन क्रमशः इस प्रकार है-

सजातीय एवं दिशा की अपेक्षा अल्पबहुत्व

सूक्ष्म एकेन्द्रिय– सूक्ष्म एकेन्द्रिय जीवों में सजातीय एकेन्द्रिय जीवों की अपेक्षा से सबसे अल्प सूक्ष्म तेजस्कायिक जीव हैं और उससे विशेष अधिक अनुक्रम से सूक्ष्म पृथ्वीकायिक, अप्कायिक एवं वायुकायिक जीव हैं। सूक्ष्म वायुकायिक जीव से निगोद के जीव असंख्य गुणा अधिक हैं और इससे अनन्त गुणा अधिक सूक्ष्म वनस्पतिकायिक जीव हैं।[७६] एकेन्द्रिय जाति के पर्याप्त जीव अपर्याप्तों से असंख्य गुणा अधिक होते हैं।[७७]

दिशा की अपेक्षा से सूक्ष्म एकेन्द्रिय जीवों के अल्प-बहुत्व का निर्धारण नहीं हो सकता, क्योंकि ये जीव प्रायः सम्पूर्ण लोक में व्याप्त हैं एवं सर्वत्र समान हैं।[७८]

बादर एकेन्द्रिय– पर्याप्त बादर अग्निकायिक जीव सजातीय जीवों में सबसे अल्प हैं। इससे प्रत्येक वनस्पतिकाय के जीव असंख्य गुणा अधिक हैं। इससे बादर निगोद, पृथ्वीकायिक, अप्कायिक और वायुकायिक जीव अनुक्रम से असंख्य गुणा अधिक हैं। वायुकायिक जीवों से अनन्त गुणा अधिक बादर वनस्पतिकायिक एवं इनसे सामान्य बादर पर्याप्त वनस्पतिकायिक जीव अधिक हैं।[७६] प्रत्येक बादर पर्याप्त की निश्रा में असंख्य बादर पर्याप्त होते हैं अतः स्व स्वजातीय पर्याप्त जीव की अपेक्षा उनके अपर्याप्त असंख्य गुणा अधिक होते हैं।[८०]

दिशाओं की अपेक्षा से सबसे कम पृथ्वीकायिक जीव दक्षिण दिशा में हैं और उत्तर, पूर्व एवं पश्चिम दिशा में अनुक्रम से विशेषाधिक हैं।[८१] पृथ्वीकायिक जीव ठोस या सघन स्थान में अधिक होते हैं एवं छिद्र वाले स्थान में कम। दक्षिण दिशा में भवनपतियों के भवन और नारकावास होने के कारण रंध्रों की बहुलता है, अतः पृथ्वीकायिक जीव दक्षिण दिशा में अल्प हैं।[८२] अप्कायिक जीव पश्चिम दिशा में सबसे कम होते हैं क्योंकि पश्चिम दिशा में गौतम द्वीप होने के कारण वहाँ जल कम है। इसकी अपेक्षा पूर्व, दक्षिण एवं उत्तर दिशा में अनुक्रम से अप्कायिक जीव अधिकाधिक हैं।[८३] इसकी अपेक्षा दिशा की अपेक्षा से अग्निकायिक जीव दक्षिण और उत्तर दिशा में सबसे कम हैं क्योंकि दक्षिण में पाँच भरत क्षेत्र और उत्तर में पाँच ऐरवत क्षेत्रों में क्षेत्र की अल्पता होने से वहाँ मनुष्य कम रहते हैं तथा मनुष्य क्षेत्र में ही बादर अग्निकायिक जीवों का अस्तित्व होता है, अन्यत्र नहीं।[८४] अतः ये जीव दक्षिण और उत्तर दिशा में कम और पूर्व एवं पश्चिम में संख्यात गुणा अधिक हैं। पूर्व दिशा में सघनता अधिक होने से वहाँ वायु का संचार नहीं होता अतएव दिशापेक्षा वायुकायिक जीव सबसे कम पूर्व दिशा में एवं पश्चिम, उत्तर और दक्षिण दिशा में अनुक्रम से अधिकाधिक होते जाते हैं।[८५] वनस्पतिकायिक जीव सर्वत्र जल के आश्रित होते हैं अतः इन जीवों का अल्पबहुत्व अप्कायिक जीवों के ही समान होता है।[८६]

विकलेन्द्रिय– सजातीय अपेक्षा से पर्याप्त चतुरिन्द्रिय, द्वीन्द्रिय और त्रीन्द्रिय जीव अनुक्रम से अधिकाधिक हैं। इनसे असंख्यात गुणा अधिक अपर्याप्त चतुरिन्द्रिय एवं त्रीन्द्रिय जीव होते हैं और अपर्याप्त द्वीन्द्रिय जीव विशेषाधिक हैं।[८७]

विकलेन्द्रिय जीवों की उत्पत्ति अप्काय में अधिक होती है। अतः इनका दिशा दृष्टि से अल्पबहुत्व अप्कायिक जीवों के अनुसार पश्चिम दिशा में सबसे कम और पूर्व, दक्षिण एवं उत्तर दिशाओं में अधिकाधिक होते हैं। पश्चिम दिशा में गौतम द्वीप होने से वहाँ जल का अभाव है। फलतः विकलेन्द्रिय जीवों की वहाँ अल्पता है।[८८]

तिर्यंच पंचेन्द्रिय– तिर्यंच पंचेन्द्रिय जीवों में सजातीय अपेक्षा से सबसे अल्प खेचर पुल्लिंग जीव होते हैं एवं इससे क्रमशः खेचर स्त्रीलिंग, स्थलचर पुल्लिंग एवं स्त्रीलिंग, जलचर पुल्लिंग व स्त्रीलिंग जीव संख्य-संख्य गुणा अधिक होते हैं। सम्मूर्च्छिम नपुंसक खेचर, स्थलचर और जलचर जीव जलचर-स्त्रीलिंग से अनुक्रम से संख्यात गुणा अधिक हैं।[८९]

दिशा की अपेक्षा से पश्चिम दिशा में तिर्यंच पंचेन्द्रिय जीव सबसे अल्प हैं और अधिक से अधिक क्रमशः पूर्व, दक्षिण और उत्तर दिशाओं में होते हैं। पश्चिम दिशा में गौतम द्वीप की स्थिति होने से यहां तिर्यंच पंचेन्द्रिय जीव भी अल्प हैं।[९०]

मनुष्य– स्व जाति की अपेक्षा से गर्भज पुरुष सबसे कम तथा इससे संख्यात गुणा अधिक गर्भज स्त्रियाँ हैं। सम्मूर्च्छिम मनुष्य की संख्या दोनों से असंख्यात गुणा अधिक हैं।[९१] मनुष्य दिशा की अपेक्षा सबसे कम दक्षिण और उत्तर दिशा में होते हैं, क्योंकि इन दोनों दिशाओं में भरत और ऐरवत क्षेत्र का विस्तार कम है फलतः मनुष्य की संख्या कम होती है। जबकि पूर्व और पश्चिम में भरत एवं ऐरवत क्षेत्र का विस्तार संख्यात गुणा अधिक होने से मनुष्य की संख्या स्वतः अधिक हो जाती है।[९२]

देव– सजातीय अपेक्षा से देवों में सबसे अल्प सर्वार्थसिद्धस्थ देव होते हैं। इनसे शेष रहे अनुत्तरविमान के देव असंख्य गुणा अधिक होते हैं। ग्रैवेयक के ऊर्ध्वत्रिक, मध्यत्रिक और अधोत्रिक के देव अनुक्रम से अनुत्तर वैमानिक देव से संख्यात-संख्यात गुणा अधिक होते हैं। इनसे अच्युत, आरण, प्राणत और आनत देवलोक के देव अनुक्रम से संख्यात-संख्यात गुणा अधिक होते हैं। अच्युत देवलोक की अपेक्षा आरण देवलोक में कृष्ण पाक्षिक जीव की बहुलता होने से विमान संख्या के समान होने पर भी देवों की संख्या अधिक होती हैं। आनत देवलोक के देवों से सहस्रार देवलोक के देव असंख्यात गुणा होते हैं। महाशुक्र, लांतक, ब्रह्म, माहेन्द्र, सनत्कुमार और ईशान देवलोक के देव अनुक्रम से आनत देवलोक के देवों से असंख्यात गुणा अधिक होते हैं। सौधर्म देवलोक के देव ईशान देवलोक के देवों से संख्यात गुणा अधिक होते हैं, इनसे भवनपति देव असंख्य गुणा, भवनपति से व्यन्तर देव असंख्यात गुणा और ज्योतिष्क देव व्यन्तरों से संख्यात गुणा अधिक होते हैं। सभी देवलोकों की देवियाँ अपने देवों से संख्यात गुणा अधिक होती हैं।[९३]

दिशाओं की अपेक्षा सबसे कम भवनवासी[९४] देव पूर्व और पश्चिम दिशा में होते हैं, क्योंकि इन दोनों दिशाओं में इनके भवन थोड़े हैं। इनकी अपेक्षा उत्तर एवं दक्षिण दिशा में स्वस्थान होने से वहां उनके भवन अधिक हैं अतः इन दोनों दिशाओं में भवनवासी देव अधिक होते हैं। वाणव्यन्तर देव[९५] खाली स्थान में अधिक विचरण करते हैं अतः पूर्व दिशा में सघन स्थान की अधिकता से इस दिशा में ये देव सबसे अल्प होते हैं। पश्चिम दिशा में अधोलौकिक ग्रामों में रन्ध्र होने से तथा उत्तर

एवं दक्षिण दिशा में नगरावासों की बहुलता से वाणव्यन्तर देव इन तीन दिशाओं में अपेक्षाकृत अत्यधिक है। ज्योतिष्क देव[६६] पूर्व और पश्चिम दिशा में सबसे कम होते हैं क्योंकि इन दिशाओं में चन्द्र-सूर्य द्वीप हैं जो कि उद्यानप्रधान हैं अतः वहां ये देव कम होते हैं। दक्षिण एवं उत्तर दिशा में अनुक्रम से ये देव अधिकाधिक होते हैं। दक्षिण दिशा में विमान एवं कृष्ण पाक्षिक देवों की उत्पत्ति अधिक होने से इनकी संख्या अधिक है और उत्तर दिशा में मानस सरोवर की स्थिति होने से ये अधिक होते हैं। दिशा के आश्रित सौधर्म देवलोक[६७] के देव पूर्व और पश्चिम में कम होते हैं। दक्षिण एवं उत्तर में ही पुष्पावकीर्ण विमानों की सत्ता होने से ये देव इन दो दिशाओं में अधिक होते हैं। ब्रह्म देवलोक[६८] के देव पूर्व, उत्तर और पश्चिम दिशाओं में सबसे कम होते हैं, क्योंकि इन दिशाओं में शुक्ल पाक्षिकों की उत्पत्ति होती है और ये स्वभावतः अल्प होते हैं। दक्षिण दिशा में प्रायः कृष्णपाक्षिकों की उत्पत्ति होती है। वे भी स्वभावतः अधिक होते हैं। अतः ब्रह्मदेवलोक के देव दक्षिण में अधिक होते हैं।

लांतक, शुक्र और सहस्रार देवलोक के देवों का दिशा की अपेक्षा अल्पबहुत्व ब्रह्म देवलोक के देवों के समान है। आनत देवलोक से लेकर अन्तिम अनुत्तर विमान तक के देवलोक के देवों का अल्पबहुत्व चारों दिशाओं में समान है। दक्षिण दिशा में पांच भरतक्षेत्रों में एवं उत्तर दिशा में पांच ऐरावत क्षेत्रों में कुछ मनुष्य ही सिद्धि प्राप्त करते हैं। अतः सिद्ध जीव दक्षिण और उत्तर में कम होते हैं। जबकि पूर्व और पश्चिम दिशा में असंख्यात गुणा अधिक होते हैं।[६९]

नारकी- नारकीय जीवों में सजातीय की अपेक्षा से सबसे कम नारकी जीव सातवें नरक में होते हैं। छठी नरक से लेकर पहले नरक तक में नारकी जीवों की संख्या उत्तरोत्तर असंख्यात गुणा अधिक होती जाती हैं।[१००] उत्कृष्ट पाप करने वाले संज्ञी पंचेन्द्रिय तिर्यंच और मनुष्य सातवें नरक में जाते हैं।

दिशाओं की अपेक्षा से सबसे कम नारक जीव पूर्व, पश्चिम और उत्तर दिशाओं में होते हैं। इन दिशाओं में पुष्पावकीर्ण नारकावास थोड़े हैं और वे भी प्रायः संख्यात योजन विस्तार वाले ही हैं। अतः नारक जीव इन दिशाओं में कम होते हैं। दक्षिण दिशा में असंख्यात योजन विस्तार वाले पुष्पावकीर्ण नारकावासों की बहुलता होने से नारक जीव इस दिशा में असंख्यातगुणा अधिक होते हैं।[१०१]

तैतीसवां एवं सैतीसवां द्वार : महाअल्पबहुत्व

समस्त जीवों का जो अल्पबहुत्व प्रतिपादित किया जाता है वह महा-अल्पबहुत्व कहलाता है। इस महाअल्पबहुत्व को ६८ बोलों के माध्यम से समझाया गया है। इस अल्पबहुत्व की दृष्टि से सम्पूर्ण लोक में गर्भ से उत्पन्न होने वाले गर्भज मनुष्य सबसे कम होते हैं, क्योंकि इनकी संख्या

संख्यात कोटाकोटि परिमित है।[१०२]

१. मनुष्यस्त्रियाँ गर्भज मनुष्य की अपेक्षा संख्यात गुणा अधिक हैं, क्योंकि वे मनुष्य पुरुषों की अपेक्षा सत्ताईस गुणी और सत्ताईस अधिक होती हैं। कहा भी गया है- 'सत्तावीसगुणा पुणा मणुयाणं तदहिया चेव।'[१०३]

२. मनुष्यस्त्रियों की अपेक्षा बादर पर्याप्त तेजस्यकायिक जीव असंख्यात गुणा अधिक होते हैं, क्योंकि वे कतिपय वर्ग कम आवलिकाघन-समय प्रमाण हैं।

३. इन जीवों की अपेक्षा अनुत्तरौपपातिक देव असंख्यातगुणा अधिक हैं। ये जीव क्षेत्र पल्योपम के असंख्यातवें भागवर्ती आकाश प्रदेशों की राशि के बराबर हैं।

४. अनुत्तरौपपातिक देवों से ऊपरी तीन ग्रैवेयकों के देव संख्यात-गुणा अधिक हैं, क्योंकि वे बृहत्तर पल्योपम के असंख्यातवें भाग में रहे हुए आकाशप्रदेशों की राशि के बराबर हैं। अनुत्तर देवों के मात्र पांच विमान होते हैं, जबकि ऊपर के तीन ग्रैवेयकों में सौ विमान हैं और प्रत्येक विमान में असंख्यात देव रहते हैं। अतएव अनुत्तर विमानों की अपेक्षा ग्रैवेयकों के देव असंख्यात गुणा अधिक हैं। इसी प्रकार आगे के देव भी विमानाधिक होने से संख्यात गुणा अधिक अधिक होते जायेंगे।

५. ऊपरी ग्रैवेयक देवों से मध्यम ग्रैवेयकों के देव संख्यात-गुणा अधिक हैं।

६. मध्यम ग्रैवेयक के देवों की अपेक्षा निचले तीन ग्रैवेयकों के देव संख्यात गुणा अधिक हैं।

७. इनकी अपेक्षा अच्युत कल्प के देव संख्यात गुणा हैं।

८. अच्युत्कल्प की अपेक्षा आरणकल्प में देव संख्यातगुणा अधिक हैं। यद्यपि आरण और अच्युतकल्प समानश्रेणी में स्थित हैं और दोनों के विमानों की संख्या बराबर है तथापि आरणकल्प का दक्षिण में अधिक विस्तार होने से वहाँ कृष्णपाक्षिक जीवों की उत्पत्ति शुक्लपाक्षिकों की अपेक्षा अधिक होती है। इस कारण अच्युतकल्प के देवों की अपेक्षा आरणकल्प के देव संख्यातगुणा अधिक हैं।

९. प्राणतकल्प के देव आरणकल्प के देवों से संख्यातगुणा अधिक हैं।

१०. उनकी अपेक्षा आनतकल्प के देव संख्यात गुणा अधिक हैं।

११. आनतकल्प के देवों की अपेक्षा सातवीं नरकभूमि के नारक असंख्यातगुणा अधिक हैं क्योंकि ये श्रेणि के असंख्यातवें भाग में स्थित आकाशप्रदेशों की राशि के बराबर हैं।

१२. सातवीं पृथ्वी के नारक की अपेक्षा छठी तमःप्रभा पृथ्वी के नारक असंख्यात गुणा अधिक हैं।

१३. छठी नरक भूमि के नारकों की अपेक्षा सहस्रार कल्प के देव असंख्यात गुणा हैं। छठी पृथ्वी के नारकों का परिमाण हेतुभूत श्रेणी का असंख्यातवाँ भाग है जबकि सहस्रार कल्प के देवों का परिमाण ही हेतुभूत श्रेणी के असंख्यातवें भाग का असंख्यातगुणित है।

१४. सहस्रार कल्प के देवों की अपेक्षा महाशुक्रकल्प में देव असंख्यातगुणा अधिक हैं, क्योंकि सहस्रारकल्प में छह हजार विमान हैं जबकि महाशुक्रकल्प में चालीस हजार विमान हैं अतः देव भी स्वतः अधिक होंगे।

१५. महाशुक्रकल्प के देवों की अपेक्षा पाँचवीं धूमप्रभा पृथ्वी के नारक असंख्यात गुणा हैं क्योंकि वे बृहत्तम श्रेणि के असंख्यातवें भाग में रहे हुए आकाश प्रदेशों के बराबर हैं, अतएव असंख्यातगुणा हैं।

१६. उनकी अपेक्षा लान्तक कल्प में देव असंख्यात गुणा हैं, क्योंकि वे अति बृहत्तम श्रेणी के असंख्यातवें भाग में स्थित आकाशप्रदेशों की राशि के बराबर हैं।

१७. लांतक कल्प के देवों से चौथी पंकप्रभा पृथ्वी के नारक असंख्यात गुणा हैं।

१८. इन नारकियों की अपेक्षा ब्रह्मलोक में देव असंख्यात गुणा अधिक हैं।

१९. ब्रह्मलोक के देवों से असंख्यात गुणा अधिक तीसरी बालुकाप्रभा नामक पृथ्वी के नारक हैं।

२०. इनकी अपेक्षा माहेन्द्र नामक कल्प के देव असंख्यातगुणा अधिक हैं।

२१. माहेन्द्रकल्प की अपेक्षा सनत्कुमार कल्प में देव असंख्यात गुणा अधिक हैं।

२२. सनत्कुमार कल्प के देवों की अपेक्षा दूसरी शर्कराप्रभा नामक पृथ्वी के नारक असंख्यातगुणा हैं।[१०४]

२३. उनकी अपेक्षा सम्मूर्च्छिम मनुष्य असंख्यात गुणा हैं। अंगुल मात्र क्षेत्र के प्रदेशों की राशि के द्वितीय वर्गमूल से गुणित तीसरे वर्गमूल में जितने प्रदेश होते हैं, उतने प्रमाण वाले जितने खण्ड एक प्रादेशिक श्रेणी में होते हैं उतनी ही संख्या सम्मूर्च्छिम मनुष्यों की है।

२४. सम्मूर्च्छिम मनुष्यों की अपेक्षा ईशान कल्प में देव असंख्यात गुणा अधिक हैं। अंगुल मात्र क्षेत्र के प्रदेशों की राशि के तृतीय वर्गमूल से गुणित द्वितीय वर्गमूल में जितने आकाश प्रदेशों की राशि होती है, उतने प्रमाण वाली घनीकृत लोक की एक प्रादेशिक श्रेणियों में रहे हुए आकाश प्रदेशों के बराबर ईशान कल्प के देव हैं। यह संख्या ईशानकल्प के देवों और देवियों दोनों की है।

२५. ईशानकल्प के देवों की अपेक्षा देवियां संख्यातगुणी अधिक होती हैं।

२६. सौधर्मकल्प में देव ईशानकल्प की देवियों की अपेक्षा संख्यातगुणा अधिक होते हैं। क्योंकि

ईशानकल्प में २८ लाख विमान हैं, जबकि सौधर्म कल्प में बत्तीस लाख विमान हैं। दक्षिण दिशा में कृष्ण पाक्षिक जीव का उत्पाद अधिक होता है अतः दक्षिणदिशावर्ती सौधर्मकल्प में देव विमान एवं दिशा के कारण अधिक होते हैं।

२७, २८ एवं २९ इनसे भवनवासी देव असंख्यात गुणा अधिक और देवों से देवियां असंख्यातगुणा अधिक होती हैं।

३०. भवनपति देवियों की अपेक्षा रत्नप्रभा पृथ्वी के नारक असंख्यातगुणा होते हैं। वे अंगुल मात्र परिमित क्षेत्र के प्रदेशों की राशि के द्वितीय वर्गमूल से गुणित प्रथम वर्गमूल की जितनी प्रदेश राशि होती है, उतनी श्रेणियों में रहे हुए आकाश के प्रदेशों के बराबर होते हैं।

३१. उनकी अपेक्षा खेचर तिर्यंच पंचेन्द्रिय पुरुष असंख्यात गुणा अधिक होते हैं क्योंकि वे प्रतर असंख्यातवें भाग में रही हुई असंख्यात श्रेणियों के आकाश प्रदेशों के बराबर हैं।

३२. खेचर पुरुष की अपेक्षा खेचर तिर्यंच पंचेन्द्रिय स्त्रियां संख्यात गुणी हैं क्योंकि तिर्यंच जीवों में पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियां तिगुणी होती हैं। कहा भी गया है- 'तिगुणा तिरूवअहिया तिरियाणं इत्थिओ मुणेयव्वा।'[१०५]

३३. उनकी अपेक्षा स्थलचर तिर्यंच पंचेन्द्रिय पुरुष संख्यात गुणा अधिक हैं, क्योंकि वे बृहत् प्रतर के असंख्यातवें भाग में रही हुई असंख्यात श्रेणियों के आकाश प्रदेशों की राशि के बराबर हैं।

३४. उनकी अपेक्षा स्थलचर तिर्यंच पंचेन्द्रिय स्त्रियाँ संख्यात गुणा अधिक हैं, क्योंकि वे तिगुनी और तीन अधिक होती हैं।

३५. इनकी अपेक्षा जलचर तिर्यंच पंचेन्द्रिय पुरुष संख्यात गुणा अधिक हैं, क्योंकि वे बृहत्तम प्रतर के असंख्यातवें भाग में रही हुई असंख्यात श्रेणियों के आकाश प्रदेशों की राशि के बराबर हैं।

३६. जलचर तिर्यंच पंचेन्द्रिय पुरुष की अपेक्षा जलचर स्त्रियां संख्यात गुणा अधिक होती हैं।

३७. उनकी अपेक्षा वाणव्यन्तर देव संख्यात गुणा अधिक हैं क्योंकि संख्यात गुणा कोटाकोटी योजन प्रमाण सूची रूप जितने खण्ड एक प्रतर में होते हैं उतने ही सामान्य व्यन्तर देव हैं, इनमें देवियाँ भी सम्मिलित होती हैं।

३८. वाणव्यन्तर देवों की अपेक्षा वाणव्यन्तरी देवियाँ संख्यात गुणी हैं, क्योंकि देवों की अपेक्षा देवियाँ बत्तीस गुणा और बत्तीस अधिक हैं।

३९. वाणव्यन्तर देवियों की अपेक्षा ज्योतिष्क देव संख्यात गुणा अधिक हैं। ये देव सामान्य रूप से

दो सौ छप्पन अंगुल प्रमाण सूची रूप जितने खण्ड एक प्रतर में होते हैं उतनी संख्या में होते हैं।

४०.ज्योतिष्क देवों की अपेक्षा ज्योतिष्क देवियां संख्यातगुणी अधिक हैं।

४१.ज्योतिष्क देवियों की अपेक्षा खेचर पंचेन्द्रिय तिर्यंच योनिक नपुंसक संख्यातगुणा अधिक हैं।

४२.खेचर नपुंसकों की अपेक्षा स्थलचर पंचेन्द्रिय तिर्यंच नपुंसक संख्यातगुणा अधिक हैं।

४३.उनकी अपेक्षा जलचर पंचेन्द्रिय तिर्यंच पंचेन्द्रिय नपुंसक संख्यातगुणा अधिक हैं।

४४.जलचर नपुंसकों की अपेक्षा चतुरिन्द्रिय पर्याप्तक संख्यातगुणा अधिक हैं।

४५.उनसे पंचेन्द्रिय पर्याप्तक विशेषाधिक हैं, जिसमें संज्ञी और असंज्ञी दोनों सम्मिलित हैं।

४६.उनकी अपेक्षा द्वीन्द्रिय पर्याप्त विशेषाधिक हैं।

४७.द्वीन्द्रिय की अपेक्षा त्रीन्द्रिय पर्याप्तक विशेषाधिक हैं।

४८.पर्याप्तक त्रीन्द्रिय की अपेक्षा पंचेन्द्रिय अपर्याप्त असंख्यातगुणा अधिक हैं। क्योंकि अंगुल के असंख्यातवें भाग मात्र सूचीरूप जितने खण्ड एक प्रतर में होते हैं उतने ये जीव होते हैं।

४९.चतुरिन्द्रिय अपर्याप्त जीव पंचेन्द्रिय अपर्याप्तकों से विशेषाधिक हैं।

५०.चतुरिन्द्रिय अपर्याप्तकों की अपेक्षा .त्रीन्द्रिय अपर्याप्त विशेषाधिक हैं।

५१.उनकी अपेक्षा द्वीन्द्रिय अपर्याप्त विशेषाधिक है।

५२.द्वीन्द्रिय अपर्याप्तकों की अपेक्षा प्रत्येक शरीर बादर वनस्पतिकायिक पर्याप्त असंख्यात गुणा हैं। पर्याप्त बादरवनस्पतिकायिक भी अंगुल के असंख्यातवें भाग मात्र सूची रूप जितने खंड एक प्रतर में होते हैं उतने होते हैं।

५३.पर्याप्त प्रत्येक शरीर बादर वनस्पतिकायिकों की अपेक्षा भी बादर निगोद के पर्याप्तक असंख्यातगुणा हैं।

५४.उनकी अपेक्षा भी बादर पृथ्वीकायिक पर्याप्त असंख्यातगुणा हैं।

५५.बादर अप्कायिक पर्याप्त पृथ्वीकायिक पर्याप्तकों से असंख्यात गुणा अधिक होते हैं। पर्याप्त प्रत्येक शरीर वनस्पतिकायिक, पृथ्वीकायिक और अप्कायिक में से प्रत्येक की संख्या अंगुल के असंख्यातवें भाग मात्र सूची रूप जितने खण्ड एक प्रतर में होते हैं उसके बराबर है। यह सामान्य रूप से कथन किया गया है, किन्तु अंगुल के असंख्यातवें भाग के भी असंख्यात भेद होते हैं।

५६.पर्याप्त बादर अप्कायिकों की अपेक्षा पर्याप्त बादर वायुकायिक असंख्यात गुणा हैं क्योंकि वे घनीकृत लोक के असंख्यातवें भाग में स्थित असंख्य प्रतरवर्ती आकाश के प्रदेशों की राशि

बराबर हैं।

५७.पर्याप्त बादर वायुकायिकों की अपेक्षा बादर तेजस्कायिक अपर्याप्त असंख्यात गुणा हैं।

५८.इनकी अपेक्षा प्रत्येक शरीर बादर वनस्पतिकायिक अपर्याप्त असंख्यात गुणा हैं।

५९.इनकी अपेक्षा बादर निगोद के अपर्याप्तक असंख्यात गुणा हैं।

६०.उनकी अपेक्षा बादर पृथ्वीकायिक अपर्याप्त असंख्यात गुणा हैं।

६१.६२ एवं ६३ बादर पृथ्वीकायिक अपर्याप्त की अपेक्षा क्रमशः बादर अप्कायिक अपर्याप्त, बादर वायुकायिक अपर्याप्त जीव असंख्यात गुणा अधिक हैं।

६४.६५ एवं ६६ बादर वायुकायिक अपर्याप्त जीव की अपेक्षा से अनुक्रम से सूक्ष्म तेजस्कायिक अपर्याप्त, सूक्ष्म पृथ्वीकायिक अपर्याप्त, सूक्ष्म अप्कायिक अपर्याप्त, सूक्ष्म वायुकायिक अपर्याप्त असंख्यात गुणा अधिक हैं।

६७.सूक्ष्म वायुकायिक अपर्याप्तक जीवों की अपेक्षा सूक्ष्म तेजस्कायिक पर्याप्त संख्यातगुणा हैं क्योंकि अपर्याप्तक सूक्ष्म जीवों की अपेक्षा पर्याप्तक सूक्ष्म स्वभाव से ही अधिक होते हैं। प्रज्ञापना में कहा भी गया है-

जीवाणमपज्जत्ता बहुतरगा बायराण विन्नेया।
सुहुमाण य पज्जत्ता ओहेण य केवली विंति।।
जीवानामपर्याप्तकाः बहुतरकाः खलु विज्ञेयाः।
सूक्ष्माणाञ्च पर्याप्ताः ओघेन च केवलिनो विदन्ति।।

६८.६९ एवं ७०. सूक्ष्म तेजस्कायिक पर्याप्त जीवों की अपेक्षा सूक्ष्म पृथ्वीकायिक पर्याप्त विशेषाधिक हैं। अनुक्रम से सूक्ष्म अप्कायिक पर्याप्त, सूक्ष्म वायुकायिक पर्याप्त जीव संख्यात गुणा से विशेषाधिक हैं।

७१.सूक्ष्म वायुकायिक पर्याप्त जीव की अपेक्षा सूक्ष्म निगोद के अपर्याप्तक जीव असंख्यात गुणा हैं।

७२.उनसे पर्याप्त सूक्ष्म निगोद जीव संख्यातगुणा हैं।

७३.अपर्याप्त तेजस्कायिक से लेकर पर्याप्त सूक्ष्म निगोद तक के जीव सामान्य रूप से असंख्यात लोकाकाशों के प्रदेशों की राशि के बराबर हैं, किन्तु असंख्यात लोक असंख्यात भेद वाला है, अतएव यह अल्पबहुत्व संगत ही है।

७४.सूक्ष्म निगोद के अपर्याप्तकों की अपेक्षा अभवसिद्धिक-अभव्य अनन्तगुणा अधिक हैं क्योंकि वे जघन्य युक्त अनन्त प्रमाण वाले हैं।

७५.इनकी अपेक्षा सम्यक्त्व पतित जीव अनन्तगुणा हैं।

७६.उनसे सिद्ध जीव अनन्तगुणा हैं।

७७.सिद्धों की अपेक्षा बादर वनस्पतिकायिक पर्याप्त अनन्तगुणा हैं।

७८.बादर वनस्पतिकायिक पर्याप्त जीवों से शेष सभी बादर पर्याप्त पृथ्वीकायिकादि जीव विशेषाधिक हैं।

७९.बादर पर्याप्त पृथ्वीकायिकादि जीवों की अपेक्षा बादर वनस्पतिकायिक अपर्याप्त असंख्यातगुणा हैं, क्योंकि एक-एक बादर निगोद पर्याप्त के आश्रय से असंख्यात असंख्यात बादर निगोद अपर्याप्त रहते हैं।

८०.बादर वनस्पतिकायिक अपर्याप्त जीवों की अपेक्षा बादर अपर्याप्त पृथ्वीकायिकादि जीव विशेषाधिक है।

८१.उनकी अपेक्षा सामान्य बादर पर्याप्त और अपर्याप्त दोनों जीव विशेषाधिक हैं।

८२.बादर जीवों की अपेक्षा सूक्ष्म अपर्याप्त वनस्पतिकायिक जीव असंख्यातगुणा हैं।

८३.सूक्ष्म अपर्याप्त वनस्पतिकायिक जीव से समुच्चय सूक्ष्म अपर्याप्त जीव विशेषाधिक हैं।

८४.उनकी अपेक्षा सूक्ष्म पर्याप्त वनस्पतिकायिक जीव संख्यातगुणा अधिक हैं, क्योंकि अपर्याप्तक सूक्ष्म की अपेक्षा पर्याप्तक सूक्ष्म जीव स्वभाव से ही संख्यात गुणा अधिक होते हैं।

८५.उनसे सूक्ष्म पर्याप्त पृथ्वीकायिकादि शेष सभी जीव विशेषाधिक हैं।

८६.उनकी अपेक्षा सामान्य पर्याप्त और अपर्याप्त समुच्चय सूक्ष्म जीव विशेषाधिक हैं।

८७.इन जीवों की अपेक्षा भव्य जीव विशेषाधिक हैं।

८८.भव्य जीवों से निगोद जीव विशेषाधिक हैं।

८९.निगोद जीवों की अपेक्षा वनस्पतिकायिक जीव विशेषाधिक हैं। क्योंकि सामान्य वनस्पतिकायिकों में प्रत्येक शरीर वनस्पतिकाय के जीव भी सम्मिलित हैं।

९०.वनस्पति जीवों की अपेक्षा एकेन्द्रिय जीव विशेषाधिक हैं। उनमें सूक्ष्म एवं बादर पृथ्वीकायिक आदि का भी समावेश है।

९१.एकेन्द्रियों की अपेक्षा तिर्यंच जीव विशेषाधिक हैं क्योंकि तिर्यंच सामान्य में द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पंचेन्द्रिय पर्याप्त और अपर्याप्त सभी तिर्यंच शामिल हैं।

९२.तिर्यंच जीवों से मिथ्यादृष्टि जीव विशेषाधिक हैं। थोड़े से अविरत सम्यग्दृष्टि संज्ञी तिर्यंच को छोड़ शेष सभी तिर्यंच, असंख्यात नारक और शेष गतियों के भी कुछ जीव मिथ्यादृष्टि

होते हैं। अतः तिर्यंचों की अपेक्षा चारों गतियों के मिथ्यादृष्टि जीव विशेषाधिक हैं।

६३. मिथ्यादृष्टियों की अपेक्षा अविरत जीव विशेषाधिक हैं, क्योंकि इनमें अविरत सम्यग्दृष्टि भी समाविष्ट हैं।

६४. अविरत जीवों की अपेक्षा सकषाय जीव विशेषाधिक हैं, क्योंकि सकषाय जीवों में देशविरत और दशम गुणस्थान तक के सर्वविरत जीव सम्मिलित हैं।

६५. छद्मस्थ जीवों में उपशान्त मोहनीय युक्त जीवों का भी परिगणन होने से ये जीव सकषाय जीवों से विशेषाधिक हैं।

६६. सकषाय जीवों की अपेक्षा सयोगी जीव अधिक हैं, क्योंकि इनमें सयोगी केवली जीवों को भी गिना जाता है।

६७. सयोगियों की अपेक्षा संसारी जीव विशेषाधिक हैं, क्योंकि संसारी जीवों में अयोगी केवली भी होते हैं।

६८. संसारी जीवों से सर्व जीव अधिक हैं, क्योंकि सर्व जीवों में सिद्धों का भी समावेश होता है।

कौनसे जीव किन जीवों की अपेक्षा न्यूनाधिक हैं, इस प्रकार का निरूपण उपाध्याय विनयविजय ने प्रज्ञापना सूत्र आदि आगमों के आधार पर किया है।

पैतीसवां अन्तर द्वार : उसी गति आदि की पुनः प्राप्ति का निरूपण

अन्तर का अर्थ है काल का व्यवधान। काल का यह व्यवधान चार रूपों में दृष्टिगोचर होता है- गति, जाति, काय और पर्याय। 'गति' में काल के व्यवधान से तात्पर्य है कि जीव वर्तमान नरकादि गति से दूसरी गति में जाकर पुनः उस गति को कितने समय पश्चात् प्राप्त करता है। ठीक इसी प्रकार एकेन्द्रियादि जाति से मरकर अन्य जाति में उत्पन्न होकर पुनः उसी जाति को निश्चित काल पश्चात् पुनः प्राप्त करना 'जाति का अन्तर' होता है। इसी तरह पृथ्वीकायादि का 'काय अन्तर' और स्त्री, पुरुष तथा नपुंसक जीव का 'पर्याय अन्तर' होता है। उपाध्याय विनयविजय ने जीव के ३५वें द्वार में काय-अन्तर की अपेक्षा से अन्तर का निरूपण किया है, जो इस प्रकार है-

सूक्ष्म एकेन्द्रिय

सभी एकेन्द्रिय जीवों का सामान्य रूप से जघन्य अन्तर अन्तर्मुहूर्त है। अर्थात् सूक्ष्म जीव अपना सूक्ष्मत्व छोड़कर बादर रूप में उत्पन्न होकर अन्तर्मुहूर्त रहकर पुनः सूक्ष्मत्व प्राप्त करता है। सूक्ष्म जीवों का उत्कृष्ट अन्तर असंख्यात-काल[१०६] होता है।[१०७] सूक्ष्म पृथ्वीकायिक, अप्कायिक, तेजस्कायिक और वायुकायिक जीवों का जघन्य अन्तर अन्तर्मुहूर्त का होता है और उत्कृष्ट अन्तर अनन्तकाल है। सूक्ष्म पृथ्वीकायिकादि जीव वनस्पतिकाय में जन्म ग्रहण कर अनन्तकाल व्यतीत कर

पुनः सूक्ष्म पृथ्वीकायत्व आदि प्राप्त करता है, इस अपेक्षा से सूक्ष्म पृथ्वीकायिकादि जीवों का उत्कृष्ट अन्तर अनन्तकाल होता है।[१०८] सूक्ष्म वनस्पतिकाय का जघन्य अन्तर सूक्ष्म पृथ्वीकायिकादि के समान अन्तर्मुहूर्त होता है और उत्कृष्ट अन्तर असंख्यात कालचक्र का होता है। सूक्ष्म वनस्पतिकायिक जीव सूक्ष्म पृथ्वीकायत्व आदि जन्म प्राप्त करता है एवं पुनः वनस्पतिकायत्व धारण करता है। पृथ्वीकायिकादि जीवों का काल असंख्यात ही होता है अतः वनस्पतिकाय का उत्कृष्ट अन्तर अनन्तकाल असम्भव है इसलिए इसका उत्कृष्ट काल असंख्यात ही है।

बादर एकेन्द्रिय

सूक्ष्म जीवों की जो कायस्थिति होती है वही बादर जीवों का अन्तर होता है। सभी बादर एकेन्द्रिय जीवों का जघन्य अन्तर अन्तर्मुहूर्त होता है तथा बादर निगोद को छोड़कर शेष सभी का उत्कृष्ट अन्तर अनन्तकाल होता है। बादर पृथ्वीकायिक, अप्कायिक, तेजस्कायिक, वायुकायिक तथा प्रत्येक वनस्पतिकायिक जीवों का उत्कृष्ट अन्तर वनस्पतिकाल के बराबर अनन्तकाल है क्योंकि ये जीव निगोद में उत्पन्न होकर अनन्त काल व्यतीत कर पुनः बादरत्व ग्रहण करते हैं। बादर निगोद का उत्कृष्ट अन्तर असंख्यातकाल है अर्थात् पृथ्वीकायिकादि जीवों की कायस्थिति असंख्यात काल है, अतः निगोदिया जीव असंख्यात काल पृथ्वीकायादि में रहकर पुनः निगोद में उत्पन्न होता है।[१०९]

विकलेन्द्रिय और पंचेन्द्रिय

विकलेन्द्रिय और तिर्यंच पंचेन्द्रिय जीव वनस्पतिकाय की उत्कृष्ट कायस्थिति अर्थात् अनन्तकाल भोगकर पुनः तिर्यंचत्व और तिर्यंच पंचेन्द्रिय जन्म धारण करते हैं। अतः इनका उत्कृष्ट अन्तर अनन्तकाल है तथा जघन्य अन्तर अन्तर्मुहूर्त होता है।[११०] जीवाजीवाभिगम सूत्र में तिर्यक्योनिकों का उत्कृष्ट अन्तर साधिक सागरोपम शतपृथक्त्व (दो सौ से लेकर नौ सौ सागरोपम) कहा गया है-

"तिरिक्खजोणियाणं जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं सागरोवमसयपुहुत्तं सातिरेगं।""[१११]

इसी प्रकार मनुष्य-मानुषी[११२], देव-देवी[११३] तथा नरक[११४] इन सभी जीवों का जघन्य अन्तर अन्तर्मुहूर्त्त है और उत्कृष्ट अन्तर अनन्तकाल वनस्पतिकाल यावत् होता है। चक्रवर्ती के रूप में मनुष्य का जघन्य अन्तर एक सागरोपम से कुछ अधिक और उत्कृष्ट अन्तर अर्धपुद्गल परावर्तन होता है।[११५]

छत्तीसवां भवसंवेध द्वार : नरकादि में भवों की संख्या

भव+सम्+वेध के योग से निष्पन्न भवसंवेध शब्द का तात्पर्य किसी भी जीव के वर्तमान जन्म और पर जन्म अथवा पूर्वजन्म के आधार पर उसके जघन्य (कम से कम) और उत्कृष्ट

(अधिक से अधिक) जन्मों की गणना करना है। जैन आगम ग्रन्थ व्याख्याप्रज्ञप्ति सूत्र के शतक २४ उद्देशक १-२४ में जीव के भवसंवेध का विस्तृत उल्लेख प्राप्त होता है। जैन विद्वानों ने इस भवसंवेध को लघुदण्डक, गति-आगति और गम्मा के थोकड़ों के माध्यम से प्रस्तुत किया है। लोकप्रकाशकार ने जीव के ३७ द्वारों में ३६वें भवसंवेध द्वार का दसवें सर्ग में स्पष्टतया विस्तृत विवेचन किया है।

आद्यः प्राच्याग्र्यभवयोर्ज्येष्ठमायुर्यदा भवेत्।
भंगोऽन्यः प्राग्भवे ज्येष्ठमल्पिष्टं स्यात्परे भवे।।
तृतीयः प्राग्भवेऽल्पीयो ज्येष्ठमायुर्भवपरे।
आयुर्लघु द्वयोस्तुर्योभंगेष्वेषु चतुर्ष्वथ।।"[६]

उत्कृष्ट-उत्कृष्ट, उत्कृष्ट-जघन्य, जघन्य-उत्कृष्ट और जघन्य-जघन्य इस चतुर्भंगी से भवसंवेध का विभाजन किया गया है। जब पूर्वजन्म (वर्तमान जन्म) और परजन्म दोनों जन्म में उत्कृष्ट आयुष्य हो तब प्रथम विभाग उत्कृष्ट-उत्कृष्ट और जब पूर्वजन्म में उत्कृष्ट व परजन्म में जघन्य आयुष्य हो तब दूसरा विभाग उत्कृष्ट-जघन्य बनता है। इसी तरह जब पूर्वजन्म में जघन्य और परजन्म में उत्कृष्ट आयुष्य हो तब तीसरा विभाग जघन्य-उत्कृष्ट तथा पूर्वजन्म और परजन्म दोनों में जघन्य आयुष्य हो तब चतुर्थ विभाग जघन्य-जघन्य बनता है।

नरक, तिर्यंचादि चारों गतियों के जीवों का भवसंवेध तीन विधियों से सहज एवं स्पष्टतया ज्ञात हो सकता है-

१. औदारिक शरीरी जीवों से वैक्रिय शरीर प्राप्त करने पर होने वाले भवसंवेध।
२. वैक्रिय शरीरी जीवों से औदारिक शरीर प्राप्त कर लेने पर होने वाले भवसंवेध।
३. औदारिक शरीरी जीवों से औदारिक शरीर प्राप्त कर लेने पर होने वाले भवसंवेध।

औदारिक से वैक्रिय शरीर प्राप्त जीवों का भवसंवेध

क्र.	जीव का गमन	जघन्य जन्म	उत्कृष्ट जन्म
१	संज्ञी मनुष्य या तिर्यंच जीव प्रथम से छठी नरक में उत्पन्न हो तो	दो	आठ
२	भवनपति, ज्योतिष्क, व्यन्तर तथा पहले देवलोक से लेकर आठवें देवलोक तक में संज्ञी मनुष्य अथवा तिर्यंच जीव उत्पन्न हों तो	दो	आठ
३	(१) सातवीं नरक भूमि माघवती में यदि संज्ञी पंचेन्द्रिय तिर्यंच जघन्य आयुष्य प्राप्त कर उत्पन्न हों तो	तीन	सात
	(२) सातवीं नरक भूमि माघवती में यदि संज्ञी पंचेन्द्रिय तिर्यंच उत्कृष्ट आयुष्य प्राप्त कर उत्पन्न हों तो	तीन	पांच

	(३) सातवीं नरक भूमि में यदि संज्ञी मनुष्य उत्पन्न हों तो	दो	दो
४	(१) आनत आदि नवम देवलोक से लेकर बारहवें देवलोक और सर्व नौ ग्रैवेयक में उत्पन्न मनुष्य (२) विजयादि चार अनुत्तर विमान में उत्पन्न मनुष्य (३) पांचवें अनुत्तर विमान में उत्पन्न मनुष्य	तीन तीन तीन	सात पांच तीन
५	भवनपति, व्यनतर, ज्योतिषी और पहले दो देवलोक तक में उत्पन्न युगलिक मनुष्य और तिर्यंच (खेचर, स्थलचर)	दो	दो
६	रत्नप्रभा नामक नरक की प्रथम भूमि, भवनपति और व्यन्तर में उत्पन्न असंज्ञी पर्याप्त तिर्यंच	दो	दो

वैक्रिय शरीरी जीवों से औदारिक शरीर प्राप्त जीवों का भवसंवेध

क्र.	जीव का गमन	जघन्य जन्म	उत्कृष्ट जन्म
१	भवनपति, व्यन्तर, ज्योतिष तथा सहस्रार आठवें देवलोक तक के देव और प्रथम से छह नरक तक के नारकी यदि पर्याप्त संज्ञी तिर्यंच और मनुष्य में उत्पन्न हों तो	दो	आठ
२	(१) जघन्य स्थिति वाला सातवें नरक का जीव यदि संज्ञी पर्याप्त तिर्यंच में उत्पन्न हों तो (२) उत्कृष्ट स्थिति वाला सातवें नरक का जीव यदि पर्याप्त संज्ञी तिर्यंच में उत्पन्न हों तो	दो दो	छह चार
३	(१) आनत नामक ९वें देवलोक से १२वें देवलोक तक के और सर्व नौ ग्रैवेयक के देव यदि मनुष्यगति में उत्पन्न हों तो (२) विजय आदि चार अनुत्तर विमान तक के देव यदि मनुष्य गति में उत्पन्न हो तो (३) सर्वार्थ सिद्ध (पांच अनुत्तर विमान) के देव यदि मनुष्य गति में उत्पन्न हों तो (४) भवनपति, व्यनतर, ज्योतिषी, सौधर्म व ई शान देवलोक के देव यदि पृथ्वीकाय, अप्काय और वनस्पतिकाय में उत्पन्न हों तो	दो दो दो दो	छह चार दो दो

वायुकाय तथा अग्निकाय में देवों की गति नहीं होती है, अतः इनका भवसंवेध भी नहीं होता है।

औदारिक से औदारिक शरीर प्राप्त जीवों का भवसंवेध

क्र.	जीव का गमन	जघन्य जन्म	उत्कृष्ट जन्म
१	असंज्ञी व संज्ञी तिर्यंच और संज्ञी मनुष्य यदि असंख्यात आयुष्य वाले मनुष्य और तिर्यंच में उत्पन्न हों तो	दो	आठ
२	(१) पृथ्वीकाय जीव यदि पृथ्वीकाय, अप्काय, तेजस्काय और वायुकाय में जघन्य स्थिति प्राप्त कर उत्पन्न होता है तो	दो	असंख्यात
	(२) यदि पृथ्वीकाय जीव पृथ्वीकाय, अप्काय, तेजस्काय और वायुकाय में उत्कृष्ट स्थिति प्राप्त कर उत्पन्न होता है तो	दो	आठ
३	(१) अप्कायिक जीव यदि पृथ्वीकाय, अप्काय, तेजस्काय और वायुकाय में जघन्य स्थिति पाकर उत्पन्न हों तो	दो	असंख्यात
	(२) अप्कायिक जीव यदि इन चारों स्थावरों में उत्कृष्ट स्थिति प्राप्त कर उत्पन्न हों तो	दो	आठ
४	(१) तेजस्कायिक जीव यदि पृथ्वीकाय, अप्काय, तेजस्काय एवं वायुकाय में जघन्य स्थिति प्राप्त कर उत्पन्न हों तो	दो	असंख्यात
	(२) तेजस्काय जीव यदि इन चारों स्थावरों में उत्कृष्ट स्थिति प्राप्त कर उत्पन्न हों तो	दो	आठ
५	(१) वायुकायिक जीव यदि पृथ्वीकाय, अप्काय, तेजस्काय एवं वायुकाय में जघन्य स्थिति प्राप्त कर उत्पन्न हों तो	दो	असंख्यात
	(२) वायुकायिक जीव यदि इन चारों स्थावरों में उत्कृष्ट स्थिति प्राप्त कर उत्पन्न हों तो	दो	आठ
६	(१) पृथ्वीकाय, अप्काय, अग्निकाय और वायुकाय जीव यदि वनस्पतिकाय में जघन्य स्थिति में उत्पन्न हों तो	दो	असंख्यात

	(२) वनस्पतिकायिक जीव यदि पृथ्वीकाय, अप्काय, तेजस्काय एवं वायुकाय में जघन्य स्थिति प्राप्त कर उत्पन्न हों तो	दो	अनन्त
	(३) यदि वनस्पतिकायिक जीव वनस्पतिकाय में ही	दो	असंख्यात
७	(१) विकलेन्द्रिय जीव यदि पांचों स्थावरों में से प्रत्येक में जघन्य स्थिति प्राप्त कर उत्पन्न हों तो	दो	संख्यात
	(२) यदि विकलेन्द्रिय जीव पांचों स्थावरों में उत्कृष्ट स्थिति प्राप्त कर उत्पन्न हों तो	दो	आठ
	(३) पांचों स्थावर यदि विकलेन्द्रिय में जघन्य स्थिति में उत्पन्न हो तो	दो	संख्यात
	(४) यदि पांचों स्थावर विकलेन्द्रिय में उत्कृष्ट स्थिति में उत्पन्न हों तो	दो	आठ
	(५) विकलेन्द्रिय जीव यदि विकलेन्द्रिय में से प्रत्येक में जघन्य स्थिति प्राप्त कर उत्पन्न हों तो	दो	संख्यात
	(६) विकलेन्द्रिय जीव यदि विकलेन्द्रिय में उत्कृष्ट स्थिति प्राप्त कर उत्पन्न हों तो	दो	आठ
८	(१) युगलिक को छोड़ कर संज्ञी मनुष्य, तिर्यंच एवं असंज्ञी तिर्यंच यदि परस्पर में उत्कृष्ट स्थिति में उत्पन्न हों तो	दो	आठ
	(२) पृथ्वीकायादि पांच स्थावर तथा विकलेन्द्रिय में यदि युगलिक भिन्न संज्ञी मनुष्य, तिर्यंच एवं असंज्ञी तिर्यंच उत्कृष्ट स्थिति में उत्पन्न हों तो	दो	आठ
	(३) संज्ञी मनुष्य यदि वायुकाय तथा तेजस्काय में जघन्य एवं उत्कृष्ट स्थिति प्राप्त कर उत्पन्न हों तो	दो	दो

औदारिक से वैक्रिय शरीर तथा वैक्रिय से औदारिक शरीर प्राप्त जीवों का भवसंवेध विश्लेषण-

संज्ञी मनुष्य अथवा तिर्यंच पंचेन्द्रिय जीव प्रथम रत्नप्रभा नरक भूमि से लेकर छठी तमप्रभा नरकभूमि में जघन्य दो बार और उत्कृष्ट आठ बार उत्पन्न हो सकता है। उत्कृष्ट आठ बार संज्ञी मनुष्य या तिर्यंच पंचेन्द्रिय नरकभूमियों[199] में इस तरह उत्पन्न होता है-

एक जन्म संज्ञी मनुष्य अथवा तिर्यंच - दूसरे जन्म में पहली नरक भूमि से छह नरक भूमि तक की किसी भी एक भूमि में उत्पन्न हो सकता है।

तीसरा जन्म पुनः संज्ञी मनुष्य/तिर्यंच - चतुर्थ जन्म पुनः नरक में

पांचवां जन्म पुनः संज्ञी मनुष्य/तिर्यंच - छठा जन्म पुनः नरक में

सातवां जन्म पुनः संज्ञी मनुष्य/तिर्यंच - आठवां जन्म पुनः नरक में

नौवें जन्म में वही जीव नरक से च्यवन कर मनुष्य या तिर्यंच अन्य पर्याय को ग्रहण करता है अर्थात् यदि मनुष्य हो तो तिर्यंच पर्याय और तिर्यंच हो तो मनुष्य पर्याय ग्रहण करता है। संज्ञी मनुष्य अथवा तिर्यंच नरक की इन छहों में से जिस भूमि में एक बार उत्पन्न होता है तो वह पुनः पुनः उसी नरक भूमि में उत्पन्न होगा अन्य नरक भूमियों में नहीं। यह स्थिति होने पर ही उपर्युक्त आठ जन्म की गणना की संगति होगी अन्यथा नहीं। अर्थात् प्रथम भूमि में उत्पन्न होने पर पुनः पुनः उसी में उत्पन्न होता है और उसी प्रकार द्वितीय, तृतीय आदि में भी जन्म होता है।

इसी प्रकार संज्ञी मनुष्य अथवा तिर्यंच पंचेन्द्रिय दस भवनपति[११८], ५ ज्योतिषी[११९], १६ वाणव्यन्तर[१२०] तथा सौधर्म आदि आठवें देवलोक[१२१] में उत्कृष्ट आठ जन्म करते हैं।

संज्ञी तिर्यंच पंचेन्द्रिय सातवें नरक में जघन्य आयुष्य प्राप्त कर उत्कृष्ट सात बार जन्म इस प्रकार करता है[१२२]-

पहला जन्म संज्ञी तिर्यंच पंचेन्द्रिय - दूसरा जन्म सातवीं नरक

तीसरा जन्म पुनः संज्ञी तिर्यंच पंचेन्द्रिय - चौथा जन्म पुनः सातवीं नरक

पांचवां जन्म पुनः संज्ञी तिर्यंच पंचेन्द्रिय - छठा जन्म पुनः सातवां नरक

सातवां जन्म पुनः संज्ञी तिर्यंच पंचेन्द्रिय

आठवें जन्म में अन्य जन्म धारण करता है।[१२३] इसी प्रकार संज्ञी तिर्यंच पंचेन्द्रिय जीव यदि सातवें नरक में उत्कृष्ट आयुष्य प्राप्त करता है तो वह उत्कृष्ट पांच बार जन्म धारण करता है। दो जन्म सातवें नरक के और तीन जन्म तिर्यंच गति के होते हैं।[१२४] संज्ञी तिर्यंच पंचेन्द्रिय सातवें नरक में जघन्य और उत्कृष्ट आयुष्य प्राप्त कर जघन्य तीन जन्म करता है। इसमें दो जन्म तिर्यंच के और एक जन्म सातवें नरक का होता है।[१२५] संज्ञी मनुष्य यदि सातवें नरक में उत्पन्न होता है तो वह जघन्य एवं उत्कृष्ट से दो जन्म पूर्ण करता है।[१२६]

संज्ञी मनुष्य यदि आनत, प्राणत, आरण और अच्युत नामक नौवें से बारहवें देवलोक में

और सभी नौ ग्रैवेयक[१२७] में उत्पन्न हो तो उत्कृष्ट सात भव करता है। इसमें तीन भव देवगति के और चार भव मनुष्य गति के करता है। यदि वह मनुष्य नौवें देवलोक में उत्पन्न हुआ हो तो वह पुनः पुनः उसी देवलोक में उत्पन्न होता है, अन्य देवलोक में नहीं। ऐसी स्थिति होने पर ही उपर्युक्त सात जन्मों की गणना की संगति बन सकती है अन्यथा नहीं। इसी तरह दसवें, ग्यारहवें और बारहवें देवलोक में भी होता है। परन्तु ग्रैवेयक में ऐसा नहीं होता है क्योंकि सभी नौ ग्रैवेयकों का क्षेत्र एक ही है। अतः वह मनुष्य कभी प्रथम ग्रैवेयक में तो कभी दूसरे, तीसरे आदि में उत्पन्न हो सकता है। क्योंकि ग्रैवेयकों का स्थान एक ही होता है जबकि बारह देवलोकों का क्षेत्र भिन्न-भिन्न स्वतंत्र है।

विजय, वैजयन्त, जयन्त और अपराजित इन चार अनुत्तर विमान में यदि संज्ञी मनुष्य उत्पन्न हो तो वह उत्कृष्ट से पांच जन्म और जघन्य से दो जन्म करता है। उत्कृष्ट पांच जन्मों में तीन जन्म मनुष्य गति के और दो जन्म चार अनुत्तर विमान के होते हैं[१२८] और यदि विजयादि चार अनुत्तर विमान के देव मनुष्य गति प्राप्त करते हैं तब उत्कृष्ट चार जन्म करते हैं एवं जघन्य दो जन्म धारण करते हैं।[१२९]

युगलिक मनुष्य और तिर्यंच यदि भवनपति, व्यंतर, ज्योतिषी और सौधर्म, ईशान देवलोक में उत्पन्न होता है तब वह जघन्य तथा उत्कृष्ट दो भव ही करता है[१३०] क्योंकि देवगति में से पुनः युगलिकों में उत्पत्ति नहीं होती। युगलिक भी मरकर पुनः युगलिक नहीं बनता। युगलिक की स्थिति उत्कृष्ट तीन पल्योपम है इसलिए वह ईशान देवलोक तक ही गति कर सकता है क्योंकि ईशान देवलोक की स्थिति एक पल्योपम से अधिक है एवं तीसरे देवलोक की स्थिति तीन पल्योपम से अधिक है। अतः युगलिक तीसरे देवलोक तक नहीं जा सकता है।

असंज्ञी पर्याप्त तिर्यंच यदि रत्नप्रभा नामक प्रथम नारकी, भवनपति और व्यन्तर में उत्पन्न हो तो जघन्य और उत्कृष्टतः दो जन्म ही करता है क्योंकि नरक और देवगति में उत्पन्न होने के पश्चात् वहां से अनन्तर भव में पुनः असंज्ञी तिर्यंच में उसकी उत्पत्ति नहीं होती है।[१३१]

भवनपति, व्यन्तर, ज्योतिष्क, आठवें देवलोक तक के देव और प्रथम छह नरक में उत्पन्न छह नारकी यदि पर्याप्त संज्ञी तिर्यंच व मनुष्य में उत्पन्न हो तो उत्कृष्ट आठ जन्म एवं जघन्य दो जन्म करते हैं। जिसमें चार जन्म देव अथवा नारकी के और चार जन्म मनुष्य अथवा तिर्यंच के करते हैं।[१३२]

सातवीं नारकी की जघन्य स्थिति २२ सागरोपम एवं उत्कृष्ट स्थिति ३३ सागरोपम होती है। यदि जघन्य स्थिति वाला सातवीं नारकी पर्याप्त संज्ञी तिर्यंच में उत्पन्न हो तो उत्कृष्ट छह जन्म करता है। जिसमें तीन जन्म (२२ सागरोपम x ३ =६६ सागरोपम) सातवें नरक के एवं तीन जन्म पर्याप्त

संज्ञी तिर्यंच के होते हैं। यदि सातवें नरक की उत्कृष्ट स्थिति वाला जीव पर्याप्त संज्ञी तिर्यंच में उत्पन्न हो तो उत्कृष्ट चार जन्म करता है। इस स्थिति में दो जन्म (३३ सागरोपम x २ =६६ सागरोपम) सातवें नरक के और दो जन्म सन्नी तिर्यंच के करता है।[१३३]

आनत नामक नौवें देवलोक से लेकर सर्वार्थसिद्ध तक में एक मनुष्य गति के जीव ही आते हैं और उसी गति में जाते हैं।[१३४] आनत आदि चार देवलोक अर्थात् ९वें से १२वें देवलोक के और सर्व नौ ग्रैवेयक के देव मनुष्य गति में उत्कृष्ट छह जन्म करते हैं।[१३५] विजय आदि चार अनुत्तर विमान तक के देव मनुष्य गति प्राप्त कर उत्कृष्ट चार जन्म करते हैं।[१३६] सर्वार्थसिद्ध में उत्पन्न देव मनुष्य गति प्राप्त कर जघन्य और उत्कृष्ट दो जन्म ही करता है[१३७] एवं शेष नौवें देवलोक से लेकर अपराजित नामक अनुत्तरविमान तक के देव मनुष्य गति में जघन्य दो जन्म करते हैं।[१३८]

भवनपति, व्यन्तर, ज्योतिषी और पहला, दूसरा देवलोक तक के देव में तिर्यंच और मनुष्य दो ही गति के जीव आते हैं और दो ही गति में जाते हैं। परन्तु चारों गति के चौबीस दण्डक की अपेक्षा ये जीव दो दण्डक तिर्यंच व मनुष्य से आते हैं तथा पांच दण्डक पृथ्वीकाय, अप्काय, वनस्पतिकाय, तिर्यंच पंचेन्द्रिय और मनुष्य में जाते हैं।[१३९] उपर्युक्त सभी देव यदि पृथ्वीकाय, अप्काय और वनस्पतिकाय में उत्पन्न हों तो जघन्य और उत्कृष्ट दो ही भव करते हैं क्योंकि पृथ्वीकाय आदि में से च्यवन कर देवगति में उत्पत्ति संभव नहीं है। अतः इनका जघन्य और उत्कृष्ट दो जन्म है।[१४०] वायुकाय और तेजस्काय में देवों की गति नहीं होती है इसलिए इनका भवसंवेध नहीं बनता है।[१४१]

औदारिक से औदारिक शरीरधारी जीवों का भवसंवेध विश्लेषण

युगलिक जीव में तिर्यंच और मनुष्य दो गति के जीव ही आते हैं और इनकी गति एक देवगति में ही होती है। दण्डक की अपेक्षा जीव के २४ दण्डक में से मनुष्य और तिर्यंच दो दण्डक के जीव युगलिक में आते हैं तथा ये युगलिक १३ दण्डक-१० भवनपति के दस दण्डक, एक व्यन्तर, एक ज्योतिषी और एक वैमानिक में जाते हैं।[१४२] असंख्याता आयुष्य वाले युगलिक मनुष्य व तिर्यंच जीवों में यदि सन्नी, असन्नी तिर्यंच और सन्नी मनुष्य उत्पन्न हो तो जघन्य तथा उत्कृष्ट दो जन्म ही करते हैं क्योंकि युगलिक जीव मृत्यु के अनन्तर जन्म में देव गति ही प्राप्त करते हैं। अतः इनका जघन्य एवं उत्कृष्ट भवसंवेध दो जन्म ही है।[१४३]

पृथ्वीकाय, अप्काय और वनस्पतिकाय में तिर्यंच, मनुष्य और देवगति से जीव आते हैं और ये जीव दो गति तिर्यंच और मनुष्य में जाते हैं। दण्डक की अपेक्षा से नारकी को छोड़कर शेष २३ दण्डक के जीव इनमें आते हैं तथा ये जीव औदारिक के दस दण्डक- ५ स्थावर, ३ विकलेन्द्रिय, १

तिर्यंच पंचेन्द्रिय और १ मनुष्य में जाते हैं। तेजस्कायिक व वायुकायिक जीवों में तिर्यंच गति और मनुष्य गति से जीव आते हैं और एक तिर्यंच गति में जाते हैं। दण्डक की अपेक्षा से औदारिक के दस दण्डक से जीव इनमें आते हैं तथा मनुष्य के एक दण्डक को छोड़कर औदारिक के शेष नौ दण्डकों में उत्पन्न होते हैं।[१४४] पृथ्वीकायिक जीव यदि जघन्य स्थिति प्राप्त कर पृथ्वीकाय, अप्काय, तेजस्काय और वायुकाय में उत्पन्न होता है अथवा जघन्य स्थिति वाला पृथ्वीकायिक जीव, अप्काय, तेजस्काय वायुकाय और पृथ्वीकाय में उत्पन्न हो तो प्रत्येक के अन्दर उत्कृष्ट असंख्य जन्म और जघन्य दो जन्म करता है।[१४५] इसी तरह अप्कायिक, तेजस्कायिक और वायुकायिक जीव भी चारों स्थावरों में जघन्य स्थिति प्राप्त कर अथवा स्वयं जघन्य स्थिति वाले होने पर जघन्य दो जन्म और उत्कृष्ट असंख्यात जन्म धारण करते हैं।[१४६] पृथ्वीकायादि चार स्थावर जघन्य स्थिति प्राप्त कर यदि वनस्पतिकाय में उत्पन्न हों अथवा स्वयं जघन्य स्थिति वाले हों तब उत्कृष्ट असंख्यात जन्म धारण करते हैं तथा यदि वनस्पतिकाय का जीव पृथ्वीकाय आदि चार स्थावर में जघन्य स्थिति में उत्पन्न हों तो उत्कृष्ट असंख्य जन्म करता है।[१४७] यदि वनस्पतिकाय का जीव वनस्पतिकाय में ही जघन्य स्थिति में उत्पन्न हो तो उत्कृष्ट अनन्त जन्म करता है।[१४८] जघन्य स्थिति वाले पृथ्वीकाय आदि पांचो स्थावर के जीव यदि विकलेन्द्रिय में जघन्य स्थिति प्राप्त कर उत्पन्न हों तो उत्कृष्ट संख्यात जन्म करते हैं तथा यदि विकलेन्द्रिय जीव पांचों स्थावर में जघन्य स्थिति में उत्पन्न हो तब उत्कृष्ट संख्यात जन्म धारण करते हैं।[१४९] यदि विकलेन्द्रिय जीव विकलेन्द्रिय में परस्पर जघन्य स्थिति में उत्पन्न होते हैं तब भी संख्यात जन्म करते हैं।[१५०]

उत्कृष्ट-उत्कृष्ट, उत्कृष्ट-जघन्य, जघन्य-उत्कृष्ट और जघन्य-जघन्य आयु की इस चतुर्भंगी के उत्कृष्ट आयुष्य वाले तीन विभागों में पृथ्वीकाय, अप्काय, तेजस्काय, वायुकाय, वनस्पतिकाय और तीन विकलेन्द्रिय जघन्य दो जन्म और उत्कृष्ट आठ जन्म करते हैं। यथा उत्कृष्ट आयुष्य वाला पृथ्वीकायिक उत्कृष्ट आयुष्य वाले अप्काय में, उत्कृष्ट आयुष्य वाला पृथ्वीकायिक जघन्य आयुष्य वाले अप्काय में और जघन्य आयुष्य वाला पृथ्वीकायिक उत्कृष्ट आयुष्य वाले अप्काय में उत्पन्न होता है तब एकान्तर में चार बार पृथ्वीकाय में और चार बार अप्काय में होकर आठ जन्म करता है। नौवें जन्म में वह जीव अवश्य अन्य पर्याय तेजस्काय या वायुकाय आदि ग्रहण करता है। इसी तरह शेष स्थावर और विकलेन्द्रिय आठ जन्म करते हैं।[१५१]

युगलिक को छोड़कर सन्नी मनुष्य तथा तिर्यंच व असंज्ञी तिर्यंच जघन्य और उत्कृष्ट आयु से होने वाली किसी भी चतुर्भंगी में परस्पर उत्पन्न होने पर उत्कृष्ट आठ जन्म और जघन्य दो जन्म करते हैं। नौवें जन्म में वह निश्चय ही अपनी स्वयं की पर्याय को छोड़कर अन्य पर्याय को ग्रहण

करता है।[१५२] इसी तरह यदि कर्मभूमिज अथवा संख्यातायु सन्नी मनुष्य, तिर्यंच एवं असन्नी तिर्यंच पृथ्वीकाय आदि पांच स्थावर तथा विकलेन्द्रिय में चतुर्भंगी के किसी भी भंग से उत्पन्न हो तो उत्कृष्ट आठ और जघन्य दो जन्म करते हैं।[१५३] यदि कर्मभूमिज मनुष्य वायुकाय और तेजस्काय में उत्पन्न हो तो जघन्य और उत्कृष्ट दो ही जन्म करता है क्योंकि वायुकाय व तेजस्काय से मरकर निकले जीव को मनुष्य गति प्राप्त करना असंभव है।[१५४] विकलेन्द्रिय और पृथ्वीकाय आदि पांच स्थावर यदि संज्ञी व असंज्ञी तिर्यंच तथा कर्मभूमिज मनुष्य में चतुर्भंगी में उत्पन्न होने पर उत्कृष्ट आठ जन्म करते हैं। पृथ्वीकाय आदि में चार जन्म और तिर्यंच अथवा मनुष्य में चार जन्म ये कुल आठ जन्म होते हैं। पृथ्वीकाय आदि जीव मनुष्य और तिर्यंच के आठवें जन्म से मरकर पृथ्वीत्व आदि पर्याय प्राप्त न कर अन्य पर्याय प्राप्त करते हैं।[१५५]

जीवों का भवसंवेध काल मान

चतुर्भंगी के सभी विभागों में जघन्य तथा उत्कृष्ट आयु की अपेक्षा से जीव का भवसंवेध काल भिन्न-भिन्न होता है। भवसंवेध काल मान विवक्षित जन्म की और प्राप्त होने वाले जन्म की उत्कृष्ट तथा जघन्य स्थिति और उत्कृष्ट तथा जघन्य जन्म संख्या के परस्पर गुणन कर प्राप्त होने वाला परिणाम है।

विवक्षितभवप्राप्य भवयोः परमां स्थितिम्।
लब्धवा वा भवसंख्यां च जघन्यां वा गरीयसीम्।
स्वयं विभाव्य निष्टंक्यं विवक्षितशरीरिणाम्।
भवसंवेधकालस्य मानं ज्येष्ठमथावरम्।।[१५६]

यथा- उत्कृष्ट आयु वाला मनुष्य प्रथम नरक में उत्कृष्ट स्थिति प्राप्त करें तब उस मनुष्य का उत्कृष्ट भवसंवेध काल मान चार कोटि पूर्व और चार सागरोपम का होता है[१५७] तथा जघन्य भवसंवेध काल मान एक कोटि पूर्व और एक सागरोपम का होता है।[१५८] अर्थात् मनुष्य की उत्कृष्ट स्थिति एक कोटि पूर्व और प्रथम नरक की उत्कृष्ट स्थिति एक सागरोपम होती है। संज्ञी मनुष्य प्रथम छह नरक में उत्कृष्ट आठ जन्म पूर्ण करते हैं। आठ जन्म में चार जन्म मनुष्यगति के और चार जन्म नरकगति के होते हैं। इस प्रकार एक कोटिपूर्व x ४ जन्म = ४ कोटिपूर्व और १ सागरोपम x ४ जन्म = ४ सागरोपम उत्कृष्ट भवसंवेधकाल मान मनुष्य का नरक गति में उत्पन्न होने पर बनता है। यदि उत्कृष्ट स्थिति एक कोटिपूर्व वाला मनुष्य, एक सागरोपम की उत्कृष्ट स्थिति वाले प्रथम नरक में उत्पन्न हो तब एक जन्म मनुष्य गति का और दूसरा जन्म नरक गति का होता है। उस समय उस मनुष्य का जघन्य भवसंवेध काल मान एक कोटिपूर्व और एक सागरोपम हो जाता है।

इसी तरह उत्कृष्ट आयु वाला मनुष्य, जघन्य आयु वाले प्रथम नारकी में उत्पन्न हो तब उसका उत्कृष्ट भवसंवेध कालमान चार कोटिपूर्व और चालीस हजार वर्ष का और जघन्य भवसंवेध कालमान १कोटिपूर्व और दस हजार वर्ष का होता है।[१५८] प्रथम नारकी की जघन्य स्थिति दस हजार वर्ष है। सन्नी मनुष्य प्रथम नरक में उत्कृष्ट आठ जन्म और जघन्य दो जन्म करता है। आठ जन्मों में चार मनुष्य गति के और चार नरक गति के होते हैं। इस प्रकार उत्कृष्ट भवसंवेधकाल मान एक कोटिपूर्व x ४ जन्म = ४ कोटिपूर्व और दस हजार वर्ष x ४ जन्म = ४०००० वर्ष का है तथा जघन्य भवसंवेधकाल मान एक कोटिपूर्व और दस हजार वर्ष का होता है।

इसी तरह जघन्य आयुष्य वाला मनुष्य यदि उत्कृष्ट स्थिति वाले प्रथम नरक में उत्पन्न हो तो उसका उत्कृष्ट भवसंवेधकालमान पृथकत्व चार मास का और चार सागरोपम तथा जघन्य भवंसवेधकालमान एक पृथकत्व मास और एक सागरोपम का होता है।[१६०] प्रथम नरक में उत्पन्न होने के लिए सन्नी मनुष्य की जधन्य स्थिति पृथक्त्व मास और उत्कृष्ट कोटिपूर्व अवश्य होनी चाहिए।[१६१] अर्थात् पृथकत्व मास वाला सन्नी मनुष्य प्रथम नरक में उत्पन्न हो सकता है। प्रथम नरक में उत्पन्न होने पर सन्नी मनुष्य के उत्कृष्ट आठ जन्म होने से उसका उत्कृष्ट भवसंवेधकालमान एक सागरोपम (नरक की स्थिति) x ४ = ४ सागरोपम और पृथकत्व मास (मनुष्य की स्थिति) x ४ = ४ पृथकत्व मास का होता है।

प्रथम नरक में उत्पन्न सन्नी मनुष्य जघन्य दो जन्म करता है। अतः मनुष्य का जघन्य भवसंवेधकाल मान एक पृथकत्व मास और एक सागरोपम होता है।

इसी तरह यदि जघन्य आयुष्य वाला सन्नी मनुष्य जघन्य आयुष्य वाले प्रथम नरक में उत्पन्न हो तब उत्कृष्ट भवसंवेधकाल मान पृथकत्व चार मास और चालीस हजार वर्ष का तथा इसका जघन्य भवसंवेधकालमान पृथकत्व एक मास और दस हजार वर्ष का होता है।[१६२]

इसी तरह सभी जीवों का चतुर्भंगी के सभी विभागों से उत्कृष्ट और जघन्य भवसंवेध कालमान ज्ञात किया जा सकता है।

नारकी जीवों की स्थिति

नरक के नाम	जघन्य स्थिति	उत्कृष्ट स्थिति
प्रथम नरक के नारकी की	दस हजार वर्ष	१ सागरोपम
दूसरी नरक के नारकी की	एक सागरोपम	३ सागरोपम
तीसरी नरक के नारकी की	३ सागरोपम	७ सागरोपम
चतुर्थ नरक के नारकी की	७ सागरोपम	१० सागरोपम

पंचम नरक के नारकी की	१० सागरोपम	१७ सागरोपम
षष्ठ नरक के नारकी की	१७ सागरोपम	२२ सागरोपम
सप्तम नरक के नारकी की	२२ सागरोपम	३३ सागरोपम

देवगति के जीवों की स्थिति

क्र.	देव नाम	जघन्य स्थिति	उत्कृष्ट स्थिति
१	भवनपति-१.चमरेन्द्र उत्तर दिशा वाले	दस हजार वर्ष	एक सागरोपम
	२. चमरेन्द्र दक्षिण दिशा वाले	दस हजार वर्ष	एक पल्योपम
	३. बलेन्द्र उत्तर दिशा वाले	दस हजार वर्ष	एक सागरोपम
	४. बलेन्द्र दक्षिण दिशा वाले	दस हजार वर्ष	देशोन दो पल्योपम
२	वाणव्यन्तर	दस हजार वर्ष	एक पल्योपम
३	ज्योतिषी देव- १. चन्द्र विमान देव	पाव पल्योपम	एक पल्योपम और एक लाख वर्ष
	२. सूर्य विमान देव	पाव पल्योपम	एक पल्योपम और एक हजार वर्ष
	३. ग्रह विमान देव	पाव पल्योपम	एक पल्योपम
	४. नक्षत्र विमान देव	पाव पल्योपम	आधा पल्योपम
	५. तारा विमान देव	पल्योपम का आठवां भाग	पाव पल्योपम
४	वैमानिक देव- १. प्रथम देवलोक	एक पल्योपम	दो सागरोपम
	२. दूसरा देवलोक	एक पल्योपम झाझेरी	दो सागरोपम झांझेरी
	३. तीसरा देवलोक	दो सागरोपम	सात सागरोपम
	४. चौथा देवलोक	दो सागरोपम झाझेरी	सात सागरोपम झांझेरी
	५. पांचवां देवलोक	सात सागरोपम	दस सागरोपम
	६. छठा देवलोक	दस सागरोपम	चौदह सागरोपम
	७. सातवां देवलोक	१४ सागरोपम	१७ सागरोपम
	८. आठवां देवलोक	१७ सागरोपम	१८ सागरोपम
	९. नवां देवलोक	१८ सागरोपम	१९ सागरोपम
	१०.दसवां देवलोक	१९ सागरोपम	२० सागरोपम
	११.ग्यारहवां देवलोक	२० सागरोपम	२१ सागरोपम
	१२.बारहवां देवलोक	२१ सागरोपम	२२ सागरोपम

५	ग्रैवेयक देव- १. पहला ग्रैवेयक देव	२२ सागरोपम	२३ सागरोपम
	२. दूसरा ग्रैवेयक देव	२३ सागरोपम	२४ सागरोपम
	३. तीसरा ग्रैवेयक देव	२४ सागरोपम	२५ सागरोपम
	४. चौथा ग्रैवेयक देव	२५ सागरोपम	२६ सागरोपम
	५. पांचवां ग्रैवेयक देव	२६ सागरोपम	२७ सागरोपम
	६. छठा ग्रैवेयक देव	२७ सागरोपम	२८ सागरोपम
	७. सातवां ग्रैवेयक देव	२८ सागरोपम	२९ सागरोपम
	८. आठवां ग्रैवेयक देव	२९ सागरोपम	३० सागरोपम
	९. नवां ग्रैवेयक देव	३० सागरोपम	३१ सागरोपम
६	चार अनुत्तर विमान के देव	३१ सागरोपम	३३ सागरोपम
७	सर्वार्थसिद्ध देव	अजघन्य अनुत्कृष्ट	३३ सागरोपम

पांच स्थावर जीवों की स्थिति

क्र.	स्थावर नाम	जघन्य स्थिति	उत्कृष्ट स्थिति
१	पृथ्वीकाय	अन्तर्मुहूर्त्त	२२ हजार वर्ष
२	अप्काय	अन्तर्मुहूर्त्त	७ हजार वर्ष
३	तेजस्काय	अन्तर्मुहूर्त्त	३ अहोरात्रि
५४	वायुकाय	अन्तर्मुहूर्त्त	३ हजार वर्ष
	वनस्पतिकाय	अन्तर्मुहूर्त्त	१० हजार वर्ष

विकलेन्द्रिय, असन्नी एवं सन्नी तिर्यंच पंचेन्द्रिय जीवों की स्थिति

क्र.	जीव नाम	जघन्य स्थिति	उत्कृष्ट स्थिति
१	द्वीन्द्रिय	अन्तर्मुहूर्त्त	१२ वर्ष
२	त्रीन्द्रिय	अन्तर्मुहूर्त्त	४९ अहोरात्रि
३	चतुरिन्द्रिय	अन्तर्मुहूर्त्त	छह माह
४	(१) असन्नी जलचर तिर्यंच पंचेन्द्रिय	अन्तर्मुहूर्त्त	१ करोड पूर्व
	(२) असन्नी स्थलचर तिर्यंच पंचेन्द्रिय	अन्तर्मुहूर्त्त	८४ हजार वर्ष
	(३) असन्नी खेचर तिर्यंच पंचेन्द्रिय	अन्तर्मुहूर्त्त	७२ हजार वर्ष
	(४) असन्नी उरपरिसर्प तिर्यंच पंचेन्द्रिय	अन्तर्मुहूर्त्त	५३ हजार वर्ष
	(५) असन्नी भुजपरिसर्प तिर्यंच पंचेन्द्रिय	अन्तर्मुहूर्त्त	४२ हजार वर्ष
	(६) सन्नी जलचर तिर्यंच पंचेन्द्रिय	अन्तर्मुहूर्त्त	एक करोड़ पूर्व
	(७) सन्नी स्थलचर तिर्यंच पंचेन्द्रिय	अन्तर्मुहूर्त्त	तीन पल्योपम

	(८) सन्नी खेचर तिर्यंच पंचेन्द्रिय	अन्तर्मुहूर्त्त	पल्योपम का असंख्यातवां भाग
	(९) सन्नी उरपरिसर्प तिर्यंच पंचेन्द्रिय	अन्तर्मुहूर्त्त	एक करोड़ पूर्व
	(१०) सन्नी भुजपरिसर्प तिर्यंच पंचेन्द्रिय	अन्तर्मुहूर्त्त	एक करोड़ पूर्व

मनुष्य गति के जीव की स्थिति

क्र.	नाम	जघन्य स्थिति	उत्कृष्ट स्थिति
१	असन्नी मनुष्य	अन्तर्मुहूर्त्त	अन्तर्मुहूर्त्त
२	युगलिक सन्नी मनुष्य	१ पूर्व कोटि झांझेरी	तीन पल्योपम
३	कर्मभूमिज सन्नी मनुष्य	अन्तर्मुहूर्त्त	१ पूर्व कोटि वर्ष

भवसंवेध द्वार के माध्यम से एक जीव अन्य गति के कितने भव कर पुनः अपने भव को प्राप्त कर लेता है, इसका निरूपण करने के साथ भवसंवेध के कालमान एवं सभी जीवों की जघन्य एवं उत्कृष्ट भवस्थिति का भी वर्णन किया गया है। यह प्रतिपादन अपने आपमें अत्यन्त विशिष्ट है, जो जीवों की अन्य भवों में गति आदि की प्रक्रिया को स्पष्ट करता है।

समीक्षण

१. प्रायः भारतीय दर्शन में 'योग' शब्द का प्रयोग चित्तवृत्ति निरोध के अर्थ में हुआ है। युज् समाधौ धातु से निष्पन्न योग शब्द चित्त की समाधि के अर्थ में प्रयुक्त है। 'युजिर् योगे' वाक्यानुसार योग शब्द जोड़ने के अर्थ में प्रयुक्त होता है। जैन दर्शन भी मोक्ष से जोड़ने वाली समस्त साधना को योग कहता है। किन्तु जैन दर्शन में मन, वचन एवं काया की प्रवृत्ति को भी येाग कहा गया है। उपाध्याय विनयविजय ने इसी अर्थ में योग शब्द का अर्थ ग्रहण करके योग के भेदोपभेदों एवं विविध जीवोंमें उनकी प्राप्ति का विवेचन किया है। योग के मुख्यतः तीन भेद हैं- काययोग, वचनयोग और मनोयोग। इनमें मन के चार, वचन के चार एवं काययोग के सात भेद होने से योग के पन्द्रह प्रकार भी निरूपित हैं। मनोयोग के चार प्रकार हैं- सत्यमनोयोग, असत्यमनोयोग, मिश्र मनोयोग और व्यवहार मनोयोग। वचनयोग के भी इसी प्रकार सत्य, असत्य, मिश्र और व्यवहार के आधार पर चार प्रकार हैं। काययोग के औदारिक, औदारिक मिश्र, वैक्रिय, वैक्रिय मिश्र, आहारक, आहारक मिश्र एवं कार्मण काययोग ये सात प्रकार हैं। तैजस शरीर एवं कार्मण शरीर के सदैव सहचारित्व के कारण तैजस शरीर काययोग का समावेश कार्मण काययोग में ही हो जाता है। योग से आत्मप्रदेशों में स्पन्दन होता है।

२. मान शब्द जहाँ अभिमान या अहंकार के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है वहाँ उसका दूसरा अर्थ मापन जैन आगमों में प्रयुक्त हुआ है। मान द्वार के अन्तर्गत उपाध्याय विनयविजय ने लोक में जीवों की संख्या का निरूपण किया है। यह मान एक प्रकार से परिमाण का सूचक है। इसमें निरूपित किया गया है कि सूक्ष्म अग्निकाय, पृथ्वीकाय, अप्काय और वायुकाय के जीव सम्पूर्ण लोक प्रमाण के असंख्य आकाश खण्ड के प्रदेशों के बराबर हैं अर्थात् सम्पूर्ण लोक में व्याप्त हैं। इसी प्रकार अन्य जीवों की संख्या का भी उल्लेख किया गया है। सम्मूर्च्छिम और गर्भज मनुष्य की एकत्रित संख्या उत्कृष्ट असंख्यात कालचक्र में होने वाले समय के तुल्य बताई गई है। जीवों की संख्या एवं उनके द्वारा गृहीत आकाश प्रदेशों की संख्या के आधार पर किया गया निरूपण जैन दर्शन की सूक्ष्मेक्षिका को व्यक्त करता है।

३. संख्या में कौनसे जीव सबसे अल्प एवं कौनसे जीव सबसे अधिक हैं, इसका विचार दो दृष्टियों से किया गया है- जीवों की परस्पर न्यूनाधिकता के आधार पर तथा पूर्व आदि दिशाओं के आधार पर। इस वर्णन में कहा गया है कि सूक्ष्म एकेन्द्रिय जीवों में सबसे अल्प सूक्ष्म तेजस्कायिक जीव हैं, किन्तु दिशा के आधार पर इनके अल्पबहुत्व का निर्धारण नहीं हो सकता क्योंकि ये जीव प्रायः सम्पूर्ण लोक में समान रूप से व्याप्त हैं। बादर एकेन्द्रिय जीव, अप्कायिक जीव पश्चिम दिशा में सबसे कम होते हैं क्योंकि इस दिशा में गौतम द्वीप होने से जल का अभाव है। विकलेन्द्रिय जीवों की उत्पत्ति भी इसी कारण पश्चिम दिशा में कम होती है। तिर्यंच पंचेन्द्रिय जीवों में सजातीय अपेक्षा से सबसे अल्प खेचर पुल्लिंग जीव होते हैं। इसी प्रकार मनुष्यों में गर्भज पुरुष सबसे कम होते हैं। दिशा की अपेक्षा से दक्षिण और उत्तर दिशा में मनुष्यों की संख्या कम होती है तथा पूर्व एवं पश्चिम में भरत और ऐरवत क्षेत्र का विस्तार अधिक होने से मनुष्यों की संख्या अधिक है। यह भी तथ्य प्रकट हुआ है कि देवों की अपेक्षा देवियों की संख्या अधिक होती है। नारक जीवों में सबसे कम सातवीं नरक के तथा सबसे अधिक पहली नरक के जीव होते हैं।

४. अल्पबहुत्व का विचार दो प्रकार से किया गया है- सजातीय जीवों की अपेक्षा से और समस्त जीवों की अपेक्षा से। समस्त जीवों की अपेक्षा से प्रतिपादित अल्पबहुत्व को महा-अल्पबहुत्व कहा गया है। इस दृष्टि से सम्पूर्ण लोक में गर्भज मनुष्यों की संख्या सबसे कम है तथा एकेन्द्रिय जीव सबसे अधिक हैं। अन्य दृष्टि से विचार करें तो चारों गतियों में मिथ्यादृष्टि जीव अधिक हैं। उनसे भी अधिक अविरत जीव हैं। उनसे भी सकषायी जीवों की संख्या अधिक मानी गई है। उपाध्याय विनयविजय ने यह निरूपण प्रज्ञापना सूत्र आदि

आगमों के आधार पर किया है।

५. एक जीव मृत्यु को प्राप्त होकर पुनः उसी गति में कितने काल के पश्चात् जन्म ग्रहण करता है इस काल व्यवधान को जैन पारिभाषिक शब्दावली में अन्तर कहा गया है। उपाध्याय विनयविजय ने अन्तर द्वार के अन्तर्गत गति, जाति, काय ओर पर्याय के आधार पर इस काल व्यवधान का विचार किया है। एक जीव का पुनः उसी शरीर को ग्रहण करने में अन्तर्मुहूर्त से लेकर अनन्तकाल तक अन्तर हो सकता है।

६. किसी जीव के वर्तमान जन्म और परवर्ती जन्म अथवा पूर्ववर्ती जन्म के आधार पर उनके जघन्य एवं उत्कृष्ट जन्मों की गणना करना भवसंवेध कहलाता है। जैन आगम व्याख्याप्रज्ञप्ति के २४वें शतक के उद्देशक १-२४ में जीवों के भवसंवेध का उल्लेख प्राप्त होता है। जैन विद्वानों ने लघुदण्डक, गति-आगति और गम्मा के थोकड़े के माध्यम से भी भवसंवेध को प्रस्तुत किया है। लोकप्रकाशकार ने भवसंवेध का १०वें सर्ग में विस्तृत विवेचन किया है। यह भवसंवेध तीन आधारों पर निरूपित किया गया है- १. औदारिक शरीरी जीवों द्वारा वैक्रिय शरीर प्राप्त करने पर २. वैक्रिय शरीरी जीवों द्वारा औदारिक शरीर प्राप्त करने पर ३. औदारिक शरीरी जीवों द्वारा औदारिक शरीर प्राप्त करने पर। इस प्रकार का यह वर्णन जीवों के परिणमन का एक स्वरूप निर्धारित करता है।

संदर्भ

१. पातञ्जल सूत्र, पाद 1, सूत्र 2
२. (क) पंचसंग्रह 1.88 के आसपास (ख) सर्वार्थसिद्धि 6.12
३. द्रष्टव्य (क) तत्त्वार्थसूत्र, 6.1 (ख) सर्वार्थसिद्धि 2.26 (ग) तत्त्वार्थराजवार्तिक 9/7/11 (घ) पंचसंग्रह प्राकृत अधिकार, 1.88 (ड़) गोम्मटसार कर्मकाण्ड, गाथा 216
४. (क) लोकप्रकाश, 3.1304 (ख) सर्वार्थसिद्धि 6.1 और 10 (ग) गोम्मटसार जीवकाण्ड, गाथा 216 (ड़) षट्खण्डागम, धवला टीका 1/1.1.47 और 48
५. 'वीर्यान्तरायक्षयोपशमसद्भावे सति औदारिकादिसप्तविधकायवर्गणान्यतमालम्बनापेक्ष आत्मप्रदेशपरिस्पन्दः काययोगः। –सर्वार्थसिद्धि, 6.1, पृष्ठ 244
६. 'शरीरनामकर्मोदयापादितवाग्वर्गणालम्बने सति वीर्यान्तरायमत्यक्षराद्यावरण–क्षयोपशमापादिताभ्यन्तरवाग्लब्धिसांनिध्ये वाक्परिणामाभिमुखस्यात्मनः प्रदेशपरिस्पन्दो वाग्योगः। –सर्वार्थसिद्धि, 6.1, पृष्ठ 244
७. 'अभ्यन्तरवीर्यान्तरायनोइन्द्रियावरणक्षयोपशमात्मकमनोलब्धिसंनिधाने बाह्यनिमित्तमनोवर्गणालम्बने च सति मनःपरिणामाभिमुखस्यात्मप्रदेशपरिस्पन्दो मनोयोगः।' –सर्वार्थसिद्धि, 6.1, पृष्ठ 244
८. (क) लोकप्रकाश, 3.1304 (ख) सर्वार्थसिद्धि, 8.1 (ग) गोम्मटसार जीवकाण्ड, गाथा 217
९. लोकप्रकाश, 3.1305
१०. लोकप्रकाश 3.1336

११. व्याख्याप्रज्ञप्ति सूत्र, शतक 13, उद्देशक 7, सुत्त 12 और 13
१२. स्थानांग सूत्र, अध्ययन 3, उद्देशक 1, सुत्त 181
१३. स्थानांग सूत्र, अध्ययन 3, उद्देशक 1, सुत्त 198
१४. स्थानांग सूत्र, अध्ययन 3, उद्देशक 1, सुत्त 181
१५. (क) लोकप्रकाश, 3.1306 (ख) गोम्मटसार जीवकाण्ड, जीवतत्त्वप्रदीपिका, भाग 1, कारिका 230 (ग) कर्मग्रन्थ, भाग 4, व्याख्याकार मुनि मिश्रीमल, गाथा 24 की व्याख्या, पृष्ठ सं. 188
१६. (क) लोकप्रकाश, 3.1306 (ख) गोम्मटसार जीवकाण्ड, जीवतत्त्वप्रदीपिका, भाग 1, 9वां अधिकार, कारिका 231 (ग) कर्मग्रन्थ, भाग 4, व्याख्याकार मुनि मिश्रीमल, गाथा 24 की व्याख्या, पृष्ठ सं. 188
१७. लोकप्रकाश 3.1307
१८. लोकप्रकाश 3.1308 और 1309
१९. लोकप्रकाश 3.1310 से 1316
२०. लोकप्रकाश 3.1317 और 1318
२१. लोकप्रकाश 3.1319
२२. लोकप्रकाश 3.1320 से 1323 की व्याख्या से उद्धृत, पृष्ठ सं. 309 और 310
२३. (क) लोकप्रकाश, 3.1324 (ख) गोम्मटसार जीवकाण्ड, जीवतत्त्वप्रदीपिका, भाग 1, 9वां अधिकार, कारिका 232 (ग) कर्मग्रन्थ, भाग 4, व्याख्याकार मुनि मिश्रीमल, गाथा 24 की व्याख्या, पृष्ठ सं. 188–189
२४. कर्मग्रन्थ, भाग 4, व्याख्याकार मुनि मिश्रिमल, गाथा 24 की व्याख्या, पृ. सं. 189
२५. (क) लोकप्रकाश, 3.1324 (ख) गोम्मटसार जीवकाण्ड, जीवतत्त्वप्रदीपिका, भाग 1, 9वां अधिकार, कारिका 234 (ग) कर्मग्रन्थ, भाग 4, व्याख्याकार मुनि मिश्रीमल, सूत्र 24 की व्याख्या, पृष्ठ सं. 189
२६. लोकप्रकाश, 3.1325
२७. लोकप्रकाश, 3.1326–1327
२८. द्रष्टव्य (क) लोकप्रकाश, 3.1330 (ख) कर्मग्रन्थ, भाग 4, सूत्र 24, पृ. सं. 189 (ग) गोम्मटसार जीवकाण्ड, गाथा 239
२९. द्रष्टव्य (क) लोकप्रकाश, 3.1331–1332 (ख) कर्मग्रन्थ, भाग 4, सूत्र 24, पृ. सं. 189 (ग) गोम्मटसार जीवकाण्ड, गाथा 240
३०. द्रष्टव्य (क) कर्मग्रन्थ, भाग 4, सूत्र 24, पृ. सं. 190 (ग) गोम्मटसार जीवकाण्ड, गाथा 24
३१. लोकप्रकाश, 3.1334
३२. उक्तस्य सूक्ष्मशरीरस्य स्वरूपमाह– 'सप्तदशैकं लिंगम्' –सांख्यतत्त्वकौमुदी, अध्याय 3, सूत्र 9
३३. ननु तैजसमपि शरीरं विद्यते, यद् भुक्ताहारपरिणमनहेतुर्यद्वशाद् विशिष्टतपोविशेषसमुत्थलब्धिविशेषस्य पुरुषस्य तेजोलेश्याविनिर्गमः तत् कथमुच्यते एत एव योगा नान्ये?इति, नैष दोषः सदा कार्मणेन सहाऽव्यभिचारितया तैजसस्य तद्ग्रहणेनैव गृहीतत्वादिति। –कर्मग्रन्थ, भाग 4, स्वोपज्ञ टीका, पृ. 154
३४. द्रष्टव्य (क) लोकप्रकाश, 3.1337–1338 (ख) कर्मग्रन्थ, भाग 4, व्याख्याकार मुनि मिश्रीमल, गाथा 24 की व्याख्या, पृष्ठ सं. 186–187
३५. द्रष्टव्य– (क) लोकप्रकाश, 3.1339–40 (ख) कर्मग्रन्थ भाग 4, पृ. सं. 186

३६. (क) लोकप्रकाश, 3.1341 (ख) कर्मग्रन्थ भाग 4, गाथा 24 पृ. सं. 186
३७. (क) लोकप्रकाश, 3.1343 (ख) कर्मग्रन्थ भाग 4, गाथा 24 पृ. सं. 186
३८. गोम्मटसार, जीवकाण्ड, जीवतत्त्वप्रदीपिका, गाथा 219
३९. लोकप्रकाश, 3.1344–1346
४०. (क) लोकप्रकाश, 3.1347 (ख) कर्मग्रन्थ भाग 4, गाथा 24 पृ. सं. 186–187
४१. लोकप्रकाश, 3.1348
४२. कर्मग्रन्थ, व्याख्याकार–सुखलाल संघवी, भाग 4, गाथा 24, पृष्ठ संख्या 92
४३. लोकप्रकाश, 3.1351
४४. (क) लोकप्रकाश, 3.1352 (ख) कर्मग्रन्थ, भाग 4, पृष्ठ संख्या 187
४५. 'तथोक्तम् आवश्यक वृहद्वृत्तौ– 'गिण्हइय काइ एणं निसिरइ तह वाइएण जोगेणंति।' –लोकप्रकाश, पृष्ठ 314
४६. कर्मग्रन्थ, भाग 4, पृष्ठ सं. 135
४७. लोकप्रकाश, भाग 1, पृष्ठ 315–316
४८. चउव्विहे पमाणे पण्णत्ते, तंजहा– दव्वप्पमाणे, खेत्तप्पमाणे, कालप्पमाणे, भावप्पमाणे। मननमवगमनं मन्यतेऽनेनेति मानः –स्थानांग सूत्र, ठाणांग 4, उद्देशक 1, पृष्ठ सं. 237
द्रव्यप्रमाण–द्रव्य का प्रमाण बताने वाली संख्या। क्षेत्रप्रमाण–क्षेत्र का माप करने वाले दण्ड, धनुष, योजन आदि। कालप्रमाण–काल का माप करने वाले आवलिका, मुहूर्त्त आदि। भावप्रमाण–प्रत्यक्षादि प्रमाण और नैगमादि नय।
४९. अनुयोगद्वार सूत्र, प्रमाणाधिकार निरूपण, पृष्ठ 227
५०. 'मीयते–परिच्छिद्यते वस्त्वनेनेति मानम्' –व्याख्याप्रज्ञप्ति उद्देशक 1 की वृत्ति से।
५१. 'अभिमाने' सूत्रकृतांग, श्रुतस्कन्ध 1, अध्ययन 1, की वृत्ति से।
५२. लोकप्रकाश, 3.1410,
५३. लोकप्रकाश, 4.136–137
५४. लोकप्रकाश, 4.138–139
५५. लोकप्रकाश, 4.140–141
५६. प्रतर वर्ग को कहते हैं और किसी राशि को दो बार लिखकर परस्पर गुणा करने पर जो प्रमाण आता है वह वर्ग है। सूच्यंगुल को सूच्यंगुल से गुणा करने पर जो प्रमाण होता है वह प्रतरांगुल है– 'सूयी सूयीए गुणिया पयरंगुले।' प्रतरांगुल असंख्यात प्रदेशात्मक होता है– अनुयोगद्वारसूत्र प्रमाणाधिकार, सूत्र 337, पृष्ठ 248–249
५७. सूच्यंगुल–सूई के आकार में दीर्घता की अपेक्षा एक अंगुल लम्बी तथा बाहल्य की अपेक्षा एक प्रदेश ऋजुआयत आकाशप्रदेशों की पंक्ति सूच्यंगुल कहलाती है। सूच्यंगुल प्रमाण आकाश में असंख्य प्रदेश होते हैं। अनुयोगद्वार सूत्र में कहा भी गया है– 'अंगुलायता एगपदेसिया सेढी सूइअंगुले।' –अनुयोगद्वारसूत्र प्रमाणाधिकार निरूपण, सूत्र 337, पृष्ठ 248–249
५८. लोकप्रकाश, 5.317–318
५९. लोकप्रकाश, 5.320–321
६०. लोकप्रकाश, 6.53 और 54
६१. लोकप्रकाश, 6.189–191

६२. लोकप्रकाश, 7.117
६३. अंगुल प्रमाण क्षेत्र की प्रदेश राशि को तीन अलग–अलग वर्गमूलों में विभाजित कर पहले वर्गमूल को तीसरे वर्गमूल से गुणा करने पर जितने प्रदेशों का परिणाम आता है वह एक प्रदेशी कहलाता है।
६४. लोकप्रकाश, 7.18–20
६५. लोकप्रकाश 8.96
६६. लोकप्रकाश, 8.97
६७. लोकप्रकाश, 8.98–99
६८. लोकप्रकाश 8.100–101
६९. लोकप्रकाश, 8.107
७०, लोकप्रकाश, 8.108–110
७१. लोकप्रकाश, 8.111–112
७२. लोकप्रकाश, 8.113–114
७३. लोकप्रकाश, 9.22–29
७४. प्रज्ञापना सूत्र, भाग 1, पद 3, सूत्र 212, पृष्ठ सं. 215
७५. लोकप्रकाश, 3.1411,
७६. लोकप्रकाश, 4.142 से 145,
७७. लोकप्रकाश, 4.146 और 147,
७८. (क) लोकप्रकाश, 4.149,
(ख) प्रज्ञापना सूत्र, भाग 1, पद 3, सूत्र 213 की व्याख्या में, पृष्ठ 220
७९. लोकप्रकाश, 5.329 से 331,
८०. लोकप्रकाश, 5.332 और 333,
८१. (क) लोकप्रकाश, 5.334,
(ख) प्रज्ञापना सूत्र, भाग 1, पद 3, सूत्र 214.1, पृष्ठ 215
८२. (क) लोकप्रकाश, 5.335 से 339,
(ख) प्रज्ञापना सूत्र, प्रमेयबोधिनी टीका भाग 2, पद 3, सूत्र 2, पृष्ठ 22
८३. (क) लोकप्रकाश, 5.345,
(ख) प्रज्ञापना सूत्र, प्रमेयबोधिनी टीका, भाग 2, पद 3, सूत्र 2, पृष्ठ 23 और 24
(ग) प्रज्ञापना सूत्र, भाग 1, पद 3, सूत्र 214.2, पृष्ठ 215
८४. (क) लोकप्रकाश, 5.349, पृष्ठ सं. 421
(ख) प्रज्ञापना सूत्र, प्रमेयबोधिनी टीका, भाग 2, पद 3, सूत्र 2, पृष्ठ 24 और 25
(ग) प्रज्ञापना सूत्र, भाग 1, पद 3, सूत्र 214.3, पृष्ठ 216
८५. (क) लोकप्रकाश, 5.351,
(ख) प्रज्ञापना सूत्र, भाग 1, पद 3, सूत्र 214.4, पृष्ठ 216
(ग) प्रज्ञापना सूत्र, प्रमेयबोधिनी टीका, भाग 2, पद 3, सूत्र 2, पृष्ठ 25 और 26
८६. (क) लोकप्रकाश, 5.354 तथा 355, पृष्ठ सं. 422
(ख) प्रज्ञापना सूत्र, भाग 1, पद 3, सूत्र 214.5, पृष्ठ 216

(ग) प्रज्ञापना सूत्र, प्रमेयबोधिनी टीका, भाग 2, पद 3, सूत्र 2, पृष्ठ 26 और 27

८७. लोकप्रकाश, 6.56 से 57, पृष्ठ सं. 435

८८. (क) लोकप्रकाश, 6.58 से 60,
(ख) प्रज्ञापना सूत्र, भाग 1, पद 3, सूत्र 215.1,2,3, पृष्ठ 216
(ग) वही, प्रमेयबोधिनी टीका, भाग 2, पद 3, सूत्र 2, पृष्ठ 27,28 और 29

८९. लोकप्रकाश, 6.192 से 193,

९०. (क) लोकप्रकाश, 6.194
(ख) प्रज्ञापना सूत्र, भाग 1, पद 3, सूत्र 218, पृष्ठ 218
(ग) वही, प्रमेयबोधिनी टीका, भाग 2, पद 3, सूत्र 2, पृष्ठ 37

९१. लोकप्रकाश, 7.118,

९२. (क) लोकप्रकाश, 7.119 से 121,
(ख) प्रज्ञापना सूत्र, भाग 1, पद 3, सूत्र 219, पृष्ठ 218
(ग) वही, प्रमेयबोधिनी टीका, भाग 2, पद 3, सूत्र 2, पृष्ठ 37 और 38

९३. लोकप्रकाश, 8.115 से 131,

९४. (क) लोकप्रकाश, 8.132–133,
(ख) प्रज्ञापना सूत्र, भाग 1, पद 3, सूत्र 220, पृष्ठ 219
(ग) वही, प्रमेयबोधिनी टीका, भाग 2, पद 3, सूत्र 2, पृष्ठ 38

९५. (क) लोकप्रकाश, 8.134–136,
(ख) प्रज्ञापना सूत्र, भाग 1, पद 3, सूत्र 221, पृष्ठ 219
(ग) वही, प्रमेयबोधिनी टीका, भाग 2, पद 3, सूत्र 2, पृष्ठ 39

९६. (क) लोकप्रकाश, 8.137–140,
(ख) प्रज्ञापना सूत्र, भाग 1, पद 3, सूत्र 222, पृष्ठ 219
(ग) वही, प्रमेयबोधिनी टीका, भाग 2, पद 3, सूत्र 2, पृष्ठ 40 और 41

९७. (क) लोकप्रकाश, 8.144–148,
(ख) प्रज्ञापना सूत्र, भाग 1, पद 3, सूत्र 223–1,2,3 व 4, पृष्ठ 219
(ग) वही, प्रमेयबोधिनी टीका, भाग 2, पद 3, सूत्र 2, पृष्ठ 41,42 तथा 43

९८. (क) लोकप्रकाश, 8.149 व150,
(ख) प्रज्ञापना सूत्र, भाग 1, पद 3, सूत्र 223.5, पृष्ठ 219
(ग) वही, प्रमेयबोधिनी टीका, भाग 2, पद 3, सूत्र 2, पृष्ठ 43–44

९९. (क) लोकप्रकाश, 8.151–152,
(ख) प्रज्ञापना सूत्र, भाग 1, पद 3, सूत्र 223.6,7,8, पृष्ठ 220
(ग) वही, प्रमेयबोधिनी टीका, भाग 2, पद 3, सूत्र 2, पृष्ठ 44 से 46

१००. लोकप्रकाश, 9.30 से 32,

१०१. (क) लोकप्रकाश, 9.33 से 36,
(ख) प्रज्ञापना सूत्र, प्रमेयबोधिनी टीका, भाग 2, पद 3, सूत्र 2, जीवानामल्पबहुत्वम्, पृष्ठ 30–31

१०२. लोकप्रकाश, भाग 7.118

१०३. प्रज्ञापना सूत्र, प्रमेयबोधिनी टीका, भाग 2, पद 3, सूत्र 40, महादण्डकानुसारेण

सर्वजीवाल्पबहुत्वम्, पृष्ठ 415

१०४. सातवीं तमस्तमप्रभा पृथ्वी से लेकर दूसरी पृथ्वी तक के नारक सभी घनीकृत लोकश्रेणी के असंख्यातवें भाग में स्थित आकाश के प्रदेशों की राशि के बराबर हैं, किन्तु श्रेणी के असंख्यातवें भाग के भी असंख्यात भेद होते हैं, अतएव दोनों स्थानों पर असंख्यातगुणा अल्पबहुत्व कहने में भी कोई विरोध नहीं आता। –प्रज्ञापना सूत्र, प्रमेयबोधिनी टीका, भाग 2, पद 3, महादण्डकानुसारेण जीवाल्पबहुत्वम्, पृष्ठ सं. 419–420।

१०५. प्रज्ञापना सूत्र, प्रमेयबोधिनी टीका, भाग 2, पद 3, पृष्ठ 424

१०६. असंख्यात काल– असंख्येय काल उत्सर्पिणी–अवसर्पिणी काल रूप है तथा क्षेत्र से एक अंगुल असंख्येय भाग क्षेत्र में जितने आकाशप्रदेश हैं, उनका प्रति क्षण एक–एक का आहार करने पर जितने काल में वे निर्लेप होते हैं, वह काल असंख्यात काल होता है।

–लोकप्रकाश, 4.153–154

१०७. लोकप्रकाश, 4.152

१०८. लोकप्रकाश, 4.155

१०९. लोकप्रकाश, 5.356 से 360

११०. लोकप्रकाश, 6.61 और 6.195 एवं 196

१११. जीवाजीवाभिगम सूत्र, प्रथम खण्ड, पृष्ठ 150–151 पर

११२. लोकप्रकाश, 7.122

११३. लोकप्रकाश, 8.153

११४. लोकप्रकाश, 9.37

११५. लोकप्रकाश, 7.123

११६. लोकप्रकाश, 10.2–3

११७. सात नरकभूमियां– रत्नप्रभा, शर्कराप्रभा, बालुकाप्रभा, पंकप्रभा, धूमप्रभा, तमप्रभा और तमस्तमप्रभा। सातों के अलग–अलग सात निज क्षेत्र है। –लोकप्रकाश, 9.1

११८. दस भवनपति– असुरकुमार, नागकुमार, सुवर्णकुमार, विद्युतकुमार, अग्निकुमार, द्वीपकुमार, समुद्रकुमार, दिग्कुमार, वायुकुमार और मेघकुमार। –लोकप्रकाश, भाग 1, 8.2

११९. पांच प्रकार के ज्योतिषी देव– सूर्य,चन्द्र, ग्रह, नक्षत्र और तारा। –लोकप्रकाश, 8.58

१२०. सोलह व्यन्तर देव– पिशाच, भूत, यक्ष, राक्षस, किन्नर, किंपुरुष, महोरग और गन्धर्व तथा अणपन्नी, पणपन्नी, ऋषिवादी, भूतवादी, कंदी, महाकंदी, कुष्मांड और पतंग। –लोकप्रकाश, 8. 29–50

१२१. वैमानिक देवों के बारह देवलोक हैं– सौधर्म, ईशान, सनत्कुमार, माहेन्द्र, ब्रह्मलोक, लांतक, शुक्र, सहस्रार, आनत, प्राणत, आरण और अच्युत।

१२२. लोकप्रकाश, 10.11–13

१२३. लोकप्रकाश, 10.13

१२४. लोकप्रकाश, 10.14–15

१२५. लोकप्रकाश, 10.16–17

१२६. लोकप्रकाश, 10.18

१२७. नौ ग्रैवेयक देव– अधस्तनाधस्तन, अधस्तनमध्यम, अधस्तनोपरितन, मध्यामाधस्तन, मध्यममध्यम,

मध्यमोपरितन, उपरिस्थाधस्तन, उपरिस्थमध्यम और उपरिस्थउपरितन। —लोकप्रकाश, 8.63—65

१२८. लोकप्रकाश, 10.21
१२९. लोकप्रकाश, 10.36
१३०. लोकप्रकाश, 10.25—26
१३१. लोकप्रकाश, 10.27—28
१३२. लोकप्रकाश, 10.29—33
१३३. लोकप्रकाश, 10.34
१३४. लघुदण्डक का 24वां गति—आगति द्वार
१३५. लोकप्रकाश, 10.35
१३६. लोकप्रकाश, 10.36
१३७. लोकप्रकाश, 10.38
१३८. लोकप्रकाश, 10.37
१३९. लघुदण्डक के देवता के 14 दण्डकों के 26 द्वारों में से 24 वां द्वार
१४०. लोकप्रकाश, 10.39,40
१४१. लोकप्रकाश, 10.41
१४२. लघुदण्डक के युगलिक का 24 वां द्वार
१४३. लोकप्रकाश, 10.42—43
१४४. लघुदण्डकों में पांच स्थावरों का 24 वां द्वार
१४५. लोकप्रकाश, 10.44
१४६. लोकप्रकाश, 10.45—47
१४७. लोकप्रकाश, 10.48
१४८. लोकप्रकाश, 10.49
१४९. लोकप्रकाश, 10.50—51
१५०. लोकप्रकाश, 10.52
१५१. लोकप्रकाश, 10.53—58
१५२. लोकप्रकाश, 10.61—62
१५३. लोकप्रकाश, 10.63
१५४. लोकप्रकाश, 10.64—65
१५५. लोकप्रकाश, 10.66—67
१५६. लोकप्रकाश, 10.79—80
१५७. लोकप्रकाश, 10.81—82
१५८. लोकप्रकाश, 10.83
१५९. लोकप्रकाश, 10.84—85
१६०. लोकप्रकाश, 10.86—87
१६१. लोकप्रकाश, 10.72—73
१६२. लोकप्रकाश, 10.88—89

षष्ठ अध्याय

क्षेत्रलोक

वैदिक साहित्य, पुराण साहित्य, योगदर्शन, जैनदर्शन और बौद्धदर्शन सभी ने लोक के स्वरूप की चर्चा की है। सभी ने स्व-स्व दृष्टि से लोक का निरूपण किया है। वैदिक और पुराण साहित्य के अनुसार लोक के पृथ्वीलोक, अन्तरिक्षलोक और द्युलोक तीन प्रकार हैं। योगदर्शन के भाष्यकार व्यास ने लोक की संख्या सात बताई है।[1] जैन दार्शनिक लोक के अधोलोक, मध्यलोक और ऊर्ध्वलोक तीन विभाग स्वीकार करते हैं। उपाध्याय विनयविजय पाँच भिन्न-भिन्न उपमाओं से लोक का आकार-प्रकार प्रस्तुत करते हैं-

(१) नरं वैशाखसंस्थानस्थितपादं कटीतटे।
न्यस्तहस्तद्वयं सर्वदिक्षु लोकोऽनुगच्छति।।[2]

अर्थात् दोनों हाथ कटितट पर रखकर वैशाख संस्थान के समान खड़े पुरुष के समान यह लोक है।

(२) चिरमूर्ध्वदमतया चिरन्तनतयापि च।
असौ लोकनरः श्रान्त इव कट्यां न्यधात् करौ।।[3]

अर्थात् लम्बे समय तक ऊँची-ऊँची श्वास लेने के कारण तथा वृद्धावस्था के कारण बहुत थकने से कमर पर रखे हुए दोनों हाथ वाले पुरुष के समान यह लोक है।

(३) अथवाऽधोमुखस्थायि महाशरावपृष्ठगम्।
एष लोकोऽनुकुरूते शरावसंपुटं लघु।।[4]

अर्थात् अधोमुख में रहे एक बड़े शराव के पृष्ठ भाग पर रखे एक छोटे शराव के समान आकार का यह लोक है।

(४) धृतः कृतो न केनापि स्वयं सिद्धो निराश्रयः।
निरालम्ब शाश्वतश्च विहायसि परं स्थितः।।[5]

अर्थात् यह लोक किसी के द्वारा भी धारण नहीं किया गया है और न किसी ने इसे बनाया है। यह स्वयं सिद्ध, निराश्रय, निरालम्ब और शाश्वत है तथा आकाश में स्थित है।

(५) उत्पत्तिविलयध्रौव्यगुणषड्द्रव्यपूरितः।
मौलिस्थसिद्धमुदितो नृत्यायेवाततक्रमः।।[6]

अर्थात् यह लोक उत्पत्ति, विनाश और स्थिति रूप त्रिगुणात्मक है। यह षड्द्रव्यों से परिपूर्ण है। अपने मस्तक पर सिद्ध पुरुष विराजमान होने से हर्ष में आकर मानो नृत्य करने के लिए चरण फैलाए किसी खड़े पुरुष के समान यह लोक है।

इस प्रकार इन उपमाओं से लोक के स्वरूप एवं उसके प्रकारों का बोध होता है। कटि पर रखे हाथ वाले पुरुष के आकार वाले लोक में कटि के नीचे का भाग अधोलोक, कटि के ऊपर का भाग ऊर्ध्वलोक और दोनों के मध्य का भाग मध्यलोक है। लोकप्रकाशकार के अनुसार अधोलोक की आकृति स्वभावतः कुम्भ के समान, ऊर्ध्वलोक की आकृति खड़े किए मृदंग के समान और मध्यलोक झालर के आकार के समान है।[७] कुछ जैन दार्शनिक अधोलोक, ऊर्ध्वलोक एवं मध्यलोक की आकृति क्रमशः वेत्रासन, खड़ा किया मृदंग एवं खड़े किए अर्धमृदंग के समान मानते हैं।[८] (द्रष्टव्य पृष्ठ सं. २८४)

सम्पूर्ण लोक की ऊँचाई १४ रज्जु प्रमाण होती है।[९] अधोलोक की ऊँचाई सात रज्जु, मध्यलोक की ऊँचाई एक लाख योजन और ऊर्ध्वलाक की ऊँचाई एक लाख योजन कम सात रज्जु है। तीनों लोकों में से अधोलोक में रत्नप्रभा, शर्कराप्रभा, बालुकाप्रभा, पंकप्रभा, धूमप्रभा, तमःप्रभा और तमस्तमप्रभा ये सात पृथ्वियाँ एक-एक रज्जु के अन्तराल से होती है।[१०] अर्थात् सात नरक सात रज्जु प्रमाण हैं।

रत्नप्रभा नारकी के ऊपरी तल से प्रारम्भ करके प्रथम दो देवलोक तक आठवां, तीसरे से चौथे देवलोक तक नौवां, पाँचवें से छठे देवलोक तक दसवां, सातवें से आठवें तक ग्यारहवां, नौवें से लेकर बारहवें तक बारहवां, अनुक्रम से अन्तिम ग्रैवेयक तक तेरहवां और लोकान्त तक चौदहवां रज्जु पूर्ण होता है।[११] इस तरह सात नरकों के सात और उसके ऊपर सात रज्जु मिलाकर लोक की ऊँचाई कुल चौदह रज्जु प्रमाण पूरी होती है।

उत्तर-दक्षिण भाग मे लोक का आयाम सर्वत्र सात रज्जू (रज्जु) है और पूर्व-पश्चिम में लोक का विस्तार अधोलोक के नीचे सात रज्जू, मध्यलोक में एक रज्जू, ब्रह्मलोक पर पाँच और लोक के अन्त में एक रज्जू प्रमाण है।[१२] (द्रष्टव्य पृष्ठ सं.२८५)

लोक में 14 रज्जुओं का विभाग

मध्यलोक से अधोलोक की ओर सात रज्जु का विभाग किस प्रकार है, इसका कथन इस प्रकार प्राप्त होता है- मध्यलोक के अधोभाग से प्रारम्भ होता हुआ पहला रज्जू शर्कराप्रभा पृथ्वी के अधोभाग में समाप्त होता है। इससे आगे दूसरा रज्जू प्रारम्भ होकर बालुकाप्रभा के अधोभाग में समाप्त होता है तथा तीसरा रज्जू पंकप्रभा के अधोभाग में समाप्त होता है। इसके अनन्तर चौथा

लोक का स्वरुप

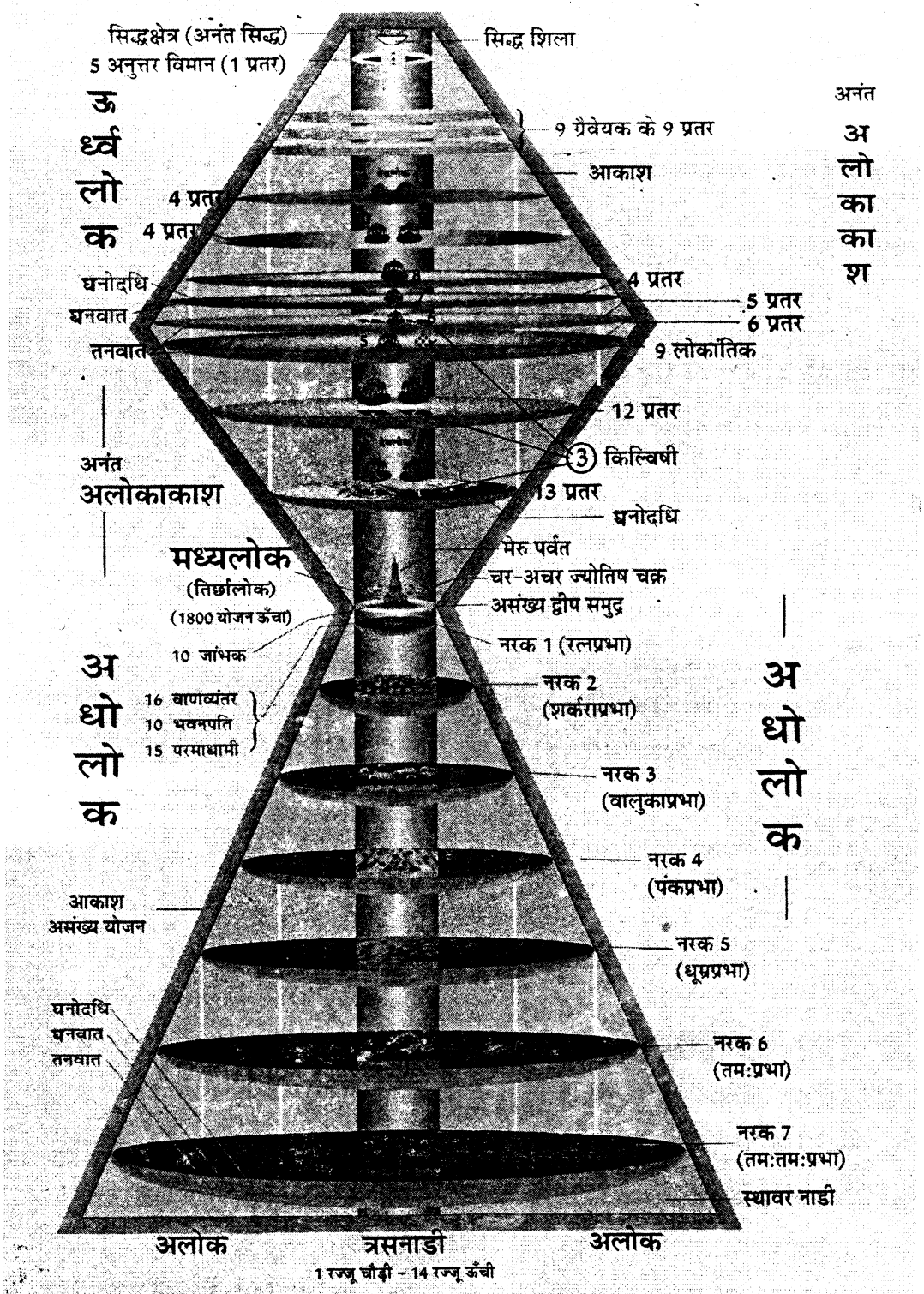
सिद्धक्षेत्र (अनंत सिद्ध)
5 अनुत्तर विमान (1 प्रतर)
सिद्ध शिला
ऊर्ध्व लोक
9 ग्रैवेयक के 9 प्रतर
आकाश
4 प्रतर
4 प्रतर
घनोदधि
घनवात
तनवात
4 प्रतर
5 प्रतर
6 प्रतर
9 लोकांतिक
12 प्रतर
3 किल्विषी
13 प्रतर
घनोदधि
मेरु पर्वत
चर-अचर ज्योतिष चक्र
असंख्य द्वीप समुद्र
नरक 1 (रत्नप्रभा)
नरक 2 (शर्कराप्रभा)
नरक 3 (वालुकाप्रभा)
नरक 4 (पंकप्रभा)
नरक 5 (धूम्रप्रभा)
नरक 6 (तम:प्रभा)
नरक 7 (तम:तम:प्रभा)
स्थावर नाडी
अनंत अलोकाकाश
अनंत अलोकाकाश
मध्यलोक (तिर्छालोक) (1800 योजन ऊँचा)
10 जांभक
16 वाणव्यंतर
10 भवनपति
15 परमाधामी
अधो लोक
अधो लोक
आकाश असंख्य योजन
घनोदधि
घनवात
तनवात
अलोक
त्रसनाडी
अलोक
1 रज्जू चौड़ी – 14 रज्जू ऊँची

वातवलय से परिवेष्टित लोक

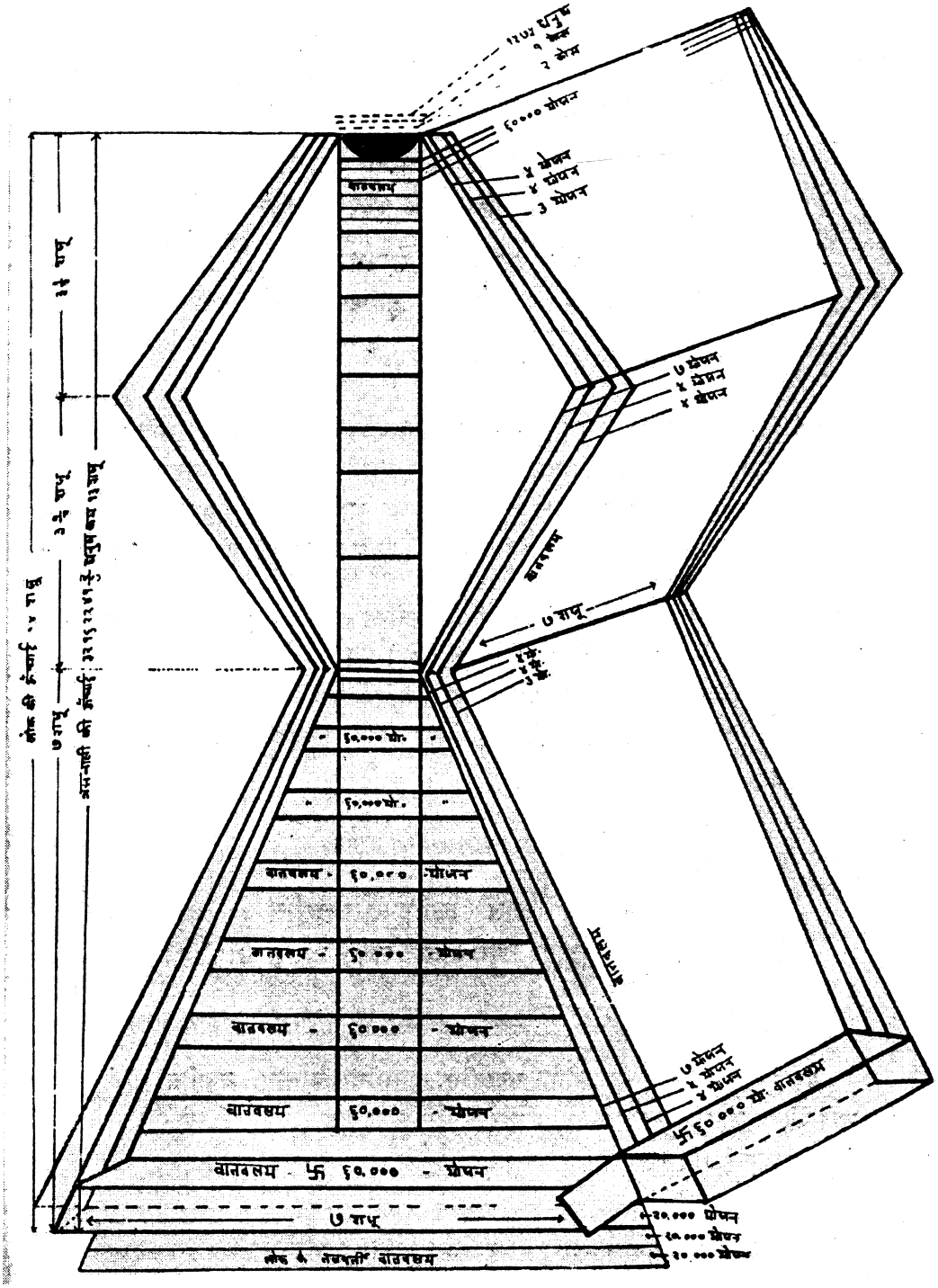

लोक का आयाम

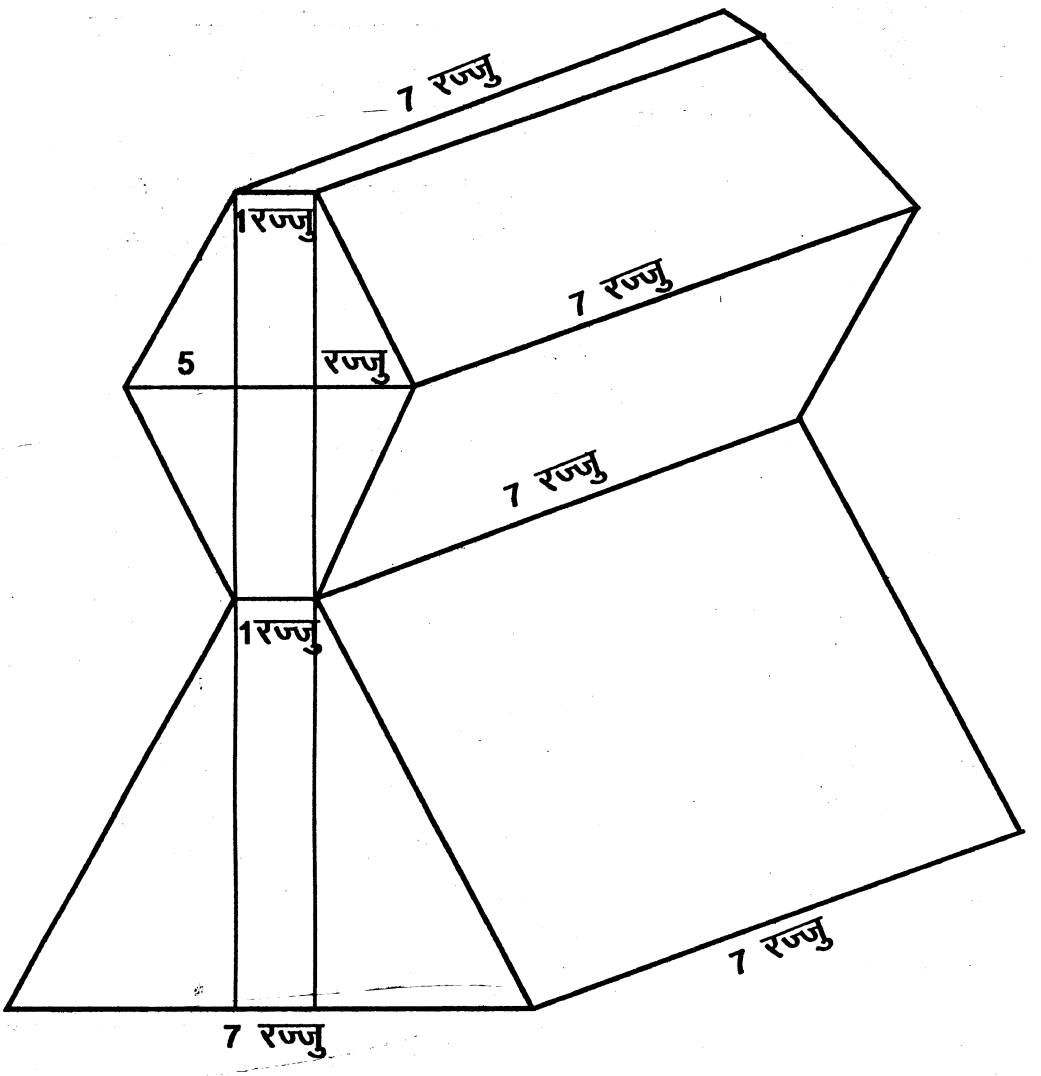

रज्जू धूमप्रभा के अधोभाग में और पाँचवां रज्जू तमः प्रभा के अधोभाग में समाप्त होता है। पूर्वोक्त क्रम से छठा रज्जू महातमः प्रभा के नीचे अन्त में समाप्त होता है और इसके आगे सातवां रज्जू लोक के तल भाग में समाप्त होता है और इसके आगे सातवां रज्जू लोक के तल भाग में समाप्त होता है। इस तरह अधोलोक में सात रज्जु का विभाग कहा है।[13]

मध्यलोक के ऊपरी भाग से सौधर्म विमान के ध्वजदण्ड पर्यन्त एक लाख योजन कम डेढ़ रज्जू प्रमाण ऊँचाई है। इसके आगे डेढ़रज्जू माहेन्द्र और सनत्कुमार देवलोक के ऊपरी भाग में समाप्त होता है। इसके अनन्तर आधा रज्जू ब्रह्मोत्तर देवलोक के ऊपरी भाग में पूर्ण होता है। इसके पश्चात् आधारज्जू लांतक देवलोक के ऊपरी भाग में, आधा रज्जू महाशुक्र के ऊपरी भाग में और आधा रज्जू सहस्रार के ऊपरी भाग में समाप्त होता है। इसके अनन्तर आधा रज्जू आनत स्वर्ग के ऊपरी भाग में और आधा रज्जू आरण स्वर्ग के ऊपरी भाग में पूर्ण होता है। तत्पश्चात् एक रज्जू की ऊँचाई में नौ ग्रैवेयक और पाँच अनुत्तर-विमान हैं। इस प्रकार ऊर्ध्वलोक में रज्जू का विभागीकरण किया गया है।[14]

अधोलोक का मुख विस्तार अर्थात् लम्बाई एक रज्जू प्रमाण, भूमि विस्तार अर्थात् चौड़ाई ७ रज्जू प्रमाण और ऊँचाई सात रज्जू प्रमाण है। ऊर्ध्वलोक मध्यलोक के समीप एक रज्जू, मध्य में पाँच रज्जू और ऊपर पुनः एक रज्जू लम्बा, सात रज्जू चौड़ा और सात रज्जू प्रमाण ऊँचा है।[15]

त्रसनाली स्वरूप

वृक्ष में स्थित सार की तरह लोक के बहुमध्यभाग में एक रज्जू लम्बी, एक रज्जू चौड़ी और कुछ कम तेरह रज्जू ऊँची एक त्रसनाली होती है। सातवें नरक के नीचे एक रज्जू प्रमाण कलकल नामक स्थावर लोक है, यहाँ त्रस जीव नहीं रहते अतः त्रसनाली (१४-१) १३ रज्जू ऊँची है। त्रसनाली त्रस जीवों की आश्रय स्थली होती है। इस नाली से बाहर त्रस जीव नहीं रहते हैं, जबकि स्थावर जीव सम्पूर्ण लोक में हैं। सप्तम नरक के मध्यभाग में ही नारकी जीव हैं। इसी प्रकार ऊर्ध्वलोक में सर्वार्थसिद्ध से ईषत्प्राग्भार[16] नामक पृथिवी (मुक्त जीवों का निवास स्थान) के मध्य के १२ योजन के अन्तराल में तथा उससे ऊपर त्रस जीव नहीं रहते हैं।[17]

खंडुक प्रमाण (रज्जु का चतुर्थांश) में यह त्रसनाली ५६ खंडुक ऊँची और ४ खंडुक चौड़ी होती है। पाँच खड़ी और सत्तावन आड़ी पंक्तियाँ किसी पट्टे पर लिखने के समान त्रसनाली की आकृति होती है।[18]

खंडुक प्रमाण से लोक का प्रमाण

सम्पूर्ण लोक कुल १५२०६ खंडुक प्रमाण का है अर्थात् लोक में १५२०६ खंडुक हैं।[१९] खंडुक से तात्पर्य है रज्जु का चतुर्थ अंश जिसकी लम्बाई, चौड़ाई और ऊँचाई समचौरस हाथ के समान बराबर-बराबर होती है।[२०] त्रसनाली के १४ रज्जू में से प्रत्येक एक रज्जू में ४ खंडुक चौड़ाई में और ४ खंडुक लम्बाई में होते हैं। इस प्रकार त्रसनाली ५६ (१४ x ४) खंडुक ऊँची और ४ खंडुक चौड़ी होती है। १४ रज्जू लोक प्रमाण में खंडुक का विस्तार इस प्रकार है[२१]-

14 रज्जू लोक प्रमाण में खंडुक

	चौड़ाई	लम्बाई
१.	सबसे नीचे वाले प्रथम रज्जु प्रमाण में	४ खंडुक २८ खंडुक
२.	दूसरे रज्जु में	४ खंडुक २६ खंडुक
३.	तीसरे रज्जु में	४ खंडुक २४ खंडुक
४.	चौथु रज्जु में	४ खंडुक २० खंडुक
५.	पाँचवें रज्जू में	४ खंडुक १६ खंडुक
६.	छठे रज्जू में	४ खंडुक १० खंडुक
७.	सातवें रज्जू में	४ खंडुक ४ खंडुक
८.	आठवें रज्जू में	४ खंडुक १० खंडुक
९.	नौवें रज्जू में	४ खंडुक ३० खंडुक
१०.	दसवें रज्जू में	४ खंडुक ३६ खंडुक
११.	ग्यारहवें रज्जू में	४ खंडुक ३६ खंडुक
१२.	बारहवें रज्जू में	४ खंडुक २२ खंडुक
१३.	तेरहवें रज्जू में	४ खंडुक ३४ खंडुक
१४.	चौदहवें रज्जू में	४ खंडुक १० खंडुक

(द्रष्टव्य पृष्ठ सं.२८८)

ऊर्ध्वलोकादि का नामकरण

ऊर्ध्वमध्याधःस्थितत्वाद्वयपदिश्यन्त इत्यमी।
यद्वोत्कृष्टमध्यहीनपरिणामात्तयोदिताः।।[२२]

लोकप्रकाशकार यह मानते हैं कि लोक के इन तीनों अधोलोक, मध्यलोक और ऊर्ध्वलोक

खंडुक का चित्र

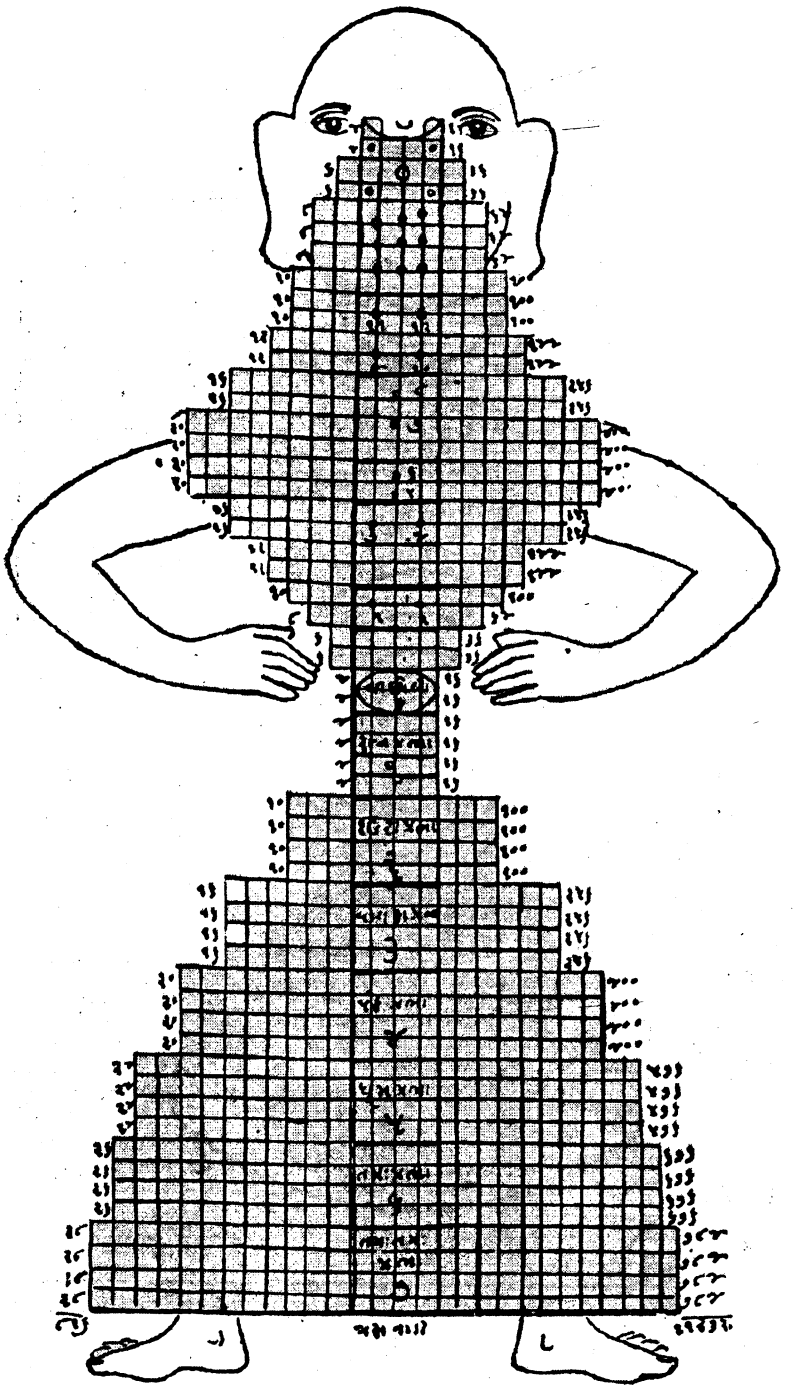

विभागों के नाम स्थानपरत्व के कारण अथवा शुभ-अशुभ परिणामों की तीव्रता-मन्दता के कारण अभिहित किए गए हैं।

लोक के सबसे नीचे होने के कारण अथवा इस क्षेत्र में द्रव्यों का अशुभ परिणाम अधिक है, अतः स्थानपरत्व एवं अशुभ परिणामों की तीव्रता से लोक का यह भाग अधोलोक कहा जाता है।[२३] इसी प्रकार लोक के ऊर्ध्व भाग में होने से अथवा इस क्षेत्र में द्रव्यों का शुभ परिणाम अधिक होने से लोक का यह भाग ऊर्ध्वलोक[२४] कहलाता है तथा लोक के मध्य में आने से अथवा द्रव्यों के मध्यम परिणामों की अधिकता होने से लोक का यह भाग मध्यलोक[२५] कहा जाता है। तिरछा विस्तार होने से मध्यलोक को तिर्यग्लोक भी कहते हैं।[२६]

तीनों लोकों का मध्यभाग

लोकात्मक पुरुष के कटि प्रदेश को तिरछालोक अथवा मध्यलोक कहा गया है। इसी मध्यलोक के मध्यभाग रूचक प्रदेश से दिशा और विदिशा निकलती है।[२७] चौथी और पाँचवीं नरक भूमियों के बीच के अन्तर का आधा भाग अधोलोक का मध्य कहा जाता है। ऊपर ब्रह्मलोक के नीचे रिष्ट नामक प्रतर में ऊर्ध्वलोक का मध्य भाग है।[२८]

वातवलय

सम्पूर्ण लोक चारों ओर से तीन प्रकार के वातवलयों से मेखला की तरह परिवेष्टित है। ये वातवलय वायुकायिक जीवों के शरीर स्वरूप स्थिर स्वभाववाले वायुमण्डल हैं, जिनके दाब से इस लोक का सन्तुलन बना रहता है।

सर्वप्रथम घनोदधिवातवलय, फिर घनवातवलय और अन्त में तनुवातवलय ये तीन वातवलय हैं। तीनों वातवलयों की मोटाई लोक के तलभाग में २०-२० हजार योजन है और सातवें नरक के दोनों ओर के पार्श्व भागों में क्रमशः सात, पाँच और चार योजन है। मध्यलोक के पार्श्वभाग में क्रमशः पाँच, चार और तीन योजन है। आगे बढ़ते-बढ़ते ब्रह्मलोक के पार्श्वभाग में क्रमशः सात, पाँच और चार योजन तथा लोकान्त के पार्श्व भागों में पाँच, चार और तीन योजन है। लोक शिखर पर वातवलयों की मोटाई क्रमशः दो कोस, एक कोस और कुछ कम एक कोस है।[२९] (द्रष्टव्य पृष्ठ सं. २९०)

दिशा और विदिशाओं का स्वरूप

मध्यभागे समभूमिज्ञापको रूचकोऽस्ति यः।
स एव मध्यलोकस्य मध्यमुक्तं महात्मभिः।।
दिग्विदिग् निर्गमश्चास्मान्नाभेरिव शिरोद्गमः।।[३०]

लोक के मध्यभाग में स्थित सम भूतल का ज्ञापक जो रुचक प्रदेश है, वह मध्यलोक के मध्यभाग में स्थित है। यह एक प्रकार का केन्द्र है जिससे दिशा और विदिशा का निर्धारण होता है। अर्थात् दिशा-विदिशा का उत्पत्ति स्थान रुचक प्रदेश है। यह रुचक आठ प्रदेश परिमाण स्वीकार किया गया है।

पूर्व, दक्षिण-पूर्व (आग्नेय), दक्षिण, दक्षिण-पश्चिम (नैऋत्य), पश्चिम, उत्तर-पश्चिम (वायव्य), उत्तर, उत्तर-पूर्व (ईशान), ऊर्ध्व और अधः इस तरह ये दस दिशाएँ हैं। इनमें छह- पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण, ऊर्ध्व और अधः शुद्ध दिशाएँ हैं एवं शेष चार आग्नेय, नैऋत्य, वायव्य और ईशान विदिशाएँ हैं।[३१]

ऐन्द्रयाग्नेयी तथा याम्यानैर्ऋती किं च वारुणी।
वायव्येतः परा सौम्येशानी च विमला तमा।।[३२]

उपाध्याय विनयविजय कहते हैं कि जब ये दश दिशाएँ देव से सम्बद्ध कही जाती हैं तब इनकी अन्य संज्ञा हो जाती है, क्रमशः यथा- ऐन्द्री, आग्नेयी, यामी (याम्या), नैर्ऋती, वारुणी, वायव्या, सौम्या, ईशानी, विमला और तमा। जिस स्थान या क्षेत्र में इन्द्र का वास है वह दिशा ऐन्द्री कहलाती है। इसी प्रकार आग्नेयी आदि दिशाओं का नामकरण देवों के स्थान के आधार पर भी किया गया है।

लोकप्रकाशकार ने दिशाओं के अन्य सात भेदों का भी निरूपण किया है[३३]- नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, ताप, भाव और प्रज्ञापक।

नाम दिशा- किसी भी सचित्त द्रव्य का दिशा, पूर्वी, पूर्वा, उत्तरा आदि नाम रखना नामदिशा है।[३४]

स्थापना दिशा- पट्ट आदि में जम्बूद्वीप आदि दिशा-विदिशाओं को चित्रित कर स्थापित करना स्थापना दिशा है।[३५]

द्रव्य दिशा- किसी भी द्रव्य दिशा का निक्षेप कर उसका दिशा सम्बन्धी बोध करना द्रव्य दिशा है। कम से कम तेरह परमाणु वाले आकाश प्रदेश का अवगाहन करने वाले द्रव्य में ही दिशाओं का बोध होता है।[३६]

तेरह परमाणु वाला आकाश–प्रदेश

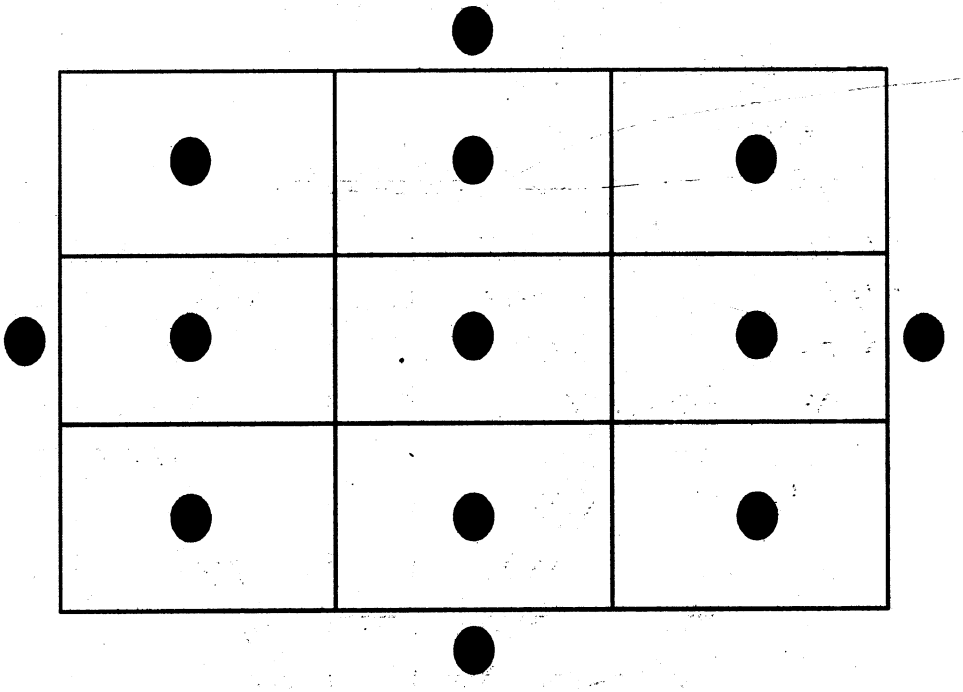

यह द्रव्य दिशा दो प्रकार की है- आगमतः द्रव्य दिशा और नोआगमतः द्रव्य दिशा।[३७] आगमतः द्रव्य दिशा से तात्पर्य है कि दिशा का सम्यक् ज्ञान होने पर भी उसका नामोच्चारण करते समय उसमें उपयोग न होना। यथा कोई दिशाविद् किसी द्रव्य की दिशाओं के विषय में समझाते हुए दिशाओं का ठीक-ठीक उच्चारण करता है, परन्तु उसका उसमें उपयोग नहीं होता है अर्थात् द्रव्य की पूर्व आदि दिशा का उल्लेख तो कर रहा है, परन्तु स्वयं की अंगुली सही जगह पर नहीं रखता है इसलिए यह आगमतः द्रव्य दिशा है। क्योंकि बोलते समय दिशाविद् का उपयोग उसमें नहीं है।

नोआगमतः द्रव्यदिशा में उपयोग भी नहीं होता है तथा ज्ञान भी नहीं होता है। यह द्रव्य दिशा तीन प्रकार की होती है[३८]- १. ज्ञशरीर नो आगमतः द्रव्य दिशा २. भव्यशरीर नोआगमतः द्रव्य दिशा ३. तद्व्यतिरिक्त नोआगमतः द्रव्य दिशा।

कोई दिशाविद् यदि अपना शरीर छोड़ दे अर्थात् मृत्यु प्राप्त करे तब वह ज्ञाता का शरीर ज्ञशरीर नोआगम द्रव्य दिशा कहलाता है, क्योंकि वह भूतकाल में दिशा का ज्ञाता था, वर्तमान में नहीं। इसी तरह जो जीव भविष्यकाल में दिशाविद् बनेगा वह भव्यशरीर नोआगमतः द्रव्यदिशा कहलाता है। इन दोनों से भिन्न जब किसी द्रव्य को अन्य द्रव्य की सहायता से दिशा का ज्ञान होने वाला हो तब वह द्रव्य तद्व्यतिरिक्त नोआगमतः द्रव्य दिशा कहलाता है, यथा चुम्बक, एटलस,

चुम्बकीय सूई (Magnatic Campas) आदि।

क्षेत्र दिशा– आठ प्रदेश वाले रुचकप्रदेश से निकलने वाली प्रत्येक दिशाएँ दो-दो प्रदेश विस्तार से बढ़ती हैं तथा विदिशाएँ एक-एक प्रदेश के विस्तार से बढती हैं।[३९] लोकान्त तक दस दिशाएँ असंख्यात प्रदेश विस्तार में होती हैं। अलोक की अपेक्षा से दिशाएँ अनन्त प्रदेश के विस्तार में होती हैं।[४०] लोक के वर्तुलाकार होने से लोकान्त में दिशा चार प्रदेशी हो जाती है। इस तरह दिशा का एक ओर द्विप्रदेशी होना एवं दूसरी ओर चतुःप्रदेशी होना उसका मृदंगाकार रूप द्योतित करता है। अर्थात् दिशा का मुख एक ओर संकुचित होता है और दूसरी ओर से चौड़ा होता है।[४१] ये दिशाएँ लोक की अपेक्षा साद्यन्त हैं और अलोक की अपेक्षा सादि अनन्त है।[४२]

ताप दिशा– सूर्य की अपेक्षा से पाँचवीं दिशा ताप दिशा कही जाती है। ताप दिशा में सूर्य जहाँ से उदित होता है वह पूर्व दिशा कहलाती है और इसी अनुक्रम से दूसरी दिशाएँ पश्चिम आदि कही जाती है।[४३]

भाव दिशा– गुणों के आधार पर दिशाओं का नामकरण करना 'भावदिशा' है।[४४] मनुष्य आदि के भेद से भाव दिशा के अठारह प्रकार कहे गए हैं। अठारह प्रकार इस तरह हैं- १. कर्मभूमि मनुष्य के गुणों के आधार पर २. अकर्मभूमि मनुष्य के गुणों के आधार पर ३. अन्तर्द्वीप मनुष्य के गुणों के आधार पर ४. सम्मूर्च्छिम मनुष्य के गुणों के आधार पर ५. द्वीन्द्रिय तिर्यंच के गुणों के आधार पर ६. त्रीन्द्रिय तिर्यंच के गुणों के आधार पर ७. चतुरिन्द्रिय तिर्यंच के गुणों के आधार पर ८. पंचेन्द्रिय तिर्यंच के गुणों के आधार पर ९. पृथ्वीकाय के गुणों के आधार पर १०. अप्काय के गुणों के आधार पर ११. तेजस्काय के गुणों के आधार पर १२. वायुकाय के गुणों के आधार पर १३. वनस्पतिमूल के गुणों के आधार पर १४. वनस्पतिस्कन्ध के गुणों के आधार पर १५. वनस्पति के शिखर के गुणों के आधार पर १६. वनस्पति के पर्व के गुणों के आधार पर १७. देव के गुणों के आधार पर १८. नारकी के गुणों के आधार पर।

प्रज्ञापक दिशा– जिस दिशा के सन्मुख रहकर उपदेशक अथवा गुरु धर्म का उपदेश या ज्ञान देते हैं वह 'प्रज्ञापक दिशा' कहलाती है।[४५]

अधोलोक का स्वरूप

वेत्रासन आकार-वाले अधोलोक में रत्नप्रभा, शर्कराप्रभा, बालुकाप्रभा, पंकप्रभा, धूमप्रभा, तमःप्रभा और महातमः प्रभा ये सात पृथ्वियाँ एक-एक रज्जू के अन्तराल से स्थित हैं। सातों पृथ्वियों के ये गुणनाम और सार्थकनाम हैं। धर्मा, वंशा, शैला, अंजना, रिष्टा, मघा और माघवती ये इन

पृथ्वियों के गोत्रनाम हैं, जो रौढ़िक हैं।[४६] रत्नों की प्रचुरता वाली पृथ्वी रत्नप्रभा[४७], शर्करा की अधिकता वाली शर्कराप्रभा[४८], बालु की प्रचुरता वाली बालुकाप्रभा[४९], पंक की अधिकता वाली पंकप्रभा[५०], धूम की प्रचुरता वाली धूमप्रभा[५१] और तमस् एवं महातमस् की प्रचुरता वाली तमःप्रभा[५२] एवं महातमप्रभा[५३] पृथ्वियाँ कही जाती हैं।

ये सातों भूमियाँ घनोदधि, घनवात और तनुवात इन तीन प्रकार के वातवलय से श्लिष्ट होती हैं। प्रत्येक पृथ्वी घनोदधि के आधार से स्थित है, घनोदधि घनवात के आधार से स्थित है, घनवात तनुवात के आधार से स्थित है, तनुवात आकाश के आधार से स्थित है और आकाश अपने आधार से स्थित है।[५४] सातों भूमियों के नीचे लोकाकाश के अधोभाग में एवं दोनों पार्श्वभागों में नीचे से एक रज्जू ऊँचाई पर्यन्त तीनों वातवलय बीस-बीस हजार योजन प्रमाण हैं।[५५]

अधोलोक की सातों पृथ्वियों की चौड़ाई क्रमशः १८०००, ३२०००, २८०००, २४०००, २००००, १६००० एवं ८००० योजन प्रमाण है।[५६] (द्रष्टव्य पृष्ठ सं. २६५)

मध्यलोक का स्वरूप-

झालर के समान आकार वाले मध्यलोक का वैदिक साहित्य, पुराण साहित्य, श्रीमद् भागवत्, योगदर्शन, बौद्धदर्शन, जैनदर्शन आदि में विस्तृत निरूपण मिलता है।(द्रष्टव्य पृष्ठ सं.२६६-२६७) ऋग्वेद में ब्रह्माण्ड के आकार, आयु आदि के सम्बन्ध में स्फुट वर्णन है पर जम्बूद्वीप के सम्बन्ध में वहाँ चर्चा नहीं है। यजुर्वेद, अथर्ववेद, सामवेद, आरण्यक आदि में जम्बूद्वीप का व्यवस्थित विवेचन वैदिक पुराण-वायुपुराण, विष्णुपुराण, ब्रह्माण्डपुराण, गरुड़पुराण, मत्स्यपुराण, मार्कण्डेयपुराण और अग्निपुराण प्रभृति पुराणों में विस्तार से प्राप्त होता है। वायुपुराण में सम्पूर्ण पृथ्वी को जम्बूद्वीप, भद्राश्व, केतुमाल और उत्तरकुरु इन चार द्वीपों में विभक्त किया है।[५७] योगदर्शन व्यास भाष्य में लोक की संख्या सात बताई गई है। प्रथम लोक का नाम भूलोक है। यह भूलोक सात द्वीपों में विभक्त है। भूलोक के मध्य सुमेरु पर्वत है। सुमेरु पर्वत के दक्षिण पूर्व में जम्बू नामक वृक्ष हैं, जिसके कारण लवण समुद्र से वेष्टित इस द्वीप का नाम जम्बूद्वीप पड़ा। इस जम्बूद्वीप में रमणक, हिरण्यमय, उत्तरकुरु, हरिवर्ष, किंपुरुष, भारत, केतुमाल, भद्राश्व और इलावृत्त ये नौ क्षेत्र हैं। श्रीमद्भागवत[५८] में पृथ्वी सात द्वीपों में विभक्त मानी गई है। वे द्वीप हैं-१. कुशद्वीप २. क्रोंचद्वीप ३.शाकद्वीप ४. जम्बूद्वीप ५.लक्षद्वीप ६.शाल्मलद्वीप ७.पुष्करद्वीप। विष्णुपुराण[५९] में भी जम्बू, प्लक्ष, शाल्मल, कुश, क्रोंच,शाक और पुष्कर ये सात द्वीप बतलाये हैं। इन सात द्वीपों के मध्य में जम्बूद्वीप है। गरुड़पुराण[६०] और अग्निपुराण[६१] में भी सात द्वीपों का उल्लेख है। पुराणों के अनुसार अन्य छह द्वीपों

चित्र सं॰ - १०

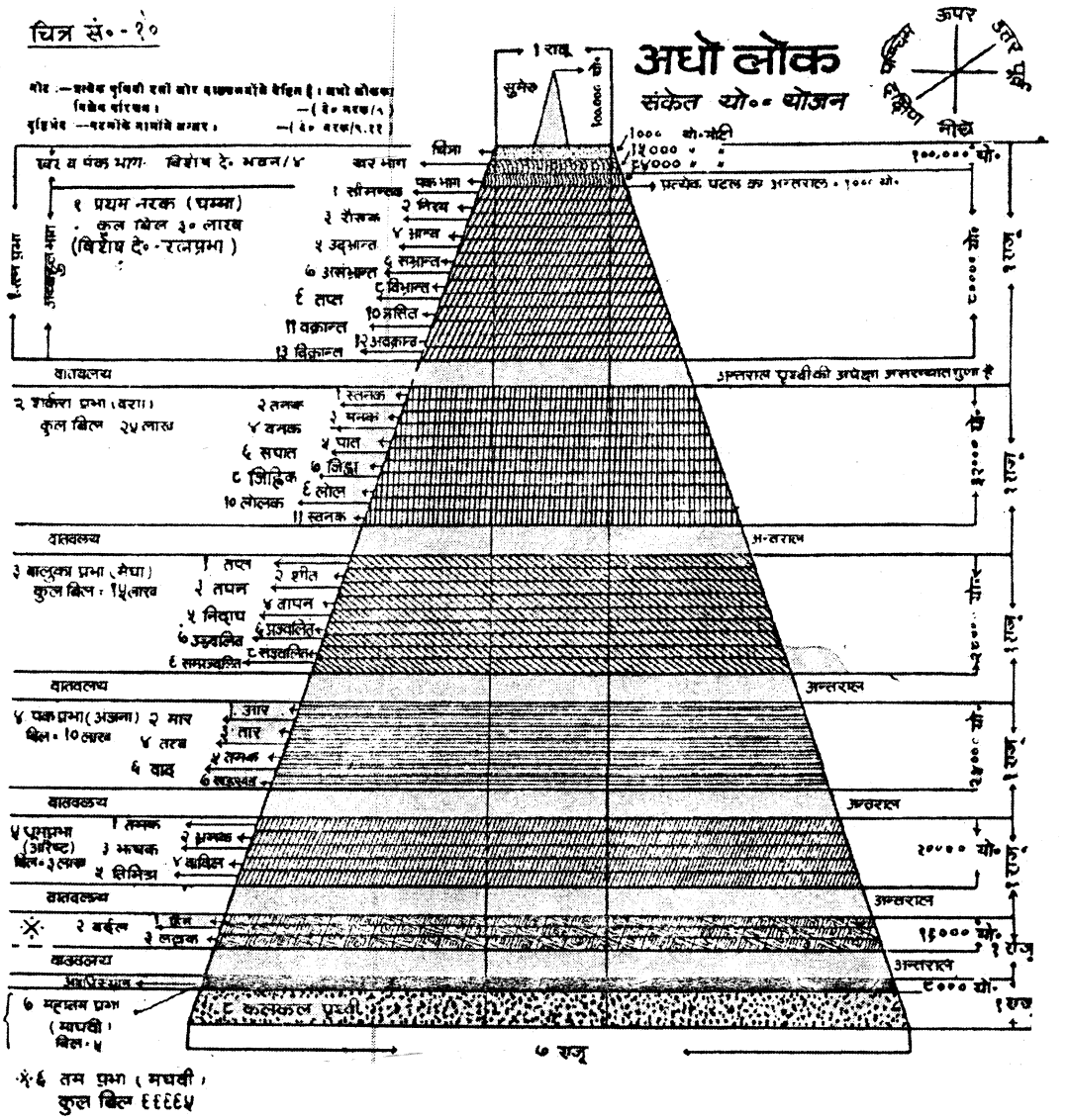
अधो लोक
संकेत यो॰ योजन
ऊपर
उत्तर पूर्व
दक्षिण
पश्चिम
नीचे
१ राजू
सुमेरु
१००,००० यो॰
१ राजू
१ राजू
१ राजू
१ राजू
१ राजू
१ राजू
७ राजू
१ प्रथम नरक (घम्मा)
कुल बिल ३० लाख
(विशेष दे॰ - रत्नप्रभा)
घनोदधि वात
घनवात
तनुवात
आकाश
२ शर्कराप्रभा (वंशा)
कुल बिल २५ लाख
३ बालुकाप्रभा (मेघा)
कुल बिल १५ लाख
४ पंकप्रभा (अञ्जना)
कुल बिल १० लाख
५ धूमप्रभा (अरिष्टा)
कुल बिल ३ लाख
६ तमःप्रभा (मघवी)
कुल बिल ९९९९५
७ महातम प्रभा (माघवी)
कुल बिल ५
कलकल पृथ्वी
वातवलय
अन्तराल
प्रत्येक पटल का अन्तराल १००० यो॰
अन्तराल पृथ्वीकी अपेक्षा असंख्यात गुणा है

रामायण के अनुसार लोक

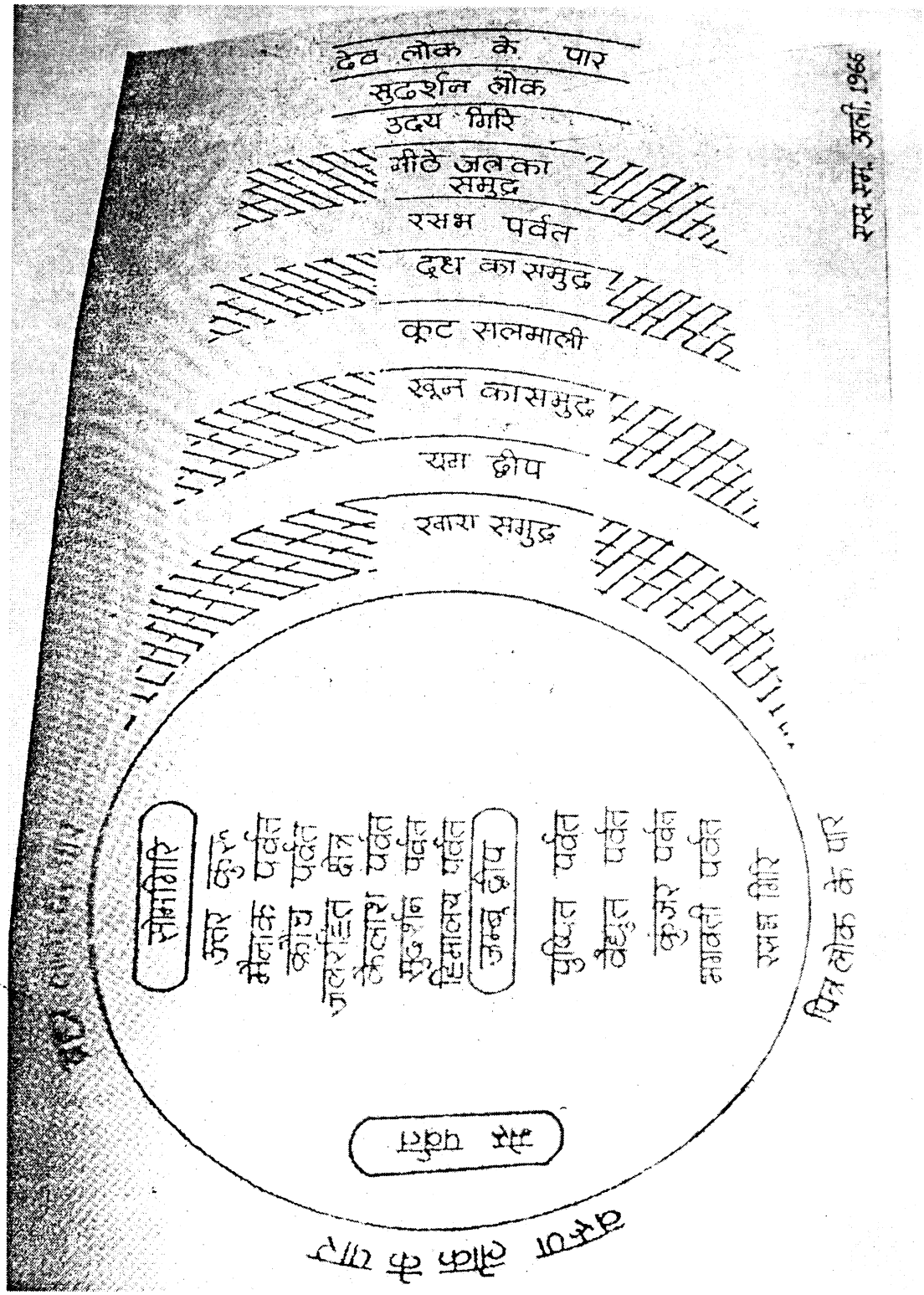

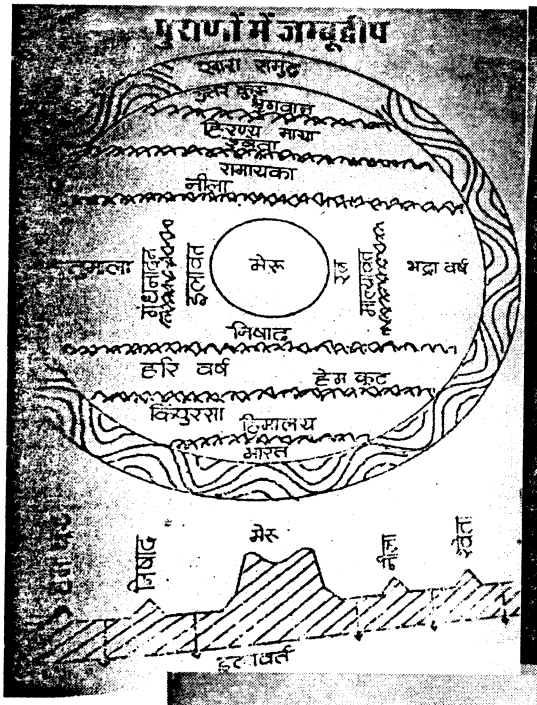
पुराणों में जम्बूद्वीप
खारा समुद्र
शृंगवान
हिरण्य माया
रामायका
नीला
मेरु
भद्रा वर्ष
निषाद
हरि वर्ष
हेम कूट
किंपुरुषा
हिमालय
भारत
मेरु
निषाद
नीला
श्वेत
इलावर्त

महाभारत में लोक का स्वरुप
दूध का समुद्र
आर्या वर्त
श्रृंगवान
हिरण्यक वर्ष
रुवेता पर्वत
श्वेत वर्ष
नीला पर्वत
भद्रा वर्ष
इलावर्त
उत्तर कुरु
मेरु
केतु माला
वर्ष
जम्बू द्वीप
निषाद
हरि वर्ष
कैलाश
हिमावत वर्ष
हिमालय
भारत वर्ष
खारा समुद्र

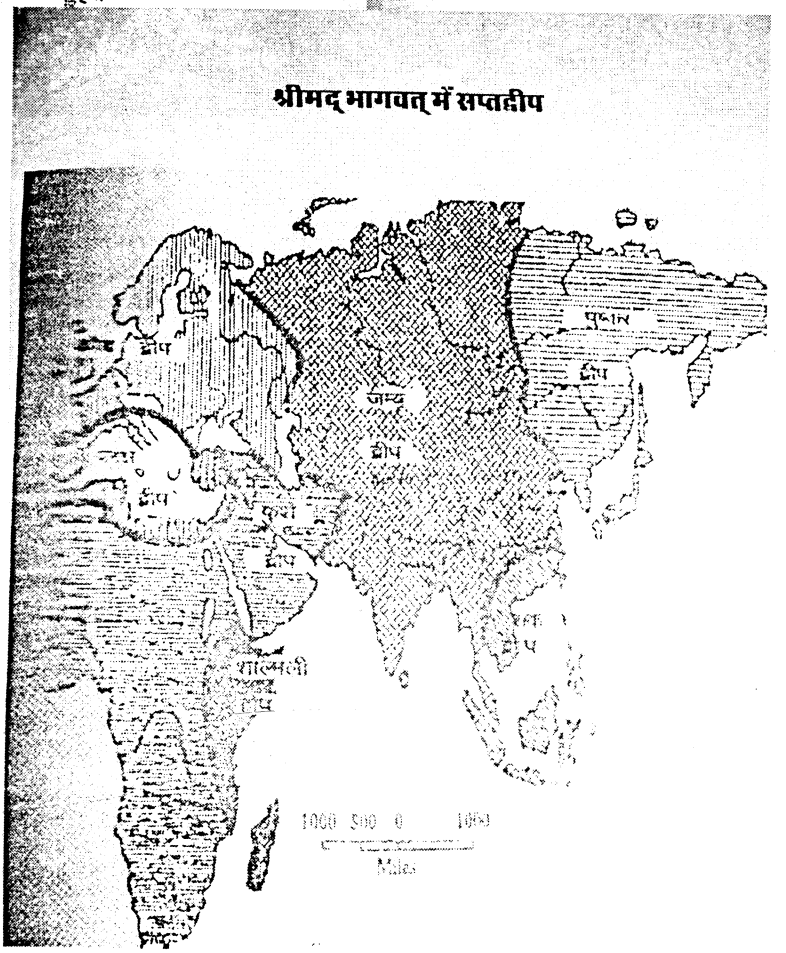
श्रीमद् भागवत् में सप्तद्वीप
प्लक्ष
द्वीप
जम्बू
द्वीप
शाल्मली
1000 500 0 1000
Miles

ने जम्बूद्वीप को वलयाकार में घेरा है।[६२] इन द्वीपों का विस्तार क्रमशः दुगुना-दुगुना होता चला गया है। इन सात द्वीपों को सात सागर- लवणसागर, इक्षुसागर, सुरासगर, घृतसागर, दधिसागर, क्षीरसागर और जलसागर एकान्तर क्रम से घेरे हुए हैं।[६३] बौद्ध-परम्परा में आचार्य वसुबन्धु ने अभिधर्मकोश में इस पर चर्चा करते हुए लिखा है कि जम्बूद्वीप, पूर्वविदेह गोदानीय और उत्तरकुरु ये चार महाद्वीप हैं।[६४]

जैन आगम साहित्य भगवती सूत्र, जीवाजीवाभिगम, जम्बूंद्वीपप्रज्ञप्ति, ज्ञानार्णव, त्रिषष्टि-शलाकापुरुषचरित्त, लोकप्रकाश, आराधना समुच्चय, तिलोयपण्णत्ति आदि में जम्बूद्वीप का विस्तृत निरूपण मिलता है। जैन आगम-साहित्य के अनुसार मध्यलोक पूर्व-पश्चिम एक रज्जू चौड़ा और उत्तर-दक्षिण सात रज्जू विस्तार वाला है। इसमें जम्बूद्वीप आदि असंख्यात द्वीप और लवण समुद्र आदि असंख्यात समुद्र हैं। मध्यलोक के बीचों-बीच जम्बूद्वीप है, यह थाली के आकार का है। इसका विस्तार एक लाख योजन है। जम्बूद्वीप के चारों ओर वलयाकार लवण समुद्र है, जिसका विस्तार दो लाख योजन है। लवण समुद्र घातकीखण्ड द्वीप से घिरा है। इसका विस्तार चार लाख योजन है। घातकी खण्ड द्वीप कालोदधि समुद्र से परिवेष्टित है, इसका व्यासविस्तार आठ लाख योजन है। पुष्करवरद्वीप, पुष्करवरसमुद्र से घिरा है। उसके आगे क्रमशः वारुणीवर, क्षीरवर, घृतवर, इक्षुवर द्वीप, नन्दीश्वरवर, वरुणवर, अरुणवर, कुण्डलवर, शंखवर, रुचकवर, भुजंगवर, कुशवर, क्रोंचवर आदि एक-एक द्वीप, एक-एक समुद्र के क्रम से एक-दूसरे को घेरे हुए असंख्यात द्वीप और समुद्र हैं। सबसे अन्त में स्वयभूरमणद्वीप और स्वयम्भूरमण समुद्र है। पुष्करवरद्वीप से लेकर आगे के सभी द्वीप-समुद्रों के नाम समान हैं। समस्त द्वीप-समुद्रों का विस्तार पूर्ववर्ती द्वीप-समुद्रों के विस्तार से दुगुना-दुगुना है।[६५] (द्रष्टव्य पृष्ठ सं. २६६)

जम्बूद्वीप-

जम्ब्वा नानारत्नमय्या वक्ष्यमाणस्वरूपया।
सदोपलक्षितो द्वीपो जम्बूद्वीप इति स्मृतः।।
नित्यं कुसुमितैस्तत्र तत्र देशे विराजते।
वनैरनेकैर्जम्बूनां जम्बूद्वीपः ततोऽपि च।।[६६]

उपाध्याय विनयविजय कहते हैं कि विविध प्रकार के रत्नों से जड़ित जम्बू अधिक होने से अथवा हमेशा प्रफुल्लित जम्बू के विशाल वन होने के कारण यह द्वीप 'जम्बूद्वीप' कहलाता है। एक पल्योपम आयुष्य वाला 'अनादृत' नामक देव जम्बूद्वीप का अधिष्ठायक देव है।[६७] यह जम्बूद्वीप एक लाख योजन लम्बा-चौड़ा है। इसकी परिधि ३,१६,२२७ योजन, ३ कोस, १२८ धनुष्य, १३.५

जैन दर्शन में सप्तद्वीप

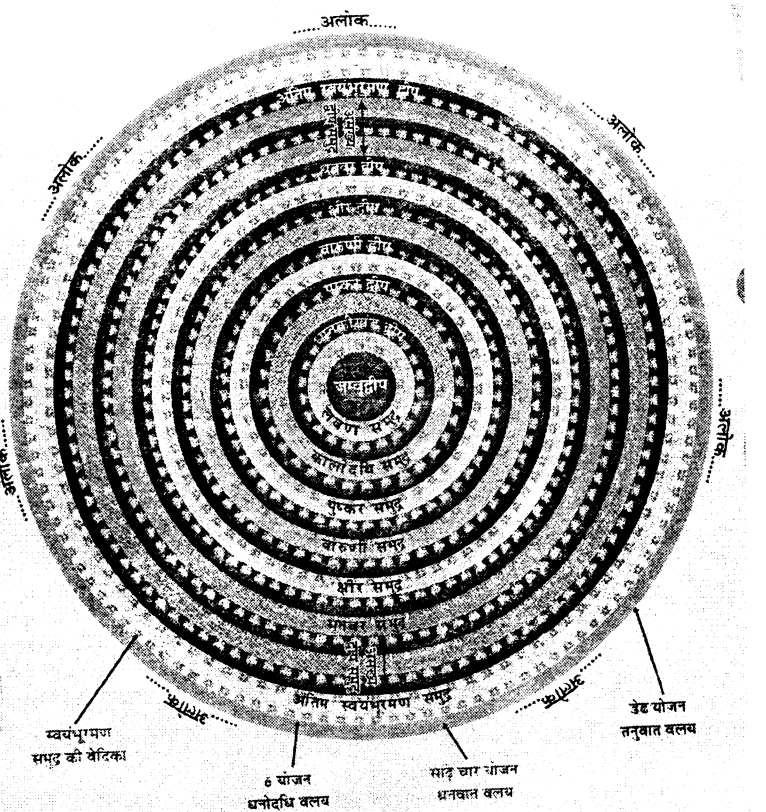

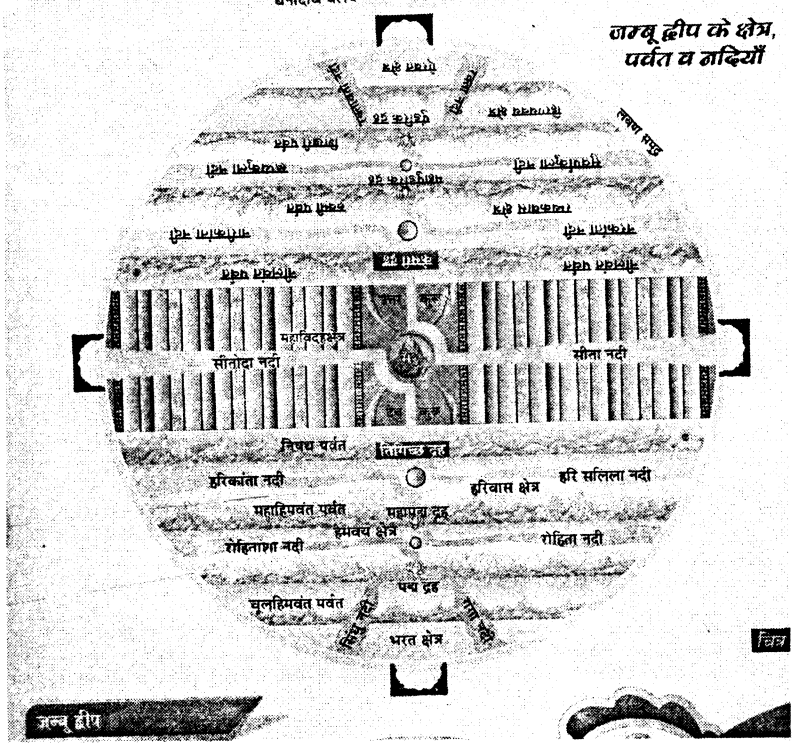

अंगुल, ५ जौ और एक जूँ प्रमाण है।[६५] इसका क्षेत्रफल ७९०५६६४१५० योजन, पौने दो कोस, १५ धनुष और अढ़ाई हाथ है।[६६] इस तरह जम्बूद्वीप के बाहरी विभाग का वर्णन किया गया है।

जम्बूद्वीप के अन्दर सात क्षेत्र हैं और वे एक-दूसरे के बीच आए पर्वतों से अलग होते हैं। भरत, हैमवंत, हरिवर्ष, महाविदेह, रम्यक्, हैरण्यवत और ऐरावत ये कुल सात क्षेत्र हैं।[७०] दो-दो क्षेत्रों के बीच एक-एक पर्वत आया है। वे छह पर्वत इस प्रकार हैं[७१]-

(१) भरत- हैमवंत क्षेत्र के मध्य हिमवान पर्वत

(२) हैमवंत- हरिवर्ष क्षेत्र के मध्य महाहिमवान पर्वत

(३) हरिवर्ष- महाविदेह के मध्य निषध पर्वत

(४) महाविदेह-रम्यक् क्षेत्र के मध्य नीलवान पर्वत

(५) रम्यक्- हैरण्यवत क्षेत्र के मध्य रुक्मी पर्वत

(६) हैरण्यवत- ऐरावत क्षेत्र के मध्य शिखरी पर्वत

इन पर्वतों पर क्रमशः पद्म, महापद्म, तिगिंच्छ, केशरी, महापुण्डरीक और पुण्डरीक नामक छह ह्रद हैं। इनसे गंगा-सिन्धु, रोहित-रोहिताशा, हरित्-हरिकान्ता, सीता-सीतोदा, नारी-नरकान्ता, सुवर्णकूला-रूप्यकूला और रक्ता-रक्तोदा चौदह महानदियाँ निकलती हैं। ये नदियाँ भरत आदि क्षेत्रों में दो-दो करके बहती हैं। इन युगलरूप नदियों में से पूर्व-पूर्व की नदियाँ पूर्वी समुद्र में और बाद की नदियाँ पश्चिम समुद्र में गिरती हैं। नदी-पर्वतों, सरोवरों और वनखण्डों से सुशोभित जम्बूद्वीप के सात क्षेत्रों का स्वरूप इस प्रकार है-

(1) भरतक्षेत्र– जम्बूद्वीप के दक्षिण दिशा के अन्तिम विभाग में भरतक्षेत्र है। भरतक्षेत्र की आकृति प्रत्यंचा चढ़ाकर तैयार किए धनुष के समान होती है।[७२] भरत-क्षेत्र के पूर्व और पश्चिम के किनारे पर तथा सम्पूर्ण पीछे के विभाग में समुद्र है। भरतक्षेत्र में कालचक्र के कारण अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी रूप भिन्न-भिन्न अवस्थाएँ होती हैं।

यो योऽत्रोपपद्यते क्षेत्रेऽधिष्ठाता पल्यजीवितः।
तमाह्वयन्ति भरतं तस्य सामानिकादयः।।[७३]

अर्थात् एक पल्योपम आयुष्य वाले अधिष्ठायक सामानिक आदि देवों के द्वारा भरत नाम से पुकारे जाने से इस क्षेत्र का नाम 'भरतक्षेत्र' पड़ा। भरतक्षेत्र और हैमवंत क्षेत्र के मध्य आने वाले हिमवान पर्वत के दक्षिण दिशा में २३८ योजन और तीन कला[७४] छोड़कर तथा समुद्र से उत्तरदिशा में भी इतना ही भाग छोड़कर मध्य में रूप्यमय 'वैताढ्यपर्वत' आता है। यह वैताढ्य पर्वत भरतक्षेत्र को दो भागों- दक्षिणार्द्ध भरत एवं उत्तरार्द्ध भरत में विभाजित करता है।[७५] यह वैताढ्य पर्वत पचास

योजन विस्तृत है। इसकी ऊँचाई पच्चीस योजन की है। यह छह योजन और एक कोस पृथ्वी के अन्दर है। मेरुपर्वत से भिन्न सभी पर्वत अपनी-अपनी ऊँचाई के चौथे भाग तक पृथ्वी में समाए रहते हैं। वैताढ्य पर्वत से दक्षिण में और लवण समुद्र से उत्तर में ११४ योजन और ११ कला छोड़कर मध्यखण्ड में ९ योजन चौड़ी और १२ योजन लम्बी अयोध्या नामक नगरी है। इसी मध्य खण्ड में साढ़े पच्चीस आर्य देश हैं और शेष सभी अनार्य देश हैं।[७६] इसी मध्य खण्ड के आर्य देश में तीर्थंकर, चक्रवर्ती, वासुदेव और बलदेव उत्पन्न होते हैं। हिमवान पर्वत से निकलती हुई और वैताढ्य पर्वत का भेदन करती पूर्व तथा पश्चिम समुद्र में मिलने वाली गंगा और सिन्धु नदियाँ भरतक्षेत्र को छह भागों में विभाजित करती हैं।[७७] भरतक्षेत्र के उत्तरार्द्ध के अन्त में सुवर्णमय हिमवान नामक पर्वत है।[७८] इस पर्वत पर पद्मह्रद नामक सरोवर है, जो दस योजन गहरा, हजार योजन लम्बा और पाँच सौ योजन चौड़ा है।[७९] पद्मवेदिका और सुन्दरवन से शोभायमान इस सरोवर के चारों दिशाओं में तोरण-युक्त तीन-तीन मनोहर सोपान हैं।[८०]

गंगा नदी– पद्म सरोवर के पूर्व दिशा में से गंगा नदी निकलती है।[८१] पाँच सौ योजन तक पूर्व दिशा में पर्वत पर बहती हुई वर्तनकूट के पास से होती हुई दक्षिण दिशा में पृथ्वी पर जाकर गिरती है। गंगा की धारा पृथ्वी पर एक सौ योजन की ऊँचाई से नीचे दस योजन गहरे तथा साठ योजन के विस्तार वाले गंगा-प्रपात नामक कुंड में गिरती है।[८२] गंगा प्रपात कुंड के दक्षिण दिशा से निकलती हुई गंगा नदी वैताढ्य पर्वत के पास आती है और वहाँ सात हजार नदियों से मिलती है। वैताढ्य पर्वत को भेद कर आगे दक्षिणार्द्ध भरत क्षेत्र की अन्य सात हजार नदियों से भी मिलती है। इस प्रकार गंगा नदी कुल चौदह हजार नदियों के साथ पूर्व दिशा के समुद्र में जाकर मिल जाती है।[८३] गंगा नदी का यह संगम स्थल 'मागध' तीर्थ कहलाता है और उसका स्वामी मागधदेव है।[८४]

सिन्धु नदी– गंगा नदी के साथ ही जन्मी सिन्धु नदी पद्मसरोवर के पश्चिम दिशा के तोरण में से निकल कर पाँच सौ योजन दक्षिण दिशा में स्थित सिन्धु प्रपात कुण्ड में गिरती है।[८५] वहाँ से बहती तमिस्रा गुफा के पूर्वी भाग में वैताढ्य पर्वत को भेद कर पश्चिम में बहती हुई जगती किले को भेद कर समुद्र में जाकर मिल जाती है।[८६] सिन्धु नदी के समुद्र संगम के पास में प्रभास तीर्थ है। गंगा और सिन्धु नदी दोनों तीर्थों के बीच समुद्र के अन्दर 'वरदाम' नामक तीर्थ है।[८७]

(2) हैमवत क्षेत्र– हिमवान और महाहिमवान पर्वतों के बीच पर्यंकासन में श्रेष्ठ और सुन्दर 'हैमवत' नामक क्षेत्र है। यह क्षेत्र पूर्व और पश्चिम दिशा में लवण-समुद्र को स्पर्श करता है।

ददाति हेमयुग्मिभ्यः आसनादितया ततः।

यद्वा देवो हैमवतः स्वामी हैमवतस्ततः।।[८८]

युगलिक मनुष्यों को आसनादि के लिए हेम (सुवर्ण) देने से अथवा हैमवत नामक अधिष्ठायक देव होने से यह क्षेत्र 'हैमवत' कहलाता है। इस क्षेत्र के मध्य में रत्नमय प्याले के समान गोलाकार वृत्त वैताढ्य पर्वत हैमवत क्षेत्र को दो भागों में विभाजित करता है-पूर्व हैमवत और पश्चिम हैमवत क्षेत्र।[८९] रोहिता और रोहिताशा नाम की दो नदियाँ हैमवत क्षेत्र के पूर्व और पश्चिम दोनों विभागों को दक्षिणार्द्ध और उत्तरार्द्ध दो-दो भागों में विभाजित करती हैं। इस प्रकार से इस क्षेत्र के चार विभाग हो जाते हैं।[९०] इस क्षेत्र की उत्तर दिशा में दो सौ योजन ऊँचा रत्नमय हिमवान नामक पर्वत है।[९१] इस हिमवान्/हिमवंत पर्वत से चारों विदिशाओं में गजदंत आकार की चार दाढ़े हैं। इन चारों दाढ़ों पर सात-सात द्वीप हैं। इस प्रकार इस पर्वत पर २८ द्वीप हैं। इसी के समान शिखरी पर्वत पर भी २८ द्वीप हैं। अतः ये कुल मिलाकर ५६ अन्तर्द्वीप होते हैं। इसका विस्तृत विवेचन द्रव्यलोक अध्याय में किया है। इस क्षेत्र में लगभग ५६ हजार नदियाँ हैं।

(3) हरिवर्ष क्षेत्र– महाहिमवान पर्वत के उत्तर दिशा में पर्यंक (पलंग) समान आकार का हरिवर्ष क्षेत्र है। इस क्षेत्र के दोनों किनारे समुद्र तक पहुँचते हैं।[९२] इस क्षेत्र की उत्तर दिशा के अन्तिम भाग में निषध नामक लालसुवर्णमय पर्वत है। यह पर्वत चार सौ योजन ऊँचा और एक सौ योजन नीचे पृथ्वी में समाया हुआ है।[९३]

(4) रम्यक् क्षेत्र– नीलवान पर्वत के उत्तर दिशा और रुक्मी पर्वत के दक्षिण दिशा के मध्य में रम्यक् क्षेत्र है। रम्यक नामक का अधिष्ठायक देव होने से यह क्षेत्र रम्यक् क्षेत्र कहलाता है।[९४] सुवर्णमय और माणकमय प्रदेश और विविध जाति के कल्पवृक्षों के कारण से यह क्षेत्र अत्यन्त रमणीय लगता है। इस कारण भी इसका नाम 'रम्यक्' पड़ा।[९५] रम्यक् क्षेत्र के उत्तर दिशा में और हैरण्यवंत क्षेत्र के दक्षिण दिशा में रुक्मी नामक वर्षधर पर्वत है। यह पर्वत चाँदी के समान श्वेत एवं रुप्य है अतः इसका नाम रुक्मी है।[९६]

(5) हैरण्यवत क्षेत्र– रुक्मी पर्वत के उत्तर दिशा और शिखरी पर्वत की दक्षिण दिशा के मध्य हैरण्यवत नाम का क्षेत्र है, जो इन दोनों पर्वतों के बीच छिप कर बैठे हुए के समान दिखाई देता है।[९७] उपाध्याय विनयविजय हैरण्यवत नाम के पाँच कारणों का उल्लेख करते हैं-

रुप्यहिरण्यशब्देन सुवर्णमपि वोच्यते।
ततो हिरण्यवन्तौ द्वौ तन्मयत्वात् धराधरौ।
रुक्मी च शिखरी चापि तद्धिरण्यवतोरिदम्।
हैरण्यवंतमित्याहुः क्षेत्रमेतत् महाधियः।।[९८]

हिरण्य का अर्थ विनयविजय सुवर्ण और रजत दोनों स्वीकार करते हैं। रुक्मी और शिखरी पर्वत अनुक्रम से रजतमय और सुवर्णमय हैं। इन दोनों पर्वतों के मध्य में होने से इसका नाम हैरण्यवत रखा गया है।

प्रयच्छति हिरण्यं वा युग्मिनामासनादिषु।
यत् सन्ति तत्र बहवः शिलापट्टा हिरण्यजाः।।[९९]

अथवा इस क्षेत्र के युगलिकों को हिरण्य शिलापट्ट देने से इसका नाम हैरण्यवंत है।

प्रभूतं तन्नित्ययोगि वास्यास्तीति हिरण्यवत्।
तदेव हैरण्यवतमित्याहुः मुनिसत्तमाः।।[१००]

अथवा यहाँ अधिक मात्रा में सुवर्णमय वस्तुओं के होने से इसका नाम हैरण्यवत है।

हैरण्यवत नामा वा देवः पल्योपमस्थितिः।
ऐश्वर्यं कलयत्यत्र तद्योगात् प्रथितं तथा।।[१०१]

अथवा इस क्षेत्र का अधिष्ठायक देव हैरण्यवत होने से इसका यह नाम है।

(6) ऐरवत क्षेत्र– शिखरी पर्वत के उत्तर दिशा में और उत्तर लवणसमुद्र से दक्षिण दिशा में ऐरवत नाम का मनोहर क्षेत्र है। एक पल्योपम आयुष्य वाले ऐरवत देव से अधिष्ठित होने से इस क्षेत्र का नाम ऐरवत है। भरत क्षेत्र के समान ही प्रतिबिम्बित होने वाले इस क्षेत्र के भी सन्मुख समुद्र है और काल के छह आरों का चक्र चलता है। इसके भी मध्य विभाग में वैताढ्य पर्वत है जो इसके दो विभाग दक्षिण ऐरवत और उत्तर ऐरवत करते हैं।[१०२] भरतक्षेत्र के तुल्य ही यहाँ भी दस आश्चर्य होते हैं। वे दस आश्चर्य इस प्रकार है-

दस अच्छेरगा पण्णत्ता, तं जहा–
उवसग्ग गब्भहरणं, इत्थीतित्थं अभाविया परिसा।
कण्हस्स अवरकंका, उत्तरणं चंदसूराणं।।
हरिवंसकुलुप्पत्ती, चमरुप्पातो य अट्टठसयसिद्धा।
अस्संजतेसु पूआ दसवि अणंतेण कालेण।।[१०३]

दस आश्चर्य कहे गए हैं, जैसे-

१. उपसर्ग- तीर्थंकरों के ऊपर उपसर्ग होना।
२. गर्भहरण- भगवान् महावीर का गर्भापहरण होना।
३. स्त्री का तीर्थंकर होना।
४. अभावित परिषत्- तीर्थंकर भगवान् महावीर का प्रथम धर्मोपदेश विफल हुआ अर्थात् उसे सुनकर किसी ने चारित्र अंगीकार नहीं किया।

५. कृष्ण का अमरकंका नगरी मे जाना।

६. चन्द्र और सूर्य देवों का विमान सहित पृथ्वी पर उतरना।

७. हरिवंश कुल की उत्पत्ति

८. चमर का उत्पात- चमरेन्द्र का सौधर्मकल्प में जाना।

९. एक सौ आठ सिद्ध- एक समय में एक साथ एक सौ आठ जीवों का सिद्ध होना।

१०. असंयमी की पूजा।

जो घटनाएँ सामान्य रूप से सदा नहीं होती, किन्तु किसी विशेष कारण से चिरकाल के पश्चात् होती हैं, उन्हें आश्चर्य-कारक होने से 'आश्चर्यक' या 'अच्छेरा' कहा जाता है। जैन शासन में भगवान् ऋषभदेव से लेकर भगवान् महावीर के समय तक ऐसी दश अद्भुत या आश्चर्यजनक घटनाएँ घटी हैं। इनमें से पहली, दूसरी, चौथी, छठी और आठवीं घटना भगवान् महावीर के शासनकाल से सम्बन्धित हैं और शेष अन्य तीर्थंकरों के शासनकालों से सम्बन्ध रखती हैं।

इस प्रकार जम्बूद्वीप में सात क्षेत्र हैं। मध्य विभाग में एक महाविदेह है और उत्तर-दक्षिण में तीन-तीन क्षेत्र हैं। इन सात क्षेत्रों में भरत और ऐरवत दोनों एक सदृश हैं, हैरण्यवंत और हैमवंत दोनों समान हैं तथा रम्यक् एवं हरिवर्ष क्षेत्र परस्पर समान हैं। इसी प्रकार महाविदेह क्षेत्र का पूर्वमहाविदेह और पश्चिम महाविदेह एवं देवकुरु और उत्तरकुरु परस्पर समान हैं। इन कुल नौ भूमियों में भरत, ऐरवत और महाविदेह ये तीन कर्मभूमियाँ हैं एवं शेष छहों भूमियाँ अकर्मभूमियाँ हैं।[१०४]

जम्बूद्वीप में कुल छः वर्षधर पर्वत हैं। महाविदेह क्षेत्र से उत्तरदिशा में तीन और दक्षिण में भी तीन वर्षधर पर्वत होते हैं। हिमवान और शिखरी पर्वत दोनों समान हैं, वैसे ही रुक्मी और महाहिमवान पर्वत समान हैं एवं इसी तरह नीलवान और निषध पर्वत एक सदृश हैं। मेरुपर्वत अद्वितीय है।[१०५]

(7) महाविदेह क्षेत्र

नीलवान पर्वत और निषध पर्वत इन दोनों के मध्य समचौरस क्षेत्र महाविदेह क्षेत्र है। सभी क्षेत्रों में महान् होने से यह क्षेत्र महाविदेह कहलाता है।[१०६] महाविदेह क्षेत्र के चार विभाग हैं- पूर्व विदेह, पश्चिमविदेह, देवकुरु और उत्तरकुरु।[१०७] मेरुपर्वत की उत्तर दिशा में गंधमादन और माल्यवान पर्वतों के मध्य में उत्तरकुरु स्थान है एवं मेरुपर्वत की दक्षिण दिशा में विद्युत्प्रभ और सौमनस नामक दो गजदंत पर्वतों के मध्य देवकुरु स्थान है।[१०८] इसी तरह मेरुपर्वत की पूर्व दिशा में पूर्वविदेह और पश्चिम दिशा में पश्चिमविदेह है। इस महाविदेह क्षेत्र की उत्तरदिशा में वैडूर्य मणिमय नीलवान नामक

पर्वत है।[१०६]

सात महाक्षेत्र

क्र.	सात महाक्षेत्र का नाम	लम्बाई	स्थान	मध्यगिरि	महानदी
१	भरतक्षेत्र	पूर्व समुद्र पश्चिम समुद्र १४४७१ योजन, ६ कला	जम्बूद्वीप के दक्षिण में	दीर्घ वैताढ्य	पूर्व में गंगा नदी पश्चिम में सिंन्धु नदी
२	हिमवंत क्षेत्र	३७६७४ योजन, लगभग १६ कला	लघु हिमवंत पर्वत के उत्तर में	शब्दापाती वृत्त वैताढ्य	पूर्व में रोहिता नदी पश्चिम में रोहिताशा नदी
३	हरिवर्ष क्षेत्र	७३८०१ योजन, १७.५ कला	महाहिमवंत पर्वत के उत्तर में	गंधापाती वृत्त वैताढ्य	पूर्व में हरिसलिला नदी पश्चिम में हरिकान्ता नदी
४	महाविदेह क्षेत्र	१००००० योजन	निषध-नीलवंत पर्वत के मध्य में	मेरु पर्वत	पूर्व में सीता नदी पश्चिम में सीतोदा नदी
५	रम्यक् क्षेत्र	७३८०१ योजन	नीलवंत पर्वत के उत्तर और रुक्मी पर्वत के दक्षिण में	माल्यवंत वृत्त वैताढ्य	पूर्व में नरकान्ता नदी पश्चिम में नारीकान्ता नदी
६	हिरण्यवंत क्षेत्र	३७६७४ योजन लगभग १६ कला	रुक्मी पर्वत के उत्तर और शिखर पर्वत के दक्षिण में	विकटापाती वृत्त वैताढ्य	पूर्व में सुवर्णकूला नदी पश्चिम में रूपकूला नदी
७	ऐरवत क्षेत्र	१४४७१ योजन	शिखरी पर्वत के उत्तर और लवण समुद्र के दक्षिण में	दीर्घ वैताढ्य	पूर्व में रक्ता नदी पश्चिम में रक्तवती नदी

मेरूपर्वत

मेरुपर्वत का अपर नाम कनकाचल अथवा सुमेरु पर्वत भी है। देवकुरु की उत्तर दिशा में, उत्तरकुरु की दक्षिण दिशा में, पूर्वविदेह की पश्चिम दिशा में और पश्चिम विदेह की पूर्व दिशा में

मेरुपर्वत स्थित है।[११०] उपाध्याय विनयविजय ने विभिन्न उपमाओं से मेरुपर्वत को उपमित कर उसके स्वरूप का निरूपण किया है। यह मेरुपर्वत पूर्वविदेह और पश्चिम विदेह के मध्य रत्नप्रभामय चक्र को नाभि में धारण किए हुए के समान है[१११], जगत् के पर्यायरूपी बर्तनों को बनाने में निमित्तभूत काल रूपी चक्र घुमाने के लिए दण्डे के समान है[११२], जम्बूद्वीप को मापने की इच्छा से मानदण्ड के रूप में खड़े हुए के समान है[११३], पृथ्वी रूपी स्नेहमयी माता के द्वारा कौतुक से अपनी गौद में खड़े किए हुए शिशु के समान है[११४], चारों ओर घूमते हुए चन्द्र, सूर्य, ग्रह, नक्षत्र और तारे रूपी बैलों के बंधन स्वरूप ऊँचे स्तम्भ के समान है[११५], गजदंत रूपी दांत वाले नीलवान और निषध के मध्य सीमा स्तम्भ के समान है[११६], दिशाओं रूपी सुन्दर पत्तों वाले तिरछे लोक रूपी कमल के पीत बीजकोश के समान है[११७], लवण समुद्र में स्थित जम्बूद्वीप रूपी नौका में श्वेत पट के समान कूपस्तम्भ है[११८], भद्रशालवन रूपी शय्या पर खड़े होकर सेवक सदृश अन्य पर्वतों पर अपलक दृष्टि रखते हुए स्वामी के समान है[११९] तथा मनुष्य क्षेत्र रूपी कड़ाही में विविध पदार्थों की खीर बनाने के लिए रसोइये के द्वारा खड़े किए कड़छी के समान है।[१२०] इस प्रकार रचनाकार विनयविजय ने मेरुपर्वत वर्णन में अपनी काव्यकला को प्रकट किया है।

यह मेरुपर्वत पद्मवेदिका से घिरा हुआ अनेक रत्नों की कान्ति से प्रकाशमान, पृथ्वी पर ९९ हजार योजन ऊँचा और एक हजार योजन अन्दर स्थित है। मन्दर, मेरु, सुदर्शन, स्वयंप्रभ, मनोरम, गिरिराज, रत्नोच्चय, शिलोच्चय, लोकमध्य, लोकनाभि, सूर्यावर्त, अस्तद्गिादि, सूर्यावरण, अवतंसक और नगोत्तम ये सोलह नाम भी मेरुपर्वत के प्रसिद्ध हैं।[१२१] इन सोलह नामों में 'मन्दर' नाम मुख्य रूप से लोकप्रसिद्ध अधिक है।

धातकी खण्ड–

धातकी नामक वृक्ष से सदा सुशोभित होने वाला द्वीप घातकी खंड के नाम से प्रसिद्ध है।[१२२] इस द्वीप की चक्रवाल- गोलाकार चौड़ाई चार लाख योजन है। इस द्वीप के मध्य भाग में दक्षिण दिशा और उत्तर दिशा में पाँच सौ योजन ऊँचे दो इषुकार पर्वत हैं। ये एक हजार योजन चौड़े और चार लाख योजन लम्बे हैं। अत्यधिक लम्बाई होने से कालोदधि और लवण समुद्र को परस्पर एकत्रित करने के लिए मानो दोनों पर्वतों ने अपने हाथ प्रसारित किए हों ऐसा लगता है।[१२३] इन दो इषुकार पर्वतों से यह द्वीप पूर्वार्ध और पश्चिमार्ध दो भागों में विभक्त हो जाता है। जम्बूद्वीप के मेरुपर्वत से पूर्व में घातकी खण्ड का अर्ध भाग पूर्वार्ध और पश्चिम दिशा का अर्धभाग पश्चिमार्ध कहलाता है।[१२४] दोनों अर्ध विभागों के मध्य में एक-एक मेरुपर्वत है।

अर्द्धपुष्करद्वीप

कालोदधि समुद्र से लिप्त साढ़े पच्चीस आर्य देशों में से आधे विभाग वाला द्वीप अर्द्ध-पुष्करद्वीप कहलाता है। यह द्वीप पुष्कर कमलों से शोभायमान होता है, इसलिए यह पुष्करद्वीप कहलाता है।[१२५] इस द्वीप का चक्रवाल विस्तार १६ लाख योजन है।[१२६] इस द्वीप के मध्य विभाग में मनुष्य क्षेत्र की सीमा का सीमन्तक मानुषोत्तर नामक पर्वत है।[१२७] यह पर्वत सुन्दर वेदिका और वन से शोभित १७२१ योजन ऊँचा है। यह पर्वत ४३० योजन और एक कोस भूमि में प्रविष्ट है एवं १०२२ योजन पृथ्वी पर विस्तृत है। मध्यभाग में इसका विस्तार ७२३ योजन एवं शिखर पर ४२४ योजन है।[१२८] सुवर्णमय यह पर्वत विविध प्रकार के मणि एवं रत्नों से बनी लता मंडप, बावड़ियों और मंडप समूह से शोभायमान है।[१२९] घातकी खंड के समान इस अर्द्धपुष्कर द्वीप के भी दो इषुकार पर्वत हैं जो इस उत्तर एवं दक्षिण दो भागों में विभाजित करते हैं। इस प्रकार यह द्वीप पूर्वार्द्ध और पश्चिमार्द्ध दो प्रकार का है। इन दोनों में एक-एक मेरुपर्वत है। इस द्वीप में मानुषोत्तरपर्वत के पीछे दोनों भागों पूर्वार्द्ध और पश्चिमार्द्ध में ३९९००० योजन का एक-एक अद्भुत कुंड है।

मनुष्य क्षेत्र-

जम्बूद्वीप, लवणसमुद्र, धातकीखण्ड, कालोदधिसमुद्र और पुष्करद्वीप का आधा भाग इन सभी का कुल क्षेत्र मनुष्य क्षेत्र कहलाता है। मनुष्य क्षेत्र पैंतालीस लाख योजन प्रमाण है। आठ लाख योजन का पुष्करार्ध द्वीप, आठ लाख योजन का कालोदधि समुद्र, चार लाख योजन का धातकी खण्ड और दो लाख योजन का लवण समुद्र इस तरह बाईस (८+८+४+२) लाख योजन विस्तार एक तरफ से और इसी प्रकार दूसरी तरफ से भी २२ लाख योजन विस्तार होने से यह कुल ४४ लाख योजन होता है। इनके बीच में एक लाख योजन विस्तार वाला जम्बूद्वीप है। इस तरह कुल मिलाकर मनुष्य क्षेत्र ४५ लाख योजन प्रमाण है।[१३०]

इस ४५ लाख योजन वाले मनुष्य क्षेत्र के बाहर मनुष्यों का न गर्भाधान होता है, न जन्म होता है और न ही मृत्यु। सम्मूर्च्छिम मनुष्य की भी इस क्षेत्र के बाहर उत्पत्ति नहीं होती है। यही नहीं मनुष्य क्षेत्र के बाहर दिन-रात आदि समय की व्यवस्था नहीं हैं। बादर अग्निकाय, नदियाँ, बिजली, गर्जना, बादल, अरिहंत, चक्रवर्ती, बलदेव, वासुदेव आदि भी नहीं हैं। उत्तरायण एवं दक्षिणायन, चन्द्र का क्षय अथवा वृद्धि, चन्द्र-सूर्य आदि ग्रहण, चन्द्र-सूर्य आदि की गति, उदय-अस्त आदि क्रियाएँ भी नहीं होती हैं।[१३१]

ज्योतिष चक्र

मेरु पर्वत के मध्य आठ प्रदेश स्वरूप रुचक से ऊपर ७९० योजन के बाद ज्योतिष चक्र

प्रारम्भ होता है और ११० योजन में जाकर सम्पूर्ण होता है। यह ज्योतिष चक्र गोलाकार रूप में परिभ्रमण करता है। अलोक से १११ योजन पहले ज्योतिष चक्र स्थिर है। ज्योतिष चक्र में सबसे नीचे तारा मंडल है जो समतल भूमि से ७९० योजन ऊँचा होता है। इससे दस योजन ऊपर सूर्य मण्डल है, यह समतल से ८०० योजन ऊँचा है। सूर्यमंडल से ८० योजन ऊँचाई पर चन्द्र मंडल आता है जो समतल भूमि से ८८० योजन ऊँचा है।[१३२]

ऊर्ध्वलोक

रुचक प्रदेश[१३३] से ९०० योजन ऊपर जाने के बाद ऊर्ध्वलोक का प्रारम्भ होता है और यहीं पर तिर्यग् लोक का अन्त होता है। ऊर्ध्वलोक कुछ कम सात राजुलोक प्रमाण है और उसकी अवधि सिद्धक्षेत्र तक है।[१३४]

रुचक प्रदेश से ऊपर ऊर्ध्वलोक के प्रथम राजुलोक के प्रथम विभाग में स्फुरायमाण कान्ति वाले सौधर्म और ईशान नामक दो देवलोक हैं। सम श्रेणि में स्थित दोनों देवलोक पूर्णचन्द्र की आकृति में दिखाई देते हैं।[१३५] मेरु पर्वत के दक्षिण दिशा में सौधर्म देवलोक है और उत्तर दिशा में **ईशान देवलोक** है। सौधर्म और ईशान देवलोक के असंख्य कोटाकोटि योजन ऊपर **सनत्कुमार** और **माहेन्द्र** देवलोक गोलाकार में स्थित हैं।[१३६] सौधर्म देवलोक के बराबर ऊपर समान दिशा में सनत्कुमार देवलोक और ईशान के ऊपर माहेन्द्र देवलोक होता है। तीसरे और चौथे देवलोक से असंख्य कोटाकोटि योजन ऊपर ठीक मध्य स्थान में पूर्ण चन्द्र की आकृति वाला पाँचवां **ब्रह्मलोक** नामक देवलोक है।[१३७] सौधर्म से माहेन्द्र देवलोक तक के चारों देवलोक का संस्थान अर्ध चन्द्राकार है, परन्तु समश्रेणि में स्थित होने पर वे पूर्ण चन्द्रमा के आकार को ग्रहण करते हैं।[१३८] ब्रह्मदेवलोक से असंख्य कोटाकोटि योजन ऊपर पाँच प्रतरों से युक्त **लांतक** नामक छठा देवलोक है।[१३९] लान्तक देवलोक से असंख्य कोटाकोटि योजन ऊपर **महाशुक्र** नामक सातवां देवलोक है। यह भी सम्पूर्ण चन्द्राकार वाला है।[१४०] महाशुक्र देवलोक से बराबर ऊपर असंख्य कोटाकोटि योजन दूर **सहस्रार** नामक आठवां देवलोक है।[१४१] सहस्रार देवलोक से असंख्य योजन ऊपर दक्षिण और उत्तर दिशा में क्रमशः **आनत** और **प्राणत** नामक नवां और दसवां देवलोक है।[१४२] इसी तरह आनत और प्राणत से समान श्रेणि में असंख्य योजन ऊपर **आरण** और **अच्युत** नामक ग्यारहवां और बारहवां देवलोक है। मणिमय विमान से ये दोनों देवलोक शोभायमान हैं।[१४३] आरण और अच्युत देवलोक से बहुत ऊपर ग्रैवेयक नाम के नौ प्रतर हैं। अधस्तनत्रिक, मध्यमत्रिक और उपरिस्तनत्रिक इस तरह तीन प्रकार के त्रिकों में नौ ग्रैवेयक पूर्ण चन्द्राकार समान देदीप्यमान हैं।[१४४] नौ ग्रैवेयक से असंख्य

योजन ऊपर अनुत्तर नाम के पाँच प्रतर हैं। इन पाँच प्रतरों के बाद कोई प्रतर ऊपर न होने से इनका नाम अनुत्तर है।[१४५] अनुत्तर देवलोक, पुरुषाकृति वाले लोक के कंठ विभाग में और नौ ग्रैवेयक कंठ के मणि में शोभित होते हैं।[१४६] अनुत्तर देवलोक मुख समान है जिसकी चारों दिशाओं पूर्व दिशा में **विजय** नाम का, दक्षिण दिशा में **वैजयन्त** नाम का, पश्चिम दिशा में **जयन्त** नाम का, उत्तर दिशा में **अपराजित** नाम का और मध्य में सर्व अर्थ को सिद्ध करने वाला **सर्वार्थसिद्ध** नामक एक-एक विमान है।[१४७] ग्रैवेयक और अनुत्तर विमान के सब देव अहमिन्द्र होते हैं और सभी एक प्रकार के ही और कल्पातीत होते हैं। यहाँ स्वामि-सेवक भाव का व्यवहार नहीं होता है इसलिए ये देव कल्पातीत कहलाते हैं।[१४८]

बारह वैमानिक देवों में तीन **किल्विषिक** देव होते हैं। एक देव १३ सागरोपम आयुष्य वाला, दूसरा तीन सागरोपम आयुष्य वाला और तीसरा तीन पल्योपम आयुष्य वाला होता है। पहला देव लांतक देवलोक के नीचे निवास करता है, दूसरा देव सनत्कुमार देवलोक के नीचे और तीसरा देव सौधर्म-ईशान देवलोक के नीचे निवास करता है।[१४९] ये किल्विषिक देव निंद्यकर्म के अधिकारी होने से चंडाल समान हैं अन्य देव इनको धिक्कारते हैं।[१५०]

सर्वार्थसिद्ध विमान के शिखर से १२ योजन ऊपर अर्जुन सुवर्णमय निर्मल **सिद्धशिला** स्थित है। यह सिद्धशिला ४५ लाख योजन लम्बी-चौड़ी है और इसकी परिधि १४२३०२४९ योजन प्रमाण है।[१५१] सिद्धशिला के बारह अन्य नाम भी कहे गये हैं'-

ईषत्तथेषत्प्राग्भारा तन्वीच तनुतन्विका।
सिद्धिः सिद्धालयो मुक्तिर्मुक्तालयोऽपि कथ्यते।।
लोकाग्रं तत्स्तूपिका च लोकाग्रप्रतिवाहिनी।
तथा सर्वप्राणभूतजीवसत्त्वसुखावहा।।[१५२]

अर्थात् १. ईषत् २. ईषत् प्राग्भारा ३. तन्वी ४. तनुतन्विका ५. सिद्धि ६. सिद्धालय ७. मुक्ति ८. मुक्तालय ९. लोकाग्र १०. लोक स्तूपिका ११. लोकाग्र प्रतिवाहिनी और १२. सर्वप्राण भूत जीव सत्त्वसुखावहा। इस प्रकार सिद्धशिला के बारह नाम हैं।

सिद्धशिला की आकृति उल्टे छत्र के समान है, घृतपूर्ण कटोरे के समान है। सिद्धशिला में एक योजन ऊपर जाने पर लोकान्त आता है।[१५३]

सौधर्म एवं ईशान देवलोक में निवास भूमि के आकार वाले तेरह प्रतर होते हैं।[१५४] सनत्कुमार और माहेन्द्र देवलोक भी पहले-दूसरे के समान समश्रेणि में स्थित हैं, अतः उसमें भी बारह प्रतर होते हैं। पाँचवें देवलोक में छह, छठे में पाँच, सातवें में चार और आठवें में चार प्रतर

होते हैं। समश्रेणि में स्थित नवें एवं दसवें तथा ग्यारहवें एवं बारहवें देवलोक में चार-चार प्रतर होते हैं। नौ ग्रैवेयक में नौ प्रतर और पाँच अनुत्तर विमान मे एक प्रतर होता है। इस तरह ऊर्ध्वलोक में कुल ६२ प्रतर होते हैं।[१५५]

समीक्षण

दृश्यमान जगत् अथवा विश्व को लोक कहा जाता है। यह लोक वैदिक साहित्य के अनुसार तीन प्रकार का है और योगदर्शन के अनुसार सात प्रकार का है। जैन आगम-साहित्य के अनुसार धर्म, अधर्म, आकाश, काल, पुद्गल एवं जीव इन षड् द्रव्यों से व्याप्त क्षेत्र को लोक कहते हैं तथा उससे बाहर के आकाश को अलोक कहा जाता है। यह लोक तीन प्रकार का है- अधोलोक, मध्यलोक और ऊर्ध्वलोक। क्षेत्र लोक से सम्बन्धित इस अध्याय में निष्कर्ष रूप से कुछ बिन्दु द्रष्टव्य हैं-

१. लोक का आकार दोनों पैर फैलाकर कमर पर हाथ रखे हुए खड़े पुरुष के समान है। कटि प्रदेश के नीचे का भाग अधोलोक, ऊपर का भाग ऊर्ध्वलोक है और दोनों का मध्यभाग मध्यलोक है। कुम्भवत् आकृति वाला अधोलोक, खड़े किए मृदंग के समान ऊर्ध्वलोक और झालराकृति वाला मध्यलोक है। लोक के इन त्रिविध भागों के नाम स्थानपरत्व अथवा शुभ-अशुभ परिणामों की तीव्रता-मन्दता के कारण अभिहित किए जाते हैं।

२. सम्पूर्ण लोक की ऊँचाई चौदह रज्जु है। उत्तर-दक्षिण भाग में लोक का आयाम सर्वत्र सात रज्जु है। पूर्व-पश्चिम में लोक का विस्तार अधोलोक के तल में सात रज्जु एवं अधोलोक के ऊपरी भाग में एक रज्जु है। पुनः ऊर्ध्वलोक में बढ़ते हुए क्रम से साढ़े दस रज्जु की ऊँचाई पर लोक का विस्तार पाँच रज्जु है और उसके बाद पुनः घटते हुए लोकान्त में विस्तार एक रज्जु शेष रहता है।

३. 'रज्जु' क्षेत्र मापने की सबसे बड़ी इकाई है। एक रज्जु में असंख्यात योजन होते हैं।

४. लोक में १४ रज्जुओं का विभागीकरण किया गया है। मध्यलोक के अधोभाग से अधोलोक में प्रथम रज्जु प्रारम्भ होकर महातमः प्रभा नरकभूमि तक छह रज्जु पूर्ण होते हैं और सातवां रज्जु लोक के तल भाग में समाप्त होता है। अधोलोक का अन्तिम एक रज्जु क्षेत्र जिसे कलकल पृथ्वी कहते हैं, वह एकमात्र निगोदी जीवों का स्थान है। ऊर्ध्वलोक में भी सात रज्जु का विभाग है। मध्यलोक की ऊँचाई भी इसी में सम्मिलित मानी जाती है।

५. लोक के मध्य एक रज्जु चौड़ी, एक रज्जु लम्बी और तेरह रज्जु ऊँचाई वाली त्रसनाली है। यह त्रस जीवों की सीमा है अर्थात् इससे बाहर त्रसजीव नहीं होते हैं।

६. सम्पूर्ण लोक कुल १५२०६ खंडुक प्रमाण में विभाजित है।

७. मध्यलोक का मध्यभाग रुचकप्रदेश, चौथी एवं पाँचवीं नरकभूमि के बीच का अन्तराल अधोलोक का मध्यभाग तथा ब्रह्मलोक के नीचे रिष्ट प्रतर में ऊर्ध्वलोक का मध्यभाग है।

८. मध्यलोक का मध्यभाग रुचक प्रदेश दिशा और विदिशाओं का उत्पत्ति स्थान है। इस केन्द्र बिन्दु से जो सीधा ९० डिग्री का कोण बनाती हैं वे दिशा कहलाती हैं और जो तिरछी होती हैं वे विदिशा कहलाती हैं। छह दिशाएँ और चार विदिशाएँ कुल दस दिशाएँ मानी जाती हैं।

९. यह सम्पूर्ण लोक ऊपर-नीचे चारों ओर से तीन प्रकार के वातवलयों से परिवेष्टित है। सर्वप्रथम घनोदधि वातवलय, फिर घनवातवलय और अन्त में तनुवातवलय होता है।

१०. वेत्रासन आकार वाले अधोलोक में रत्नप्रभा, शर्कराप्रभा, बालुकाप्रभा, पंकप्रभा, धूमप्रभा, तमःप्रभा और महातमःप्रभा ये सात पृथ्वियाँ हैं।

११. मध्यलोक में जम्बूद्वीप, लवण समुद्र, धातकीखण्ड, कालोदधि समुद्र, पुष्करवरद्वीप, पुष्करवर समुद्र, वारुणीवर द्वीप, वारुणीवर समुद्र आदि असंख्यात द्वीप और असंख्यात समुद्र हैं। एक-एक द्वीप, एक-एक समुद्र क्रम से एक-दूसरे को घेरे हुए हैं।

१२. जम्बूद्वीप में भरत आदि सात क्षेत्र हैं और हिमवान् आदि छह वर्षधर पर्वत हैं। जम्बूद्वीप के मध्य अद्वितीय सुमेरु पर्वत है।

१३. जम्बूद्वीप, लवण समुद्र, धातकीखण्ड, कालोदधि समुद्र और पुष्करवर द्वीप का अर्ध भाग ये पाँच क्षेत्र मनुष्य क्षेत्र हैं, जिनका विस्तार पैंतालीस लाख योजन है। इससे बाहर मनुष्य का न जन्म होता है और न ही मृत्यु।

१४. मध्यलोक के मध्यभाग रुचक से ७९० योजन के बाद ज्योतिष चक्र प्रारम्भ होता है। इस चक्र में तारामण्डल, चन्द्रमण्डल और सूर्यमण्डल है।

१५. रुचक से ९०० योजन ऊपर की ओर जाने पर ऊर्ध्वलोक का प्रारम्भ होता है। ऊर्ध्वलोक में सर्वप्रथम समश्रेणि में स्थित सौधर्म और ईशान दो देवलोक हैं और उनसे असंख्य कोटाकोटि योजन ऊपर सनत्कुमार और माहेन्द्र नामक तीसरा व चौथा देवलोक है। इनसे ऊपर पाँचवां ब्रह्मलोक है। पाँचवे से ऊपर छठा लान्तक, छठे से ऊपर सातवां महाशुक्र और सातवें से ऊपर आठवां सहस्रार देवलोक है। आठवें से ऊपर उत्तर-दक्षिण में क्रमशः नवां आनत एवं दसवां प्राणत देवलोक है। इन दोनों से ऊपर क्रमशः ग्यारहवाँ आरण एवं बारहवाँ अच्युत देवलोक है। इनसे ऊपर क्रमशः नौ ग्रैवेयक और पाँच अनुत्तर विमान है। पाँचवें अनुत्तर विमान से १२ योजन ऊपर सिद्धशिला है। बारह देवलोकों में पहले-दूसरे देवलोक, तीसरे सनत्कुमार देवलोक और छठे लान्तक देवलोक के नीचे एक-एक

किल्विषक देवों का निवास होता है।

१६. दिशाओं के निर्धारण में जैन दार्शनिकों की विशिष्ट दृष्टि रही है। क्षेत्र दिशा का निरूपण करते समय उन्होंने लोक के मध्यभाग (मध्यलोक) के मध्य में स्थित सुमेरु पर्वत के मध्य भाग को केन्द्र माना है। वहाँ पर चार रुचक प्रदेशों की कल्पना करते हुए विभिन्न दिशाओं की परिकल्पना की गई है।

१७. नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, भाव, ताप, प्रज्ञापक आदि के आधार पर दिशाओं का प्रतिपादन जैन दर्शन में ही दिखाई देता है। अन्यत्र इतना सूक्ष्म चिन्तन नहीं हुआ है। न्याय वैशेषिक दर्शन में दिशा का विवेचन हुआ है किन्तु जैन दर्शन में प्राप्त विवेचन विशिष्ट दृष्टि लिए हुए है।

इस प्रकार जैन आगम-साहित्य में लोक के क्षेत्र का यह विशिष्ट स्वरूप प्रतिपादित किया जाता है।

संदर्भ

१. जम्बूद्वीप परिशीलन–अनुपम जैन, प्र. दि. जैन त्रिलोक शोध संस्थान, मेरठ
२. लोकप्रकाश, 12.3
३. लोकप्रकाश, 12.4
४. लोकप्रकाश, 12.5
५. लोकप्रकाश, 12.5
६. लोकप्रकाश, 12.6
७. लोकप्रकाश, 12.45–47
८. तिलोयपण्णति, खण्ड 1, 1.137–138
९. लोकप्रकाश, 12.8
१०. लोकप्रकाश, 12.9–10
११. लोकप्रकाश, 12.11–14
१२. तिलोयपण्णत्ति, खण्ड 1, 1.149, श्री यतिवृषभ रचिता टीकाकार आर्यिका विशुद्धमती जी, प्रकाशक–प्रकाशन विभाग श्री भारतवर्षीय दिगम्बर जैन महासभा, प्रथम संस्करण, 1984
१३. तिलोयपण्णत्ति, 1.154–157
१४. तिलोयपण्णत्ति, 1.158–162
१५. तिलोयपण्णत्ति, 1.149
१६. नरक की सात भूमियों के अतिरिक्त अष्टम भूमि भी मानी गई है। नरक के नीचे निगोदों की निवासभूत कलकल नाम की पृथ्वी अष्टम पृथ्वी है और ऊर्ध्वलोक के अन्तिम भाग में मुक्त जीवों की आवासभूत ईषत्प्राग्भार नाम की अष्टम पृथ्वी हैं। –जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश, भाग 3, पृष्ठ 234
१७. तिलोयपण्णत्ति, पृष्ठ सं. 140
१८. लोकप्रकाश, 12.16–17
१९. लोकप्रकाश, 12.34
२०. लोकप्रकाश, 12.15
२१. लोकप्रकाश, 12.19–30

२२. लोकप्रकाश, 12.38
२३. लोकप्रकाश, 12.39
२४. लोकप्रकाश, 12.40
२५. लोकप्रकाश, 12.41
२६. सर्वार्थसिद्धि, पृष्ठ 151
२७. लोकप्रकाश, 12.54–55
२८. लोकप्रकाश, 12.98–99
२९. जैन तत्त्वविद्या–मुनि प्रमाणसागर, पृष्ठ 59–60
३०. लोकप्रकाश, 12.54–55
३१. लोकप्रकाश, 12.57–58
३२. लोकप्रकाश, 12.60
३३. लोकप्रकाश, 12.78
३४. लोकप्रकाश, 12.79
३५. लोकप्रकाश, 12.80
३६. लोकप्रकाश, 12.85–86
३७. लोकप्रकाश, 12.81
३८. लोकप्रकाश, 12.81–83
३९. दिशः स्युर्द्विप्रदेशाढया द्वयुत्तरा रूचकोद्भवाः।
विदिशोऽनुत्तरा एक प्रदेशा रूचकोद्भवा।। – लोकप्रकाश, 12.74
४०. लोकप्रकाश, 12.75
४१. लोकप्रकाश, 12.64–66
४२. लोकप्रकाश, 12.77
४३. लोकप्रकाश, 12.87–89
४४. लोकप्रकाश, 12.90
४५. लोकप्रकाश, 12.94–95
४६. लोकप्रकाश, 12.161–163
४७. लोकप्रकाश, 12.175
४८. लोकप्रकाश, 14.122
४९. लोकप्रकाश, 14.163
५०. लोकप्रकाश, 14.202
५१. लोकप्रकाश, 14.234
५२. लोकप्रकाश, 14.262
५३. लोकप्रकाश, 14.283
५४. तिलोयपण्णत्ति, खण्ड 1, 1.271–272
५५. तिलोयपण्णत्ति, 1.273
५६. तिलोयपण्णत्ति, 2.22
५७. वायुपुराण, अध्याय 34
५८. श्रीमद्भागवत, 5/1/32–33
५९. विष्णुपुराण, 2/2/5
६०. गरुड़पुराण, 1/54/4
६१. अग्निपुराण 108/01
६२. (क) अग्निपुराण, 108/3,2
(ख) विष्णुपुराण, 2/2/7,6

(ग) गरुडपुराण, 1/54/3
(घ) श्रीमद्भागवत्, 5/1/32–33
६३. (क) गरुड़पुराण, 1/54/5
(ख) विष्णुपुराण, 2/2/6
(ग) अग्निपुराण, 108/2
६४. अभिधर्मकोश, 3, 45–87
६५. जैन तत्त्व विद्या– मुनि प्रमाणसागर, पृष्ठ सं. 69–70
६६. लोकप्रकाश, 15.31–32
६७. लोकप्रकाश, 15.30
६८. लोकप्रकाश, 15.33–35
६९. लोकप्रकाश, 15.36–37
७०. लोकप्रकाश, 15.259–260
७१. लोकप्रकाश, 15.261–262
७२. लोकप्रकाश, 16.2
७३. लोकप्रकाश, 16.3
७४. एक योजन का उन्नीसवां विभाग कला कहलाता है। अर्थात् उन्नीस कलाओं का एक योजन होता है। – लोकप्रकाश, 16.12
७५. लोकप्रकाश, 16.35, 46 एवं 47
७६. लोकप्रकाश, 16.42–44
७७. लोकप्रकाश, 16.36
७८. लोकप्रकाश, 16.181
७९. लोकप्रकाश, 16.214
८०. लोकप्रकाश, 16.215
८१. लोकप्रकाश, 16.236
८२. लोकप्रकाश, 16.237–241
८३. लोकप्रकाश, 16.247–249
८४. लोकप्रकाश, 16.236–255
८५. लोकप्रकाश, 16.260–261
८६. लोकप्रकाश, 16.262
८७. लोकप्रकाश, 16.256
८८. लोकप्रकाश, 16.328
८९. लोकप्रकाश, 16.336 और 341
९०. लोकप्रकाश, 16.342–343
९१. लोकप्रकाश, 16.353
९२. लोकप्रकाश, 16.393
९३. लोकप्रकाश, 16.409
९४. लोकप्रकाश, 19.26
९५. लोकप्रकाश, 19.27
९६. लोकप्रकाश, 19.34 और 36
९७. लोकप्रकाश, 19.55
९८. लोकप्रकाश, 19.56 और 57
९९. लोकप्रकाश, 19.58
१००. लोकप्रकाश, 19.59

१०१. लोकप्रकाश, 19.60
१०२. लोकप्रकाश, 19.99–107
१०३. स्थानांग सूत्र, स्थान 10, सूत्र 160
१०४. लोकप्रकाश, 19.123–127
१०५. लोकप्रकाश, 19.129–130
१०६. लोकप्रकाश, 17.1–2
१०७. लोकप्रकाश, 17.14
१०८. लोकप्रकाश, 17.15–16
१०९. लोकप्रकाश, 17.17
११०. लोकप्रकाश, 18.2
१११. लोकप्रकाश, 18.3
११२. लोकप्रकाश, 18.4
११३. लोकप्रकाश, 18.5
११४. लोकप्रकाश, 18.6
११५. लोकप्रकाश, 18.7
११६. लोकप्रकाश, 18.8
११७. लोकप्रकाश, 18.9
११८. लोकप्रकाश, 18.10
११९. लोकप्रकाश, 18.11
१२०. लोकप्रकाश, 18.12
१२१. लोकप्रकाश, 18.269–271
१२२. लोकप्रकाश, 22.2
१२३. लोकप्रकाश, 22.11–13
१२४. लोकप्रकाश, 22.15–16
१२५. लोकप्रकाश, 23.1–2
१२६. लोकप्रकाश, 23.3
१२७. लोकप्रकाश, 23.4
१२८. लोकप्रकाश, 23.5–7
१२९. लोकप्रकाश, 23.17–18
१३०. लोकप्रकाश, 23.190–192
१३१. लोकप्रकाश, 23.198–199
१३२. लोकप्रकाश, 25.2–12
१३३. मध्यलोक का ठीक मध्य भाग जो आठ प्रदेश परिमाण वाला होता है, वह रूचक प्रदेश कहलाता है।
१३४. लोकप्रकाश, 26.3–4
१३५. लोकप्रकाश, 26.5–6
१३६. लोकप्रकाश, 27.2–3
१३७. लोकप्रकाश, 27.114–115
१३८. लोकप्रकाश, 26.5–6, 27.4
१३९. लोकप्रकाश, 27.245–246
१४०. लोकप्रकाश, 27.328–329
१४१. लोकप्रकाश, 27.370
१४२. लोकप्रकाश, 27.399
१४३. लोकप्रकाश, 27.455–456

१४४. लोकप्रकाश, 27.532–533
१४५. लोकप्रकाश, 27.603–604
१४६. लोकप्रकाश, 27.534
१४७. लोकप्रकाश, 27.607–608
१४८. लोकप्रकाश, 27.529–531
१४९. लोकप्रकाश, 27.283–285
१५०. लोकप्रकाश, 27.286
१५१. लोकप्रकाश, 27.653–655
१५२. लोकप्रकाश, 27.660–661
१५३. लोकप्रकाश, 27.662
१५४. लोकप्रकाश, 26.9
१५५. लोकप्रकाश, 26.15–18

सप्तम अध्याय

काललोक

उपाध्याय विनयविजय ने द्रव्यलोक में सैंतीस द्वारों से जीवों का वर्णन किया है और क्षेत्रलोक का तीन वर्गों में विभाजन कर विस्तृत वर्णन किया है। काललोक के अन्तर्गत 'काल' क्या है, इसके स्वरूप पर स्पष्ट चर्चा कर उसके भेदों का निरूपण किया है।

वैशेषिक दर्शन में "पृथिव्यापस्तेजो वायुराकाशं कालो दिगात्मा मन इति द्रव्याणि"[1] सूत्र के द्वारा काल का द्रव्यत्व अंगीकार किया गया है। व्याकरण दर्शन[2] में यह काल अमूर्त क्रिया का परिच्छेद-हेतु माना जाता है। योग दर्शन[3] में क्षण पारमार्थिक है और क्षण के अतिरिक्त काल मुहूर्त आदि बुद्धिकल्पित है। प्राचीन भारतीय परम्परा में 'कालवाद' नामक एक सिद्धान्त प्रचलित था, जिसके अनुसार सभी कार्य काल के द्वारा ही सम्पन्न माने गए हैं। यथा-

कालः पचति भूतानि, कालः संहरते प्रजाः।
कालः सुप्तेषु जागर्ति, कालो हि दुरतिक्रमः।।[4]

अथर्ववेद के कालसूक्त[5], शिवपुराण[6], विष्णुपुराण[7], उपनिषद्वाङ्मय[8] और महाभारत[9] में भी काल का निरूपण देखा जाता है।

जैनदर्शन में स्वीकृत षड्द्रव्यों में धर्म, अधर्म, आकाश, जीव, पुद्गल और काल की गणना की जाती है। परन्तु कुछ जैन दार्शनिक काल की स्वतन्त्र द्रव्यता को स्वीकार नहीं करते हैं। वाचक उमास्वाति द्वारा रचित तत्त्वार्थसूत्र के 'कालश्चेत्येके' सूत्र (५.३८) में इस मतभेद का संकेत मिलता है। दिगम्बर परम्परा में काल की निर्विवाद स्वतन्त्र द्रव्यता स्वीकृत है। आचार्य कुन्दकुन्द (प्रथम शती ई.) के प्रवचनसार[10] में, पूज्यपाद देवनन्दि (चतुर्थ शती) के सर्वार्थसिद्धि[11] में, भट्ट अकलंक (७२०-७६० ई.) के राजवार्तिक[12] में और विद्यानन्द स्वामी (७७५ से ८४० ई.) के तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक[13] में काल के पृथक् द्रव्य होने का उल्लेख प्राप्त होता है।

श्वेताम्बर परम्परा के कुछ जैन विचारक जीव और अजीव द्रव्यों की पर्यायों से पृथक् काल द्रव्य का स्वतंत्र अस्तित्व स्वीकार नहीं करते हैं, किन्तु कुछ श्वेताम्बराचार्य काल के स्वतन्त्र द्रव्यत्व की सिद्धि करते हैं। श्वेताम्बर परम्परा के इन दोनों मतों का उल्लेख जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण (५वीं शती) के विशेषावश्यक भाष्य, हरिभद्रसूरि (८वीं शती) के धर्मसंग्रहणि और उपाध्याय विनयविजय (१७वीं शती) के लोकप्रकाश में उपलब्ध होता है।

काल स्वतन्त्र द्रव्य नहीं

कालद्रव्य की पृथक् द्रव्यता अस्वीकृत करने वाले विद्वान् धर्मास्तिकायादि द्रव्यों की पर्याय को ही काल स्वीकार करते हैं। उसका पृथक् अस्तित्व सिद्ध नहीं करते हैं। व्याख्याप्रज्ञप्तिसूत्र में वर्णित भगवान् महावीर और गौतम गणधर के मध्य हुआ संवाद इस मत के प्रतिपादन का आधार है।

"किमिदं भंते कालेति पवुच्चति?गोयम! जीवा चेव अजीवा चेवेति।"[१४]

स्थानांग सूत्र में कथित "समयाति वा आविलयाति वा जीवाति वा अजीवाति वा पवुच्चति।"[१५] यह कथन भी इसी मत का प्रतिपादन करता है।

जिनभद्रगणिक्षमाश्रमण के विशेषावश्यक भाष्य में भी यह काल जीव और अजीव द्रव्यों की पर्याय रूप कहा गया है- "सो वत्तणाइरूवो कालो दव्वस्स चेव पज्जाओ।"[१६] हरिभद्रसूरिरचित धर्मसंग्रहणि के टीकाकार मलयगिरि भी काल की पृथक् द्रव्यता स्वीकार नहीं करते हैं।[१७] जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण के विशेषावश्यक भाष्य में भी यह काल जीव-अजीव की पर्याय रूप में उल्लिखित है। यहाँ जिनभद्रगणि कहते हैं कि वर्तनादि स्वरूप वाला काल द्रव्य की पर्याय ही होता है। उसका स्वतंत्र द्रव्यत्व नहीं है-

'सो वत्तणाइरूवो कालो दव्वस्स चेव पज्जाओ।'[१८]

हरिभद्रसूरि विरचित धर्मसंग्रहणि ग्रन्थ के टीकाकार आचार्य मलयगिरि भी काल को जीव-अजीव द्रव्यों की पर्याय मानते हैं, उसका स्वतंत्र अस्तित्व स्वीकार नहीं करते हैं। वे कहते हैं-

"न हि जीवादिवस्तुव्यतिरिक्तः कश्चित् कालो नाम पदार्थविशेषः परिकल्पितः एकः प्रत्यक्षेणोपलभ्यते।"[१९]

पूर्व-अपर व्यवहार के आधार पर अनुमान से काल की द्रव्यता स्वीकृत करने वाले वैशेषिक मत को पूर्वपक्ष में रखकर टीकाकार मलयगिरि कहते हैं कि यदि काल एक ही है तब उसमें पूर्वापर कैसे सम्भव हो सकता है। यदि सहचारी सम्पर्क के कारण काल की पूर्वत्व-अपरत्व की कल्पना की जाती है तो भी यह सम्यक् नहीं है क्योंकि इससे तो इतरेतराश्रय प्रसंग दोष उपस्थित हो जाता है। अतः वर्तना स्वरूप को ही काल जानना चाहिए। क्योंकि वर्तना में ही अक्लेश पूर्वक पूर्वत्वादि व्यवहार सम्भव है। यथा अतीत वर्तना 'पूर्व', भविष्य में होने वाली वर्तना 'अपर' और तत्काल चलने वाली वर्तना 'वर्तमान' कहलाती है। इस प्रकार वर्तना लक्षण रूप काल प्रतिद्रव्य की भिन्नता से अनन्त है। इसलिए वर्तना ही काल का धर्म है। यह मलयगिरि प्रतिपादित करते हैं।

काल की पृथक् द्रव्यता नहीं है, इसकी पुष्टि लोकप्रकाशकार उपाध्याय विनयविजय निरूपित करते हैं-

अत्र द्रव्याभेदवर्ति – वर्तनादिविवक्षया।
कालोऽपि वर्तनाद्यात्मा जीवाजीवतयोदितः।
वर्तनाद्याश्च पर्याया एवेति प्राग् विनिश्चितं।
तद्वर्तनादिसम्पन्नः कालो द्रव्यं भवेत्कथम्।
पर्यायाणां हि द्रव्यत्वेऽनवस्थापि प्रसज्यते।
पर्यायरूपस्तत्कालः पृथग् द्रव्यं न सम्भवेत्।।[२०]

वर्तनादि पर्याय रूप काल जीव-अजीव स्वरूप द्रव्य से अभिन्न है। वर्तनादि सम्पन्न काल पृथक् द्रव्य नहीं हो सकता है, क्योंकि यदि द्रव्य की पर्याय को ही पृथक् द्रव्य स्वीकार करेंगे तो अनवस्था दोष उत्पन्न होगा। अतः काल द्रव्य पर्याय रूप ही है। यह पृथक् द्रव्य नहीं हो सकता है।

उपाध्याय विनयविजय एक और तर्क देते हैं कि जिस प्रकार व्योम सर्वत्र विद्यमान होने से अस्तिकाय माना जाता है उसी प्रकार वर्तनास्वरूप के भी सर्वत्र होने से काल भी अस्तिकाय की कोटि में परिगणित होना चाहिए, परन्तु आगम में अस्तिकाय पाँच ही कहे गए हैं। अतः काल अस्तिकाय नहीं है। इस प्रकार कुछ जैनाचार्यों ने काल की पृथक् द्रव्यता को अस्वीकृत कर प्रतिपक्ष का खण्डन किया है।

काल की स्वतंत्र द्रव्यता

आगम ग्रन्थों में द्रव्य छह और अस्तिकाय पाँच कहे गए हैं। कहीं भी 'द्रव्य पाँच' नहीं कहे गए हैं। तत्त्वार्थसूत्र में द्रव्य का लक्षण किया है-

'गुणपर्यायवद् द्रव्यम्'[२१] अर्थात् द्रव्य गुणयुक्त और पर्याययुक्त होता है। काल भी उसी प्रकार गुणयुक्त और पर्याययुक्त होता है। आचार्य विद्यानन्द काल में द्रव्यता के लक्षण को तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक में सिद्ध करते हुए कहते हैं कि काल में संयोग, विभाग, संख्या, परिमाण आदि सामान्य गुण और सूक्ष्मत्व, अमूर्तत्व, गुरुत्व, लघुत्व, एकप्रदेशत्वादि विशेष गुण होते हैं। पदार्थों में क्रमपूर्वक वर्तनादि पर्याय काल के प्रसिद्ध हैं।

निःशेषद्रव्यसंयोगविभागादिगुणाश्रयः।
कालः सामान्यतः सिद्धः सूक्ष्मत्वाद्याश्रयोऽभिधा।।
क्रमवृत्तिपदार्थानां वृत्तिकारणतादयः।
पर्यायाः सन्ति कालस्य गुणपर्यायवानतः।।[२२]

इस प्रकार 'गुणपर्यायवद् द्रव्यम्' यह लक्षण काल में भी सिद्ध होता है। विनयविजय नौ युक्तियों से काल की स्वतंत्रसत्ता सिद्ध करते हैं- १. सूर्य आदि की गति के आधार पर २ 'काल' शब्द के शुद्ध प्रयोग से ३. समयादि विशेष के प्रयोग से ४. काल सामान्य के होने से ५.

पत्र-पुष्प-फल की समान काल में उत्पत्ति न होने से ६. विविध ऋतु भेद आदि की विवक्षा से ७. वर्तमान-भूत-भविष्य के पृथक् अनुभव से ८. क्षिप्र, चिर, युगपद् आदि शब्दों के प्रयोग से तथा ९. आगम प्रमाण से काल की स्वतंत्र द्रव्य के रूप में सिद्धि की है। काल की स्वतन्त्र द्रव्यता की सिद्धि और असिद्धि के प्रतिपादन में प्रो. धर्मचन्द जैन के सागरिका (जुलाई-सितम्बर २००५) अंक में 'जैनदर्शने कालस्य द्रव्यत्वमनस्तिकायत्वंच' शीर्षक से प्रकाशित लेख को आधार बनाया है। काल की स्वतंत्र सत्ता दो तरह से ज्ञात होती है- १. नामोल्लेख से और २. युक्तियों से।

काल का पृथक द्रव्य के रूप में नामोल्लेख

व्याख्याप्रज्ञप्तिसूत्र, उत्तराध्ययन सूत्र, अनुयोगद्वारसूत्र आदि आगम ग्रन्थों और पंचास्तिकाय, नियमसार एवं जीवसमास आदि ग्रन्थों में काल की सत्ता स्वीकार करने का उल्लेख मिलता है-

व्याख्याप्रज्ञप्तिसूत्र– "गोयमा! छव्विहा दव्वा पण्णत्ता, तं जहा– धम्मत्थिकाए, अधम्मत्थिकाए, आगासत्थिकाए, पुग्गलत्थिकाए, जीवत्थिकाए, अद्धासमए य।[२३]

गौतम छह द्रव्य हैं- धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय, पुद्गलास्तिकाय, जीवास्तिकाय और अद्धासमय।

उत्तराध्ययनसूत्र– "धम्मो अहम्मो आगासं कालो पुग्गल जंतवो। एस लोगो त्ति पण्णत्तो जिणेहिं वरदंसीहि।"[२४]

धर्म, अधर्म, आकाश, काल, पुद्गल एवं जीव को जिनेश्वरों ने लोक कहा है।

अनुयोगद्वारसूत्र– "दव्वणामे छव्विहे पण्णत्ते तं जहा– धम्मत्थिकाए, अधम्मत्थिकाए, आगासत्थिकाए, जीवत्थिकाए, पोग्गलत्थिकाए, अद्धासमए य।"[२५]

द्रव्यनाम छह हैं- धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय, जीवास्तिकाय, पुद्गलास्तिकाय और अद्धासमय।

पंचास्तिकाय– "सब्भावसभावाणं जीवाणं तह य पोग्गलाणं च। परियट्टणसंभूदो कालो णियमेण पण्णत्तो।"[२६]

लोक की सिद्धि षड्द्रव्यों के बिना नहीं होती है, क्योंकि जीव और पुद्गल के नवजीर्ण परिणाम की मर्यादा व्यवहारकाल के बिना नहीं होती है। अतः कालद्रव्य का स्वरूप सूक्ष्मदृष्टि से जानना चाहिए।

नियमसार– "प्रतीतिगोचराः सर्वे जीवपुद्गलराशयः। धर्माधर्मनभःकालाः सिद्धाः सिद्धान्तपद्धते।"[२७]

जीवराशि, पुद्गलराशि, धर्म, अधर्म, आकाश और काल सभी प्रतीतिगोचर हैं अर्थात् छहों

द्रव्यों की प्रतीति हो सकती है।

गोम्मटसार– "छप्पंचणवविहाणं अत्थाणं जिणवरोवइट्ठाणं। आणाए अहिगमेण य सद्दहणं होइ सम्मत्तं।।"[२५]

जिनवर के द्वारा उपदिष्ट छह द्रव्य, पंच अस्तिकाय, नवपदार्थों का आज्ञा से और अधिगम से श्रद्धान करना सम्यक्त्व है।

गोम्मटसार– "वत्तणहेदू कालो वत्तणगुणमविय दव्वणिचयेसु। कालाधारेणेव य वट्टंति इ सव्वदव्वाणि।"[२६]

द्रव्य की पर्याय वर्तन कराने वाला काल है। द्रव्यों में परिवर्तन गुण होते हुए भी काल के आधार से सर्व द्रव्य वर्तते हैं।

आचार्य कुन्दकुन्द के नियमसार, भट्ट अकलंक के तत्त्वार्थराजवार्तिक और उपाध्याय विनयविजय के लोकप्रकाश में काल द्रव्य की सिद्धि के युक्तिपूर्वक प्रमाण मिलते हैं। लोकप्रकाशकार ने युक्तियों की विस्तृत चर्चा की है।

१. लोक में समय आदि पर्यायों की सत्ता का हम अनुभव करते हैं। समयादि का यह काल विशेष व्यवहार सामान्य कालद्रव्य के बिना नहीं हो सकता है, क्योंकि सामान्य के बिना विशेष का अस्तित्व ही नहीं रहता है। अतः इस अनुमान से कालद्रव्य सिद्ध है।[३०]

२. आकाश द्रव्य वर्तना करने वाले द्रव्यों का आधार होता है, परन्तु वह वर्तना की उत्पत्ति में सहकारी नहीं हो सकता। अपितु स्वयं उस द्रव्य की वर्तना में भी कोई अन्य निमित्त बनता है। वह अन्य निमित्त कालद्रव्य ही है, क्योंकि वर्तन ही कालद्रव्य का लक्षण है।[३१]

३. सभी द्रव्यों की सत्ता में वर्तना निमित्त हेतु बनता है। कालद्रव्य का यह वर्तन गुण स्वयं का उपादान हेतु होता है। फलतः वर्तना सत्ता का उपकार करती है। दूसरे द्रव्यों की सत्ता को सिद्ध करने के साथ-साथ वर्तना स्व कालद्रव्य की सत्ता को भी स्वतः सिद्ध कर देती है।[३२]

४. सूर्य की गति से द्रव्यों में वर्तना नहीं हो सकती, क्योंकि सूर्य का गमन करना भी एक क्रिया है जिसमें भूत, भविष्यत, वर्तमान कालिक व्यवहार देखे जाते हैं। अतः सूर्य की वर्तना में किसी अन्य द्रव्य का निमित्त होता है और वह अन्य द्रव्य 'काल' है।[३३]

५. वैशेषिक दार्शनिक घट, पट आदि कार्य से परमाणु रूप कारण का अनुमान करते हैं। उसी प्रकार मनुष्य क्षेत्र (अढ़ाई द्वीप) के अन्दर विचरण करने वाले सूर्य, चन्द्र, ग्रह, नक्षत्र की गति से कालद्रव्य की अनुमानतः सिद्धि होती है।[३४]

६. 'काल' यह शब्द उच्चरित होते ही किसी न किसी द्रव्य को इंगित करता है। क्योंकि 'काल' यह

एक शुद्धपद है और व्याकरण सम्मत जो शुद्ध पद होता है, उसका वाच्य अवश्य होता है। शुद्धपद 'काल' अनुमान से कालद्रव्य को सिद्ध करता है।[३५]

७. यदि पृथ्वी पर काल रूप नियामक तत्त्व को स्वीकार न करें तो वृक्षों पर एक साथ ही पत्र, पुष्प और फल की उत्पत्ति स्वीकार करनी पड़ेगी। अतः इससे भी 'काल' की भिन्न द्रव्यता सिद्ध होती है।[३६]

८. बालक के शरीर की कोमलता, युवा पुरुष के शरीर का तेज और वृद्ध के शरीर की जीर्णता-शीर्णता आदि ये अवस्थाएँ चलती रहती हैं।[३७]

९. पृथ्वी पर होने वाली छहों ऋतुओं का परिमाण निर्धारित है। यथा- ग्रीष्म ऋतु में सूर्य की उग्र किरणों से पृथ्वी का रस सूख जाता है, दिन की वृद्धि और रात्रि क्षीण होती है। इस तरह से विविध ऋतुभेद जगत में प्रसिद्ध हैं। इस प्रकार ऋतुओं का परिमाण कालहेतु के बिना असम्भव है। अतः काल की द्रव्यता इससे भी सिद्ध है।[३८]

१०. यदि पदार्थ का नियामक काल न हो तो अतीत अथवा अनागत पदार्थ का कथन भी वर्तमान रूप में ही करना होगा, जो हमें अभीष्ट नहीं है। अतः पदार्थ के परस्पर मिश्र हो जाने की संभावना के कारण नियामक कालद्रव्य की द्रव्यता सिद्ध होती है।[३९]

११. मूर्तद्रव्यों में होने वाले वृद्धि, हानि, वर्तना, परिणाम, क्रिया, परत्व एवं अपरत्व कार्यों से भी काल की द्रव्यता सिद्ध होती है।[४०] यथा मनुष्यों में बल, बुद्धि, देहमान, आयु प्रमाण आदि की तथा पुद्गलों में उत्तम वर्ण, गंध आदि की क्रमशः हानि होने में अवसर्पिणी काल कारण होता है, तो वहीं उत्सर्पिणी काल की कारणता से पुनः इसमें वृद्धि होने लगती है। भूखण्ड के किसी एक क्षेत्र में ज्वार के अंकुर ही निकले हैं और किसी क्षेत्र में ज्वार पक चुकी है इस प्रकार नवीनता और जीर्णता रूप स्थिति में काल कारण है।[४१] मिट्टी का घट रूप परिणमन, सुवर्ण का कुण्डलादि में परिणमन, दूध का दही रूप में परिणमन होना इत्यादि सभी परिणामों में काल की कारणता व्याप्त है।[४२] सूर्य, चन्द्र, ग्रह, नक्षत्रों के गमन और भ्रमण में, तूफान के आने में, खेती करने आदि सभी क्रियाओं में काल-द्रव्य कारण है।[४३] बलराम १० वर्ष का है और कृष्ण ८ वर्ष का है, अतः बलराम-कृष्ण से ज्येष्ठ है और कृष्ण बलराम से कनिष्ठ है। इस प्रकार काल के कारण ही ज्येष्ठत्व और कनिष्ठत्व होता है।

१२. जीव और पुद्गल दोनों द्रव्यों में स्वभावपर्यायपरिणमन और विभावपर्यायपरिणमन दोनों पर्याय परिणमन काल के निमित्त से ही संभव हैं। सभी द्रव्यों में उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य रूप में पर्याय-परिणमन प्रतिसमय होता रहता है। यह पर्याय दो प्रकार की है- १. स्वभाव पर्याय २. विभाव पर्याय। धर्म,

अधर्म, आकाश और काल इन चारों अमूर्त द्रव्यों का स्वाभाविक गुण अगुरुलघु है। इस गुण में छह प्रकार की वृद्धि और छह प्रकार की हानि रूप पर्याय परिणमन होता है। यही स्वभावपर्याय परिणमन कहलाता है।[४४]

जीवद्रव्य की ज्ञान-दर्शन-सुख-वीर्य रूप अनन्तचतुष्टय आदि स्वभाव पर्याय हैं तथा क्रोध-मान-माया-लोभ-राग-द्वेष और नर-नारक-तिर्यक्-देव आदि विभाव पर्याय हैं। इसी प्रकार पुद्गलों की रूप-रस-गंध आदि स्वभाव पर्याय हैं तथा द्वयणुक, त्र्यणुक आदि विभाव पर्याय हैं।

"जीवानां स्वभावपर्यायम्–अनन्तचतुष्ट्यात्मकं ज्ञानदर्शन–सुखीवर्यात्मकं विभावपर्यायं क्रोधमानमायालोभरागद्वेषादिकं नरनारकतिर्यग्देवादिरूपं च पुद्गलानां स्वभावपर्यायं रूपरसगन्धादिपर्यायं विभावपर्यायं द्वयणुकत्र्यणुकादिस्कन्धपर्यन्तपर्यायं करेदिं कारयति उत्पादयतीत्यर्थः। स चं निश्चयकालः।[४५]

१३. जिस प्रकार घड़ा बनने में कुम्हार का चाक निमित्त बनता है उसी प्रकार पाँचों अस्तिकायों की वर्तना का निमित्त कारण कालद्रव्य है। कालद्रव्य के वर्तन गुण से ही पाँचों अस्तिकायों की वर्तना हो पाती है, स्वयं वर्तन करने में वे पूर्ण समर्थ नहीं हैं। अतः इससे भी काल की सिद्धि होती है।[४६] मार्गप्रकाश में भी यह कहा गया है कि यदि काल द्रव्य का अस्तित्व स्वीकार न किया जाए तो पदार्थों का परिणमन नहीं हो पाएगा और परिणमन नहीं होगा तो अन्य द्रव्य का अस्तित्व भी न हो पाएगा और उसकी पर्याय भी न हो सकेगी। इस प्रकार सभी के अभाव का प्रसंग उपस्थित हो जायेगा। अतःपरिणमन से कालद्रव्य का अस्तित्व सिद्ध होता है।

कालाभावे न भावानां परिणामस्तदन्तरात्।
न द्रव्यं नापि पर्यायः सर्वाभावः प्रसज्यते।।[४७]

कालस्वरूप

लोक में व्याप्त धर्म, अधर्म, आकाश, जीव और पुद्गल पाँच ही द्रव्यों की पर्यायों का परिणामक तत्त्व कालद्रव्य है।[४८] निश्चय से सभी द्रव्यों में पर्याय निरन्तर परिवर्तित होती रहती है, परन्तु उन पर्यायों का परिणमन कालद्रव्य हेतु द्वारा ही होता है। व्यवहार से कालद्रव्य जीव-अजीव (पुद्गलद्रव्य) की पर्यायों का परिणामक कहा जाता है। वस्तुतः असर्वज्ञ, अतीत, अनागत और वर्तमान के वर्तन या पर्याय से ही कालद्रव्य को जानते हैं, अतः काल अनुमान गम्य है। सर्वज्ञ प्रत्येक समय में होने वाली वर्तना को प्रत्यक्ष जानते हैं अर्थात् वे निश्चय और व्यवहार दोनों से कालद्रव्य को पूर्णतया जानते हैं।

जैन आगम ग्रन्थ उत्तराध्ययन, समवायांग, स्थानांग और प्रश्नव्याकरण सूत्र में काल की थोड़ी-थोड़ी चर्चा मिलती है। उत्तराध्ययन सूत्र में काल को षड्द्रव्य में स्वीकार कर उसकी द्रव्यता का

स्पष्ट संकेत किया गया है। समवायांग, स्थानांग और प्रश्नव्याकरण सूत्र ग्रन्थों में कालवाद के रूप में काल की चर्चा की गई है।

जैन दार्शनिक ग्रन्थों में तत्त्वार्थराजवार्तिक और कर्मग्रन्थ में काल का निरूक्त्यर्थ किया गया है- "कल्यते क्षिप्यते प्रेर्यते येन क्रियावद्द्रव्यं स कालः"[४६] अर्थात् जिसके द्वारा क्रियावान द्रव्य प्रेरित किए जाते हैं वह कालद्रव्य है।

"कलनं कालः कल्यते वा परिच्छिद्यते वस्त्वनेनेति कालः कलानां वा समयादिरूपाणां समूहः कालः[४७] अर्थात् कलन ही काल है अथवा जिसके द्वारा वस्तु का ज्ञान किया जाता है उसे काल कहते हैं अथवा समय आदि स्वरूप कलाओं के समूह को काल कहा गया है।

काल का सामान्य लक्षण वर्तना है[४८] क्योंकि काल द्रव्य ही जीव तथा पुद्गल और धर्म, अधर्म एवं आकाश द्रव्य के परिवर्तन में निमित्तकारण बनता है, उनकी पर्यायों का परिणमन करता है। जिस प्रकार कुम्हार के चाक के घूमने में उसके नीचे लगी हुई कील कारण होती है उसी प्रकार पदार्थों के परिणमन होने में कालद्रव्य सहकारी कारण है।[४९] कालद्रव्य से सम्बन्धित कुछ परिभाषाएँ इस प्रकार हैं-

१. स्पर्श, रस, गन्ध और वर्ण रहित, अगुरुलघुगुण सहित और वर्तनालक्षणयुक्त काल है।[५३]

२. जिसके द्वारा कर्म, भव, काय और आयु की स्थितियाँ कल्पित या संख्यात की जाती हैं अर्थात् कही जाती हैं, उसे काल कहते हैं।[५४]

३. जीव-अजीव आदि की वर्तना, उसके परिणाम, उसकी क्रिया और उसके परत्व-अपरत्व इन चारों को काल शब्द से अभिहित किया जा सकता है।[५५]

कालद्रव्य की अन्य विशेषताएँ भी उसके स्वरूप का निर्धारण करती हैं-

१. काल अप्रदेशी है अर्थात् एक प्रदेशी है, क्योंकि काल-द्रव्य प्रदेशमात्र परमाणुपुद्गल द्रव्य द्वारा आकाशद्रव्य के एक प्रदेश को ही मंद गति से लांघते हुए वर्तता एवं परिणमन करता है। इससे ज्ञात होता है कि कालद्रव्य परमाणुपुद्गल के एक प्रदेश पर्यन्त परिणमन में ही सहकारी होता है निमित्त होता है, अधिक में नहीं। अतः वह एक प्रदेशी ही है।

२. कालद्रव्य निश्चयनय से असंख्यात हैं।[५६] असंख्यात प्रदेशी लोकाकाश के एक-एक प्रदेश पर रत्नों की राशि के समान कालद्रव्य के एक-एक कालाणु रूप में स्थित है। अतएव कालद्रव्य असंख्यात है, परन्तु व्यवहार नय से अनन्त पर्यायों की वर्तना में निमित्तक होने से अनन्त भी कहा जाता है।[५७]

३. सम्पूर्ण लोकाकाश में कालद्रव्य के कालाणु स्थित हैं, परन्तु स्नेह गुण के अभाव होने से उनका

संचय-प्रदेश संचय नहीं बन पाता है। अतः बहुप्रदेशों का अभाव सदैव बना रहता है। इसीलिए कालद्रव्य का कायत्व नहीं है।[५८]

४. वर्ण, गंध, रस एवं स्पर्श तथा चेतनता से रहित होने के कारण कालद्रव्य अमूर्त और अचेतन भी होता है।

५. कालद्रव्य तटस्थ परिणामक है, क्योंकि यह द्रव्य अन्य द्रव्यों की पर्यायों का परिणमन करते हुए अपने गुणों को अन्य द्रव्य के रूप में परिणमित नहीं करता और साथ ही अन्य द्रव्यों के गुणों को स्व में भी परिणमित नहीं करता है। उदासीन भाव से सभी की पर्याय परिणमन का हेतु बनता है।[५९]

६. समय काल की सूक्ष्मतम इकाई है। वर्तमान समय एक है और अतीत एवं अनागत समय अनन्त है।

कालद्रव्य का अनस्तिकायत्व

अस्तिकाय जैनदर्शन का विशिष्ट शब्द है। जो अस्तिकाय होता है वह द्रव्य भी होता है, किन्तु जो द्रव्य होता है वह अस्तिकाय भी हो यह आवश्यक नहीं है। इसीलिए जैन दर्शन में 'काल' द्रव्य होते हुए भी अस्तिकाय नहीं है। लोक का स्वरूप जैन आगमों में अस्तिकाय और द्रव्य रूप में दो प्रकारों से व्याख्यायित है। अस्तिकाय पाँच है[६०] और द्रव्य छह हैं।[६१] अतः इन दोनों में होने वाला भेद विचारणीय है-

१. 'अस्ति' यह त्रिकालवचन निपात है। "अस्तीत्ययं त्रिकालवचनो निपातः अभुवन भवन्ति भविष्यन्ति चेति भावना अतोऽस्ति च ते प्रदेशानां कायाश्च राशय इति अस्तिकायः।"[६२] इसका तात्पर्य है कि प्रदेशों की जो कायस्वरूप अथवा राशि (समूह) रूप तीनों काल में विद्यमान रहती है वह अस्तिकाय कहलाती है। धर्म, अधर्म, आकाश, जीव और पुद्गल प्रत्येक तीनों कालों में राशि रूप में रहते हैं। काल राशिस्वरूप नहीं है, अतः अनस्तिकाय है।

२. 'अस्तिशब्देन प्रदेशप्रदेशाः क्वचिदुच्यन्ते, ततश्च तेषां वा कायाः अस्तिकायाः।'[६३] अस्ति यह शब्द प्रदेश का भी वाचक है। इस प्रकार प्रदेशों का समूह भी अस्तिकाय कहलाता है। काल में प्रदेश प्रचय नहीं होता है। प्रदेश प्रचय के अभाव में काल का अनस्तिकायत्व सिद्ध होता है।

३. व्याख्याप्रज्ञप्ति सूत्र में वर्णित गौतम गणधर और भगवान् महावीर का संवाद अस्तिकाय और द्रव्य के भेद को स्पष्टतया प्रस्तुत करता है-

"एगे भंते! धम्मत्थिकायपदेसे धम्मत्थिकाए त्ति वत्तव्वं सिया?गोयमा! णो इणट्ठे समट्ठे। एवं दोण्णि तिण्णि चत्तारि पंच छ सत्त अट्ठ नव दस संखेज्जा असंखेज्जा भंते! धम्मत्थिकायप्पदेसा 'धम्मत्थिकाए' त्ति वत्तव्वं सिया?

गोयमा! णो इणट्ठे समट्ठे।
एगपदेसूणे वि य णं भंते! धम्मत्थिकाए 'धम्मत्थिकाए' त्ति वत्तव्वं सिया?णो इणट्ठे समट्ठे। से केणट्ठेणं भंते। एवं वुच्चइ 'एगे धम्मत्थिकायपदेसे नो धम्मत्थिकाए त्ति वत्तव्वं सिया जाव। एकपदेसूणे वि य णं धम्मत्थिकाए नो धम्मत्थिकाए त्ति वत्तव्वं सिया?से नूणं गोयमा! खंडे चक्के?सगले चक्के?
भगवं! नो खंडे चक्के, सगले चक्के।
एवं छत्ते चम्मे दंडे दूसे आयुहे मोयए। से तेणट्ठेणं गोयमा! एवं वुच्चइ– 'एगे धम्मत्थिकायपदेसे नो धम्मत्थिकाए त्ति वत्तव्वं सिया जाव एकपदेसूणे वि य णं धम्मत्थिकाए नो धम्मत्थिकाए त्ति वत्तव्वं सिया?से किं खाइं णं भंते! 'धम्मत्थिकाए' त्ति वत्तव्वं सिया?गोयमा! असंखेज्जा धम्मत्थिकायपदेसा ते सव्वे कसिणा पडिपुण्णा निरवसेसा एगग्गहणगहिया, एस णं गोयमा! 'धम्मत्थिकाए' त्ति वत्तव्वं सिया।[६४]

व्याख्याप्रज्ञप्ति सूत्र में धर्मास्तिकायवत् अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय, जीवास्तिकाय और पुद्गलास्तिकाय का भी अखण्ड स्वरूप में अस्तिकायत्व स्वीकार किया गया है। इस संवाद से यह निष्कर्ष निकलता है कि अस्तिकाय और द्रव्य में यह भेद है कि अस्तिकाय में अखण्ड और निरवशेषरूप का ग्रहण होता है जबकि द्रव्य में स्कन्ध अथवा अंश रूप में ग्रहण होता हैं। यथा- जब समस्त पुद्गलद्रव्यों का अखण्डरूप प्राप्त होगा तब ही वह पुद्गलास्तिकाय कहा जायेगा और जब पुद्गल अंशरूप पुस्तक, भवन, कलम आदि रूप में प्राप्त होगा तब वही पुद्गल पुद्गलद्रव्य कहा जायेगा। पुस्तक, भवनादि द्रव्य स्वरूप तो है, परन्तु पुद्गलास्तिकाय नहीं है। इसी प्रकार जीवास्तिकाय में समस्त जीवों का ग्रहण होत है, किन्तु पृथक् पृथक् रूप जीव जीवद्रव्य ही कहलाता है। इस प्रकार अस्तिकाय और द्रव्य का सूक्ष्म भेद आगम में उपलब्ध होता है। अतः काल द्रव्य स्वरूप में स्वीकृत है, परन्तु उसका अखण्ड स्वरूप न होने से तथा प्रदेशों का प्रचय नहीं होने से वह अस्तिकाय नहीं है।

कालद्रव्य के कार्य

तत्त्वार्थसूत्र में काल के उपग्रह अथवा कार्य का प्रतिपादन करते हैं- 'वर्तना परिणामः क्रिया परत्वापरत्वे च कालस्यः'[६५] अर्थात् वर्तना, परिणाम, क्रिया और परत्वापरत्व ये काल के कार्य हैं।

'वत्तणा लक्खणो कालो'[६६] इस आगम पंक्ति के अनुसार वर्तना काल का लक्षण भी है और वही उसका मुख्य कार्य भी है, जिसके निमित्त से धर्मास्तिकायादि द्रव्यों में परिवर्तन होता रहता है।

वर्तते वर्तनमात्रं वा वर्तना, वृतेर्ण्यन्तात्कर्मणि भावे वा युक् तस्यानुदात्तत्वाद्वा ताच्छीलको वा युच् वर्तनशीला वर्तनेति।[६७]

वृत् धातु से भाव और कर्म अर्थ में युक् प्रत्यय अथवा तच्छील अर्थ में युच् प्रत्यय लगकर 'वर्तना' शब्द बनता है। तत्त्वार्थराजवार्तिक में भट्ट अकलंक और तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक में आचार्य विद्यानन्द स्वामी वर्तना शब्द का स्वरूप स्पष्ट करते हैं कि प्रत्येक द्रव्य स्वद्रव्य पर्याय में प्रति समय स्वसत्ता की अनुभूति करते हैं वही स्वसत्तानुभूति वर्तना है। इसका तात्पर्य है कि धर्मादि द्रव्य अपनी अनादि और आदिमान् सभी पर्यायों में प्रतिक्षण उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक स्वरूप का अनुभव करते हैं, यही वर्तना है। उपाध्याय विनयविजय ने सूक्ष्म और स्थूल दो रूपों से वर्तना को परिभाषित किया है। सूक्ष्म रूप में परमाणु आदि द्रव्यों की परमाण्वादिक रूप में स्थिति होना वर्तना है और स्थूल रूप में परमाणु आदि की नवीन अथवा जीर्ण रूप में स्थिति होना भी वर्तना है।

"द्रव्यस्य परमाण्वादेर्या तद्रूपतया स्थितिः।
नव जीर्णतया वा सा वर्त्तना परिकीर्तिता।।"[६८]

प्रत्येक द्रव्य की प्रतिक्षण वर्तना पर्याय के अनुसार भिन्न-भिन्न होती है। परन्तु व्यवहार से सादृश्योपचार के कारण सभी वर्तनाएँ एक ही कही जाती हैं।

द्रव्य का अपनी द्रव्यत्व जाति का त्याग किए बिना द्रव्य के स्वाभाविक लक्षणों में विकार उत्पन्न होना अथवा प्रायोगिक परिवर्तन होना परिणाम है। धर्मास्तिकायादि द्रव्यों का अपने स्वरूप को त्यागे बिना पर्यायों में परिवर्तन होना परिणाम कहलाता है। तात्पर्य यह है कि द्रव्य की मौलिक सत्ता में कोई भी परिवर्तन हुए बिना उसकी पूर्व पर्याय की निवृत्तिपूर्वक उत्तरपर्याय की उत्पत्ति होती है यही परिणाम है। यथा जीवद्रव्य के शरीर रूपी पदार्थ का बाल अवस्था आदि वयरूप पर्याय में परिणमन होता है परन्तु जीवद्रव्य के द्रव्यत्व में किसी भी प्रकार का परिवर्तन नहीं होता है। इस पर्याय परिणमन में भी कालद्रव्य ही उपकारी है। उपाध्याय विनयविजय 'परिणाम' को उसके उत्पत्ति कारण सहित परिभाषित करते हैं-

'द्रव्याणां या परिणतिः प्रयोगविस्रसादिजा।
नवत्वजीर्णताद्या च परिणामः स कीर्तितः।।'[६९]

परिणाम के सादि और अनादि दो भेद हैं। दूध का दही बनना, स्वर्ण का मुद्रा अथवा अंगूठी बनना आदि परिणाम 'सादि परिणाम' हैं तथा धर्मास्तिकायादि परिणाम अनादि परिणाम है।[७०]

यह परिणाम तीन प्रकार से होता है[७१]-

1. **प्रयोग परिणाम**- जीव के प्रयत्न से पदार्थ की पर्यायों में होने वाला परिणमन प्रयोग परिणाम है, यथा- भोजन से रस, रक्त आदि का परिणमन प्रयोग परिणाम है।[७२]
2. **स्वाभाविक परिणाम**- अजीव द्रव्यों की पर्यायों में परिणमन होना स्वाभाविक परिणाम है।

यथा परमाणु की संख्या घटना-बढ़ना, मेघ का छोटा-बड़ा बनना, इन्द्रधनुष का कभी बनना-कभी नहीं बनना इत्यादि स्वाभाविक परिणाम हैं।

'केवलोऽजीवद्रव्यस्य यः स वैस्रसिको भवेत्।
परमाण्वभ्रेंदधनुः परिवेषादि रूपकः।।'[७३]

3. मिश्र परिणाम– जीव के प्रयोग से किसी अजीव द्रव्य के स्वभाव में होने वाला परिवर्तन मिश्र परिणाम होता है। यथा कुम्हार के प्रयत्न से मिट्टी का घट बनना, स्वर्णकार द्वारा स्वर्ण का कुण्डल अथवा मुद्रा का बनाना आदि मिश्र परिणाम है।

प्रयोगसहचारिता, चेतनद्रव्यगोचरः।
परिणामः स्तंभकुंभादिकः स मिश्रको भवेत्।।[७४]

तत्त्वार्थराजवार्तिककार सादि परिणाम को दो ही प्रकार से स्वीकार करते हैं- प्रयोगजन्य और स्वाभावजन्य।[७५]

क्रिया का अनुग्रह कर्ता 'काल'

देशान्तर प्राप्ति हेतु पदार्थ का परिस्पन्दात्मक पर्याय परिणमन ही क्रिया है- 'क्रिया देशान्तरप्राप्तिः।[७६] पदार्थों की गमन, भ्रमण, आकुंचन आदि रूपों में देशान्तर प्राप्ति रूप क्रियाएँ होती हैं। इस क्रिया का अनुग्रह करने वाला काल है।

'भूतत्व–वर्तमानत्व–भविष्यत्व विशेषणा।
यानस्थानादिकार्याणां या चेष्टा सा क्रियोदिता।।'[७७]

क्रिया भी तीन प्रकार से होती है[७८]-

1. प्रयोगजा क्रिया– जीव के व्यापार से उत्पन्न होने वाली क्रिया प्रयोगजा क्रिया होती है। यथा मनुष्य के दौड़ने पर उसकी श्वासोच्छ्वास क्रिया का शीघ्रता से चलना।

2. विस्रसजा क्रिया– अजीव द्रव्य से उत्पन्न होने वाली क्रिया विस्रसजा क्रिया होती है। यथा मेघ का एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाना।

3. मिश्र क्रिया– जीव और अजीव के संयोग से उत्पन्न होने वाली क्रिया मिश्र क्रिया होती है। यथा मनुष्य के द्वारा कोई भी वाहन चलाना।

तत्त्वार्थराजवार्तिककार क्रिया के भी दो ही प्रकारों प्रायोगिक और स्वाभाविक को अंगीकृत करते हैं।[७९]

कोई भी पदार्थ जिस द्रव्य या पदार्थ के आश्रय से प्रथम होता है वह पर और बाद में होने वाला है वह अपर कहलाता है। प्रशंसा, क्षेत्र और कालकृत ये तीन भेद परत्व-अपरत्व के होते हैं।

किन्तु यहाँ कालकृत परत्वापरत्व अभीष्ट है। काल की अपेक्षा पूर्व में होने वाला पर और पश्चात् में होने वाला अपर कहलाता है। यथा राम और दशरथ में राम अपर है और दशरथ पर है। यहाँ पर-अपर का निर्धारण कार्य काल से ही होता है। इस प्रकार ज्येष्ठ-कनिष्ठ के व्यवहार में काल का ही अनुग्रह दिखाई देता है।[८०]

इस प्रकार काल के ये चारों कार्य उसकी पृथक् द्रव्यता सिद्ध करते हैं।

काल के प्रकार

स्थानांग सूत्र[८१], तत्त्वार्थराजवार्तिक[८२], षट्खण्डागम[८३], गोम्मटसार[८४], नियमसार[८५] आदि ग्रन्थों में काल के प्रकारों की चर्चा की गई है। इनके अनुसार काल तीन प्रकार का है- अतीत, अनागत और वर्तमान। गोम्मटसार के अनुसार काल मुख्य और व्यवहार दो प्रकार का है और अतीत-अनागत आदि व्यवहार काल के भेद हैं।[८६] नियमसार में व्यवहारकाल समय और आवलि के भेद से दो प्रकार का अथवा अतीत-अनागतादि भेद से तीन प्रकार बताया गया है।[८७] षट्खण्डागमकार काल के भिन्न-भिन्न अपेक्षाओं से एक से अधिक प्रकार स्वीकार करते हैं[८८]-

१. सामान्य से एक प्रकार का है।

२. अतीत, अनागत और वर्तमान की अपेक्षा से तीन प्रकार का है।

३. नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव निक्षेप की अपेक्षा से चार प्रकार का है।

४. गुणस्थिति, भवस्थिति, कर्मस्थिति, कायस्थिति, उपपाद और भावस्थिति इनकी अपेक्षा से काल छह प्रकार का है।

५. परिणामों से पृथग्भूत काल का अभाव है अतः परिणाम अनन्त होने से काल भी अनन्त प्रकार का है।

विशेषावश्यकभाष्य और लोकप्रकाश में ग्यारह निक्षेपों से काल के प्रकारों का उल्लेख मिलता है। ग्यारह निक्षेप इस प्रकार हैं-

कालशब्दस्य निक्षेपाश्चैकादश निरूपिताः।
सन्नाम स्थापना कालो द्रव्याऽद्धासंज्ञकौ च तौ।।
यथायुष्कोपक्रमाख्यौ देशकालाऽभिधौ च तौ।
प्रमाणवर्णनामानौ भावकालश्चेते स्मृताः।।[८९]

१. नामकाल २. स्थापनाकाल ३. द्रव्यकाल ४. अद्धाकाल ५. यथायुष्ककाल ६. उपक्रमकाल ७. देशकाल ८. कालकाल ९. प्रमाणकाल १०. वर्णकाल ११. भावकाल।

1. नामकाल

लोकव्यवहार के लिए गुण-अवगुण की अपेक्षा न रखते हुए किसी भी वस्तु, वाच्य या व्यक्ति का 'काल' यह संज्ञा अथवा नाम रखना नामकाल निक्षेप है।[६०] काल का यह लोक व्यवहार दिखाई देने से नामकाल को काल के प्रकार में परिगणित किया गया है।

2. स्थापनाकाल

किसी वस्तु अथवा व्यक्ति की प्रतिकृति मूर्ति अथवा चित्र में काल का गुण-अवगुण सहित आरोपण करना स्थापनाकाल कहलाता है।[६१] रेतघड़ी में जितनी देर में रेत एक खण्ड से दूसरे खण्ड में आती है, उसमें एक घंटे की स्थापना करना आदि स्थापना काल है।

3. द्रव्यकाल

सचेतन और अचेतन द्रव्यों की स्थिति ही द्रव्यकाल कहलाती है।[६२] सचेतन और अचेतन द्रव्यों की स्थिति चार प्रकार की उल्लिखित है[६३]-

(1) सादि सान्त– देव, नारक, मनुष्य आदि पर्यायों की स्थिति आदि और अन्त सहित होती है। अतः इन सचेतन द्रव्यों की अपेक्षा से द्रव्यकाल सादि-सान्त है। कहा भी है-

सचेतनस्य द्रव्यस्य सादिः सांता स्थितिर्भवेत्।
सुरनारकमर्त्यादि – पर्यायाणामपेक्षया।।[६४]

अचेतन द्रव्यों में पुद्गलद्रव्य के द्विप्रदेशादि स्कन्ध आदि और अन्त सहित होते हैं। अतः पुद्गलद्रव्य की अपेक्षा से अचेतन द्रव्य का द्रव्यकाल सादि-सान्त है।

(2) सादि अनन्त– सिद्ध के जीव की सिद्ध अवस्था का आरम्भ होता है और उस अवस्था का कभी अन्त नहीं होता है। अतः सिद्ध जीव की अपेक्षा से सचेतन द्रव्य का द्रव्यकाल सादि अनन्त होता है-सिद्धाः सिद्धत्वमाश्रित्य साद्यनंता स्थितिश्रिताः।[६५]

अचेतन द्रव्यों में काल द्रव्य के भविष्यकाल की पर्याय आदि सहित और अन्त रहित होती है। अतः भविष्यकाल की पर्याय की अपेक्षा अचेतन द्रव्य का द्रव्यकाल सादि-अनन्त है।[६६]

(3) अनादि–सान्त– भव्य जीव का भव्यत्व अनादि है और मोक्ष-प्राप्ति पर उस भव्यता का अन्त होने से वह सान्त है। अतः भव्य जीव की अपेक्षा से सचेतन द्रव्य का द्रव्यकाल अनादि-सान्त होता है-भव्याभव्यत्वमाश्रित्यानादि सांता गताः स्थिति।[६७]

अचेतन द्रव्यों में कालद्रव्य के भूतकाल की पर्याय अनादिकाल से चलती है और उसका अन्त होता है। अतः भूतकाल की पर्याय अपेक्षा अचेतन द्रव्य का द्रव्यकाल अनादि सान्त है।[६८]

(4) अनादि अनन्त– अभव्य जीव की अभव्यता अनादि है और वह कभी समाप्त नहीं होती है।

अतः अभव्यजीव की अपेक्षा से सचेतन द्रव्य का द्रव्यकाल अनादि-अनन्त भी है।

अभव्याश्चाभव्यतयाऽनाद्यनंतस्थितौ स्थिताः।
द्रव्यस्येति सचित्तस्य स्थितिरुक्ता चतुर्विधा।।[९९]

धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय और आकाशास्तिकाय अचेतन द्रव्य अनादि और अनन्त हैं। अतः इन तीनों की अपेक्षया अचेतन द्रव्य का द्रव्यकाल अनादि-अनन्त है।[१००]

4. अद्धाकाल

अढ़ाई द्वीप क्षेत्र में सूर्य-चन्द्र आदि ग्रहों, नक्षत्रों की गति क्रिया से होने वाला काल अद्धाकाल कहलाता है।

सूर्यादिक्रियया व्यक्तीकृतो नृक्षेत्रगोचरः।
गोदोहादिक्रियानिर्व्यपेक्षोऽद्धाकाल उच्यते।।[१०१]

अद्धाकाल समय, आवलिका, मुहूर्त आदि भेदों से निरन्तर प्रवृत्त रहता है- 'अद्धाकालस्यैव भेदाः समयावलिकादयः।[१०२]

5. यथायुष्ककाल

समय, आवलिकादि भेद रूप अद्धाकाल जीवों के आयुष्य मात्र की विशिष्टता का कथन करने पर यथायुष्ककाल कहलाता है- 'यश्चाद्धाकाल एवायुष्मतामायुर्विशेषितः। वर्तनादिमयः ख्यातः स यथायुष्कसंज्ञया।'[१०३]

नारकी, तिर्यंच, मनुष्य और देवता जितने आयुष्यकर्म का उपार्जन कर उसका जीवनकाल में अनुभव करते हैं वह यथायुष्ककाल होता है-

यद्येन तिर्यग्मनुजा दिक्जीवितमर्जितं।
तस्यानुभवकालो यः स यथायुष्क उच्यते।।[१०४]

6. उपक्रमकाल

जीव जिस क्रिया अथवा उपाय से दूर रही वस्तु को नजदीक लाता है वह उपक्रम कहलाता है और उपक्रम पूर्ण होने में लगने वाला काल 'उपक्रमकाल' कहलाता है। उपाध्याय विनयविजय भी कहते हैं-

येनोपक्रम्यते दूरस्थं वस्त्वानीयतेऽतिकं।
तैस्तैः क्रियाविशेषैः स उपक्रम इति स्मृतः।।
उपक्रमणमभ्यर्णा नयनं वा दवीयसः।
उपक्रमस्तत्कालोऽपि ह्युपचारादुपक्रमः।।[१०५]

यहाँ उपक्रम से तात्पर्य किसी वस्तु को दूर से पास में लाना मात्र नहीं है, अपितु उदय में न

आए हुए कर्म पुद्गलों को समय से पूर्व उदय में लाकर भोगना है। उपक्रमकाल सामाचारी और यथायुष्क दो प्रकार का होता है।[१०६]

(1) सामाचारी उपक्रमकाल

शिष्ट पुरुषों के आचरण की क्रियाओं का समूह सामाचारी कहलाता है और उस सामाचारी द्वारा किया गया उपक्रम सामाचारी उपक्रम कहलाता है। सामाचारी-उपक्रम में लगने वाला काल 'सामाचारी उपक्रम काल' कहा जाता है। सामाचारी आगम ग्रन्थ उत्तराध्ययन सूत्र, आवश्यक सूत्र ग्रन्थों में उपलब्ध होती है। यतनापूर्वक सोना, उठना, चलना, खाना, पीना आदि सभी क्रियाओं द्वारा सामाचारी उपक्रम किया जाता है। सामाचारी उपक्रम ओघ, पदविभाग और दशविध तीन प्रकार का होता है।

ओघः पदविभागश्च दशधा चेति स त्रिधा।
सामाचारीत्रिधात्वेनोपक्रमोऽप्युदितो बुधैः।।[१०७]

सामान्य प्रतिलेखना आदि साधुओं की सामाचारी जिसका 'ओघनिर्युक्ति' में उल्लेख मिलता है वह ओघ सामाचारी कहलाती है।

इसी प्रकार छेदसूत्र में उल्लिखित सामाचारी पदविभागसामाचारी और आवश्यकनिर्युक्ति ग्रन्थ में लिखित दस प्रकार की सामाचारी दशविध सामाचारी कहलाती है।[१०८] उत्तराध्ययन सूत्र में भी दशविध सामाचारी का उल्लेख मिलता है।[१०९] लोकप्रकाश के अनुसार दशविध सामाचारी इस प्रकार है-

इच्छामिच्छातहक्कारो आवस्सिया य निसीहिया।
आपुच्छणा य पडिपुच्छा छंदणा य निमंतणा।
उवसंपदा य काले सामाचारी भवे दसधा।।[११०]

इच्छाकार, मिथ्याकार, तथाकार, आवश्यकी, नैषेधिकी, आपृच्छना, प्रतिपृच्छना, छन्दना, निमंत्रणा और उपसंपदा ये दस प्रकार की सामाचारी काल के आश्रित है।

इच्छाकार– गुरु के आदेश देने पर इच्छापूर्वक कार्य करना और विनम्रतापूर्वक कार्य करवाना इच्छाकारसामाचारी है।[१११]

मिथ्याकार– दोषनिवृत्ति के लिए आत्मनिन्दा करना मिथ्याकार सामाचारी है।[११२]

तथाकार– गुरु के द्वारा दिए गए उपदेश, सूत्र, अर्थ आदि वचन सत्य है इस प्रकार स्वीकार करना तथाकार-सामाचारी है।[११३]

आवश्यकी– आवश्यक कार्य के लिए उपाश्रय से बाहर जाते समय 'आवस्सिया' शब्द का

उच्चारण करना आवश्यकी सामाचारी कहलाती है। इसके पश्चात् साधु को अनावश्यक कार्य नहीं करने चाहिए।[११४]

नैषेधिकी– आवश्यक कार्य से निवृत्त होकर उपाश्रय में प्रवेश करने पर 'निसीहिया' शब्द का उच्चारण करना नैषेधिकी सामाचारी कहलाती है।[११५]

आपृच्छना– आपृच्छना किसी भी कार्य में प्रवृत्त होने से पूर्व गुरु से आज्ञा लेना आवश्यक है। उपाध्याय विनयविजय के अनुसार कार्य करने की इच्छा होने पर गुरु से आज्ञा लेना आपृच्छना है- 'आपृच्छना स्यादापृच्छा गुरोः कार्य चिकीर्षिते।'[११६]

प्रतिपृच्छना– गुरु द्वारा पूर्वनिषिद्ध कार्य को करना आवश्यक है, अतः पुनः गुरु से उसे करने के लिए पूछना अथवा आज्ञा लेना प्रतिपृच्छना सामाचारी है। विनयविजय के अनुसार कार्य की इच्छा उत्पन्न होने के पश्चात् कार्य करने के लिए पुनः गुरु से पूछना प्रतिपृच्छना कहलाता है- 'प्रतिपृच्छा कार्यकाले भूयो यत्पृच्छनं गुरोः।'[११७]

छन्दना– स्वयं द्वारा लाए हुए आहार में लाभ लेने के लिए गुरु और अन्य साधुओं से प्रार्थना करना छन्दना सामाचारी है।[११८]

निमंत्रणा– आहार लाने के लिए जाते समय गुरु और अन्य साधुओं से आहार लाने के विषय में पूछना निमंत्रणा सामाचारी होती है।[११९]

उपसम्पदा– ज्ञान, दर्शन, चारित्र, सेवा आदि कारणों से अन्य गच्छ के आचार्य आदि के समीप रहना उपसम्पदा सामाचारी है।[१२०]

(2) यथायुष्कउपक्रमकाल

सोपक्रमआयुष्य वाले जीव के द्वारा बहुत काल तक भोगने योग्य आयुष्य को संक्षेप करके अल्पकाल में ही भोगने योग्य कर देना यथायुष्कउपक्रमकाल कहलाता है।

अनल्पकालवेद्यस्यायुषः संवर्त्तनेन यत्।
अल्पकालोपभोग्यत्वं भवेत्सोपक्रमायुषां।।
यथायुष्कोपक्रमाख्यः स कालः परीकीर्त्तितः।।[१२१]

तप, पुरुषार्थ आदि के द्वारा अनिकाचित कर्मों[१२२] की स्थिति, रस आदि को कम करना और शुभ तथा अशुभ परिणामों के अनिकाचित पाप तथा पुण्यकर्मों का अपवर्तन करना उपक्रम है। इस प्रकार के उपक्रम से दीर्घ आयुष्य का संक्षेपण होता है अतः यह यथायुष्कउपक्रमकाल कहलाता है।

7. देशकाल

शुभ अथवा अशुभ कार्य को देखकर यह जान लेना कि उपर्युक्त समय किस कार्य के लिए

उचित है, वह देशकाल कहलाता है।[१२३] धुएँ रहित गाँव को देखकर, कुएँ को स्त्री शून्य देखकर तथा घरों पर कौए को उड़ते हुए देखकर साधुओं द्वारा यह जान लिया जाता है कि भिक्षा काल हो गया है। यह देशकाल कहलाता है।

8. कालकाल

कालधर्म को प्राप्त होने वाला काल अर्थात् मृत्यु का समय 'कालकाल' कहलाता है। यथा किसी वृद्ध के अत्यधिक अस्वस्थ अथवा हृदयाघात आने पर कहा जाता है कि इनका काल नजदीक आ गया है। अतः काल का आना ही 'कालकाल' कहलाता है।

यो यस्य मृत्युकालः स्यात् कालकालः स तस्य यत्।
कालं गतो मृत इति गम्यते लोकरूढितः।।[१२४]

9. प्रमाणकाल

काल का निश्चित माप निर्धारित कर गणना करना प्रमाणकाल कहलाता है। यथा काल की इकाईयों को समय, आवलिका, मुहूर्त्त, दिन-रात आदि में विभाजित करना प्रमाणकाल है।

अद्धाकालस्यैव भेदः प्रमाणकाल उच्यते।
अहोरात्रादिको वक्ष्यमाण विस्तारवैभवः।।[१२५]

10. वर्णकाल

पाँच वर्णों (कृष्ण, नील, रक्त, पीत एवं श्वेत) में श्याम कान्ति वाला वर्ण 'वर्णकाल' होता है। अर्थात् काल का वर्ण श्याम वर्ण निश्चित किया गया है-

पंचानामथ वर्णानां मध्ये सः श्यामलद्युतिः।
स वर्णकालो विज्ञेयः सचिताचितरूपकः।।[१२६]

11. भावकाल

औदयिक, क्षायोपशमिक, क्षायिक, औपशमिक और पारिणामिक। इन पाँचों भावों की सादि, सान्त आदि विभागों की जो स्थिति होती है वह 'भावकाल' होता है-

भवत्यौदयिकादीनां या भावपनामवस्थितिः।
सादिसांतादिभिर्भंगैः भावकालः स उच्यते।।[१२७]

प्रमाणकाल का विशेष स्वरूप

जीव और पुद्गल का पर्याय-परिणमन कालद्रव्य के बिना सिद्ध नहीं होता है। अतः निश्चयकाल रूप कालद्रव्य स्वीकार किया जाता है। जीव और पुद्गल का यह पर्याय-परिणमन लोक में व्यवहार काल से प्रकट होता है। व्यवहार काल का भिन्न-भिन्न इकाइयों अथवा मान विभाजन

किए जाने से इसे 'प्रमाणकाल' कहा जाता है।

"तत्र प्रमीयते परिच्छिद्यते येन वर्षशतपल्योपमादि तत्प्रमाणं तदेव कालः प्रमाणकालः स च अद्धाकालविशेष एव दिवसादिलक्षणो मनुष्यक्षेत्रान्तर्वर्तीति।"[१२८]

जिस काल के द्वारा वर्ष, पल्योपम आदि को मापा जाता है वह प्रमाणकाल है। वह अद्धाकाल का ही प्रकार है। वह दिवस आदि लक्षणवाला होता है तथा मनुष्य क्षेत्र (अढ़ाई द्वीप) में इसका व्यवहार होता है।

प्रमाणकाल के प्रकार

भगवती सूत्र के अनुसार प्रमाणकाल दिवस और रात्रि रूप दो प्रकार का है।[१२९] अनुयोगद्वार सूत्र के अनुसार प्रमाणकाल दो प्रकार है- १. प्रदेशनिष्पन्न और २ विभागनिष्पन्न।

'कालप्पमाणे दुविहे पण्णत्ते, तं जहा– 1. पदेसनिप्पण्णे 2. विभागनिप्पण्णे य।'[१३०]

प्रदेशनिष्पन्न प्रमाणकाल से यहाँ तात्पर्य है कि किसी भी परमाणु अथवा स्कन्ध की स्थिति से काल निर्धारण करना। अर्थात् किसी भी परमाणु अथवा स्कन्ध की स्थिति एक समय, दो समय, तीन समय यावत् असंख्य समय तक होना प्रदेशनिष्पन्न प्रमाणकाल कहलाता है।[१३१] केवलज्ञानी, अवधिज्ञानी ही इस प्रमाणकाल को साक्षात् जानते हैं। आधुनिक विज्ञान में भी इस पद्धति द्वारा अवशेषों से काल का निर्धारण किया जाता है। यह भी प्रदेश निष्पन्न प्रमाणकाल का ही स्वरूप है।

किसी भी परमाणु अथवा स्कन्ध का काल की अपेक्षा से भिन्न-भिन्न मान में निर्धारण कर विशिष्ट संज्ञा से अभिहित करना विभागनिष्पन्नप्रमाणकाल कहलाता है। समय, आवलिका, मुहूर्त्त, दिवस, अहोरात्र, पक्ष, मास, संवत्सर, युग, पल्य, सागर और परावर्तन इन संज्ञाओं से काल विभागों से परमाणु अथवा स्कन्ध निष्पन्न किए जाते हैं।[१३२]

लोकप्रकाशकार प्रमाणकाल के तीन प्रकारों को दो रूपों में प्रस्तुत करते हैं-

१. अतीत, अनागत और वर्तमान के भेद से प्रमाणकाल के तीन प्रकार हैं।

अत्र प्रमाणकालोऽस्ति प्रकृतिः स प्रतन्यते।
अतीतोऽनागतो वर्त्तमानश्चेति त्रिधा स च।।[१३३]

२. संख्यात, असंख्यात और अनन्त के भेद से प्रमाणकाल के तीन प्रकार हैं।

असंख्येयः पुनः कालः ख्यातः पल्योपमादिकः।
अनन्तःपुद्गलपरावर्त्तादिः परिकीर्तितः।।[१३४]

जो काल तत्क्षण चल रहा है वह 'वर्तमानकाल' कहलाता है- 'वर्त्तमानः पुनर्वर्तमानैकसमयात्मकः।'[१३५] वर्तमानकाल पर आश्रित जो समय व्यतीत हो गया है वह 'अतीतकाल'

तथा वर्तमानकाल पर ही आश्रित जो समय आने वाला है वह 'अनागतकाल' कहलाता है-

अवधीकृत्य समयं वर्त्तमानं विवक्षितं।
भूतः समयराशिर्यः कालोऽतीतः स उच्यते।।
अवधीकृत्य समयं वर्त्तमानं विवक्षितं।
भावी समयराशिर्यः कालः स स्यादनागतः।।[१३६]

एक समय से लेकर शीर्ष प्रहेलिका तक का काल संख्यातकाल, पल्योपम, सागरोपम आदि असंख्यातकाल और पुद्गलपरावर्तादिक रूपकाल अनन्तकाल कहलाते हैं-

संख्येयश्चाप्यसंख्येयोऽनंतश्चेत्यथवा त्रिधा।
शीर्षप्रहेलिकांतः स्यात्तत्राद्यः समयादिकः।।
असंख्येयः पुनः कालः ख्यातः पल्योपमादिकः।
अनन्तः पुद्गलपरावर्त्तादिः परिकीर्त्तितः।।[१३७]

1. संख्यातकाल

प्रमाणकाल में संख्यातकाल का सर्वप्रथम विभाग 'समय' है। अत्यन्त सूक्ष्म होने से योगी भी इसका विभाग नहीं कर सकते हैं।[१३८] यह समय काल की सबसे सूक्ष्मतम इकाई है। लोकप्रकाशकार ने जीर्ण-शीर्ण वस्त्रों को फाड़ना, कमल के सौ पत्रों का छेदन करना, आँख का निमीलन, चुटकी बजाना आदि उदाहरणों से समय के स्वरूप को स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है।[१३९]

असंख्य समयों का समुदाय एक आवलिका होती है। संख्यात आवलिकाओं का समूह एक प्राण होता है। जरा और व्याधि रहित नीरोग मनुष्य का एक उच्छ्वास निश्वास 'प्राण' कहा जाता है। संख्येय आवलिका जितना एक उच्छ्वास और संख्येय आवलिका जितना एक निःश्वास भी होता है। अतः उच्छ्वास और निःश्वास दोनों की संख्येय-संख्येय आवलिकाओं को मिलाकर एक प्राण कहा गया है-

संख्येयावलिकामानौ प्रत्येकं तावुभावपि।
द्वाभ्यां समुदिताभ्यां स्यात्कालः प्राण इति श्रुतः।।[१४०]

रोगी मनुष्य का उच्छ्वास-निःश्वास क्रम नियमित नहीं होता है, इसलिए नीरोग मनुष्य के उच्छ्वास-निःश्वास से तुलना की गई है।

सात प्राणों जितना एक स्तोक होता है। सात स्तोक जितना एक लव और साढ़े अड़तीस लव प्रमाणकाल की एक नालिका होती है।[१४१] अनुयोगद्वारसूत्र में लव प्रमाणकाल के पश्चात् मुहूर्त्त की गणना की गई है- 'लवाणं सत्तहत्तरिए, एस मुहूत्ते वियाहिए।' अर्थात् ७७ लव का एक मूहूर्त्त कहा गया है।

ज्योतिषकरंडक ग्रन्थ में नालिका की संज्ञा 'घड़ी' है।[१४२] उपाध्याय विनयविजय ने नालिका से लेकर यावत् संवत्सर प्रमाणकाल का प्रमाण तोल और माप के आधार पर भी उल्लिखित किया है।[१४३]

दो नालिकाओं का एक मुहूर्त्त होता है। तोल की अपेक्षा यह एक मुहूर्त्त दो सौ पल प्रमाण और माप की अपेक्षा से चार आढक (जल से प्रमाणित) प्रमाण होता है।

तीस मुहूर्त्त (साठ नालिका प्रमाण) का एक अहोरात्र होता है। एक अहोरात्र तोल की अपेक्षा से छः हजार पल प्रमाण (तीन भार प्रमाण) और माप की अपेक्षा से एक सौ बीस आढक प्रमाण होता है।

पन्द्रह अहोरात्र का एक पक्ष अर्थात् एक पखवाड़ा होता है। तोल की दृष्टि से पैंतालीस भार प्रमाण और माप की दृष्टि से अठारह सौ आढ़क प्रमाण का एक पक्ष होता है।

दो पक्ष प्रमाण का एक मास होता है। यह एक मास तोल की अपेक्षा से नब्बे भार प्रमाण और माप की अपेक्षा से छत्तीस सौ आढ़क प्रमाण होता है।

बारह मास का एक संवत्सर (वर्ष) होता है। एक वर्ष में तीन सौ साठ दिन-रात (अहोरात्र) होते हैं। दो अयनों को मिलाने पर एक संवत्सर पूर्ण होता है। तीन ऋतुओं से एक अयन बनता है और दो मासों की एक ऋतु बनती है। तोल की अपेक्षा से एक हजार अस्सी भार प्रमाण और माप की अपेक्षा से तैंतालीस हजार दो सौ (४३२००) आढकप्रमाण वाला एक वर्ष होता है।[१४४] एक वर्ष में क्रमशः प्रावृट्[१४५], वर्षा, शरद, हेमन्त, बसन्त और ग्रीष्म छह ऋतुएँ आती हैं।[१४६] संवत्सर पाँच प्रकार के होते हैं-

किं च संवत्सराः पंचविधाः प्रोक्ता जिनश्वरैः।
सूर्यर्त्तुचन्द्रनक्षत्राह्वयास्तथाभिवर्द्धितः।।[१४७]

१. सूर्यसंवत्सर २. ऋतुसंवत्सर ३. चन्द्रसंवत्सर ४. नक्षत्रसंवत्सर और ५. अभिवर्धितसंवत्सर।

पाँच संवत्सरों के समुदाय को एक युग कहा जाता है। एक युग में तीस ऋतुएँ[१४८], एक सौ चौंतीस (१३४) अयन[१४९] तथा अठारह सौ तीस (१८३०) अहोरात्र[१५०] होते हैं।

चार युगों की एक बीसी होती है और पाँच बीसियों का एक शतम् बनता है। दश शतम् का समूह एक हजार वर्ष कहलाता है और सौ हजार वर्ष का समुदाय एक लाख वर्ष होता है। ८४ लाख वर्षों का समूह एक पूर्वांग और ८४ लाख पूर्वांगों का एक पूर्व होता है। एक पूर्व में ७० लाख ५६ हजार करोड़ वर्ष होते हैं। ८४ लाख पूर्वों का एक त्रुटितांग होता है। ८४ त्रुटितांगों के समूह द्वारा एक त्रुटित बनता है। इस तरह अनुक्रम से ८४ लाख से गुणा करने से अडडांग, अडड, अववांग, अवव,

हूहूकांग, हूहूक, उत्पलांग, उत्पल, पद्मांग, पद्म, नलिनांग, नलिन, अर्थ निपूरांग, अर्थनिपुर, आयुतांग, अयुत, नयुतांग, नयुत प्रयुतांग, प्रयुत-चूलिकांग, चूलिका, शीर्षप्रहेलिकांग और शीर्षप्रहेलिका ये गणितीय संख्याएँ पूर्ण होती हैं।[५५]

काल के मापक शब्द

१. सर्व से सूक्ष्म समय।
२. असंख्य समय की एक आवलिका
३. संख्यात आवलिका का एक उच्छ्वास और एक निःश्वास।
४. एक उच्छ्वास और एक निःश्वास दोनों का मिलकर एक प्राण।
५. सात प्राण का एक स्तोक।
६. सात स्तोक का एक लव।
७. ७७ लव का एक मुहूर्त्त अथवा दो घड़ी होती हे।
८. तीस मुहूर्त्त का एक दिन-रात।
९. पन्द्रह दिन-रात का एक पक्ष।
१०. दो पक्ष का एक मास।
११. दो मास की एक ऋतु।
१२. तीन ऋतु का एक अयन।
१३. दो अयन का एक वर्ष।
१४. पांच वर्ष का एक युग।
१५. बीस युग में एक सौ वर्ष पूर्ण होते हैं।
१६. दस सौ वर्ष का एक हजार वर्ष।
१७. सौ हजार वर्ष का एक लाख वर्ष।
१८. चौरासी लाख वर्ष में एक पूर्वांग।
१९. ८४ लाख पूर्वांग में एक पूर्व। इसमें अंक चार और बिन्दु १० है- ७०५६०००००००००।
२०. ८४ लाख पूर्व में एक त्रुटितांग होता है। त्रुटितांग में ५९२७०४ अंक छह और बिन्दु १५ होते हैं।
२१. ८४ लाख त्रुटितांग से एक त्रुटित होता है। त्रुटित में ४९७८७१३६ अंक आठ और बिन्दु

२० होते हैं।

२२. ८४ लाख त्रुटित से एक अडडांग है। अडडांग में ४१८२११९४२४ अंक दस और बिन्दु २५ होते हैं।

२३. ८४ लाख अडडांग से एक अडड होता है। अडड में ३५१२९८०३१६१६ अंक बारह और बिन्दु ३० है।

२४. ८४ लाख अडड से एक अववांग है। अववांग में ३५१२९८०३१६१६ अंक चौदह और बिन्दु ३५ है।

२५. ८४ लाख अववांग से एक अवव है। एक अवव में २४७८७५८९११०८२४९६ अंक सोलह और बिन्दु ४० है।

२६. ८४ लाख अवव से एक हूहूकांग होता है। एक हूहूकांग में २०८२१५७४८५३०९२९६६४ अंक पन्द्रह और बिन्दु ४५ है।

२७. ८४ लाख हूहूकांग से एक हूहूक होता है। एक हूहूक में १७४९०१२२८७६५९८०९ १७७६ अंक बीस और बिन्दु ५० है।

२८. ८४ लाख हूहूक से एक उत्पलांग होता है। एक उत्पलांग में १४६९१७०३२१६३४२३९ ७०९१८४ अंक बाईस और बिन्दु ५५ है।

२९. ८४ लाख उत्पलांग से एक उत्पल होता है। एक उत्पल में १२३४१०३०७०१७२७६ १३५५७१४५६ अंक चौबीस और बिन्दु ६० है।

३०. ८४ लाख उत्पल से एक पद्मांग होता है। एक पद्मांग में १०३६६४६५७८९४५११९५ ३८८० ०२३०४ अंक छब्बीस और बिन्दु ६५ है।

३१. ८४ लाख पद्मांग से एक पद्म होता है। एक पद्म में ८७०७८३१२६३१३९००४१२ ५९२१ ९३५३६ अंक सत्ताईस और बिन्दु ७० है।

३२. ८४ लाख पद्म से एक नलिनांग होता है। एक नलिनांग में ७३१४५७८२६१०३६७६३ ४६५७७४४२५७०२४ अंक उनतीस और बिन्दु ७५ है।

३३. ८४ लाख नलिनांग से एक नलिन, जिसमें ६१४४२४५७३९२७०८८१३ ११२५०५१७५९००१६ अंक इकतीस और बिन्दु ८० है।

३४. ८४ लाख नलिन से एक अर्थनिपूरांग, जिसमें ५१६११६६४२०९८७५४०३०१४५०४ ३४७७५६१३४४ अंक तैंतीस और बिन्दु ८५ है।

३५. ८४ लाख अर्थनिपूरांग से एक अर्थनिपूर, जिसमें ४३३५३७९७९३६२९५३३८५

३२१८३६५२११५१५२८६६ अंक पैंतीस और बिन्दु ६० है।

३६. ८४ लाख अर्थनिपूर से एक अयुतांग, जिसमें ३६४१७१६०२६६४८८० ८४३६७०३४२६७७७ ६७२८४३२६४ अंक सैंतीस और बिन्दु ६५ है।

३७. ८४ लाख अयुतांग से एक अयुत, जिसमें ३०५६०४३६८२३८४६६६० ८६८३०८७८४६३२ ४५१८८३४१७६ अंक उनचालीस और बिन्दु १०० है।

३८. ८४ लाख अयुत से एक प्रयुतांग, जिसमें २५६६५६६६४५२०३३६ ६२३२६३७६३७६३४३२२ ६५८२०७०७८४ अंक इकतालीस और बिन्दु १०५ है।

३९. ८४ लाख प्रयुतांग से एक प्रयुत, जिसमें २१५८४६१४३३६७०८५ ५३५५६६७८६७८६४८३३८ ०४८६३६४५८५६ अंक तैयालीस और बिन्दु ११० है।

४०. ८४ लाख प्रयुत से एक नयुतांग, जिसमें १८१३१०७६०४५३५५१८४ ६८७६१००६००६४६०३६६११०६१४५१६०४ अंक पैंतालीस और बिन्दु ११५ है।

४१. ८४ लाख नयुतांग से एक नयुत, जिसमें १५२३०१०३८७८०६८३५५३८६५ ८२४७५६५४२६७३२७३३१६८१६५६६३६ अंक सैंतालीस और बिन्दु १२० है।

४२. ८४ लाख नयुत से एक चूलिकांग, जिसमें १२७६३२८७२५७६०२६१ ८५२७२५७६७६५४६५८४५५४६५८६१२८४६३४६२४ अंक उनचास और बिन्दु १२५ है।

४३. ८४ लाख चूलिकांग से एक चूलिका, जिसमें १०७४६३६१२६६३८६१६६५ ६२८६६४५०८२१६५१०२६१६५२३४७६०६३०८४१६ अंक इक्यावन और बिन्दु १३० है।

४४. ८४ लाख चूलिका से एक शीर्षप्रहेलिकांग, जिसमें ६०२६६४३४८८६६४४०७६३२८ ३३०१८६६०१८६ ८६१६७८७६७२२४३८१६०६६४४ अंक बावन और बिन्दु १३५ है।

४५. ८४ लाख शीर्षप्रहेलिकांग से एक शीर्षप्रहेलिका, जिसमें ७५८२६३२५३०७३०१०२४११ ५७६ ७३५६६६७५६६६४०६२१८६६६८४८०८०१८३२६६ अंक चौवन और बिन्दु १४० है।

2. असंख्यातकालः औपमिककाल

गणितीय संख्याओं के पश्चात् औपमिक काल गणना प्रारम्भ होती है जिसे असंख्यात काल कहा गया है। यह औपमिक काल पल्योपम और सागरोपम के भेद से दो प्रकार का है- 'अथ

द्विधोपमेयं स्यात्पल्यसागरभेदतः।[१५२]

पल्योपम– एक योजन प्रमाण लम्बा, एक योजन चौड़ा और एक योजन ऊँचा तथा ३.१/६ योजन प्रमाण परिधि वाला कुआँ अथवा क्षेत्र 'पल्य' कहलाता है। यह पल्य एक दिन, दो दिन, तीन दिन उत्कृष्ट सात दिन के उगे हुए करोड़ बालों से ठसाठस भर जाए। यह ठसाठस भरा पल्य इस तरह से बन्द हो कि ये बाल अग्नि से न जलें, वायु से न उड़े, पानी से न गलें, नष्ट न हों और न हीं सड़ें हो। उस पल्य में से सौ-सौ वर्ष बीतने पर एक-एक बाल को निकाला जाए तो निकालते-निकालते जितने काल में वह पल्य रिक्त होता है, निर्मल होता है एवं विशुद्ध होता है उतना काल पल्योपम कहलाता है।

इस तरह दस कोटाकोटि पल्योपम प्रमाण जितना एक **सागरोपम** प्रमाण काल होता है।[१५३]

पल्योपम और सागरोपम प्रमाण काल से नैरयिक, तिर्यंचयोनिक, मनुष्य और देवों का आयुष्य मापा जाता है।[१५४] बीस कोटाकोटि सागरोपम काल समुदाय से अढ़ाई द्वीप का एक कालचक्र पूर्ण होता है। एक कालचक्र में दस-दस कोटाकोटि सागरोपम के अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी नामक दो अर्द्धकालचक्र पूर्ण होते हैं। एक कालचक्र की पूर्णता में अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी काल के छह-छह आरे कुल बारह आरे पूर्ण होते हैं।[१५५] जिस कालचक्र में सभी शुभ भाव अनुक्रम से प्रत्येक क्षण क्षीण होते जाते हैं और अशुभ भावों में वृद्धि होती है वह अवसर्पिणी काल[१५६] कहा जाता है। इसके विपरीत व्यवस्था वाला कालचक्र उत्सर्पिणी कहलाता है अर्थात् जिस काल में प्रतिक्षण शुभ भावों की वृद्धि होती है और अशुभ भाव क्षीण होते हैं, वह उत्सर्पिणी काल[१५७] है।

अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी कालचक्र के आरों के नाम और प्रमाणों का उल्लेख चित्रण से स्पष्ट है-

अवसर्पिणी–उत्सर्पिणी कालचक्र

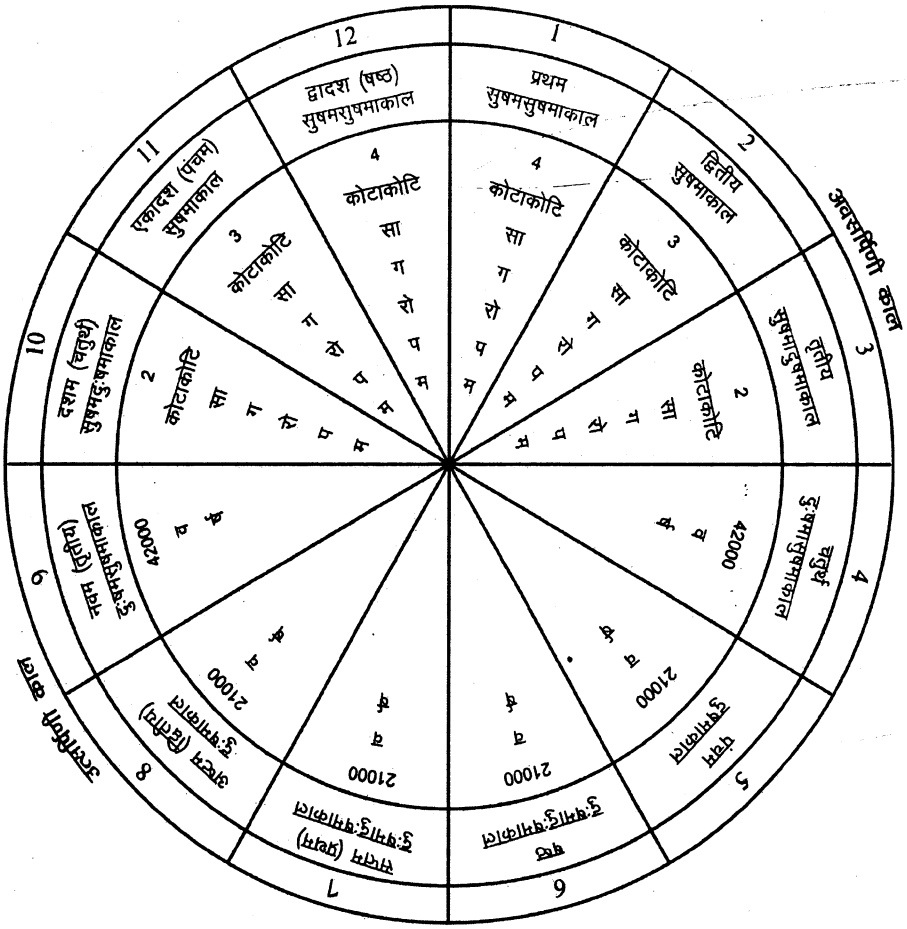

दस कोटाकोटि सागरोपम (४+३+२+१ सागरोपम) से छह आरारूप एक अवसर्पिणी काल अर्थात् आधा कालचक्र पूर्ण होता है। अवसर्पिणी से विपरीत क्रम में छह आरों वाला उत्सर्पिणी काल होता है।[१५८] इस तरह बारह आरे से अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी का एक कालचक्र पूर्ण होता है। इसके बाद पुनः पूर्व के समान अवसर्पिणी काल का प्रथम आरा प्रारम्भ होता है।[१५९]

3. अनन्तकाल : पुद्गलपरावर्तन

परिवर्तनशील यह लोक अनन्त पुद्गल वर्गणाओं[१६०] से भरा हुआ है। पुद्गलों में निरन्तर परिवर्तन होता है। पुद्गल का एक पर्याय से दूसरी पर्याय में बदलना परिवर्तन है। यह परिवर्तन ही परावर्तन कहलाता है। अनन्त उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी में एक पुद्गलपरावर्तन होता है। पुद्गलपरावर्तन से काल की गणना की जाती है। अतः लोकप्रकाशकार ने काललोक के अन्तर्गत

३५वें सर्ग में पुद्गलपरावर्तन का विस्तृत उल्लेख किया है।

जीव अनादिकाल से इस संसार में परिभ्रमण कर रहा है। अब तक एक भी परमाणु१६१ ऐसा शेष नहीं रहा होगा जिसे जीव ने भोगा न हो, आकाश का एक भी प्रदेश ऐसा बाकी न होगा जिसमें यह न मरा हो, उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी काल का एक भी ऐसा समय शेष नहीं रहा होगा जिसमें यह मृत्यु को प्राप्त न हुआ हो और ऐसा एक भी कषाय स्थान बाकी नहीं है जिसमें यह दिवंगत न हुआ हो। प्रत्युत उन परमाणु, प्रदेश, समय और कषाय स्थानों को यह अनेक बार अपना चुका है। इसी को दृष्टि में रखकर पुद्गलपरावर्तन को द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव इन चार विभागों में विभाजित कर काल का विभाग किया जाता है। जो पुद्गलपरावर्त जितने काल में होता है, उतने काल के परिमाण को उस-उस पुद्गलपरावर्त के नाम से पुकारा जाता है। यद्यपि द्रव्यपुद्गलपरावर्तन के सिवाय अन्य किसी भी परावर्तन में पुद्गल का परावर्तन नहीं होता, क्योंकि क्षेत्र पुद्गल परावर्तन में क्षेत्र का, कालपुद्गलपरावर्तन में काल का और भावपुद्गलपरावर्तन में भाव का परावर्तन होता है, किन्तु एक पुद्गलपरावर्तन का काल अनन्त उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी काल के बराबर होता है, जो क्षेत्र, काल तथा भाव पुद्गलपरावर्त में भी समान रूप से लागू होता है। अतः इन परावर्तनों की भी पुद्गलपरावर्तन संज्ञा की गई है।

उपाध्याय विनयविजय का मानना है कि शब्द का अर्थ-बोध दो निमित्तों से होता है- व्युत्पत्ति निमित्त से और प्रवृत्ति निमित्त से। यथा 'गौ' शब्द का व्युत्पत्ति निमित्त है 'गमन करना' और प्रवृत्ति निमित्त है खुर, ककुद, पूँछ व गलकम्बल युक्त पिण्ड। अतः बैठी हुई गाय को 'गौ' कहने में कोई विरोध नहीं आता, क्योंकि उसमें 'गो' शब्द का प्रवृत्ति निमित्त घटित हो रहा है और गज, अश्व आदि में गमन क्रिया होते हुए भी गलकम्बल, पूँछ, ककुदादि प्रवृत्ति निमित्त नहीं होने से उन्हें 'गौ' शब्द से पुकारा नहीं जाता। इसी प्रकार पुद्गल परमाणुओं का औदारिक आदि वर्गणा के रूप में विवक्षित शरीर रूप से अथवा सम्पूर्ण रूप से ग्रहण कर छोड़ने में जितना काल लगता है वह काल पुद्गलपरावर्त है। यह पुद्गलपरावर्त का व्युत्पत्ति निमित्त है। अनन्त उत्सर्पिणी-अवसर्पिणी प्रमाणकाल पुद्गलपरावर्त शब्द का प्रवृत्तिनिमित्त है। अतः क्षेत्र, काल और भाव पुद्गलपरावर्तनों में पुद्गलपरावर्त शब्द का व्युत्पत्ति निमित्त घटित न होने पर भी प्रवृत्तिनिमित्त घटित होता है इसलिए इन्हें पुद्गलपरावर्त कहने में कोई विरोध नहीं आता।

द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की दृष्टि से पुद्गलपरावर्त चार प्रकार का है। प्रत्येक के बादर और सूक्ष्म दो-दो भेद होते हैं। इस प्रकार पुद्गलपरावर्त के कुल आठ भेद होते हैं-

स्यात्पुद्गलपरावर्त्तः कालचक्रैरनंतकैः।
द्रव्यक्षेत्रकालभावभेदात्स च चतुर्विध।।

एकैकश्च भवेद् द्वेद्या सूक्ष्मबादरभेदतः।
अष्टानामप्यथैतेषां स्वरूपं किंचिदुच्यते।।[१६२]

पुद्गलपरावर्त को समझने के लिए पहले वर्गणाओं का ज्ञान आवश्यक है। अतः लोकप्रकाशकार ने वर्गणाओं का भी उल्लेख किया है।

समानजातीय पुद्गलों के समूह को वर्गणा कहते हैं। 'सजातीय पुद्गलानां समूहो वर्गणोच्यते'[१६३] ये वर्गणाएँ अनन्त प्रकार की होती हैं। समस्त लोकाकाश में एक-एक परमाणु वाले एकाकी परमाणुओं की एक वर्गणा, दो प्रदेशों वाले परमाणु स्कन्ध की दूसरी वर्गणा, तीन प्रदेशों वाले परमाणु स्कन्ध की तीसरी वर्गणा होती है। इस प्रकार एक-एक परमाणु बढ़ते संख्यात प्रदेश वाले परमाणु स्कन्धों की संख्याताणुवर्गणा, असंख्यात प्रदेश वाले परमाणु स्कन्धों की असंख्याताणुवर्गणा, अनन्त प्रदेशी परमाणु स्कन्धों की अनन्ताणुवर्गणा होती है।

एकाकिनः संति लोके येऽनंताः परमाणवः।
एकाकित्वेन तुल्यानां तेषामेकात्र वर्गणा।।
द्वयणुकानामनंतानां द्वितीया वर्गणा भवेत्।
त्र्यणुकानामनंतानां तृतीया किल वर्गणा।।
यावदेवमनंतानां गण्यप्रदेशशालिनां।
स्कन्धानां वर्गणा गण्या द्वयणुकत्वादिजातिभिः।।
असंख्येयप्रदेशानामप्येकैकाणुवृद्धितः।
असंख्येया वर्गणाः स्युः प्राग्वज्जातिविवक्षया।
तथानंताणुजातानां स्कन्धानामपि वर्गणाः।
भवन्त्येकैकाणुवृद्ध्याऽनंता इति जिनैःस्मृतं।।[१६४]

अष्टपुद्गलवर्गणाएँ– अनन्त परमाणुओं से मिलकर बने होने पर भी इन अनन्ताणुवर्गणाओं में से कुछ वर्गणाएँ जीव के द्वारा ग्रहण योग्य और कुछ अग्रहणयोग्य होती हैं।[१६५] इन पौद्गलिक वर्गणाओं के आठ प्रकार हैं-

औदारिकवैक्रियांगाहारकतैजसोचिताः।
भाषोच्छ्वासमनः कर्मयोग्याश्चेत्यष्ट वर्गणाः।।[१६६]

आठ वर्गणाएँ- १. औदारिक २. वैक्रिय ३. आहारक ४. तैजस ५. भाषा ६. श्वासोच्छ्वास ७. मन और ८. कार्मण। इन आठों वर्गणाओं में प्रत्येक ग्रहणयोग्य और अग्रहणयोग्य होती है, अतः कुल मिलाकर वर्गणा के सोलह भेद हो जाते हैं।

निश्चित प्रमाण परमाणु वाले स्कन्ध को जीव ग्रहण करके जब औदारिक शरीर रूप में परिणमाता है तब उसे 'औदारिक वर्गणा' कहते हैं। इसी प्रकार वैक्रिय शरीर में परिणमन

वैक्रियवर्गणा, आहारक शरीर में परिणमन आहारकवर्गणा, तैजस शरीर में परिणमन तैजसवर्गणा, शब्दोच्चारण रूप भाषा में परिणमन भाषावर्गणा, श्वास-उच्छ्वास रूप में परिणमन श्वासोच्छ्वासवर्गणा, विचार रूप में परिणमन मनोवर्गणा और कर्मरूपी पिण्ड को कार्मणशरीर में परिणमन करना कार्मणवर्गणा कहलाती है।

ये वर्गणाएँ क्रम से उत्तरोत्तर सूक्ष्म होती हैं। अर्थात् औदारिक से वैक्रिय, वैक्रिय से आहारक, आहारक से तैजस वर्गणा सूक्ष्म है। यथा रूई, लकड़ी, मिट्टी, पत्थर और लोहा निश्चित व समान परिमाण में लेने पर भी रूई से लकड़ी का आकार छोटा होता है और लकड़ी से मिट्टी का आकार छोटा होता है, मिट्टी से पत्थर का आकार छोटा होता है और पत्थर से लोहे का आकार छोटा होता है। परन्तु आकार में छोटे होने पर भी ये वस्तुएँ उत्तरोत्तर ठोस और वजनी होती हैं। ठीक इसी प्रकार औदारिक शरीर जिन पुद्गल वर्गणाओं से बनता है वे वर्गणाएँ रुई की तरह अल्प परिमाण वाली होने पर भी आकार में स्थूल होती हैं। वैक्रिय शरीर जिन पुद्गल वर्गणाओं से बनता है वे लकड़ी की तरह औदारिक योग्य वर्गणाओं से अधिक परमाणु वाली, किन्तु अल्प परिमाण वाली होती हैं। इसी तरह आगे-आगे की वर्गणाओं में परमाणुओं की संख्या बढ़ती जाती है, किन्तु आकार 'सूक्ष्म, सूक्ष्मतर होता जाता है। इसका कारण यह है कि जैसे-जैसे परमाणुओं का संघात होता है वैसे-वैसे उनका सूक्ष्म, सूक्ष्मतर रूप परिणाम होता है। औदारिकादि वर्गणाओं की अवगाहना (आकार) की न्यूनता के कारण से ही अल्प परमाणु वाला औदारिक शरीर द्रष्टव्य होता है, परन्तु उस औदारिक शरीर के साथ विद्यमान रहने वाले तैजस और कार्मण शरीर उससे अधिक परमाणु वाले होने पर भी दिखाई नहीं देते हैं।

तैजसवर्गणा के बाद भाषा, श्वासोच्छ्वास और मनोवर्गणा का क्रम आता है। इसका कारण यह है कि तैजसवर्गणा से भी भाषा आदि वर्गणाएँ अधिक सूक्ष्म हैं अर्थात् तैजस शरीर की ग्रहणयोग्य वर्गणाओं से वे वर्गणाएँ अधिक सूक्ष्म हैं जो बातचीत करते समय शब्द रूप में परिणत होती हैं। भाषा वर्गणा से भी वे वर्गणाएँ सूक्ष्म हैं जो श्वासोच्छ्वास रूप परिणत होती हैं। श्वासोच्छ्वास वर्गणा से भी मानसिक चिन्तन का आधार बनने वाली मनोवर्गणाएँ और अधिक सूक्ष्म हैं। कर्मवर्गणा, मनोवर्गणा से भी सूक्ष्म हैं। ये वर्गणाएँ जितनी सूक्ष्म होती हैं उनमें उतने ही परमाणुओं की संख्या अधिकाधिक होती है।

अष्टविध पुद्गलपरावर्त

आठ प्रकार के पुद्गलपरावर्तनों का स्वरूप इस प्रकार है-

1. **बादरद्रव्यपुद्गलपरावर्त**- एक जीव जितने काल में लोक के समस्त परमाणुओं को

आहारकवर्गणा के अतिरिक्त शेष सातों वर्गणा रूप में परिणमाकर उनका भोगकर त्याग कर देता है वह काल बादरद्रव्य-पुद्गलपरावर्त कहलाता है। यहाँ आहारक शरीर को छोड़कर उल्लेख किया गया है, क्योंकि एक जीव आहारकशरीर अधिक से अधिक चार बार ही प्राप्त कर सकता है। अतः वह पुद्गलपरावर्त के लिए उपयुक्त नहीं है।

सर्वलोकगतान् सर्वानणूनेकोऽसुमानिह।
औदारिकादिसप्तकत्वेन स्वीकृत्य मुंचति।।
कालेन यावता कालस्तावानुक्तो जिनेश्वरैः।
द्रव्यतः पुद्गलपरावर्त्तो बादर आगमे।।
आहारकांगभावेन स्वीकृत्योत्सर्जन पुनः।
न सम्भवेत्समाणूनं मितवारं हि तद्भवेत्।।[१६७]

2. सूक्ष्मद्रव्यपुद्गलपरावर्त– एक जीव जितने काल में लोक के समस्त परमाणुओं को औदारिक आदि सात वर्गणाओं में से किसी एक वर्गणा रूप में परिणत कर उनका ग्रहण करके त्याग देता है वह काल सूक्ष्मद्रव्यपुद्गलपरावर्त कहलाता है।

सप्तानामथ चौदारिकादीनां मध्यतः पुनः।
भावेनैकेनैव चौदारिकांगत्वादिनासुमान्।।
सर्वान् परिणमय्याणूनेक एव विमुंचति।
कालेन यावता तावान् द्रव्यतः सूक्ष्म इष्यते।।[१६८]

बादर और सूक्ष्म द्रव्यपुद्गलपरावर्त में यह अन्तर है कि बादरद्रव्यपुद्गलपरावर्त में समस्त परमाणुओं को सात औदारिकादि वर्गणा रूप की समस्त पर्यायों को भोगकर छोड़ा जाता है जबकि सूक्ष्मद्रव्यपुद्गलपरावर्त में औदारिकादि सात वर्गणाओं में से मात्र एक वर्गणा रूप की समस्त पर्यायों को ग्रहण करके छोड़ा जाता है। जीव जिस शरीर को धारण करता है उसी की समस्त पुद्गल पर्यायों को ग्रहण कर त्यागता है। अतः इन्हीं सूक्ष्म में ग्रहण किया गया है।

3. बादरक्षेत्रपुद्गलपरावर्त– एक जीव संसार में भ्रमण करते-करते आकाश के किसी एक प्रदेश में मरता है, वही जीव पुनः आकाश के किसी दूसरे प्रदेश में मरता है, फिर तीसरे में मरता है, इस प्रकार लोकाकाश के समस्त प्रदेशों में क्रम-अक्रम से मरने के लिए जीव को जितना काल लगता है वह बादरक्षेत्रपुद्गलपरावर्त कहलाता है।

सर्वस्य लोकाकाशस्य प्रदेशा निरनुक्रमं।
स्पृश्यते मरणैः सर्वे जीवेनैकेन यावता।।[१६९]

4. सूक्ष्मक्षेत्रपुद्गलपरावर्त– कोई जीव भ्रमण करते-करते आकाश के किसी एक प्रदेश में

मरण करके पुनः उस प्रदेश के समीपवर्ती दूसरे प्रदेश में मरता है, पुनः उसके निकटवर्ती तीसरे प्रदेश में मरता है। इस प्रकार अनन्तर अनन्तर प्रदेशों में क्रमशः मरण करने में जितना काल लगता है वह सूक्ष्मक्षेत्रपुद्गलपरावर्तन कहलाता है।[७०]

दोनों क्षेत्रपुद्गलपरावर्तों में केवल इतना अन्तर है कि बादर में क्रम का विचार नहीं किया जाता। यहाँ क्रम से अथवा बिना क्रम से समस्त प्रदेशों में मरण कर लेना ही पर्याप्त समझा जाता है। किन्तु सूक्ष्म में समस्त प्रदेशों में क्रमपूर्वक किए गए मरण की ही गणना की जाती है। इससे यह स्पष्ट है कि बादर से सूक्ष्म में समय अधिक लगता है।

5. बादरकालपुद्गलपरावर्त– एक जीव जितने काल में अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी काल के सभी समयों में क्रम अथवा अपक्रम से मरण कर लेता है वह काल बादरकालपुद्गलपरावर्त कहलाता है-

कालचक्रस्य समयैर्निखिलैर्निरनुक्रमं।
मरणेनांगिना स्पृष्टै कालतो बादरो भवेत्।।[७१]

6. सूक्ष्मकालपुद्गलपरावर्त– कोई जीव किसी अवसर्पिणीकाल के प्रथम समय में मरता है, पुनः उसके दूसरे समय में मरता है, पुनः तीसरे समय में मरता है। इस प्रकार क्रमशः अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी काल के सब समयों में मरण करने में जितना काल लगता है उसे सूक्ष्मकालपुद्गलपरावर्त कहते हैं।

कालचक्रस्य कस्यापि म्रियते प्रथमक्षणे।
अन्यस्य कालचक्रस्य द्वितीयसमयेऽसुमान्।।
तृतीयस्य पुनः कालचक्रस्यैव तृतीयके।
समये म्रियते दैवात्तदैवायुक्षये सति।।
कालचक्रस्य समयैः सर्वैरेवं यथाक्रमं।
मरणेनांगिना स्पृष्टै सूक्ष्मः स्यादेष कालतः।।[७२]

7. बादरभावपुद्गलपरावर्त– अनुभाग बंधस्थानों में से एक-एक अनुभाग बंधस्थान में क्रम अथवा अक्रम से मरने में जीव को जितना काल लगता है वह बादर-भावपुद्गलपरावर्त कहलाता है। अनुभाग का अर्थ है- पुद्गलों का रसबंध अर्थात् कषाय युक्त किसी एक अध्यवसाय के पुद्गलों का एक समय में किसी निश्चित परिमाण में बंधना अनुभाग बंध कहलाता है। इन अनुभागों में जीव का रुकना अनुभागबंध स्थान कहलाता है। ये अनुभाग बंध के स्थान असंख्यातलोकाकाश के प्रदेशों की संख्या के बराबर होते हैं।

8. सूक्ष्मभावपुद्गलपरावर्त– सबसे जघन्य अनुभागबंधस्थान में वर्तमान में कोई जीव मरता

है, तदनन्तर उसके समीपवर्ती अनन्तर द्वितीय अनुभागबंध-स्थान में मरता है, तत्पश्चात् उसके अनन्तरवर्ती तृतीय अनुभागबंधस्थान में मरता है। इस प्रकार क्रम से समस्त अनुभागबंधस्थान में मरने पर जीव को जितना काल लगता है, वह काल सूक्ष्मभावपुद्गलपरावर्त कहलाता है।

अणुभागट्ठाणेसुं अणंतरपरंपराविभत्तेहिं।
भावंमि बायरो सो सुहुमो सव्वे सणुक्कमसो।।[७३]

इस प्रकार उपाध्याय विनयविजय ने काल के सूक्ष्म और बादर भेद रूपी पुद्गलपरावर्तों का उल्लेख किया है।

समीक्षण

प्रस्तुत अध्याय में काल-विषयक विवेचन से निम्नांकित निष्कर्ष फलित होते हैं-

१. काल का व्यवहार अनादि अनन्त है। अतः काल विषयक चिन्तन भी प्राचीन काल से होता रहा है। ऋग्वेद का कालसूक्त[७४] इसका साक्षी है, जिसमें काल को ऐसा परमतत्त्व निरूपित किया है, जिसने प्रजा को उत्पन्न किया है, स्वयंभू कश्यप भी जिससे उत्पन्न हुए हैं, ब्रह्म, तप और दिशाएँ भी उसी से उत्पन्न हुई हैं तथा सूर्य भी उसी से उदित होता है। पुराण में उसे नारायण एवं ईश्वर भी कहा गया है।[७५] भगवद्गीता में श्रीकृष्ण स्वयं को काल कहते हैं।[७६] इस प्राचीन चिन्तन के आधार पर कालवाद नामक सिद्धान्त स्थापित हुआ, जिसकी मान्यता है कि काल से ही समस्त कार्य सम्पन्न होते हैं। इस कालवाद की मान्यता का उल्लेख श्वेताश्वतरोपनिषद् के 'कालःस्वभावो नियतिर्यदृच्छा'[७७] आदि श्लोक में प्राप्त होता है। जैन दार्शनिक सिद्धसेनसूरि ने 'कालोसहाव णियई'[७८] इत्यादि गाथा में इसका संकेत किया है। गौडपादकारिका में 'कालात्प्रसूतिं भूतानां मन्यन्ते कालचिन्तकाः'[७९] कथन से भी कालवाद की पुष्टि होती है।

२. वैशेषिक, न्याय, सांख्य, योग, वेदान्त, व्याकरण, बौद्ध एवं जैनदर्शन में काल विषयक चर्चा प्राप्त होती है। इन दर्शनों में कालवाद का समर्थन नहीं हुआ है। ये दर्शन कार्य की उत्पत्ति में काल को साधारण कारण स्वीकार करते हैं। मात्र काल से कार्य की उत्पत्ति नहीं मानते हैं। वैशेषिक दर्शन में काल को द्रव्य के रूप में स्थापित किया गया है तथा इसमें युगपत्, क्षिप्र, चिर, क्रम, यौगपद्य, परत्व-अपरत्व आदि हेतुओं से काल की सिद्धि की गई है। न्यायदर्शन में इसे द्रव्य तो नहीं कहा गया किन्तु स्वरूप वैशेषिक दर्शन की भाँति स्वीकार किया गया है। सांख्यदर्शन में इसे आकाश के समान विभु एवं उसी का स्वरूप माना गया है। योगदर्शन में क्षण को वास्तविक स्वीकार करते हुए मुहूर्त अहोरात्र आदि व्यवहार को बुद्धिकल्पित माना

गया है। वैशेषिक दर्शन में जहाँ काल को परोक्ष स्वीकार किया गया है वहाँ मीमांसा दर्शन में इसे प्रत्यक्ष अंगीकार किया गया है। वेदान्त दर्शन भी व्यावहारिक दृष्टि से काल को स्वीकार करते हुए उसे अतीन्द्रिय एवं कार्य से अनुमित मानता है। व्याकरणदर्शन में काल अमूर्त्त क्रिया के परिच्छेद का हेतु है।

३. जैन दर्शन में काल को लेकर दो मान्यताएँ हैं। एक मान्यता के अनुसार काल एक द्रव्य है तथा उसकी स्वतंत्र सत्ता है। दूसरी मान्यता के अनुसार द्रव्यों की पर्याय ही काल है। अतः उसे पृथक् द्रव्य मानने की आवश्यकता नहीं है। दिगम्बर परम्परा में निर्विवाद रूप से काल की स्वतंत्र द्रव्यता अंगीकृत है। श्वेताम्बर परम्परा में ही दार्शनिक मतभेद है।

४. काल को पृथक् द्रव्य नहीं मानने का प्रमुख तर्क है कि वर्तनादि स्वरूप काल द्रव्य की ही पर्याय है- "सो वत्तणाइरूवो कालो दव्वस्स चेव पज्जाओ।" लोकप्रकाशकार उपाध्याय विनयविजय ने काल को पृथक् द्रव्य स्वीकार न करने की मान्यता के पक्ष में तर्क दिया है कि वर्तनादि स्वरूप काल पृथक् द्रव्य नहीं हो सकता क्योंकि यदि द्रव्य की पर्याय को ही पृथक् द्रव्य स्वीकार किया जायेगा तो अनवस्था दोष उत्पन्न होगा। दूसरा तर्क यह है कि अस्तिकाय पाँच ही हैं। काल को अस्तिकाय नहीं माना गया, अतः उसे व्योम आदि अन्य द्रव्यों से पृथक् नहीं कहा जा सकता।

५. काल को पृथक् द्रव्य मानने के सम्बन्ध में अनेक तर्क हैं। यह गुणयुक्त एवं पर्याययुक्त होने से द्रव्य स्वीकार किया जाता है। उपाध्याय विनयविजय ने काल के पृथक् द्रव्यत्व की सिद्धि में नौ तर्क उपस्थित किए हैं- (१) सूर्य आदि की गति के आधार पर काल की पृथक् सत्ता सिद्ध होती है। (२) 'काल' शब्द के शुद्ध प्रयोग से भी इसकी सत्ता माननी चाहिए। (३) समय, आवलिका आदि के प्रयोग से भी काल की सिद्धि होती है। (४) समय, आवलिका आदि सूक्ष्म काल का आश्रय होने से सामान्य काल सिद्ध होता है। (५) बीज से पत्र, पुष्प एवं फल की समान काल में उत्पत्ति नहीं होती, इससे भी काल सिद्ध होता है। (६) अनेकविध ऋतुभेद की विवक्षा से काल द्रव्य सिद्ध होता है। (७) वर्तमान, भूत, भविष्य के पृथक् अनुभव से भी काल सिद्ध होता है। (८) क्षिप्र, चिर, युगपद् आदि शब्दों के प्रयोग और अनुभव से भी काल द्रव्य सिद्ध होता है। (९) आगम प्रमाण से भी काल स्वतंत्र द्रव्य सिद्ध होता है। व्याख्याप्रज्ञप्ति, उत्तराध्ययनसूत्र, अनुयोगद्वारसूत्र आदि आगमों में छह द्रव्यों की गणना कर उनका नामोल्लेख किया गया है।

पंचास्तिकाय, नियमसार, गोम्मटसार आदि दिगम्बर ग्रन्थों में भी छह द्रव्यों में

काल का निरूपण किया गया है। काल के पृथक द्रव्यत्व की सिद्धि में नियमसार टीका में कहा गया है कि पाँचों अस्तिकाय की निमित्तता का कारण काल है। कालद्रव्य के वर्तन गुण से ही पाँचों अस्तिकायों की वर्तना होती है। स्वयं वर्तन करने में वे पूर्ण समर्थ नहीं है।

६. काल द्रव्य के मुख्यतः पाँच उपकार या कार्य हैं- वर्तना, परिणाम, क्रिया, परत्व और अपरत्व।

७. कालद्रव्य स्पर्श, रस, गंध और वर्ण रहित होता है तथा अगुरुलघु गुण सहित होता है।

८. काल अप्रदेशी है अथवा एक प्रदेशी है। इसीलिए इसे अनस्तिकाय भी स्वीकार किया गया है। इसके कालाणुओं में स्नेह गुण नहीं होता है इसलिए ये समस्त लोक में रत्नराशि की तरह बिखरे रहते हैं। बहुप्रदेशों के अभाव से इसमें कायत्व नहीं होता।

९. काल के प्रकारों का अनेकविध वर्गीकरण हो सकता है। एक वर्गीकरण के अनुसार काल के तीन प्रकार हैं- अतीत, अनागत और वर्तमान। काल के दो प्रकार भी हैं-मुख्य और व्यवहार। मुख्य काल को निश्चय काल भी कहते हैं जो कालाणुओं के रूप में अन्य द्रव्यों की पर्याय परिणमन में सहायक होता है। व्यवहारकाल के अन्तर्गत अतीत, अनागत और वर्तमान को रखा जाता है। समय, आवलिका, मुहूर्त्त आदि की गणना भी इसी व्यवहार काल में होती है। काल के चार प्रकार भी हैं- नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव। गुणस्थिति और भावस्थिति के आधार पर काल के छह प्रकार कहे गए हैं। परिणमन के अनन्त होने से काल को अनन्त भी कहा गया है। विशेषावश्यकभाष्य और लोकप्रकाश में काल के ग्यारह प्रकार निरूपित हैं- नामकाल, स्थापनाकाल, द्रव्यकाल, अद्धाकाल, यथायुष्ककाल, उपक्रमकाल, देशकाल, कालकाल, प्रमाणकाल, वर्णकाल और भावकाल। इनमें प्रमाणकाल का जैनदर्शन में विशेष निरूपण हुआ है। जिस काल के द्वारा वर्ष, सागरोपम, पल्योपम आदि को मापा जाता है वह प्रमाणकाल है। यह अद्धाकाल का ही एक प्रकार है तथा मनुष्यक्षेत्र में इसका व्यवहार होता है।

लोकप्रकाशकार ने प्रमाणकाल के दो प्रकार से तीन भेद निरूपित किए हैं।प्रथम प्रकार के अनुसार अतीत, अनागत और वर्तमान ये प्रमाणकाल के तीन भेद हैं। द्वितीय वर्गीकरण में प्रमाणकाल के तीन प्रकार संख्यात, असंख्यात और अनन्त हैं। इनमें एक समय से लेकर शीर्षप्रहेलिका तक का काल संख्यातकाल है, पल्योपम, सागरोपम आदि औपमिक काल असंख्यातकाल है तथा पुद्गलपरावर्त आदि अनन्तकाल है।

१०. जैनदर्शन में पल्योपम, सागरोपम, पुद्गलपरावर्त्त आदि कालभेदों का निरूपण अन्य

भारतीय दर्शनों से इसे वैशिष्ट्य प्रदान करता है। उपमा के आधार पर काल के निरूपण की यह विशिष्ट पद्धति है जो अन्यत्र दृष्टिगोचर नहीं होती। पुद्गलपरावर्तन का निरूपण तो अद्भुत है जिसके अनुसार एक पुद्गल का अनन्तकाल में सभी पर्यायों से गुजर जाने का ग्रहण होता है। पुद्गलपरावर्त के आठ प्रकार निरूपित हैं- बादर द्रव्यपुद्गलपरावर्त, सूक्ष्मद्रव्यपुद्गलपरावर्त, बादरक्षेत्रपुद्गलपरावर्त, सूक्ष्मक्षेत्रपुद्गलपरावर्त, बादरकाल-पुद्गलपरावर्त, सूक्ष्मकालपुद्गलपरावर्त, बादरभावपुद्गलपरावर्त और सूक्ष्मभाव-पुद्गलपरावर्त।

११. उपाध्याय विनयविजय ने नालिका से लेकर संवत्सर प्रमाणकाल का निरूपण तोल और माप के आधार पर भी किया है। उदाहरण के लिए दो नालिकाओं का एक मुहूर्त्त होता है। तोल की अपेक्षा यह दो सौ पल प्रमाण और माप की अपेक्षा चार आढक प्रमाण होता है।

१२. जैन दर्शन के अनुसार संवत्सर पाँच प्रकार के हैं- सूर्य संवत्सर, ऋतुसंवत्सर, चन्द्र संवत्सर, नक्षत्रसंवत्सर, अभिवर्धितसंवत्सर। पाँचों संवत्सर का एक युग होता है। बीस युगों का सौ वर्ष होता है। ८४ लाख वर्षों का एक पूर्वांग और ८४ लाख पूर्वांगों का एक पूर्व होता है। इसी प्रकार आगे भी शीर्षप्रहेलिका तक गणितीय संख्याओं का प्रयोग हुआ है।

१३. जैनदर्शन में समय की जो गणना की गई है वह अत्यन्त सूक्ष्म है। जो आधुनिक विज्ञान के लिए भी एक चुनौती है। जैन दर्शन के अनुसार एक पलक झपकने में असंख्यात समय व्यतीत हो जाते हैं।

संदर्भ

१. वैशेषिक सूत्र 1.1.5
२. 'कालोऽमूर्तक्रियापरिच्छेदहेतुः।' —वाक्यपदीयम, कालसमुद्देश, कारिका 2, हेलाराजकृत प्रकाशव्याख्या
३. योगसूत्र 3.52, व्यासभाष्य
४. उद्धृत— (अ) सन्मतितर्कप्रकरण 3.52, अभयदेवसूरि तत्त्वबोधविधायिनी टीका।
(ब) शास्त्रवार्तासमुच्चय 2.54
(स) सूत्रकृतांग की शीलांकटीका।
५. अथर्ववेद काण्ड 19, अध्याय 6, सूक्त 53—54
६. कालादुत्पद्यते सर्वं कालादेव विपद्यते।
न कालनिरपेक्षो हि क्वचित्किंचिद्धि विद्यते।।—शिवपुराण, वायुसंहिता, पूर्वभाग, श्लोक 1
७. विष्णुपुराण, भाग 1, प्रथमांश, सृष्टिप्रक्रिया, पृष्ठ 9—11, नागप्रकाशन, दिल्ली
८. कालः स्वभावो नियतिर्यदृच्छा भूतानि योनिः पुरुष इति चिन्त्या।
संयोगः एषां न त्वात्मभावादात्माऽप्यनीशः सुखदुःखहेतोः।।—श्वेताश्वेतरोपनिषद् 1.2
९. कालो हि कार्यं प्रति निर्विशेषः। —महाभारत, शान्ति पर्व 25.6
महाभारत के शान्तिपर्व और अनुशासनपर्व में चर्चा भी उपलब्ध है।
१०. प्रवचनसार, अ. 2, गाथा 46—47

११. सर्वार्थसिद्धि, अ. 5, सूत्र 38–39
१२. राजवार्तिक, अ. 5, सूत्र 38–39
१३. तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, अ. 5, सूत्र 38–39
१४. उद्धृत लोकप्रकाश भाग चतुर्थ सर्ग 28, पृष्ठ 3
१५. स्थानांग सूत्र, स्थान 2, उद्देशक 4, जीवाजीव पद, सूत्र 387
१६. विशेषावश्यक भाष्य, गाथा 2029
१७. धर्मसंग्रहणि गाथा 32 की टीका
१८. विशेषावश्यक भाष्य, गाथा 2029
१९. धर्मसंग्रहणि गाथा 32 की टीका।
२०. लोकप्रकाश, 28.13 से 15
२१. तत्त्वार्थसूत्र 5.37
२२. तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक 5.39.2–3
२३. व्याख्याप्रज्ञप्तिसूत्र, शतक 2, उद्देशक 10, सूत्र 11
२४. उत्तराध्ययन सूत्र, 28.7
२५. अनुयोगद्वार सूत्र, 218
२६. पंचास्तिकाय, गाथा 23
२७. नियमसार, अजीव अधिकार, गाथा 32 की टीका से उद्धृत
२८. गोम्मटसार जीवकाण्ड, गाथा 560–561
२९. गोम्मटसार जीवकाण्ड, गाथा 568
३०. लोकप्रकाश, चतुर्थ भाग, 28.21
३१. तत्त्वार्थराजवार्तिक 5.22
३२. तत्त्वार्थराजवार्तिक 5.22
३३. तत्त्वार्थराजवार्तिक 5.22
३४. लोकप्रकाश, 28.18 और 19
३५. लोकप्रकाश, 28.20, 53 और 54
३६. लोकप्रकाश, 28.23
३७. लोकप्रकाश, 28.24
३८. लोकप्रकाश, 28.25
३९. लोकप्रकाश, 28.49 और 50
४०. तत्त्वार्थराजवार्तिक, 5.22
४१. तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, कुंथुसागर प्रकाशन, द्वितीय भाग, पृ. 148
४२. समर्थोऽपि बहिरंगकारणापेक्षः परिणामत्वे सति कार्यत्वात्,–व्रीह्यादिवदिति यत्तत्कारणं बाह्यं सः कालः– तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकालंकार, षष्ठ खण्ड पृ. 170
४३. वर्तना हि जीवपुद्गलधर्माधर्माकाशानां तत्सत्तायाश्च साधारण्याः सूर्यगम्यादीनां च स्वकार्यविशेषानुमितस्वभावानां बहिरंगकारणापेक्षा कार्यत्वात्तंडुलपाकवत् यत्तावद्बहिरंगं कारणं स कालः।। –तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकालंकार, षष्ठ भाग, पृष्ठ 165
४४. "धम्माधम्मादीणं अगुरुलहुगं तु छहिं विवड्ढीहिं। हाणीहिं विवड्ढंतो हायंतो वट्टदे जम्हा। यतः धर्माधर्मादीनामगुरुलघुगुणाविभागप्रतिच्छेदाः स्वद्रव्यत्वस्य निमित्तभूतशक्तिविशेषाः षड्वृद्धिभिर्वर्धमानाः षड्हानिभिश्च हीयमानाः परिणमन्ति। ततः कारणात् तत्रापि मुख्यकालस्यैव कारणत्वात् इति।" –कार्तिकेयानुप्रेक्षा, गाथा 216 की टीका
४५. कार्तिकेयानुप्रेक्षा, गाथा 218 की टीका
४६. 'वर्तनाहेतुरेषः स्यात् कुम्भकृच्चक्रमेव तत्।

पंचानामस्तिकायानां नान्यथा वर्तना भवेत्।।–नियमसार, अजीव अधिकार, गाथा 32 की टीका
४७. नियमसार, अजीव अधिकार, पृष्ठ सं. 68–69
४८. षट्खण्डागम धवला पुसतक 4/1,5,1 पृष्ठ 317
४९. तत्त्वार्थराजवार्तिक, 4.14
५०. अभिधानराजेन्द्रकोष, भाग 3, पृष्ठ 470
५१. 'कालो वर्तनमिति।' –पंचाध्यायी 5.274, 471
५२. वर्तनाहेतुरेषः स्यात् कुम्भकृच्चक्रमेव तत्।
पंचानामस्तिकायानां नान्यथा वर्तना भवेत्।। – नियमसार अजीव अधिकार, गाथा 32 की टीका से उद्धृत
५३. 'फास–रस–गंध–वण्णेहि विरहिदो अगुरुलहुगुणजुतो।
वट्टण लक्खण–कलियं, काल–सरूवं इमं होदि।।' –तिलोयपण्णत्ती गाथा 281
५४. कल्यन्ते संख्यायन्ते कर्म–भव–कायायुस्थितयोऽनेनेति कालशब्दव्युत्पत्तेः। कालः समय अद्धा इत्येकोऽर्थः। –षट्खण्डागम जीवस्थान, 1–5–1, पृष्ठ सं. 318
५५. लोकप्रकाश, 28.6
५६. प्रवचनसार, तत्त्वप्रदीपिका, गाथा 136
५७. सोऽनन्तसमयः– तत्त्वार्थराजवार्तिक, 5.40
५८. नियमसार, गाथा 34, पृष्ठ 72
५९. (अ) गोम्मटसार जीवकाण्ड, गाथा 570
(ब) षट्खण्डागम धवला पुस्तक 4/1,5,1/ पृष्ठ 315
६०. व्याख्याप्रज्ञप्तिसूत्र, शतक 2, उद्देशक 10, सूत्र 1
६१. अनुयोगद्वारसूत्र, 218
६२. अभिधानराजेन्द्रकोश, भाग–1, पृष्ठ सं. 513
६३. अभिधानराजेन्द्रकोश, भाग–1, पृष्ठ सं. 513
६४. व्याख्याप्रज्ञप्तिसूत्र, शतक 2, उद्देशक 10, सूत्र 7–8
६५. तत्त्वार्थसूत्र 5.22
६६. उत्तराध्ययन सूत्र 28.10
६७. तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकम् 5.22
६८. लोकप्रकाश, 3.58
६९. लोकप्रकाश, 28.8
७०. (अ) लोकप्रकाश, 28.63
(ब) तत्त्वार्थराजवार्तिक 5.22
७१. 'त्रिधा यद्वा परिणामस्तत्राद्यः स्यात्प्रयोगजः।
द्वितीयस्तु वैस्रसिकस्तृतीयो मिश्रकः स्मृतः।' –लोकप्रकाश, 28.64
७२. लोकप्रकाश, 28.65
७३. लोकप्रकाश, 28.66
७४. लोकप्रकाश, 28.67
७५. तत्त्वार्थराजवार्तिक, 5.22
७६. लोकप्रकाश, 28.69
७७. (अ) लोकप्रकाश, 28.9
(ब) 'परिस्पन्दात्मको द्रव्यपर्यायः सम्प्रतीयते।
क्रियादेशान्तरप्राप्तिहेतुर्गत्यादि भेदभृत्।। –तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक 5.22.39
७८. 'प्रयोगजात्मायोगोत्था विस्रसजा त्वजीवजा।
मिश्रा पुनस्तदुभयसंयोगजनिता मता।।' --लोकप्रकाश, 28.71

७६. तत्त्वार्थराजवार्तिक, 5.22.19
८०. (अ) लोकप्रकाश, 28.74
(ब) तत्त्वार्थराजवार्तिक, 5.22.20
८१. 'तिविहे काले पण्णत्ते, तं जहा– तीए, पडुप्पणे, अणागए।' –स्थानांग सूत्र, तृतीय स्थान, चतुर्थ उद्देशक, कालसूत्र
८२. 'द्विविधः कालः – परमार्थकालः व्यवहाररूपश्चेति।' –तत्त्वार्थराजवार्तिक, 5.22,24
८३. 'तीदो अणागदो वट्टमाणो त्ति तिविहो' –षट्खण्डागम-जीवस्थान, 1,5,1
८४. 'ववहारो पुण तिविहो तीदो वट्टंतगो भविस्सो दु' –गोम्मटसार, जीवकाण्ड, गाथा, 577
८५. 'तीदो संखेज्जावलिहदसंठाणप्पमाणं तु' –नियमसार, अजीवाधिकार, गाथा 31
८६. 'कालोविय ववएसो सब्भावपरूवओ हवदि णिच्चो।
उप्पण्णप्पद्धंसी अवरो दीहंतरट्ठाई।।–गोम्मटसार, जीवकाण्ड, गाथा 579
८७. 'समयावलिभेदेण दु दुवियप्पं अहव होइ तिवियप्पं।
तीदो संखेज्जावलिहदसंठाणप्पमाणं तु।।" –नियमसार, अजीवअधिकार, गाथा 31
८८. "कदिविधो कालो?सामण्णेण एयविहो। तीदो अणागदो वट्टमाणे त्ति तिविहो। अथवा गुणट्ठिदिकालो भवट्ठिदिकालो कम्मट्ठिदिकालो कायट्ठिदिकालो उववादकालो भावट्ठिदिकालो त्ति छव्विहो। अहवा अणेयविहो परिणामहिंतो पुधभूदकालाभावा परिणामाणं च आणंतिओवलंभा।" –षट्खण्डागम, जीवस्थान, 1, 5, 1
८९. (अ) लोकप्रकाश, 28.93 और 94
(ब) "दव्वे अद्ध अहाउय उवक्कमे देस–कालकाले य।
तह य पमाणे वन्ने भावे, पगयं तु भावेणं।
चेयणमचेयणस्स च दव्वस्स ठिई उ जा चउविगप्पा।
सा होई दव्वकालो अहवा दवियं तयं चेवं।।" –विशेषावश्यक भाष्य, भाग 2, गाथा 2030 और 2031
९०. लोकप्रकाश, 28.95
९१. लोकप्रकाश, 28.95
९२. द्रव्यमेव द्रव्यकालः सचेतनमचेतनं। कालोत्थानां वर्तनादि–पर्यायाणामभेदतः।'– लोकप्रकाश, 28.96
९३. (अ) 'सचिताचितद्रव्याणां सादिसांतादिभेदजा।
स्थितिश्चतुर्विधा यद्वा द्रव्यकालः प्रकीर्त्यते।।– लोकप्रकाश, 28.97
(ब) सुर–सिद्ध–भव्वऽभव्वा साइ–सपज्जवसियादओ जीवा।
खंधाणागयतीया नभादओ चेयणारहिया।।– विशेषावश्यकभाष्य भाग 2, गाथा 2034
९४. लोकप्रकाश, 28.98
९५. लोकप्रकाश, 28.99
९६. लोकप्रकाश 28.103
९७. लोकप्रकाश, 28.99
९८. लोकप्रकाश, 28.103
९९. लोकप्रकाश, 28.101
१००. लोकप्रकाश, 28.103
१०१. लोकप्रकाश, 28.105
१०२. लोकप्रकाश, 28.108
१०३. लोकप्रकाश 28.109
१०४. (अ) लोकप्रकाश, 28.110
(ब) 'नेरइय–तिरिय–मणुआ–देवाण अहाउयं तु जं जेणं।
निव्वत्तियमन्नभवे पालेंति अहाउकालो उ।।–विशेषावश्यकभाष्य, भाग 2, गाथा 2038

१०५. (अ) लोकप्रकाश, 28.111 और 112
(ब) 'जेणोवक्कामिज्जइ समीवमाणिज्जए जओ जं तु।
स किलोवक्कमकालो किरियापरिणामभूइट्ठो।।–विशेषावश्यकभाष्य, भाग 2, गाथा 2039
१०६. (अ) 'सामाचारीयथायुष्क भेदश्चोपक्रमो द्विधा' – लोकप्रकाश, 28.113
(ब) 'दुविहोवक्कमकालो सामायारी अहाउयं चेव' –विशेषावश्यकभाष्य, भाग 2, गाथा 2040
१०७. (अ) लोकप्रकाश, 28.116
(ब) 'सामायारी तिविहा ओहे दसहा पयविभागे' –विशेषावश्यकभाष्य, भाग 2, गाथा 2040
१०८. 'भवेत्पदविभागाख्या सामाचारी महात्मनां।
छेदग्रन्थसूत्ररूपा दशधेच्छादिकात्वियं।।' – लोकप्रकाश, 28.118
१०९. 'पढमा आवस्सिया नाम बिइया य निसीहिया। आपुच्छणा य तइया चउत्थी पडिपुच्छणा।। पंचमा छन्दणा नाम इच्छाकारो य छट्ठओ। सत्तमो मिच्छकारो य तहक्कारो य अट्ठमो।। अब्भुट्ठाणं नवमं दसमा उवसंपदा। एसा दसंगा साहूणं सामायारी पवेइया।। –उत्तराध्ययनसूत्र, 26.2, 3 और 4
११०. लोकप्रकाश, 28.119
१११. लोकप्रकाश, 28.120
११२. लोकप्रकाश, 28.121
११३. लोकप्रकाश, 28.122
११४. लोकप्रकाश, 28.123
११५. लोकप्रकाश, 28.124
११६. लोकप्रकाश, 28.125
११७. लोकप्रकाश, 28.125
११८. लोकप्रकाश, 28.126
११९. लोकप्रकाश, 28.127
१२०. लोकप्रकाश, 28.128
१२१. लोकप्रकाश, 28.135 और 136
१२२. जिन कर्मों की स्थिति, रस आदि कम हो सकती है, वे अनिकाचित कर्म कहलाते हैं और जिन कर्मों की स्थिति आदि कम नहीं हो सकती है, वे निकाचित कर्म कहलाते हैं।
१२३. 'कार्यस्यार्यस्य वान्यस्य यो यस्यावसरः स्फुटः।
स तस्य देशकालः स्याद् द्विधाप्येष निरूप्यते।।' – लोकप्रकाश, 28.182
१२४. लोकप्रकाश, 28.189
१२५. लोकप्रकाश, 28.192
१२६. लोकप्रकाश, 28.193
१२७. लोकप्रकाश, 28.194
१२८. स्थानांग टीका, गणितानुयोग, काललोक, पृष्ठ 692 से उद्धृत
१२९. 'पमाणकाले दुविहे पण्णत्ते। तं जहा– 1. दिवसप्पमाणकाले य 2. रत्तिप्पमाणकाले य। –व्याख्याप्रज्ञप्ति सूत्र, शतक 11, उद्देशक 11, सूत्र 8
१३०. अनुयोगद्वारसूत्र, सूत्र 363
१३१. 'पदेसनिप्फण्णे एकसमयट्ठिईए, दुसमयट्ठिईए, तिसमट्ठिइए जाव दससमयट्ठिईए असंखेज्जसमयट्ठिईए।'' –अनुयोगद्वारसूत्र, सूत्र 364
१३२. 'समयाऽऽवलिय–मुहुत्ता, दिवस–अहोरत्त–पक्ख–मासा य।
संवच्छर–जुग–पलिया, सागर–ओसप्पि–परिअट्टा। –अनुयोगद्वार सूत्र, सूत्र 365
१३३. लोकप्रकाश, 28.195
१३४. लोकप्रकाश, 28.202
१३५. लोकप्रकाश, 28.198

१३६. लोकप्रकाश, 28.196 और 197
१३७. लोकप्रकाश, 28.201 और 202
१३८. लोकप्रकाश, 28.203
१३९. लोकप्रकाश, 28.204 से 208
१४०. लोकप्रकाश, 28.216
१४१. (अ) लोकप्रकाश, 28.246
(ब) तिलोयपण्णत्ति, 289
१४२. लोकप्रकाश, 28.247 से उद्धृत
१४३. लोकप्रकाश, 28.282–288
१४४. लोकप्रकाश, 28.288
१४५. लोकप्रकाश में 'प्रावृट्' शब्द का प्रयोग वर्षा ऋतु के अर्थ में नहीं करके शिशिर ऋतु के अर्थ में किया गया प्रतीत होता है।
१४६. लोकप्रकाश, 28.609–610
१४७. लोकप्रकाश, 28.290
१४८. लोकप्रकाश, 28.609
१४९. लोकप्रकाश, 28.509
१५०. लोकप्रकाश, 28.300
१५१. (अ) लोकप्रकाश, 29.1–12
(ब) अनुयोगद्वार सूत्र, सूत्र 267
१५२. लोकप्रकाश, 29.27
१५३. (अ) 'एतेषामथ पल्यानां दशभिः कोटिकोटिभिः' – लोकप्रकाश, 1.87
(ब) व्याख्याप्रज्ञप्तिसूत्र, शतक 6, उद्देशक 7, सूत्र 7
१५४. व्याख्याप्रज्ञप्ति, शतक 11, उद्देशक 11, सूत्र 17
१५५. लोकप्रकाश, 29.42
१५६. लोकप्रकाश, 29.44
१५७. लोकप्रकाश, 29.45
१५८. लोकप्रकाश, 29.29–32
१५९. लोकप्रकाश, 39–42
१६०. वर्गणा का अर्थ है समानजातीय पुद्गलों का समूह
१६१. सूक्ष्मतम अविभाज्य पुद्गल 'परमाणु' कहलाता है।
१६२. (अ) लोकप्रकाश, 35.1–2
(ब) प्रवचनसारोद्धार, द्वार 162, गाथा 1040
(स) कर्मग्रन्थ, भाग पंचम, प्रदेशबन्ध द्वार, गाथा 86
१६३. लोकप्रकाश, 35.4
१६४. लोकप्रकाश, 35.7–11
१६५. जो वर्गणाएँ अल्प परमाणु वाली होने के कारण जीव के द्वारा ग्रहण नहीं की जाती हैं, वे अग्रहणयोग्य वर्गणा होती है और निश्चित परमाणु वाली वर्गणा जिसे जीव ग्रहण करता है, वह ग्रहणयोग्यवर्गणा कहलाती है।
१६६. लोकप्रकाश, 35.3
१६७. (अ) लोकप्रकाश, 35.45–47
(ब) प्रवचनसारोद्धार, द्वार 162, गाथा 1041
१६८. (अ) लोकप्रकाश, 35.48–49
(ब) प्रवचनसारोद्धार, द्वार 162, गाथा 1043

१६९. (अ) लोकप्रकाश, 35.50
(ब) प्रवचनसारोद्धार, द्वार 162, गाथा 1044
१७०. (अ) लोकप्रकाश, 35.54
(ब) प्रवचनसारोद्धार, द्वार 162, गाथा 1045–1046
१७१. (अ) लोकप्रकाश, 35.58
(ब) प्रवचनसारोद्धार, द्वार 162, गाथा 1047
१७२. (अ) लोकप्रकाश, 35.59–61
(ब) प्रवचनसारोद्धार, द्वार 162, गाथा 1048–1049
१७३. (अ) लोकप्रकाश, 35.76 की व्याख्या
(ब) प्रवचनसारोद्धार, द्वार 162, गाथा 1050
१७४. अथर्ववेद काण्ड 19, अध्याय 6, सूक्त 53,54, मंत्र 1 और 10
१७५. नारायणोपनिषद्, 2
१७६. भगवद्गीता, 11.32
१७७. श्वेताश्वेतरोपनिषद्, प्रथम अध्याय, श्लोक 2
१७८. सन्मतिप्रकरण, तृतीय काण्ड, गाथा 53 पर 'वादमहार्णव' टीका
१७९. माण्डूक्यकारिका, द्वितीय प्रकरण, श्लोक 24

अष्टम अध्याय

भावलोक

जीव एवं अजीव द्रव्यों का प्रतिक्षण पर्याय परिणमन हो रहा है। इन द्रव्यों की पर्याय-परिणमन के कारण विभिन्न अवस्थाएँ बनती हैं, जिन्हें भाव कहा जाता है। जीवादि का जो स्वभाव है वह भी भावों के अन्तर्गत आता है। भावों का विवेचन जैन धर्म की विशेषता है। इसमें मुख्यतः जीवों के भावों की चर्चा है, किन्तु पारिणामिक भाव धर्मास्तिकाय आदि अजीव द्रव्यों में भी पाया जाता है। अतः सभी द्रव्यों की गुण-पर्यायों की अवस्था की चर्चा भावों के द्वारा करना इस अध्याय का विचारणीय विषय है।

जैन दर्शन में पांच भाव प्रसिद्ध हैं- १. औपशमिक २. क्षायिक ३. क्षायोपशमिक ४. औदयिक एवं ५. पारिणामिक। कुछ जैनाचार्यों के मत में छठे भाव के रूप में सान्निपातिक भाव का वर्णन किया गया है। लोकप्रकाशकार उपाध्याय विनयविजय भी छह भावों का निरूपण करते हैं। ये छहों भाव जीवों की पर्यायों से सम्बद्ध हैं, किन्तु अजीवों में मात्र पारिणामिक भाव अथवा कहीं औदयिक भाव स्वीकार किया गया है। लोकप्रकाश में छह भाव इस प्रकार उल्लिखित हैं-

स्वतस्तैहेतुभिर्वा तत्तद्रूपतयात्मनां।
भवनान्यौपशमिकादयो भावाः स्मृता इति।।
भवन्त्यमीभिः पर्यायैर्यद्वोपशमनादिभिः।
जीवानामित्यमी भावास्ते च षोढा प्रकीर्तिताः।।
आद्यस्तत्रौपशमिको द्वितीयः क्षायिकाह्वयः।
क्षायोपशमिको भावस्तार्त्तीयीको निरूपितः।।
तुर्यः औदयिको भावः पंचमः पारिणामिकः।
द्वयादिसंयोगनिष्पन्नः षष्ठः स्यात्सान्निपातिकः।। '

अर्थात् स्वतः अथवा विभिन्न हेतुओं से आत्मा की उन-उन रूपों में परिणति होना औपशमिक आदि भाव कहे गए हैं। अथवा उपशमन आदि पर्यायों से जीवों के छह प्रकार के भाव होते हैं- १. औपशमिक २. क्षायिक ३. क्षायोपशमिक ४. औदयिक ५. पारिणामिक एवं ६. सान्निपातिक।

औपशमिक भाव

घाती कर्मों के उदय का रुक जाना अथवा दबना उपशम कहलाता है। उपशम की अवस्था में आत्मा की पर्याय के भाव औपशमिक कहलाते हैं। मैल के तल में बैठने पर हुए स्वच्छ जल के

समान औपशमिक भाव एक प्रकार की आत्मिक शुद्धि है, जिसमें आत्मा पर लगा मिथ्यात्व रूपी मल शान्त होता है, पूर्णतया क्षय नहीं होता है। मोहनीय कर्म के दर्शन सप्तक[२] का उपशम होने पर सम्यक्त्व प्रकट होता है, अतः इस आत्म परिणाम विशेष को औपशमिक-सम्यक्त्व कहते हैं। उपशम की स्थिति में प्रदेश और विपाक दोनों प्रकार से कर्मों का उदय नहीं होता है। प्रदेशोदय से तात्पर्य है जीव के कर्मों का उदय होने पर कर्मपुद्गल बिना सुख-दुःख का वेदन कराए उदय में आकर निर्जरित हो जाते हैं। विपाकोदय से तात्पर्य है कि जीव कुछ कर्म के फल का अनुभव अवश्य करता है, भले ही उसके रसबन्ध में मन्दता आ जाए, परन्तु उसकी स्थिति बनी रहती है। अर्थात् ये कर्मोदय सुख-दुःख का अनुभव कराकर ही निर्जरित होते हैं।

इस भाव में इन प्रदेश और विपाक दोनों प्रकार के कर्मोदय का अभाव होने से यह भाव सर्वोपशम कहलाता है। लोकप्रकाशकार इस प्रकार के सर्वोपशम को औपशमिक भाव स्वीकार करते हैं-

यः प्रदेशविपाकाभ्यां कर्मणामुदयोऽस्य यत्।
विष्कंभणं स एवौपशमिकस्तेन वा कृतः।।[३]

अर्थात् प्रदेश एवं विपाक दोनों प्रकार से सम्बद्ध कर्म का उदय रूक जाना औपशमिक भाव है।

चतुर्थ, पंचम, षष्ठ और सप्तम इन चार गुणस्थानों में से किसी भी गुणस्थान में उपशमश्रेणिभावी आत्मा को औपशमिक भाव हो सकता है, परन्तु अष्टम गुणस्थान में उसे औपशमिक भाव की अवश्य प्राप्ति होती है। उपशम सदैव मोहनीय कर्म का ही होता है-

उपशमोऽत्रानुदयावस्था भस्मावृत्ताग्निवत्।
स मोहनीय एव स्यान्न जात्वन्येषु कर्म च।।[४]

भस्म से ढकी अग्नि की भाँति मोहनीय कर्म की अनुपम अवस्था को उपशम कहते हैं। यह उपशम मोहनीय कर्म का ही होता है, अन्य किसी कर्म का नहीं।

मोहनीय कर्म से सम्बन्धित होने के कारण औपशमिक भाव के भी मोहनीय कर्मवत् दो भेद स्वीकार किये जाते हैं-१. औपशमिक सम्यक्त्व २. औपशमिक चारित्र।[५]

औपशमिक सम्यक्त्व- मिथ्यात्व मोहनीय (मिथ्यात्व, सम्यक्त्व और मिश्र) कर्मोदय के उपशम से और चारित्रमोहनीय कर्म (अनन्तानुबंधी क्रोध, अनन्तानुबंधी मान, अनन्तानुबन्धी माया एवं अनन्तानुबंधी लोभ) के उपशम से उत्पन्न आत्मपरिणाम औपशमिक सम्यक्त्व कहलाता है।

औपशमिक चारित्र- उपशम श्रेणी में आरोहण करने वाले उपशम सम्यक्त्वी को मोहकर्म की

अन्य प्रकृतियों (दर्शन सप्तक से भिन्न) का उपशम होने पर औपशमिक चारित्र भाव प्रकट होता है। इसका तात्पर्य है औपशमिक चारित्र में समस्त मोहनीय कर्म का उपशम होता है।

औपशमिक भाव का काल जघन्य और उत्कृष्ट अन्तर्मुहूर्त माना जाता है। यह भाव एक भव में जघन्य एक बार एवं उत्कृष्ट दो बार प्राप्त होता है और अनेक भवों की अपेक्षा जघन्य दो बार एवं उत्कृष्ट पाँच बार प्राप्त हो सकता है।[६]

क्षायिक भाव

मोहनीय कर्म, ज्ञानावरण कर्म, दर्शनावरण कर्म एवं अन्तराय कर्म के आत्यन्तिक उच्छेद से उत्पन्न आत्मा का विशुद्ध भाव क्षायिक भाव कहलाता है। कहा भी है-

क्षयः स्यात्कर्मणामात्यन्तिकोच्छेदः स एव यः।
.अथवा तेन निर्वृतो यः स क्षायिक इष्यते।।[७]

सर्वथा मैल रहित नितान्त स्वच्छ जल के समान यह भाव आत्मा की परमविशुद्धि है जो घाती कर्म सम्बन्ध के सर्वथा छूटने अथवा क्षय होने पर प्रकट होती है। इस भाव को प्राप्त करने वाला जीव पुनः कभी मिथ्यात्व को प्राप्त नहीं करता है। दर्शनमोहत्रिक एवं अनन्तानुबन्धी चतुष्क का पूर्णतः क्षय होने पर क्षायिक सम्यक्त्व प्रकट होता है, जो क्षायिक भाव है। सर्वप्रथम यही क्षायिक भाव प्रकट होता है। तत्पश्चात् केवलज्ञानावरण के क्षय से केवलज्ञान, केवलदर्शनावरण कर्म के क्षय से केवलदर्शन, चारित्र मोहनीय (अप्रत्याख्यानावरण आदि कषाय एवं हास्यादि नोकषाय) के क्षय से क्षायिक चारित्र तथा दानान्तराय, लाभान्तराय, भोगान्तराय, उपभोगान्तराय और वीर्यान्तराय इन पाँच अन्तराय कर्मों के क्षय होने पर क्षायिकदान आदि पाँच क्षायिक भाव प्रकट होते हैं। अतः क्षायिक भाव नौ प्रकार का कहा जाता है[८]- १. क्षायिक सम्यक्त्व २. क्षायिक चारित्र ३. केवलज्ञान ४. केवलदर्शन ५. अनन्त दान ६. अनन्त लाभ ७. अनन्त भोग ८. अनन्त उपभोग एवं ९. अनन्त वीर्य।

जीव यदि आयुष्य बन्ध के पश्चात् यह क्षायिक भाव प्राप्त करता है तब वह तीन अथवा चार भवों में मुक्ति प्राप्त कर लेता है और यदि उसने यह भाव आयुबन्ध से पूर्व प्राप्त कर लिया हो तो वह निश्चित ही उसी भव में मुक्तिगामी बन जाता है। क्षायिक भाव की उत्पत्ति का हेतु कर्मघात है।

क्षायिक भाव एक बार प्राप्त होने पर पुनः जाता नहीं है इसीलिए इसकी स्थिति अनन्त है। इसके अधिकारी भी औपशमिकभाववालों से अधिक होते हैं। अतः लोकप्रकाशकार कहते हैं-

भूरिभेदो भूरिकालो भूरिस्वामिक एव च।

क्षायिको ह्यौपशमिकात्तदुक्तस्तदनंतरं।।[९]

भेद, स्थिति एवं स्वामित्व की अपेक्षा भी औपशमिक एवं क्षायिकभाव में भिन्नता है। औपशमिक भाव से क्षायिक भाव के अधिक भेद हैं। औपशमिक भाव जहाँ दो प्रकार का है वहाँ क्षायिक भाव नौ प्रकार का है। औपशमिक भाव की स्थिति जहाँ अन्तर्मुहूर्त है वहाँ क्षायिक भाव की स्थिति अनन्त है। औपशमिकभाव वाले जीवों की अपेक्षा क्षायिकभाव वाले जीव अनन्त है।

इन पाँच भावों में औपशमिक भाव के पश्चात् क्षायिक भाव का कथन करने का हेतु भी लोकप्रकाशकार विनयविजय यही मानते हैं कि औपशमिक भाव की अपेक्षा क्षायिक भाव के भेद, स्थिति (काल) एवं स्वामी अधिक हैं। –

क्षायोपशमिक भाव

उदयगत कर्मों को भोगकर क्षय करने से और अनुदीर्ण अर्थात् सत्तागत कर्मोदय को रोक देने से उत्पन्न आत्मपर्याय परिणाम को क्षायोपशमिक भाव कहते हैं। इस भाव में क्षय और उपशम की मिश्रता होने से इसे मिश्रभाव भी कहते हैं

अभावः समुदीर्णस्य क्षयोऽथोपशमः पुनः।
विष्कंभितोदयत्वं यदनुदीर्णस्य कर्मणः।।
आभ्यामुभाभ्यां निर्वृतः क्षायोपशमिकाभिधः।
भावस्तृतीयो निर्दिष्टः ख्यातोऽसौ मिश्र इत्यपि।।[१०]

अर्थात् उदीर्ण कर्मों के अभाव से क्षय तथा अनुदीर्ण कर्म के उदय को रोकने से उपशम इन दोनों (क्षय एवं उपशम) से उत्पन्न आत्मिक भाव क्षायोपशमिक कहलाता है।

धतूरे को धोने पर जिस प्रकार उसकी मादक शक्ति कुछ क्षीण होती है और कुछ सत्ता में रहती है ठीक उसी प्रकार यह क्षायोपशमिक भाव एक मिश्रित आत्मिक शुद्धि है जो कर्म के एक अंश का उदय रुक जाने पर और दूसरे अंश का प्रदेशोदय द्वारा क्षय होते रहने पर प्रकट होती है।

क्षायोपशमिक में प्रयुक्त उपशम शब्द का अर्थ औपशमिक में प्रयुक्त उपशम शब्द के अर्थ से भिन्न है। औपशमिक के उपशम में प्रदेश और विपाक दोनों प्रकार के उदय का अभाव होता है जबकि क्षायोपशमिक भाव में प्रदेश रूपी कर्मोदय होता है, विपाक कर्मोदय नहीं। अर्थात् इस भाव में कुछ कर्म सुख-दुःख की अनुभूति कराए बिना भोग कर निर्जरित होते हैं।"

प्रवचनसारोद्धार के टीकाकार उपशम के दो अर्थ स्वीकार करते हैं- १. कर्म के उदय को रोकना और २. कर्मगत मिथ्यास्वभाव को दूर करना।

क्षायोपशमिक भाव में ये दोनों बातें घटित होती हैं। दर्शन मोहनीय कर्म के तीन पुंज

(मिथ्यात्व, मिथ्यात्वसम्यक्त्व, सम्यक्त्वमोह) में से मिथ्यात्व और मिथ्यात्वसम्यक्त्व पुंज के कर्मोदय को अध्यवसायवश रोका जाता है। अतः इसमें उपशम का प्रथम अर्थ घटित होता है। कर्मगत मिथ्यास्वभाव को दूर करने से तृतीय सम्यक्त्व शुद्धपुंज प्रकट होता है। अतः उपशम का द्वितीय अर्थ भी यहाँ घटित होता है। इस प्रकार उदयगत मिथ्या स्वभाव के घात से और अनुदय मिथ्यात्व (सत्तागत मिथ्यात्व) के उपशम से नष्ट मिथ्या स्वभाव वाला शुद्धपुंज रूप दर्शनमोहनीय भी क्षायोपशमिक सम्यक्त्व कहलाता है। क्षायोपशमिक भाव के अठारह भेद स्वीकार किये जाते हैं-

भावा अष्टादशप्येवं क्षायोपशमिका इमे।
कर्मक्षयोपशमतो यद्भवन्त्युक्त्या द्विधा।।[३२]

अठारह भेद क्रमशः इस प्रकार है-

क्र.	क्षायोपशमिक भाव	कर्म से सम्बद्ध	प्रकटीकरण
१-४	मतिज्ञान,श्रुतज्ञान,अवधिज्ञान और मनःपर्यवज्ञान	ज्ञानावरण से सम्बद्ध	अपने-अपने आवरक कर्मों के क्षयोपशम से जन्य विशेषभाव
५-७	मतिअज्ञान, श्रुतअज्ञान और विभंगज्ञान	ज्ञानावरण से सम्बद्ध	”
८-१०	चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन और अवधि दर्शन	दर्शनावरण से सम्बद्ध	अपने-अपने आवरक कर्मों के क्षयोपशम से जन्य भाव
११	क्षायोपशमिक सम्यक्त्व	मोहनीय कर्म से सम्बद्ध	दर्शन सप्तक के क्षयोपशम से जन्य विशेष भाव
१२	क्षायोपशमिक चारित्र/ सर्वविरति’	मोहनीय कर्म से सम्बद्ध	चारित्र मोहनीय कर्म के क्षयोपशम से जन्य भाव
१३	देशविरति/संयमासंयम	मोहनीय कर्म से सम्बद्ध	अप्रत्याख्यावरण कषाय मोहनीय कर्म के क्षयोपशम जन्य भाव
१४-१८	दान, लाभ, भोग, उपभोग और वीर्य लब्धि	अन्तराय कर्म से सम्बद्ध	अन्तराय कर्म के क्षयोपशम जन्य भाव

अठारह भेदों का स्वरूप- ज्ञानावरण की देशघाति प्रकृतियाँ चार हैं- १. मतिज्ञानावरण २. श्रुतज्ञानावरण ३. अवधिज्ञानावरण और ४. मनःपर्यवज्ञानावरण। सम्यक्त्वी जीव के इन चार प्रकृतियों के क्षयोपशम से चार ज्ञान (मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान और मनःपर्यवज्ञान) प्रकट होते हैं तथा मिथ्यात्वी जीव के इन चार प्रकृतियों के क्षयोपशम से मतिअज्ञान, श्रुतअज्ञान और विभंगज्ञान प्रकट होता है। इस प्रकार ज्ञानावरण कर्म से सम्बद्ध क्षायोपशमिक ज्ञान के कुल सात भेद हैं।

दर्शनावरण कर्म की देशघाति प्रकृतियाँ तीन हैं- चक्षुदर्शनावरण, अचक्षुदर्शनावरण और

अवधिदर्शनावरण। दर्शनावरण कर्म के क्षयोपशम से चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन एवं अवधिदर्शन ये तीन भेद प्रकट होते हैं।

मोहनीय कर्म के मिथ्यात्व, सम्यक्त्व एवं सम्यग्मिथ्यात्व इन तीन दर्शन मोहनीय और अनन्तानुबन्धी कषाय चतुष्क चारित्र मोहनीय ऐसे दर्शन सप्तक के क्षयोपशम से क्षायोपशमिक-सम्यक्त्व प्रकट होता है।

मोहनीय कर्म के चारित्र मोहनीय के कषाय एवं नोकषाय २५ ही भेदों के क्षयोपशम से क्षायोपशमिक चारित्र प्रकट होता है।

अप्रत्याख्यानावरण कषाय मोहनीय के क्षयोपशम से संयमासंयम अथवा देशविरति भाव प्रकट होता है।

दानान्तराय, लाभान्तराय, भोगान्तराय, उपभोगान्तराय एवं वीर्यान्तराय इन पाँच अन्तराय कर्मों के क्षयोपशम से क्रमशः क्षायोपशमिक दान, क्षायोपशमिक लाभ, क्षायोपशमिक भोग, क्षायोपशमिक उपभोग एवं क्षायोपशमिक वीर्य प्रकट होता है।

तत्त्वार्थसूत्र के टीकाकार पूज्यपादाचार्य क्षायोपशमिक भाव का पारिभाषिक लक्षण करते हैं कि वर्तमानकाल में सर्वघाती स्पर्द्धकों का उदयाभावी क्षय हो, आगामी काल की अपेक्षा उन्हीं का सद्वस्था रूप उपशम हो और देशघाती स्पर्धकों का उदय हो तब जीव का यह आत्मपर्याय परिणाम क्षायोपशमिक भाव कहलाता है-

"सर्वघातिस्पर्द्धकानामुदयक्षयात्तेषामेव सदुपशमादेशघातिस्पर्द्धकानामुदये क्षायोपशमिको भावो भवति।"[13]

चार ज्ञान, तीन अज्ञान और तीन दर्शन से सम्बन्धित कर्मावरणों का क्षायोपशमिक भाव होने पर वे क्रमशः क्षायोपशमिक ज्ञान, क्षायोपशमिक अज्ञान और क्षायोपशमिक दर्शन कहलाते हैं।[14] अनन्तानुबन्धी कषायचतुष्क, मिथ्यात्वमोहनीय और सम्यग्मिथ्यात्वमोहनीय इन छह प्रकृतियों के उदयाभावी क्षय और सदवस्थारूप उपशम से देशघाती स्पर्धकवाली सम्यक्त्व प्रकृति के उदय से जो जीव का परिणाम विशेष होता है वह क्षायोपशमिक सम्यक्त्व कहा जाता है।[15] घातिकर्मों की भी कुछ प्रकृतियाँ सर्वघाती हैं तथा कुछ प्रकृतियाँ देशघाति हैं। उदाहरण के लिए ज्ञानावरण कर्म की मतिज्ञानावरण आदि चार प्रकृतियाँ देशघाती हैं तथा केवलज्ञानावरण सर्वघाती है। आत्मा के पूर्ण गुण को रोकने वाला सर्वघाती होता है तथा उसके आंशिक गुण को बाधित करने वाला देशघाती होता है। कर्म पुद्गलों की एक अवस्था को स्पर्द्धक कहा जाता है। अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यानावरण और प्रत्याख्यानावरण इन बारह कषायों का उदयाभावी क्षय और इन्हीं का सदवस्थारूप उपशम होने से

तथा चार संज्वलनों में से किसी एक देशघाती प्रकृति का उदय होने पर नव नोकषायों का यथासम्भव उदय होने पर उत्पन्न आत्म-परिणाम क्षायोपशमिकचारित्र कहलाता है।[१६] अनन्तानुबंधी और अप्रत्याख्यानावरण इन आठ कषायों के उदयाभावी क्षय और सदवस्था रूप उपशम होने से तथा प्रत्याख्यानावरण कषाय और संज्वलन कषाय के देशघाती स्पर्द्धकों का उदय होने पर तथा नौ नोकषायों का यथासम्भव उदय होने पर आत्मा का जो विस्ताविरत रूप परिणाम होता है वह संयमासंयमचारित्र कहलाता है।[१७]

औदयिक भाव

कर्मों के विपाक द्वारा जो अनुभव किया जाता है वह उदय है और इसी उदय से जन्य आत्म-परिणाम औदयिक भाव कहलाता है।

यः कर्मणा विपाकेनानुभवः सोदयो भवेत्।
स एवौदयिको भावो निर्वृत्तस्तेन वा तथा।।[१८]

मैल के जल में मिल जाने पर मलिनजल के समान यह भाव एक आत्मिक कालुष्य है। बद्धकर्मों के उदय से ही यह भाव उत्पन्न होता है।

औदयिक भाव जीव-अजीव दोनों को होता है। जीवों को गति, लिंग, वेद, शरीर आदि की प्राप्ति औदयिक भाव है। गति, शरीर, लिंगादि पौद्गलिक हैं जो कर्मोदय से जीव के साथ होते हैं। यथा मनुष्य गति वाले जीव को औदारिक शरीर की प्राप्ति, देवगति वाले जीव को वैक्रिय शरीर की प्राप्ति होना आदि। अतः इस अपेक्षा से अजीव में भी औदयिक भाव माना गया है।

औदयिक भाव के 21 प्रकार- औदयिक भाव के २१ प्रकार स्वीकार किये जाते हैं-

अथाज्ञानमसिद्धत्वमसंयम इमे त्रयः।
लेश्याषट्कं कषायाणां गतीनां च चतुष्टयं।।
वेदास्त्रयोऽथ मिथ्यात्वं भावा इत्येकविंशतिः।
कर्मणामुदयाज्जातास्तत औदयिकाः स्मृताः।।[१९]

अज्ञान, असिद्धत्व, असंयम, छह लेश्या, चार कषाय, चार गति, तीन वेद और एक मिथ्यात्व कुल १+१+१+६+४+४+३+१ =२१ प्रकार के औदयिक भाव जीव को प्राप्त होते हैं।

क्र.	औदयिक भाव	कर्म से सम्बद्ध
१	अज्ञान	मतिज्ञानावरण (श्रुतज्ञानावरण अथवा अवधिज्ञानावरण) और मिथ्यात्व मोह के उदय से जन्य भाव।
२	असिद्धत्व	आठ कर्मों के उदय से जन्य भाव।

३	असंयम	अप्रत्याख्यानावरण कषायोदय से जन्य।
४-६	लेश्या छह	कषाय और योग के मिलने से उत्पन्न भाव अथवा लेश्या को कर्म का निष्यन्द स्वीकार करने वालो के मत में आठों ही कर्मों से जन्य भाव विशेष।
१०-१३	कषाय चार	मोहनीय कर्म के उदय से जन्य।
१४-१६	वेद तीन	मोहनीय कर्म के उदय से जन्य।
१७-२०	गति चार	गतिनामकर्म के उदय से जन्य।
२१	मिथ्यात्व	मिथ्यात्व मोहनीय कर्म के उदय से जन्य विशेष भाव।

अज्ञान

अतत्त्वे तत्त्वबुद्धयादि स्वरूपं भूरि दुःखदं।
मिथ्यात्वमोहोदयजमज्ञानं तत्र कीर्तितम्।। [२०]

अतत्त्व में तत्त्वबुद्धि, तत्त्व में अतत्त्वबुद्धि रूप भाव मतिज्ञानावरण और मिथ्यात्वमोहनीय कर्म से उत्पन्न अज्ञान औदयिक भाव होता है।

असिद्धत्व

असिद्धत्वमपि ज्ञेयमष्टकर्मोदयोद्भवं।।[२१]

आठ कर्मों के उदय से उत्पन्न भाव असिद्धत्व औदयिक भाव होता है और यदि आठ कर्मों से मुक्त होगा तब जीव का भाव सिद्धत्व कहलायेगा।

असंयम

अप्रत्याख्यानावरणीयोदयाच्च स्यादसंयमः।।[२२]

प्रत्याख्यानावरण, अप्रत्याख्यानावरण और संज्वलन कषायोदय से असंयम औदयिक भाव होता है।

लेश्या

भावलेश्या कषायोदयरंजिता योगप्रवृत्तिरिति कृत्वा औदायिकीत्युच्यते।[२३]

कषाय और योग के मेल से उत्पन्न परिणाम लेश्याऔदयिक भाव है।

कषाय

कषायाः स्युः क्रोधमानमायालोभा इमे पुनः।
कषायमोहनीयाख्य कर्मोदयसमुद्भवाः।।[२४]

कषायमोहनीय कर्म के उदय से क्रोध, मान, माया एवं लोभ रूपी चार कषाय औदयिक भाव

उत्पन्न होते हैं।

गति

गतयो देवमनुजतिर्यग्नरकलक्षणाः।
भवन्तीह गतिनामकर्मोदयसमुद्भवाः।।[३५]

गतिनामकर्म के उदय से प्राप्त नरक, तिर्यंच, मनुष्य और देवभाव गति औदयिक भाव कहलाते हैं।

वेद

नोकषायमोहनीयोदयोद्भूता भवन्तयथ।
स्त्रीपुंनपुंसकाभिख्या वेदाः खेदाश्रया भृशं।।[३६]

नोकषायवेद मोहनीय कर्म के उदय से उत्पन्न स्त्री, पुरुष और नपुंसक रूप परिणाम वेदऔदयिक भाव कहलाते हैं-

मिथ्यात्व

मिथ्यात्वमपि मिथ्यात्वमोहनीयोदयोद्गतम्।।[३७]

मिथ्यादर्शन के उदय से तत्त्वों का अश्रद्धान रूप परिणाम मिथ्यात्व औदयिक भाव कहलाता है।

इस प्रकार औदयिक भाव के इक्कीस प्रकार स्वीकार किए जाते हैं। यद्यपि जीव को कर्मोदय से अन्य भाव भी प्राप्त होते हैं परन्तु सावर्ण्य/साहचर्य की अपेक्षा से अन्य भावों का अन्तर्भाव इक्कीस प्रकारों में कर लिया जाता है।

पारिणामिक भाव

द्रव्यों का स्वाभाविक स्वरूप परिणमन पारिणामिक भाव कहलाता है। द्रव्यों का स्वाभाविक परिणाम कभी परिवर्तित नहीं होता है। यथा जीव द्रव्य का जीवत्व, भव्यत्व एवं अभव्यत्व, धर्मास्तिकाय का गति, अधर्मास्तिकाय का स्थिरता, आकाशास्तिकाय का अवगाहन, काल का वर्तन और पुद्गल का पूरण-गलन स्वभाव कभी भी परिवर्तित नहीं होते है।

ये पारिणामिक भाव न तो कर्म के उदय से, न उपशम से, न क्षय से और न क्षयोपशम से उत्पन्न होते हैं, ये स्वाभाविक ही होते हैं।

जीवत्वमथ भव्यत्वमभव्यत्वमिति त्रयः।
स्युः पारिणामिका भावा नित्यमीदृक् स्वभावतः।।[३८]

जीवत्व, भव्यत्व और अभव्यत्व ये तीन अनादि पारिणामिक भाव हैं। ये तीनों भाव जीव द्रव्य भिन्न धर्मास्तिकायादि में नहीं होते हैं। यद्यपि जीव में अस्तित्व, अन्यत्व, कर्तृत्व, भोक्तृत्व,

गुणवत्व, असर्वगत्व, प्रदेशवत्व, अरूपत्व आदि बहुत से पारिणामिक भाव पाये जाते हैं, परन्तु वे जीव के असाधारण धर्म नहीं होते हैं अतः उनकी यहाँ परिगणना न करके जीवों के मात्र असाधारण पारिणामिक जीवत्वादि की चर्चा की गई है।

'जीवत्वं चैतन्यमित्यर्थः। सम्यग्दर्शनादि भावेन भविष्यतीति भव्यः। तद्विपरीतोऽभव्यः।'[२६]

जीवत्व का अर्थ चैतन्यभाव है। सम्यग्दर्शन, सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चारित्र रूप रत्नत्रय गुण प्रकट होने की योग्यता जीव का भव्यपारिणामिक भाव है और जिस जीव में रत्नत्रय गुण प्रकट करने की योग्यता नहीं है वह जीव का अभव्यपारिणामिक भाव कहलाता है।

सान्निपातिक भाव

आत्मा की पर्याय कभी-कभी एक साथ दो, तीन, चार अथवा पाँच भावों में परिणमित होती है। इस प्रकार एक साथ दो आदि भावों के संयोग में आत्मा का पर्याय परिणमन करना सान्निपातिक भाव कहलाता है। कहा भी है-

एकत्र इत्यादि भावानां सन्निपातोऽत्र वर्तनं।
यो भावस्तेन निर्वृत्तः स भवेत्सान्निपातिकः।।[३०]

सान्निपातिकभाव द्विक संयोग, त्रिकसंयोग, चतुःसंयोग और पंचसंयोग के रूप में २६ प्रकार का होता है। वे २६ प्रकार इस तरह हैं-

क्र.	द्विकसंयोगीभाव	त्रिकसंयोगीभाव	चतुःसंयोगीभाव/ पंचसंयोगी भाव
१-३	औदयिक-औपशमिक	औदयिक-औपशमिक-क्षायिक	औदयिक-औपशमिक-क्षायिक- क्षायोपशमिक
४-६	औदयिक-क्षायिक	औदयिक-औपशमिक-क्षायोपशमिक	औदयिक-औपशमिक-क्षायिक-पारिणामिक
७-९	औदयिक-क्षायोपशमिक	औदयिक-औपशमिक-पारिणामिक	औदयिक-औपशमिक-क्षायोपशमिक-पारिणामिक
१०-१२	औदयिक-पारिणामिक	औदयिक-क्षायिक- क्षायोपशमिक	औदयिक-क्षायिक-क्षायोपशमिक-पारिणामिक
१३-१५	औपशमिक-क्षायिक	औदयिक-क्षायिक- पारिणामिक	औपशमिक-क्षायिक-क्षायोपशमिक-पारिणामिक
१६-१८	औपशमिक-क्षायोपशमिक	औदयिक-क्षायोपशमिक-पारिणामिक	औपशमिक-क्षायिक-क्षायोपशमिक-औदयिक-पारिणामिक

१६-२०	औपशमिक-पारिणामिक	औपशमिक-क्षायिक-क्षायोपशमिक	-
२१-२२	क्षायिक-क्षायोपशमिक	औपशमिक-क्षायिक- पारिणामिक	-
२३-२४	क्षायिक-पारिणामिक	औपशमिक-क्षायोपशमिक-पारिणामिक	-
२५-२६	क्षायोपशमिक-पारिणामिक	क्षायिक-क्षायोपशमिक-पारिणामिक	-

औपशमिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक, औदयिक और पारिणामिक भावों का संयोग पंचसंयोगी सान्निपातिक भाव होता है। इस प्रकार द्विकसंयोगी के दस, त्रिकसंयोगी के दस, चतुःसंयोगी के पाँच और पंचसंयोगी का एक ये कुल २६ प्रकार सान्निपातिक भाव के गिनाए जाते हैं।[३१] इन २६ प्रकारों में कुल छह विभाग जीव में संभव होते हैं, अतः वे छह विभाग उपयोगी हैं और शेष बीस नाममात्र के होते हैं-

१. द्विक संयोगी- क्षायिक-पारिणामिक (२३वां भंग)
२. त्रिक संयोगी- क्षायिक-औदयिक-पारिणामिक (१४वां भंग)
३. त्रिक संयोगी- क्षायोपशमिक-औदयिक-पारिणामिक (१७वां भंग)
४. चतुः संयोगी- औपशमिक-क्षायोपशमिक-औदयिक-पारिणामिक (८वां भंग)
५. चतुः संयोगी- क्षायिक-क्षायोपशमिक-औदयिक-पारिणामिक (१२वां भंग)
६. पंच संयोगी- औपशमिक-क्षायिक-क्षायोपशमिक-औदयिक-पारिणामिक(१८वां भंग)

ये छह विभाग कौन-कौनसे जीव से सम्बन्धित होते हैं वह इस प्रकार हैं-

1. द्विक संयोगी- क्षायिक-पारिणामिक भाव सिद्ध जीव में होता है। क्षायिक भाव से सिद्ध जीव में सम्यक्त्व और पारिणामिक भाव से जीवत्व होता है। अन्य भावों की असंभवता से सिद्ध जीव में मात्र क्षायिक भाव होता है।[३२]

2. त्रिक संयोगी- औदयिक-क्षायिक और पारिणामिक भाव सर्वज्ञ/अरिहन्त/ केवली जीव में होता है। सर्वज्ञ में क्षायिक भाव से केवलज्ञान, औदयिक से मनुष्यत्व और पारिणामिक भाव से जीवत्व एवं भव्यत्व होता है।[३३]

3. त्रिक संयोगी- औदयिक-क्षायोपशमिक और पारिणामिक भाव चारों गतियों में होता है। क्षायोपशमिक भाव से इन्द्रियादि औदयिक भाव से नरक-तिर्यंच-मनुष्य या देवगति की प्राप्ति होना

और पारिणामिक भाव से जीवत्व आदि होते हैं।[३४]

4. चतुःसंयोगी– औदयिक-औपशमिक-क्षायोपशमिक एवं पारिणामिक भाव चारों गतियों में होता है। औपशमिक भाव से सम्यक्त्व प्राप्त होता है। क्षायोपशमिक से इन्द्रियादि, औदयिक भाव से चारों गतियाँ और पारिणामिक भावों से जीवत्वादि होते हैं।[३५]

5. चतुःसंयोगी– औदयिक-क्षायिक-क्षायोपशमिक और पारिणामिक भाव चारों गतियों में होता है। क्षायिक भाव से सम्यक्त्व की प्राप्ति, क्षायोपशमिक भाव से इन्द्रियादि, औदयिक भाव से चार गति और पारिणामिक भाव से जीवत्वादि होते हैं।[३६]

6. पंचसंयोगी– औपशमिक- क्षायिक-क्षायोपशमिक-औदयिक और पारिणामिक भाव क्षायिकसम्यक्त्वी उपशम श्रेणी करने वाले मनुष्य में होता है। क्षायिक भाव से सम्यक्त्व होता है, मोहनीय कर्म का उपशम करने से उपशम भाव का चारित्र होता है, औदयिकी मनुष्य गति, क्षायोपशमिकी इन्द्रिय और जीवत्व एवं भव्यत्व पारिणामिक भाव की प्राप्ति होती है। इस प्रकार से पंचसंयोगी का एक विभाग संभव होता है।[३७]

सान्निपातिक भाव के इन छह विभागों में से प्रथम विभाग सिद्ध जीव में होता है, दूसरा विभाग केवली जीव में होता है, तीसरा, चौथा एवं पंचम विभाग चारों गतियों में होता है तथा षष्ठ विभाग क्षायिक-सम्यक्त्वी उपशम श्रेणी प्रारम्भ करने वाले मनुष्य को होता है, इस प्रकार छह विभागों के कुल १+१+४+४+४+१=१५ भेद कहे जाते हैं।[३८]

कर्मों से सम्बद्ध विभिन्न भाव

ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय इन तीन कर्मों के क्षयादि से चार भाव प्रकट होते हैं, औपशमिक भाव प्रकट नहीं होता। ज्ञानावरण और दर्शनावरण के भेद केवलज्ञानावरण एवं केवलदर्शनावरण का क्षायोपशमिक भाव संभव नहीं है, मात्र क्षायिक भाव संभव है। अतः इस अपेक्षा से इन दो कर्मों के तीन अथवा चार भाव होते हैं। मोहनीय कर्म के क्षयादि से पाँचों भाव होते हैं। औपशमिक भाव का सम्बन्ध मात्र मोहकर्म से है। वेदनीय, आयु, नाम और गोत्र इन चार कर्मों के क्षयादि से पारिणामिक, क्षायिक और औदयिक ये तीन भाव होते हैं। अन्तरायकर्म के क्षयादि से औपशमिक को छोड़कर चार भाव प्रकट होते हैं।[३९]

कर्म	ज्ञानावरण	दर्शनावरण	वेदनीय	मोहनीय	आयुष्य	नाम	गोत्र	अन्तराय
भाव	४/३	४/३	३	५	३	३	३	४

भावों में कर्म निरूपण

औपशमिक भाव मोहनीय कर्म का ही होता है, क्योंकि इसी कर्म में प्रदेशोदय और विपाकोदय दोनों प्रकार का सर्वतः उपशम होता है, अन्यथा देशतः उपशम आठों कर्मों का होता ही है।[४०]

क्षायोपशमिक भाव चार घाति कर्मों (ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय) का ही होता है।[४१] केवलज्ञानावरण और केवलदर्शनावरण का क्षयोपशम भाव नहीं होता है, क्षय ही होता है।

क्षायिक, औदयिक और पारिणामिक ये तीनों भाव आठों कर्मों से सम्बद्ध हैं। चार घाती कर्मों का क्षय दसवें/बारहवें गुणस्थान के अन्त में और चार अघाती कर्मों का क्षय चौदहवें गुणस्थान के अन्त में होता है। अतः क्षायिक भाव आठों कर्मों का होता है।

औदयिक भाव भी आठों कर्मों से सम्बद्ध है। औदयिक भाव के २१ भेदों में अज्ञान प्रथम औदयिक भाव होता है।

१. अज्ञान से तात्पर्य ज्ञान का अभाव और मिथ्याज्ञान दोनों से है। ज्ञान का अभाव ज्ञानावरण कर्म का उदयजन्य परिणाम और मिथ्याज्ञान मिथ्यात्वमोहनीय कर्म का उदयजन्य परिणाम है। इसीलिए अज्ञान औदयिक भाव है।
२. असिद्धत्व भाव (सिद्धत्व की अभाव रूप अवस्था) आठों कर्मों के उदय का फल है।
३. असंयम अप्रत्याख्यानावरण कषाय के उदय से उत्पन्न फल है।
४. लेश्या कषायिक-परिणाम स्वीकार करने पर कषायमोहनीय के उदयजन्य और योगपरिणाम स्वीकार करने पर योगत्रयजनक कर्म के उदय का परिणाम है। अतः लेश्या उदयजन्य भाव है।
५. कषाय की उत्पत्ति कषाय मोहनीय कर्म के उदय से होती है।
६. नरक-तिर्यंच आदि गतियाँ स्वनाम वाले गतिनामकर्म के उदय का परिणाम है।
७. वेद-द्रव्य और भाव दोनों प्रकार का औदयिक भाव है। आकृति रूप द्रव्यवेद अंगोपांग नामकर्म के उदय से और भाववेद पुरुष, स्त्री, नपुंसकवेद नोकषायमोहनीय के उदय से होता है।
८. अतत्त्वश्रद्धानरूप मिथ्यात्व मिथ्यात्वमोहनीय के उदय का परिणाम है।

इस प्रकार औदयिक भाव अष्टकर्मों से सम्बद्ध है।[४२]

क्रम	भाव	कर्म
१	औपशमिक भाव	मोहनीय कर्म का (सर्वतः उपशम मोहनीय कर्म का होता है व देशतः आठों कर्मों का होता है)
२	क्षायिक भाव	आठों कर्म का (दसवें गुणस्थान के अन्त में) मोहनीय का तथा चार अघाती का क्षय चौदहवें गुणस्थान के अंत में।
३	क्षायोपशमिक भाव	चार घाती कर्मों का (केवलज्ञानावरण और केवलदर्शनावरण का क्षयोपशम नहीं होता, क्षय ही होता है।)
४	औदयिक भाव	आठों कर्मों का
५	पारिणामिक भाव	आठों कर्मों का

गति आश्रित भाव

मनुष्य, तिर्यंच, देव और नरक रूप चारों गतियों में पाँच भाव होते हैं। पारिणामिक भाव का जीवत्व, औपशमिक और क्षायिक भाव का सम्यक्त्व, क्षायोपशमिक भाव की इन्द्रिय तथा औदयिक भाव की गति इस प्रकार चारों गतियों में उपर्युक्त पंच भाव होते हैं-

नृतिर्यग्देव नरकरूपे गति चतुष्टये।
पंचापि भावा ज्ञेया यज्जीवत्वं पारिणामिकं।।
सम्यक्त्वमौपशमिकं क्षायिकं चेन्द्रियाणि च।
क्षायोपशमिकान्यासु गतिरौदयिकी भवेत्।।[४३]

सिद्ध गति में क्षायिक और पारिणामिक दो भाव ही होते हैं। क्षायिक भाव का ज्ञानादि और पारिणामिक भाव का जीवत्व इस तरह सिद्धगति में दो भाव होते हैं-

तौ द्वावेव सिद्धगतौ क्षायिकपारिणामिकौ।
ज्ञानादि क्षायिकं तत्र जीवत्वं पारिणामिकम्।।[४४]

गुणस्थानों में भाव

प्रथम तीन गुणस्थान -मिथ्यादृष्टि, सास्वादन और मिश्र इनमें क्षायोपशमिक, औदयिक और पारिणामिक तीन भाव होते हैं। औदयिक भाव से यथायोग्य गति आदि, पारिणामिक भाव से जीवत्वादि तथा क्षायोपशमिक भाव से इन्द्रियादि मिलती हैं-

मिथ्यादृष्टौ तथा सास्वादने मिश्रगुणेऽपि च।
तत्राद्यत्रितये मिश्रौदयिक पारिणामिकाः।।[४५]

चौथे से सातवें गुणस्थान (अविरत सम्यग्दृष्टि, देशविरत श्रावक, प्रमत्त साधु, अप्रमत्त साधु) में पूर्वोक्त तीन-औदयिक, पारिणामिक एवं क्षायोपशमिक और क्षायिक अथवा औपशमिक

सहित चार भाव होते हैं। क्षायोपशमिकसम्यग्दृष्टि जीव के क्षायोपशमिक सम्यक्त्व होने से चतुर्थ गुणस्थान के क्षायोपशमिक सम्यक्त्वी को तीन भाव होते हैं, परन्तु यदि जीव क्षायिक सम्यग्दृष्टि अथवा उपशम-सम्यग्दृष्टि हो तो उसे चार भाव होते हैं, क्योंकि उनका सम्यक्त्व क्रमशः क्षायिक भाव या औपशमिक भाव जन्य है।[४६]

आठवें अपूर्वकरण गुणस्थान में चार भाव होते हैं। तीन भाव पूर्ववत् क्षायोपशमिक, औदयिक और पारिणामिक होते हैं। चौथा भाव औपशमिक सम्यक्त्व होने पर औपशमिक अथवा क्षायिक सम्यक्त्व होने पर क्षायिक होता है।[४७]

अनिवृत्तिबादर और सूक्ष्मसंपराय इन नौवें और दसवें गुणस्थानों में चार अथवा पाँच भाव होते हैं। क्षायोपशमिक, औदयिक और पारिणामिक ये तीन भाव पूर्ववत् हैं। चौथा भाव उपशमश्रेणि वाले जीव को औपशमिक सम्यक्त्व होने से औपशमिक भाव होता है अथवा क्षपक श्रेणिवाले जीव को क्षायिक सम्यक्त्व होने से क्षायिक भाव होता है। क्षायिक सम्यक्त्वी जीव जब उपशमश्रेणि प्रारम्भ करता है, उस समय उपशम भाव का चारित्र होने से औपशमिक भाव भी हो जाता है। इस प्रकार नौवें और दसवें गुणस्थान में चार अथवा पाँच भाव होते हैं।[४८]

उपशान्तमोहनीय ११वें गुणस्थान में चार अथवा पाँच भाव होते हैं। उपशम श्रेणि वाले को चार भाव और क्षायिक सम्यक्त्वी (क्षपक श्रेणि जीव) को पाँच भाव होते हैं।[४९]

बारहवें क्षीणमोहनीय गुणस्थान में चार भाव होते हैं। क्षायोपशमिक, औदयिक और पारिणामिक तीन पूर्ववत् तथा क्षायिकसम्यक्त्व होने से चौथा क्षायिक भाव होता है।[५०]

तेरहवें और चौदहवें सयोगी केवली एवं अयोगी केवली गुणस्थान में तीन भाव औदयिक, क्षायिक और पारिणामिक होते हैं। क्षायिक भाव के केवलज्ञान, केवलदर्शन आदि भेद, औदयिक भाव के गति जाति आदि भेद और पारिणामिक भाव का जीवत्व होता है।[५१]

इस प्रकार गुणस्थान में पाँच मूल भावों का कथन किया जाता है।

क्रम	चौदह गुणस्थान	पाँच मूल भाव
१	मिथ्यात्व	क्षायोपशमिक, औदयिक, पारिणामिक (३)
२	सास्वादन	क्षायोपशमिक, औदयिक, पारिणामिक (३)
३	मिश्र	क्षायोपशमिक, औदयिक, पारिणामिक (३)
४	अविरत सम्यग्दृष्टि	औपशमिक/क्षायिक, क्षायोपशमिक, औदयिक एवं पारिणामिक (४)
५	देशविरत सम्यग्दृष्टि	औपशमिक/क्षायिक, क्षायोपशमिक, औदयिक एवं पारिणामिक (४)
६	प्रमत्त	औपशमिक/क्षायिक, क्षायोपशमिक, औदयिक एवं पारिणामिक (४)

७	अप्रमत्त	औपशमिक/क्षायिक, क्षायोपशमिक, औदयिक एवं पारिणामिक (४)
८	अपूर्वकरण/निवृत्तिबादर	औपशमिक/क्षायिक, क्षायोपशमिक, औदयिक एवं पारिणामिक (४)
९	अनिवृत्तिबादर	औपशमिक/क्षायिक, क्षायोपशमिक, औदयिक एवं पारिणामिक (४)
१०	सूक्ष्म संपराय	औपशमिक/क्षायिक, क्षायोपशमिक, औदयिक एवं पारिणामिक (४)
११	उपशान्त मोहनीय	औपशमिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक, औदयिक एवं पारिणामिक (५)
१२	क्षीण मोहनीय	औपशमिक के अतिरिक्त चार भाव (४)
१३	सयोगी केवली	क्षायिक, औदयिक एवं पारिणामिक
१४	अयोगी केवली	क्षायिक, औदयिक एवं पारिणामिक

गुणस्थानों के मूलभावों के उत्तरभेद

कौनसे-कौनसे गुणस्थान में पाँच मूल भावों के कितने-कितने उत्तरभेद होते हैं, इसकी चर्चा भी लोकप्रकाशकार ३६वें सर्ग में करते हैं। उत्तरभेदों का विवरण इस प्रकार है-

1. औपशमिक भाव– औपशमिक भाव का सम्यक्त्व रूप भेद चतुर्थ अविरतसम्यग्दृष्टि गुणस्थान, पंचम देशविरति गुणस्थान, षष्ठ प्रमत्तसंयत गुणस्थान, सप्तम अप्रमत्तसंयत गुणस्थान और अष्टम अपूर्वकरण गुणस्थान में होता है। औपशमिक भाव के सम्यक्त्व और चारित्र रूप दोनों भेद नौवें अनिवृत्तिबादर गुणस्थान, दसवें सूक्ष्मसंपराय गुणस्थान और ग्यारहवें उपशान्तमोहनीय गुणस्थान में होते हैं।[५२]

2. क्षायिक भाव– क्षायिक भाव का क्षायिक समकित भेद चतुर्थ गुणस्थान से आरम्भ हो जाता है। जो (ग्यारहवें गुणस्थान को छोड़कर) बारहवें क्षीणमोहनीय गुणस्थान तक पाया जाता है। क्षीणमोहनीय गुणस्थान में क्षायिक भाव के क्षायिक सम्यक्त्व और क्षायिक चारित्र दोनों भेद होते हैं। अन्तिम दो गुणस्थान १३वें और १४वें में केवलज्ञान, केवलदर्शन और क्षायिक दानादि लब्धि होती है।[५३]

3. क्षायोपशमिक भाव– मिथ्यादृष्टि और सास्वादन गुणस्थान में क्षायोपशमिक भाव के दस भेद होते हैं- क्षायोपशमिक-दानादि पाँच लब्धियाँ, तीन अज्ञान (मतिअज्ञान, श्रुतअज्ञान एवं विभंगज्ञान) तथा चक्षुदर्शन और अचक्षुदर्शन होते हैं।

मिश्र गुणस्थान में क्षायोपशमिक भाव के क्षायोपशमिक दानादि पाँच लब्धियाँ, तीन ज्ञान, तीन दर्शन और मिथ्यात्वसम्यक्त्व ये कुल बारह भेद होते हैं। इस तृतीय गुणस्थान में अज्ञान भी रहता है परन्तु ज्ञानांश की बहुलता की अपेक्षा से तीन ज्ञान कहे जाते हैं।

अविरतसम्यग्दृष्टि नामक चतुर्थ गुणस्थान में क्षायोपशमिक भाव के बारह भेद मिश्र

गुणस्थान के समान होते हैं। केवल क्षायोपशमिक सम्यग्मिथ्यात्व के स्थान पर क्षायोपशमिक सम्यक्त्व होता है।

स्युर्द्वादशैवाविरत–सम्यग्दृश्यपि मिश्रवत्।
क्षायोपशमिकं मिश्रस्थाने सम्यक्त्वमत्र तु।। [५४]

देशविरति श्रावक नामक पंचम गुणस्थान में चतुर्थगुणस्थानवत् क्षायोपशमिक के बारह भेदों के साथ संयमासंयम अथवा देशविरति भेद मिलाकर कुल तेरह भेद होते हैं।

द्वादशस्वेषु सद्देशविरतिक्षेपतः स्मृताः।
क्षायोपशमिका भावास्त्रयोदशैव पंचमे।।[५५]

छठे और सातवें गुणस्थान में क्षायोपशमिक भाव के चौदह भेद होते हैं। क्षायोपशमिक दानादि पाँच लब्धियाँ, चार ज्ञान (मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान एवं मनःपर्यवज्ञान), तीन दर्शन, क्षायोपशमिकसम्यक्त्व और सर्वविरति अथवा क्षायोपशमिकचारित्र ये कुल चौदह भेद इन दो गुणस्थानों में होते हैं। [५६]

आठवें, नौवें और दसवें गुणस्थान में क्षायोपशमिकसमकित के बिना छठे और सातवें गुणस्थान के तेरह भेदों के समान क्षायोपशमिक भाव के तेरह भेद होते हैं।[५७]

ग्यारहवें और बारहवें गुणस्थान में क्षायोपशमिकी दानादि पाँच लब्धियाँ, चार ज्ञान और तीन दर्शन ये कुल बारह भेद क्षायोपशमिक भाव के होते हैं, क्षायोपशमिक चारित्र ११वें एवं १२वें गुणस्थान में नहीं होता है।[५८] ग्यारहवें गुणस्थान में केवल औपशमिक भाव और बारहवें गुणस्थान में केवल क्षायिक चारित्र ही होता है। अतः क्षायोपशमिक के १२ भेद होते हैं। तेरहवें और चौदहवें गुणस्थान में क्षायोपशमिक भाव ही नहीं होते हैं, अतः उसके भेद भी नहीं होते हैं।[५९]

4. औदयिक भाव– मिथ्यात्व नामक प्रथम गुणस्थान में औदयिक भाव के २१ ही भेद-अज्ञान, असिद्धत्व, असंयम, छह लेश्या, चार कषाय, तीन वेद, चार गति और मिथ्यात्व होते हैं।[६०]

द्वितीय सास्वादन गुणस्थान में मिथ्यात्व रहित औदयिक के बीस भेद होते हैं। तृतीय और चतुर्थ गुणस्थान में अज्ञान और मिथ्यात्व बिना उन्नीस भेद औदयिक भाव के होते हैं।[६१]

देशविरति श्रावक गुणस्थान में असिद्धत्व,असंयम, छह लेश्या, चार कषाय, तीन वेद तथा मनुष्य और तिर्यंच ये दो गतियाँ, इस तरह सत्रह भेद औदयिक भाव के होते हैं।[६२]

प्रमत्तसंयत गुणस्थान में औदयिक भाव के पन्द्रह भेद होते हैं। तिर्यंच गति और असंयम को छोड़कर शेष भेद पंचम गुणस्थान के समान होते हैं।[६३]

तेज, पद्म एवं शुक्ल तीन लेश्या, चार कषाय, तीन वेद, एक मनुष्य गति और असिद्धत्व ये

कुल बारह औदयिक भेद सातवें गुणस्थान में होते हैं।[६४]

आठवें और नौवें गुणस्थान में औदयिक भाव के दस भेद- शुक्ल लेश्या, मनुष्यगति, असिद्धत्व, तीन वेद और चार कषाय होते हैं।[६५]

दसवें गुणस्थान में एक मनुष्यगति, असिद्धत्व, शुक्ल लेश्या और संज्वलन लोभ ये चार औदयिक भाव होते हैं।[६६]

ग्यारहवें, बारहवें और तेरहवें गुणस्थान में लोभ को छोड़कर शेष शुक्ललेश्या, मनुष्यगति और असिद्धत्व ये तीन औदयिक भाव होते हैं।[६७] चौदहवें गुणस्थान में मनुष्य गति और असिद्धत्व ये दो औदयिक भाव होते हैं।[६८]

5. पारिणामिक भाव– मिथ्यादृष्टि गुणस्थान में अभव्यत्व, भव्यत्व तथा जीवत्व पारिणामिक के तीनों भेद होते हैं।[६९] द्वितीय गुणस्थान से लेकर क्षीणमोह नामक बारहवें गुणस्थान तक पारिणामिक भाव के जीवत्व और भव्यत्व दो भेद होते हैं।[७०] अन्तिम दो गुणस्थानों में एक जीवत्व नामक पारिणामिक भेद ही रहता है। सिद्धावस्था सुनिश्चित हो जाने से अन्तिम तेरहवें और चौदहवें इन दो गुणस्थानों में भव्यत्व भेद की गणना नहीं की गई है।[७१]

6. सान्निपातिक भाव– चौदह गुणस्थानों में अनेक प्रकार के सान्निपातिक भाव होते हैं। चौदह गुणस्थानों में मूल पाँच भावों के जितने उत्तर भेद होते हैं उन सभी का योग करने पर सान्निपातिक भाव के उत्तर भेदों की संख्या आ जाती है।

मिथ्यादृष्टि गुणस्थान में औदयिक भाव के इक्कीस, क्षायोपशमिक भाव के दस और पारिणामिक भाव के तीन भेद होते हैं। इस तरह कुल चौंतीस भेद सान्निपातिक भाव के हैं।

सास्वादन गुणस्थान में क्षायोपशमिक भाव के दस भेद, औदयिक भाव के उन्नीस और पारिणामिक भाव के दो भेद ये कुल १०+२०+२ =३२ भेद सान्निपातिक भाव के हैं।

मिश्र गुणस्थान में क्षायोपशमिक के बारह, औदयिक के बीस और पारिणामिक के दो कुल १२+१९+२ =३३ भेद सान्निपातिक भाव के होते हैं।

इस प्रकार चौथे गुणस्थान में पैंतीस, पाँचवें गुणस्थान में चौंतीस, प्रमत्त गुणस्थान में तैंतीस, अप्रमत्त गुणस्थान में बीस, आठवें गुणस्थान में सत्ताईस, नौवें में अट्ठाईस, दसवें सूक्ष्मसंपराय में बाईस, उपशांतमोहनीय ग्यारहवें गुणस्थान में बीस, क्षीणमोहनीय में उन्नीस, सयोगी केवली गुणस्थान में तेरह और चौदहवें गुणस्थान में बारह भेद सान्निपातिक भाव के होते हैं।

गुणस्थान व भाव के उत्तर भेदों की सारणी

क्रम	गुणस्थान नाम	औपशमिक भाव	क्षायिक भाव	क्षायोपशमिक भाव	औदायिक भाव	पारिणामिक भाव	सान्निपातिक भाव
१	मिथ्यात्व	०	०	१०	२१	३	३४
२	सास्वादन	०	०	१०	२०	२	३२
३	मिश्र	०	०	१२	१६	२	३३
४	अविरत सम्यग्दृष्टि	१	१	१२	१६	२	३५
५	देशविरत सम्यग्दृष्टि	१	१	१३	१७	२	३४
६	प्रमत्त	१	१	१४	१५	२	३३
७	अप्रमत्त	१	१	१४	१२	२	३०
८	निवृत्त/ अपूर्वकरण	१	१	१३	१०	२	२७
९	अनिवृत्त	२ या १	१	१३	१०	२	२८
१०	सूक्ष्म संपराय	२ या १	१	१३	४	२	२२
११	उपशान्त मोहनीय	२	१	१२	३	२	२०
१२	क्षीण मोहनीय	०	२	१२	३	२	१६
१३	सयोगी केवली	०	९	०	३	२	१३
१४	अयोगी केवली	०	९	०	२	२	१२

भावों की स्थिति

भावों की स्थिति १. सादि सांत २. सादि अनन्त ३. अनादि सांत और ४. अनादि अनन्त

इस चतुर्भंगी द्वारा स्पष्टतया ज्ञात कर सकते हैं।[७२]

औपशमिक सम्यक्त्व और चारित्र दोनों की स्थिति सादि सांत है, क्योंकि मिथ्यात्व के ग्रन्थि भेद होने पर औपशमिकसम्यक्त्व और उपशम श्रेणि प्रारम्भ करने पर औपशमिक सम्यक्त्व एवं चारित्र दोनों आरम्भ होते हैं, अतः सादि है। उपशम भाव से जीव का अवश्यमेव पतन होता है, इसलिए सांत है। इस प्रकार औपशमिक भाव में मात्र एक भंग सादि-सांत घटित होता है, शेष तीन नहीं।[७३]

क्षायिक भाव के क्षायिक चारित्र और क्षायिक दानादि पंच लब्धियाँ सादि सांत होते हैं। [७४] 'सिद्धे नो चरित्ती'[७५] आगम के इस वाक्य के अनुसार सिद्ध को चारित्र, अचारित्र और चरित्राचरित्र तीनों ही नहीं होते हैं। क्षीणमोह में ही इसका अभाव हो जाता है। चतुर्थ गुणस्थान से इसका आरम्भ होता है। अतः यह भाव सादि-सांत है। क्षायिकसम्यक्त्व, केवलज्ञान तथा केवलदर्शन इन तीन की अपेक्षा से क्षायिक भाव सादि अनन्त है।[७६] अनादि सांत और अनादि अनन्त ये दोनों विभाग क्षायिक भाव में संभव नहीं है।[७७] अतः क्षायिक भाव में चतुर्भंगी के दो विभाग सादि-सांत और सादि-अनन्त होते हैं।

छाद्मस्थिक ज्ञान

मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान और मनःपर्यवज्ञान की अपेक्षा से क्षायोपशमिक भाव सादि सान्त है।[७८] सम्यक्त्व के होने पर इन ज्ञानों की उत्पत्ति होती है और मिथ्यात्व अथवा केवलज्ञान होने पर इनका अन्त हो जाता है। इसलिए ये ज्ञान सादि-सान्त हैं। मतिअज्ञान और श्रुतअज्ञान भव्य जीव की अपेक्षा अनादि-सांत हैं तथा अभव्य जीव की अपेक्षा से अनादि-अनन्त हैं।[७९] इसी प्रकार अचक्षुदर्शन सम्बन्धी क्षायोपशमिक भाव भी भव्य जीव के कारण अनादि-सांत और अभव्य की अपेक्षा से अनादि-अनन्त है।[८०] विभंगज्ञान, अवधिज्ञान, चक्षुदर्शन, दानादि पंच लब्धियाँ, देशविरति, सर्वविरति और क्षायोपशमिक सम्यक्त्व इन ग्यारह प्रकार के विषयों में क्षायोपशमिक भाव सादि-सांत होता है।[८१] क्षायोपशमिक भाव के चतुर्भंगी का सादि-अनन्त विभाग नहीं होता है।[८२] इस प्रकार यह भाव सादि-सांत, अनादि-सांत और अनादि-अनन्त है।

गति औदयिक भाव सादि-सांत है क्योंकि नर, देव, तिर्यक् और नरक गति सादि-सान्त होते हैं।[८३] तीन वेद, चार कषाय, छह लेश्याएँ, मिथ्यात्व, असिद्धत्व, अज्ञान और असंयम रूप सत्रह औदयिक भाव भव्य जीव की अपेक्षा से अनादि-सांत और अभव्य जीव की अपेक्षा से अनादि अनन्त हैं।[८४] सादि-अनन्त विभाग औदयिक भाव का नहीं होता है।[८५] अतः औदयिक भाव में चतुर्भंगी के

तीन विभाग सादि सांत, अनादि-सांत और अनादि-अनन्त ही होते हैं।

पारिणामिक भाव पुद्गल विषयक होने से सादि-सांत होते हैं क्योंकि द्वयणुकादि स्कन्ध की अपेक्षा पुद्गल पर्याय आदि और अन्त युक्त होता है। अतः इस दृष्टि से पारिणामिक भाव सादि-सांत है[८६] और पुद्गलों का अन्त होने के कारण यह भाव सादि-अनन्त नहीं हो सकता है।[८७] 'सिद्धे न भव्वे नो अभव्वे'[८८] कथन के अनुसार सिद्ध भव्य भी नहीं होते और अभव्य भी नहीं। क्योंकि सिद्ध बनने पर भव्यता भी स्वतः समाप्त हो जाती है। अतः इस दृष्टि से भव्यत्व के आश्रित पारिणामिक भाव अनादि सांत है।[८९]

षड्द्रव्यों में भाव

औपशमिकादि छहों भाव जीव से सम्बन्धित होने के कारण जीवास्तिकाय में छहों भाव होते हैं। किन्तु ये छहों भाव जीव में एक साथ नहीं होते हैं। मुक्त जीवों में दो भाव होते हैं- क्षायिक और पारिणामिक। संसारी जीवों में कोई तीन भाव वाला, कोई चार भाव वाला, कोई पांच भाव वाला होता है, परन्तु दो भाव वाला कोई नहीं होता है। अजीव से सम्बन्धित दो ही भाव औदयिक और पारिणामिक हैं। धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय और कालद्रव्य इन चार में एक पारिणामिक भाव अनादि अनन्त स्थिति वाला होता है-

जीवेषु षडमी भावा यथासंभवमाहिताः।
अजीवेषु त्वौदयिकपारिणामिकसंज्ञकौ।
धर्माधर्माभ्रास्तिकाय कालेषु पारिणामिकः।
एक एवानाद्यनंतो निर्दिष्टः श्रुतपारगैः।।[९०]

धर्मास्तिकाय में गतिनिमित्तता, अधर्मास्तिकाय में स्थिरता निमित्तता, आकाशास्तिकाय में अवगाहन निमित्तता स्वभाव रूप पारिणामिक भाव होता है। कालद्रव्य में समय, आवलि आदि परिणाम रूप भाव अनादि अनन्त काल तक रहता है।

पुद्गलास्तिकाय में औदयिक और पारिणामिक दोनों भाव होते हैं। जीव द्वारा अग्राह्य सूक्ष्म परमाणु रूप पुद्गल में मात्र पारिणामिक भाव है, औदयिक भाव नहीं। परन्तु जिन पुद्गलों के निमित्त से जीव में गति, शरीर, लेश्या आदि होते हैं उस अपेक्षा से पुद्गल में औदयिक भाव है तथा सब्जी, फल आदि के रूप में पुद्गलों को ग्रहण कर जीव द्वारा रक्त, वसा, मज्जा आदि में परिणमित करना पुद्गल द्रव्य का पारिणामिक भाव है।

कर्मस्कन्धों में औदयिक और पारिणामिक दो भाव होते हैं। औपशमिक, क्षायिक एवं क्षायोपशमिक भावों में कर्मों का उपशम, क्षय एवं क्षयोपशम होता है जबकि औदयिक भाव सीधे कर्मों

से सम्बन्धित है, इसलिए कर्मस्कन्ध में औदयिक भाव है। कर्मग्रन्थ के व्याख्याकार मिश्रीमल जी महाराज कर्म पुद्गलों में पांचों भाव स्वीकार करते हैं।[६७]

समीक्षण

'औपशमिकक्षायिकौ भावौ मिश्रश्च जीवस्य स्वतत्त्वमौदयिकपारिणामिकौ च' उमास्वाति का यह सूत्र आत्मा के स्वरूप के सम्बन्ध में जैनदर्शन का अन्य दर्शनों के साथ मन्तव्य भेद स्पष्ट करता है। सांख्यदर्शन के अनुसार आत्मा कूटस्थनित्य है। वह ज्ञान, सुख-दुःख आदि परिणामों को प्रकृति या अविद्या के ही परिणाम मानता है। वैशेषिक और नैयायिक आत्मा को एकान्तनित्य (अपरिणामी) मानते हैं। बौद्ध दर्शन के अनुसार आत्मा एकान्तक्षणिक अर्थात् निरन्वय परिणामों का प्रवाह मात्र है। वेदान्त में ब्रह्म के अतिरिक्त सत् नहीं है। जैनदर्शन के अनुसार जड़ पदार्थों में न तो कूटस्थनित्यता है और न एकान्तक्षणिकता है, किन्तु परिणामिनित्यता है। उसी प्रकार आत्मा भी परिणामिनित्य है। अतएव ज्ञान, सुख, दुःख आदि पर्याय आत्मा के ही हैं।

आत्मा की इन पर्याय परिणमन से भिन्न-भिन्न अवस्थाएँ बनती हैं। पर्यायों की ये भिन्न-भिन्न अवस्थाएँ ही 'भाव' कहलाती हैं। आत्मा की पर्याय अधिक से अधिक पाँच भाव वाली हो सकती हैं। ये पाँच भाव हैं- १. औपशमिक २. क्षायिक ३. क्षायोपशमिक ४. औदयिक ५. पारिणामिक। कुछ जैनाचार्यों के मत में छठे भाव के रूप में सान्निपातिक भाव भी स्वीकार किया जाता है। उपाध्याय विनयविजय भी लोकप्रकाश में छह भावों का निरूपण करते हैं। भावलोक के इस अध्याय के सम्बन्ध में कुछ बातें निष्कर्ष रूप में कह सकते हैं-

१. औपशमिकादि छहों भाव जीवों की पर्याय से सम्बद्ध हैं, किन्तु अजीवों में भी औदयिक एवं पारिणामिक भाव स्वीकार किए जाते हैं।
२. घातीकर्मों का दबना या रुकना 'औपशमिक भाव' इन्हीं कर्मों का आत्यन्तिक उच्छेद या क्षय 'क्षायिक भाव', उदीर्ण कर्मों के अभाव से क्षय तथा अनुदीर्ण कर्मों के उदय को रोकने से इन दोनों (क्षय व उपशम) से उत्पन्न भाव 'क्षायोपशमिक भाव' कर्मों के विपाक द्वारा उदित भाव 'औदयिक भाव;, द्रव्यों का स्वाभाविक स्वरूप परिणमन 'पारिणामिक भाव' एवं एक साथ दो, तीन, चार अथवा पाँच भावों में परिणमित भाव 'सान्निपातिक भाव' हैं।
३. कर्मों के उदय होने पर कुछ कर्म बिना सुख-दुःख का वेदन कराए निर्जरित हो जाते हैं और कुछ फल का अनुभव अवश्य कराते हैं। इन कर्मों के उदय को क्रमशः प्रदेश और विपाक उदय कहते हैं। औपशमिक भाव में इन दोनों प्रकार से सम्बद्ध कर्मों का उदय रूक जाता है। किन्तु क्षायोपशमिक भाव में प्रदेश रूपी कर्मोदय होता है, विपाक कर्मोदय नहीं।

४. औपशमिक सम्यक्त्व और औपशमिक चारित्र ये दो प्रकार औपशमिक भाव के होते हैं। दर्शन सप्तक का उपशम होने से औपशमिक सम्यक्त्व उत्पन्न होता है और उपशमश्रेणी से जीव के मोहनीय कर्म की अन्य प्रकृतियों का उपशम होने से औपशमिक चारित्र प्रकट होता है।

५. क्षायिक भाव में सर्वप्रथम क्षायिक सम्यक्त्व प्रकट होता है। तत्पश्चात् केवलज्ञानावरण, केवलदर्शनावरण, चारित्र मोहनीय एवं दानान्तराय आदि पाँच के क्षय से क्रमशः केवलज्ञान, केवलदर्शन, क्षायिक चारित्र, अनन्तदान, अनन्तलाभ, अनन्त भोग, अनन्त उपभोग और अनन्त वीर्य प्रकट होता है। इस प्रकार क्षायिक भाव नौ प्रकार का कहा गया है।

६. आयुष्य बन्ध से पूर्व क्षायिक भाव प्राप्त करने पर जीव उसी भव में मुक्तिगामी बन जाता है।

७. क्षायोपशमिक भाव में सर्वघाती स्पर्धकों का वर्तमान में उदयाभावी क्षय और भविष्य की अपेक्षा सदवस्था रूप उपशम होता है। देशघाती सम्यक्त्व प्रकृत्ति के स्पर्द्धकों का इस भाव में उदय रहता है। इस भाव में ज्ञानावरण और दर्शनावरण की देशघाती प्रकृतियों के क्षयोपशम से मतिज्ञान, मतिअज्ञान, श्रुतज्ञान, श्रुतअज्ञान, अवधिज्ञान, विभंगज्ञान, चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन एवं अवधिदर्शन का प्रकटीकरण होता है।

८. औदयिक भाव और पारिणामिक भाव जीव और अजीव दोनों को होते हैं।

९. एक साथ दो, तीन, चार अथवा पाँच भावों के संयोग में आत्मा का पर्याय-परिणमन सन्निपातिक भाव है। अतः सान्निपातिक भाव के द्विकसंयोग, त्रिकसंयोग, चतुःसंयोग और पंचसंयोग के रूप में २६ प्रकार का होता है।

१०. ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय इन तीन कर्मों के क्षय आदि से चार भाव प्रकट होते हैं, औपशमिक भाव प्रकट नहीं होता। मोहनीय कर्म के क्षयादि से पाँचों भाव होते हैं। वेदनीय, आयु, नाम और गोत्र इन चार कर्मों के क्षयादि से क्षायिक, औदयिक और पारिणामिक भाव होते हैं।

११. औपशमिक भाव केवल मोहनीय कर्म का ही होता है। क्षायोपशमिक भाव चारों घातिकर्मों का ही होता है। क्षायोपशमिक भाव चारों घाति कर्मों से सम्बद्ध है। क्षायिक, औदयिक और पारिणामिक ये तीनों भाव आठों कर्मों से सम्बद्ध हैं।

१२. मनुष्य, तिर्यंच, देव और नारक इन चारों गतियों में पांचों भाव होते हैं।

१३. मिथ्यादृष्टि आदि प्रथम तीन गुणस्थान में क्षायोपशमिक, औदयिक और पारिणामिक ये तीन

भाव होते हैं। चौथे से सातवें गुणस्थान में औदयिक, पारिणामिक एवं क्षायोपशमिक अथवा क्षायिक ये चार भाव होते हैं। सातवें से चौदहवें पर्यन्त गुणस्थान में औदयिक भाव के उत्तरभेद होते हैं। प्रथम से चौदहवें तक पारिणामिक एवं सान्निपातिक भाव रहता है।

१४. औपशमिक भाव सादि-सान्त, क्षायिक भाव सादि-सांत और सादि-अनन्त होता है। क्षायोपशमिक भाव सादि-सान्त, अनादि सांत और अनादि अनन्त है। औदयिक भाव में सादि-अनन्त को छोड़कर शेष तीनों विभाग होते हैं। पारिणामिक भाव सादि-सान्त और अनादि-सान्त है।

१५. ये छहों भाव जीव से सम्बन्धित होते हैं। एक जीव में एक साथ अधिकतम पाँच भाव हो सकते हैं। मुक्त जीवों में क्षायिक और पारिणामिक दो भाव होते है। अजीव से सम्बन्धित दो ही भाव औदयिक और पारिणामिक हैं। धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय और कालद्रव्य इन चार में एक पारिणामिक भाव अनादि अनन्त स्थिति वाला होता है।

जीवों के भावों का यह विवेचन जैनदर्शन का वैशिष्ट्य है। जीव के आन्तरिक आत्मिक एवं चैतसिक परिणामों का यह विवेचन भारतीय धर्म-दर्शनों की आध्यात्मिक दृष्टि का महत्त्व उजागर करता है। जैनदर्शन का यह भाव-विवेचन बौद्धदर्शन के चित्त-चैतसिकों के प्रतिपादन से भी विशिष्ट है। बौद्ध-दर्शन के मनोवैज्ञानिक प्रतिपादन की प्रशंसा की जाती है, किन्तु आत्मा को नित्य परिणामी मानने वाले जैनदर्शन में जीवों के आत्म-विकास की स्थिति के प्रतिपादन में इन पाँच या छह भावों का निरूपण निश्चित ही जैनदर्शन की सूक्ष्मता का संकेत करता है।

संदर्भ

१. लोकप्रकाश, 36.3–6
२. मोहनीय कर्म के दर्शन मोहनीय के तीन भेद– मिथ्यात्व, मिश्र और सम्यक्त्व एवं चारित्र मोहनीय के चार भेद–अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया और लोभ कुल सात भेदों को दर्शन सप्तक कहा जाता है।
३. (क) लोकप्रकाश, 36.7
(ख) प्रवचनसारोद्धार, द्वार 149, गाथा
४. लोकप्रकाश, 36.139
५. सम्यक्त्वं यद्भवत्यादौ ग्रन्थिभेदादनंतरं।
स्याद्यच्चोपशमश्रेण्यां सम्यक्त्वं चरणं तथा।
द्वावौपशमिकौ भावौ प्रोक्तावेतौ महर्षिभिः।।–लोकप्रकाश, 36.34, 35
६. जिनवाणी सम्यग्दर्शन विशेषांक, अगस्त 1996, श्री प्रेमचन्द कोठारी के लेख 'सम्यक्त्व प्राप्ति की प्रक्रिया' से उद्धृत, पृष्ठ सं. 132
७. लोकप्रकाश, 36.8
८. ये ज्ञानदर्शने स्यातां निर्मूलावरणक्षयात्।
सम्यक्त्वं यच्च सम्यक्त्वं मोहनीयक्षयोद्भवं।
चारित्रं यच्च चारित्रमोहनीय क्षयोत्थितं।

याश्च दानाद्यंतराय पंचकक्षय संभवाः।
दानलाभभोगवीर्योपभोगलब्ध्योऽदभूताः।
नवामी क्षायिका भावा भवेयुः सर्ववेदिनां।।–लोकप्रकाश, 36.36–38

९. लोकप्रकाश, 36.27
१०. लोकप्रकाश, 36.9–10
११. स्यात्क्षयोपशमे कर्मप्रदेशानुभवात्मकः।
उदयोऽप्यनुभागं तु नैषां वेदयते मनाक्।।
प्रदेशैरप्युपशमे कर्मणामुदयोऽस्ति न।
विशेषोऽयमुपशमक्षयोपशमयोः स्मृतः।।–लोकप्रकाश, 36.14–15
१२. लोकप्रकाश, 36.48
१३. सर्वार्थसिद्धि, अध्याय द्वितीय सूत्र 5 की टीका से उद्धृत
१४. लोकप्रकाश, 36.39–42
१५. (क) लोकप्रकाश, 36.43
(ख) अनन्तानुबन्धिकषायचतुष्टयस्य मिथ्यात्वसम्यङ्मिथ्यात्वयोश्चोदयक्षयात्सदुपशमाच्च सम्यक्त्वय देशघाति स्पर्द्धकस्योदये तत्त्वार्थश्रद्धानं क्षायोपशमिकं सम्यक्त्वम्। –सर्वार्थसिद्धि, अध्याय द्वितीय, सूत्र 5 की टीका
१६. (क) लोकप्रकाश, 36.44
(ख)अनन्तानुबन्ध्यप्रत्याख्यानप्रत्याख्यानद्वादशकषायोदयक्षयात्सदुपशमाच्च संज्वलनकषाय–चतुष्टयान्यतमदेशघातिर्स्पर्द्धकोदये नोकषायनवकस्य यथासंभवोदये च निवृतिपरिणाम आत्मनः क्षायोपशमिकं चारित्रम्।–सर्वार्थसिद्धि, अध्याय द्वितीय, सूत्र 5 की टीका
१७. (क) लोकप्रकाश, 36.45, (ख) सर्वार्थसिद्धि, द्वितीय अध्याय, सूत्र 5 की टीका
१८. लोकप्रकाश, 36.16
१९. (क) लोकप्रकाश, 36.49–50
(ख) 'गतिकषायलिंगमिथ्यादर्शनाज्ञानासंयतासिद्धलेश्याश्चतुश्चतुस्त्र्येकैकैकैक्षड्भेदाः'
–तत्त्वार्थसूत्र, अध्याय 2, सूत्र 6
(ग) प्रवचनसारोद्धार, द्वार 221, गाथा 1293
२०. लोकप्रकाश, 36.51
२१. लोकप्रकाश, 36.53
२२. लोकप्रकाश, 36.53
२३. (क) लोकप्रकाश, 36.54–56
(ख) सर्वार्थसिद्धि, अध्याय 2, सूत्र 6 की टीका
२४. लोकप्रकाश, 36.57
२५. लोकप्रकाश, 36.58
२६. लोकप्रकाश, 36.59
२७. लोकप्रकाश, 36.60
२८. (क) लोकप्रकाश, 36.70
(ख) 'जीवभव्याभव्यत्वानि च' –सर्वार्थसिद्धि, अध्याय 2, सूत्र 7
२९. (क) लोकप्रकाश, 36.72
(ख) सर्वार्थसिद्धि, अध्याय 2, सूत्र 7 की टीका
३०. लोकप्रकाश, 36.24
३१. ज्ञानादिक्षायिकं ह्येषां जीवत्वं पारिणामिकं।
सिद्धानामन्यभावानां हेत्वभावादसंभव।। –लोकप्रकाश, 36.75–91
३२. लोकप्रकाश, 36.96

३३. लोकप्रकाश, 36.97–98
३४. लोकप्रकाश, 36.99–101
३५. लोकप्रकाश, 36.102–104
३६. लोकप्रकाश, 36.102, 105–106
३७. लोकप्रकाश, 36.107–109
३८. "एतेषु च षट्षु मध्ये एकस्त्रिकसंयोगो, द्वौ चतुष्कयोगावित्येते त्रयोऽपि प्रत्येकं चतसृष्वपि गतिषु संभवतीति निर्णीतमिति गतिचतुष्टयभेदात्ते किल द्वादश वक्ष्यते। ये तु शेषा द्विकत्रिक पंचकयोगलक्षणास्त्रयो भंगाः सिद्धकेवल्युपशांतमोहानां यथाक्रमं निर्णीतास्ते च यथोक्तैकस्थानसंभवित्वात्त्रय एवेत्यनया विवक्षया सान्निपातिको भावः स्थानान्तरे पंचदशविध उक्तो द्रष्टव्यः यदाह अविरुद्धसन्निवाइय भेया एते पणरसत्ति।"–लोकप्रकाश, 36.94 की व्याख्या से उद्धृत।
३९. लोकप्रकाश, 36.139–141
४०. उपशमोऽत्रानुदयावस्था भस्मावृत्ताग्निवत्।
स मोहनीय एव स्यान्न जात्यन्येषु कर्म च।।
सर्वोपशम एवायं विज्ञेयो न तु देशतः।
यद्देशोपशमस्तु स्यादन्येषामपि कर्मणां।। –लोकप्रकाश, 36.107–109
४१. 'चतुर्णांघातिनामेव क्षयोपशम इष्यते।'–लोकप्रकाश, 36.41
४२. कर्मग्रन्थ भाग 4, गाथा 66, पृष्ठ 330–331
४३. लोकप्रकाश, 36.142–143
४४. लोकप्रकाश, 36.144
४५. लोकप्रकाश, 36.158–159
४६. लोकप्रकाश, 36.148–151
४७. लोकप्रकाश, 36.156–157
४८. लोकप्रकाश, 36.152–154
४९. लोकप्रकाश, 36.155
५०. लोकप्रकाश, 36.156–157
५१. लोकप्रकाश, 36.158–160
५२. लोकप्रकाश, 36.196
५३. लोकप्रकाश, 36.201–202
५४. लोकप्रकाश, 36.174
५५. लोकप्रकाश, 36.175
५६. लोकप्रकाश, 36.176–177
५७. लोकप्रकाश, 36.178
५८. एकादशद्वादशयोर्गुणस्थानकयोरमी।
विना क्षायोपशमिकं चारित्रं द्वादशोदिताः।। –लोकप्रकाश, 36.179
५९. लोकप्रकाश, 36.181
६०. लोकप्रकाश, 36.183
६१. लोकप्रकाश, 36.184–185
६२. लोकप्रकाश, 36.186–187
६३. लोकप्रकाश, 36.188
६४. लोकप्रकाश, 36.189
६५. लोकप्रकाश, 36.190
६६. लोकप्रकाश, 36.191–192

६७. लोकप्रकाश, 36.193
६८. लोकप्रकाश, 36.194
६९. लोकप्रकाश, 36.204
७०. लोकप्रकाश, 36.205
७१. लोकप्रकाश, 36.206–208
७२. चतुर्भग्याध भाव्य भाता औदयिकादयः।
साद्यंतसाद्यनतांनादिसांतानाधनंतका।।–लोकप्रकाश, 36.222–
७३. लोकप्रकाश, 36.229–231
७४. लोकप्रकाश, 36.232
७५. लोकप्रकाश, 36.234
७६. लोकप्रकाश, 36.235
७७. लोकप्रकाश, 36.236
७८. लोकप्रकाश, 36.241
७९. लोकप्रकाश, 36.243
८०. लोकप्रकाश, 36.244
८१. लोकप्रकाश, 36.245–246
८२. लोकप्रकाश, 36.242
८३. लोकप्रकाश, 36.223
८४. लोकप्रकाश, 336.227–228
८५. लोकप्रकाश, 36.224
८६. लोकप्रकाश, 36.247
८७. लोकप्रकाश, 36.248
८८. लोकप्रकाश, 36.249
८९. लोकप्रकाश, 36.249
९०. लोकप्रकाश, 36.111–11
९१. कर्मग्रन्थ भाग 4, पृष्ठ 140

सहायक–ग्रन्थ सूची (Bibliography)

आधार-ग्रन्थ

लोकप्रकाश-

(अ) भाग १ से ५ (गुजराती अनुवाद सहित), श्री भैरूलाल जी कन्हैयालाल जी कोठारी रीलिजियस ट्रस्ट, बालकेश्वर, मुम्बई

(ब) भाग १ से ५ (हिन्दी भाषानुवाद सहित) श्री निर्ग्रन्थ साहित्य प्रकाशन संघ, बालाश्रम भवन, हस्तिनापुर, जिला-मेरठ, २००३-२००४

द्रव्य लोक प्रकाश (लोक प्रकाश, प्रथम भाग), सम्यग्ज्ञान प्रचारक मण्डल, जयपुर, २०१२

सहायक ग्रन्थ

१. आचारांगसूत्र-आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर।

२. आचारांगसूत्रटीका(प्रथम-चतुर्थ भाग)-घासीलाल जी महाराज, जैन शास्त्रोद्धार समिति, राजकोट, १९५८

३. आचारांगसूत्र सूत्रकृतांगसूत्रं च (श्री भद्रबाहुस्वामिविरचित-निर्युक्ति-श्रीशीलांकाचार्यविरचितटीकासमन्वितम्)- मोतीलाल बनारसीदास, इण्डोलॉजिक ट्रस्ट, दिल्ली, प्रथम संस्करण, १९७८

४. आओ लोक की सेर करें- साध्वी श्री साधना श्री जी म.सा., श्री अखिल भारतवर्षीय साधुमार्गी शान्त क्रान्ति जैन श्रावक संघ, दिवाकर प्रकाशन, आगरा, २०१२

५. इन्दुदूतम् (खण्डकाव्यम्)- मुनि श्री धुरन्धरविजय कृत प्रकाशव्याख्या सहित, श्री जैन साहित्य वर्धक सभा, पश्चिम खान देशान्तर्गत, शिरपुर, १९४६

६. इन्द्रविजय- मधुसूदन ओझा, पण्डित मधुसूदन ओझा शोध प्रकोष्ठ, संस्कृत विभाग, जयनारायण व्यास विश्वविद्यालय, जोधपुर, १९९७

७. ईशादि नौ उपनिषद्- गीताप्रेस, गोरखपुर।

८. उत्तराध्ययन सूत्र- आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर, १९८९

९. कषायपाहुड-: गुणधराचार्य विरचित, चूर्णिकार यतिवृषभाचार्य, श्री वीर शासन संघ, कोलकाता, १९५५

१०. कर्मग्रन्थ- (अ) व्याख्याकार सुखलाल जी संघवी, श्री वर्द्धमान स्थानकवासी जैन धार्मिक

शिक्षा समिति, बड़ौत, मेरठ, (उत्तरप्रदेश)
(ब) व्याख्याकार मुनि श्री मिश्रीमल जी, श्री मरुधर केसरी साहित्य प्रकाशन समिति, जोधपुर एवं ब्यावर।

११. कार्तिकेयानुप्रेक्षा- स्वामि कुमार, श्रीमद् राजचन्द्र आश्रम, अगास, १९७८
१२. गणितानुयोग- अनुयोग प्रवर्तक मुनि श्री कन्हैयालाल 'कमल' आगम अनुयोग ट्रस्ट, अहमदाबाद
१३. गुजराती और उसका साहित्य- डॉ. पद्मसिंह शर्मा 'कमलेश', राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, १९६०
१४. गुणस्थान सिद्धान्त : एक विश्लेषण- प्रो. सागरमल जैन, पार्श्वनाथ विद्यापीठ, शाजापुर, १९९६
१५. गोम्मटसार (जीवकाण्ड एवं कर्मकाण्ड)- (अ) नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती, प. खूबचन्द जैन कृत संस्कृत छाया एवं बालबोधिनी टीका सहित, वैभव प्रेस मुम्बई, १९२७
(ब) केशववण्ण रचित कर्णाटक वृत्ति, जीवतत्त्वप्रदीपिका, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, १९७९
(स) प. मनोहरलाल कृत हिन्दी व्याख्या, राजचन्द्र आश्रम, अगास, १९७१
१६. जगद्गुरु हीरविजय सूरि जी- न्यायविजय जी, त्रिपुटी
१७. जगद्गुरु हीरविजय सूरि जी का पूजा स्तवनादि संग्रह- रतनचन्द कोचर, श्री चारित्र स्मारक ग्रन्थमाला, वीरमगाम, गुजरात, १९४०
१८. जम्बूद्वीप परिशीलन- अनुपम जैन, जैन त्रिलोक शोध संस्थान, मेरठ (उत्तरप्रदेश)
१९. जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति सूत्र- आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर
२०. जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति सूत्र टीका (भाग १ से ३)- घासीलाल जी महाराज, जैन शास्त्रोद्धार समिति, राजकोट, १९७७
२१. जिनसहस्रनामस्तोत्रम्- संशोधक श्रीमद् विजयदान सूरीश्वर, श्री वीर समाज हाजापटेल पोल, अहमदाबाद, १९२५
२२. जिनेन्द्र भक्ति प्रकाश (चैत्यवंदन स्तवन, सज्झाय आदि का संग्रह) - संग्राहक श्री कंचनविजय जी म.सा., कैलाशसागर सूरि ज्ञान मंदिर, श्री महावीर जैन आराधना केन्द्र, कोबा, तीसरी आवृत्ति, १९४५
२३. जीव-अजीव तत्त्व- कन्हैयालाल लोढ़ा, प्राकृत भारती अकादमी, जयपुर, १९९४
२४. जैनागम निर्देशिका- मुनि कन्हैयालाल 'कमल', आगम अनुयोग प्रकाशन, दिल्ली, १९६६

२५. जैन-तत्त्व-प्रकाश- श्री अमोलकऋषि जी म.सा., श्री अमोल जैन ज्ञानालय, धुलिया (महाराष्ट्र)

२६. जैन-तत्त्व-विद्या- मुनि प्रमाण सागर, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, छठा संस्करण, २००२

२७. जैनविद्या और विज्ञान- डॉ. महावीर राज गेलड़ा, जैन विश्व भारतीय संस्थान, लाडनूँ (राजस्थान), प्रथम संस्करण २००५

२८. जैन दर्शन में कारण-कार्य व्यवस्था : एक समन्वयात्मक दृष्टिकोण- डॉ. श्वेता जैन, पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी

२९. तर्कसंग्रह- अन्नम्भट्ट, डॉ. दयानन्द भार्गव, मोतीलाल बनारसीदास, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण, १९७८

३०. तत्त्वार्थ सूत्र- (अ) व्याख्याकार सुखलाल संघवी, पार्श्वनाथ विद्याश्रम, वाराणसी
(ब) केवलमुनि, श्री जैन दिवाकर साहित्य पीठ, महावीर भवन, इन्दौर, १९८७

३१. तत्त्वार्थाधिगमभाष्य- उमास्वाति विरचित, सेठ मणिलाल रेवाशंकर जगजीवन जौहरी, परमश्रुत प्रभावक मंडल, जौहरी बाजार, मुम्बई, १९३२

३२. तत्त्वार्थाधिगम सूत्र- टीकाकार सिद्धसेन गणि, जीवनचन्द साकरचन्द जवेरी, सेठ देवीचन्द लाल भाई जैन पुस्तकोद्धार समिति, १९२६

३३. तत्त्वार्थराजवार्तिक- प्रो. महेन्द्रकुमार जैन, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण, १९४४

३४. तत्त्वार्थवृत्ति- श्रुतसागरसूरि, आर्यिका श्री सुपार्श्वमति, गुलाबचन्द पाटनी, १५ बी कलाकार स्ट्रीट, कोलकाता, १९९२

३५. तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक- विद्यानन्द स्वामी, निर्णय सागर प्रेस, १९१८

३६. तिलोयपण्णत्ति - आचार्य यतिवृषभ प्रणीत, अनुवादिका आर्यिका विशुद्धमति, भारतवर्षीय दिगम्बर जैन महासभा, प्रथम संस्करण, १९८६

३७. द्रव्यानुयोग- अनुयोग प्रवर्तक मुनि श्री कन्हैयालाल 'कमल', आगम अनुयोग ट्रस्ट, अहमदाबाद

३८. धर्मसंग्रहणि- आचार्य हरिभद्रसूरि, मलयगिरि टीका सहित, श्री आदिनाथ जैन श्वेताम्बर मंदिर ट्रस्ट, चिकपेट, बैंगलोर, प्रथमावृत्ति, विक्रम संवत् २०५२

३९. नन्दीसूत्र- आत्माराम जी महाराज, आचार्य श्री आत्माराम जैन प्रकाशन समिति, लुधियाना, १९६६

४०. नयकर्णिका- उपाध्याय विनयविजय, विवेचनकार मुनि श्री सुरेशचन्द्र 'शास्त्री' 'साहित्यरत्न', श्री सन्मति ज्ञानपीठ, आगरा, प्रथम संस्करण
४१. नियमसार- कुन्दकुन्दाचार्य, तात्पर्यवृत्ति टीका सहित, श्री कुन्दकुन्द कहान दिगम्बर जैन तीर्थ सुरक्षा ट्रस्ट, जयपुर, १९८४
४२. निर्युक्ति संग्रह- भद्रबाहु स्वामी, श्री हर्षपुष्पामृत जैन ग्रन्थमाला (लाखाबावल), श्रुतज्ञान भवन, ४५ दिग्विजय प्लॉट, जामनगर, १९८९
४३. पंचसंग्रह- चन्द्रमहत्तराचार्य विरचित मलयगिरि टीका सहित, शारदामुद्रणालय जैन सोसायटी, अहमदाबाद, १९३५
४४. पंचाध्यायी- पण्डित राजमल्ल विरचित टीका सहित, श्री गणेशवर्णी दिगम्बर जैन (शोध) संस्थान, वाराणसी
४५. पंचास्तिकाय- कुन्दकुन्दाचार्य विरचित तत्त्वदीपिका, तात्पर्यवृत्ति, बालावबोध टीका त्रय सहित, श्रीमद् राजचन्द्र आश्रम, अगास, १९६९
४६. प्रज्ञापनासूत्र- आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर
४७. प्रज्ञापनासूत्रटीका (भाग १ से ५)- घासीलाल जी महाराज, जैन शास्त्रोद्धार समिति, राजकोट, १९७८
४८. प्रमाणनयतत्त्वालोक- वादिदेव सूरि, श्री तिलोकरत्न स्थानकवासी जैन धार्मिक परीक्षा बोर्ड, पाथर्डी (अहमदनगर), तृतीयावृत्ति
४९. प्रवचनसार- कुन्दकुन्दाचार्य विरचित, परमश्रुत प्रभावक मंडल, राजचन्द्र आश्रम, अगास, प्रथमावृत्ति, १९६८
५०. प्रवचनसारोद्धार- नेमिचन्द्र सूरि प्रणीत, अनुवादिका साध्वी हेमप्रभा श्री, प्राकृत भारती अकादमी, जयपुर, श्री नाकोड़ा पार्श्वनाथ तीर्थ मेवानगर, सेवा मन्दिर रावटी जोधपुर, प्रथम संस्करण २०००
५१. प्राकृत और संस्कृत साहित्य में गुणस्थान की अवधारणा- साध्वी श्री दर्शनकला श्री, श्री राजराजेन्द्र प्रकाशन ट्रस्ट, जयन्तसेन म्यूजियम, मोहनखेड़ा (राजगढ़), धार, मध्यप्रदेश
५२. पातंजल योगसूत्र- भोजदेव कृत राजमार्तण्डवृत्तिसमेत, संपादक- डॉ. रमाशंकर भट्टाचार्य, भारतीय विद्या प्रकाशन, पोस्ट बॉक्स १०८, कचौड़ी गली, वाराणसी
५३. महापुराण- भारतीय ज्ञानपीठ, १८ इंस्टीट्यूशनल एरिया, लोधी रोड, नई दिल्ली
५४. महाभारत- गीताप्रेस, गोरखपुर

५५. माण्डूक्यकारिका- कैलाश आश्रम, ऋषिकेश, उत्तरप्रदेश
५६. मूलाचार- आचार्य वट्टकेर, यतिवृषभाचार्य रचित चूर्णिसूत्र, श्री वीर शासन संघ, कोलकाता, १९५५
५७. योगसूत्र- भारतीय विद्या प्रकाशन, जवाहर नगर, नई दिल्ली
५८. लेश्या और मनोविज्ञान- मुमुक्षु डॉ. शान्ता जैन, जैन विश्व भारती, लाडनूँ (राजस्थान), प्रथम संस्करण, १९९६
५९. वाक्यपदीयम्-सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय वाराणसी, १९८०
६०. विजयप्रशस्तिमहाकाव्यम्- श्री हेमविजयगणि रचित, श्री गुणविजय गणि द्वारा रचित विजयप्रदीपिकारव्य टीका सहित, श्री जिनशासन आराधना ट्रस्ट, ७ त्रीजो भोइवाडो, भूलेश्वर, मुम्बई नं. २, विक्रम संवत् २०४५
६१. विजयप्रशस्तिसार- मुनि विद्याविजय, शाह हर्षचन्द भूराभाई, 'जैनशासन', १९१२
६२. विज्ञप्ति लेखसंग्रह- आचार्य जिनविजय मुनि, सिंघी जैन शास्त्र शिक्षापीठ, भारतीय विद्या भवन, मुम्बई, प्रथमावृत्ति, १९६०
६३. विष्णुपुराण- संस्कृति संस्थान, ख्वाजा कुतुब, बरेली
६४. विनय सौरभ- प्रो. हीरालाल रसिकदास कापड़िया, विनयमंदिर स्मारक समिति, रांदेर, प्रथम आवृत्ति, १९६२
६५. वेद (यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद)- महर्षि दयानन्द सरस्वती, दयानन्द संस्थान, नई दिल्ली ५
६६. शान्तसुधारस- (अ) विजयभद्रगुप्तसूरीश्वर जी, श्री विश्वकल्याण प्रकाशन ट्रस्ट, कंबोइ नगर के पास, मेहसाना, गुजरात, १९९६
(ब) मुनि श्री रत्नसेन विजय जी, स्वाध्याय संघ, अम्बतूर मद्रास, प्रथमावृत्ति, १९८९
(स) मुनि राजेन्द्र कुमार, आदर्श साहित्य संघ प्रकाशन, चुरू (राज.)
६७. शास्त्रवार्तासमुच्चय- हरिभद्रसूरि, यशोविजय कृत स्याद्वाद कल्पलता टीका सहित, दिव्य दर्शन ट्रस्ट, मुम्बई, विक्रम संवत् २०३६
६८. शिवपुराण- संस्कृति संस्थान, ख्वाजा कुतुब, वेदनगर, बरेली
६९. श्वेताश्वेतरोपनिषद् (शांकर भाष्य सहित)-गीताप्रेस, गोरखपुर, विक्रम संवत् २०५२
७०. श्री पट्टावली समुच्चय- मुनि दर्शन विजय, श्री चरित्र स्मारक ग्रन्थमाला, वीरमगाम, गुजरात, १९९३
७१. श्रीपाल राजानो रास- विनयविजय रचित, श्रावक भीमसिंह माणेक, जैन पुस्तक प्रसिद्ध

करनार तथा वेचनार, १०७ धनजी स्ट्रीट, मुम्बई ३, १९२६

७२. श्रीमद् भागवत महापुराण- वेदव्यास प्रणीत, गीताप्रेस, गोरखपुर

७३. श्री हैमप्रकाशमहाव्याकरणम्- (अ) पूर्वार्द्ध- उपाध्याय क्षमाविजय गणि, मांगरोल निवासी, शाह हीरालाल सोमचन्द, कोट, मुम्बई, १९३७

(ब) उत्तरार्द्ध- श्री विजयक्षमाभद्रसूरीश्वरजी, श्री श्रुतज्ञान अमीधारा ज्ञानमंदिर, शा. पूनमचन्द गोमाजी, मु. बेड़ा (स्टेट मोरीबेड़ामाखाड़), १९५४

७४. षट्खण्डागम धवला टीका- (अ) प्रथम खण्ड, भाग १, जैन संस्कृति संरक्षक संघ, सोलापुर, १९७३

(ब) प्रथम खण्ड, भाग २, सेठ शिताबराय लक्ष्मीचन्द्र जैन साहित्योद्धारक फंड कार्यालय, अमरावती, १९४०

(स) प्रथम खण्ड, भाग ४, सेठ शिताबराय लक्ष्मीचन्द्र जैन साहित्योद्धारक फंड कार्यालय, अमरावती, १९४२

(द) प्रथम खण्ड, भाग ५, सेठ शिताबराय, लक्ष्मीचन्द्र जैन साहित्योद्धारक फंड कार्यालय, अमरावती, १९४२

(य) प्रथम खण्ड, भाग ९, सेठ लालचन्द हीराचन्द जैन संस्कृति संरक्षक संघ, सोलापुर, द्वितीय आवृत्ति, १९८५

(र) प्रथम खण्ड, चूलिका, सेठ शिताबराय लक्ष्मीचन्द्र जैन साहित्योद्धारक फंड कार्यालय, अमरावती, १९४३

(ल) द्वितीय खण्ड, सेठ शिताबराय लक्ष्मीचन्द्र जैन साहित्योद्धारक फंड कार्यालय, अमरावती, १९४५

(व) तृतीय खण्ड, सेठ शिताबराय लक्ष्मीचन्द्र जैन साहित्योद्धारक फंड कार्यालय, अमरावती, १९४७

७५. सन्मति तर्कप्रकरण-सिद्धसेन, व्याख्याकार सुखलाल संघवी, ज्ञानोदय ट्रस्ट, अहमदाबाद, १९६९

७६. समीक्षा चक्रवर्ती पण्डित मधुसूदन ओझा कृत इन्द्रविजय : एक समीक्षात्मक अध्ययन प्रकाशित)- अनुसन्धात्री सारिका पारीक, संस्कृत विभाग, जयनारायण व्यास विश्वविद्यालय, जोधपुर

७७. सर्वार्थसिद्धि- पूज्यपाद विरचित, पण्डित फूलचन्द्र शास्त्री, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, १९४४

७८. सांख्यकारिका (माठरवृत्ति एवं प्रबोधिनी संवलिता हिन्दी व्याख्योपेता)- व्याख्याकार पण्डित थानेशचन्द्र उप्रेती, चौखम्भा संस्कृत प्रतिष्ठान, वाराणसी

७९. सिद्धान्त सार संग्रह- नरेन्द्र सेन, जैन संस्कृति श्रमण संस्कार संघ, शोलापुर, १९७२

८०. सूत्रकृतांग- आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर।

८१. सूत्रकृतांग शीलांकाचार्य टीका- बलूंदा निवासी सेठजी छगनलाल जी मुहता, ब्रिगेड रोड, बैंगलोर, १९९३

८२. सूर्यप्रज्ञप्तिसूत्र- घासीलाल जी महाराज, जैन शास्त्रोद्धार समिति, राजकोट, १९८२

८३. स्थानांगसूत्र- आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर

८४. स्थानांगसूत्रटीका- घासीलाल जी महाराज, जैन शास्त्रोद्धार समिति, राजकोट, १९६५

८५. Elements of Jain Geography The Jambudvipasamgrahani of Haribhadrasuri : Frank Van Den Bossche, Motilal Banarsidas Publisher Pvt. Ltd., Delhi, 2007, Ist Edition

८६. Haribhadra Jain Cosmology : Old and New - Dr. G.R. Jain, Bhartiya Jñānapītha Publication, New Delhi, 1975

कोष

१. अभिधानराजेन्द्रकोश (भाग १ से ७)- सम्पादक- आचार्य श्री राजेन्द्रसूरि, समस्त जैन श्वेताम्बर श्री संघ, श्री अभिधान राजेन्द्र कार्यालय, रतलाम, मध्यप्रदेश

२. आगम शब्द कोश- आचार्य तुलसी, जैन विश्व भारती, लाडनूँ, जून १९८०

३. जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश(भाग १ से ४)- सम्पादक- क्षुल्लक श्री जिनेन्द्रवर्णी, प्रकाशक भारतीय ज्ञानपीठ, बी-४५/४७, कनॉट प्लेस, नई दिल्ली

पत्र-पत्रिकाएँ

१. जिनवाणी (सितम्बर, २००७)-सम्यग्ज्ञान प्रचारक मण्डल, जयपुर

२. तुलसीप्रज्ञा (अंक १४१)-जैन विश्वभारती, लाडनूँ

३. सागरिका (अंक ३८.३)-संस्कृत-विभाग, हरिसिंह गौर विश्वविद्यालय, सागर (म.प्र.)

४. अर्हत् वचन (जुलाई-सितम्बर २००८) -कुन्दकुन्द ज्ञानपीठ, इन्दौर

ला. द. भारतीय संस्कृति विद्यामंदिर

अहमदाबाद ३८० ००९